भारतीय दर्शन

•

बलदेव उपाध्याय

सप्तम

परिवर्धित संस्करण

१९६६



शारदा मन्दिर, काशी

भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन

[भारतवर्ष की विविध दार्शनिक–वैदिक और तान्त्रिक–
विचारधाराओं का प्रामाणिक विवेचन]

लेखक

पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य,
सञ्चालक, अनुसन्धान संस्थान,
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

No. 49.

प्रस्तावना-लेखक

महामहोपाध्याय डाक्टर पण्डित
गोपीनाथ कविराज

सप्तम संस्करण] [१९६६

प्रकाशक—
शारदा मन्दिर
वाराणसी

काशी, आगरा, पटना, प्रयाग आदि विश्वविद्यालयों में
बी० ए० तथा एम० ए० कक्षा का पाठ्यग्रन्थ

प्रथम संस्करण	१९४२
द्वितीय संस्करण	१९४५
परिवर्धित तृतीय संस्करण	१९४८
चतुर्थ संस्करण	११५२
पञ्चम परिबृंहित संस्करण	१९५७
षष्ठ संस्करण	१९६०
सप्तम निर्णयात्मक संस्करण	१९६६

मूल्य १६)

मुद्रक—
बलदेवदास
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड
काशीपुरा, वाराणसी

एक तत्त्व

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

(ऋग्वेद)

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

(कालिदास)

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(पुष्पदन्त)

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

(सिद्धसेन दिवाकर)

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति ।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

(अभिनवगुप्ताचार्य)

Our litle systems have their day,
They have their day and cease to be;
They are but broken lights of Thee;
And Thou, O Lord, art more than they.

—Lord Tennyson.

गोलोकवासी

श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ व्याख्याता

पूज्यपाद पितृचरण

श्री रामसुचित उपाध्याय जी

की

पुण्यमयी स्मृति में

सादर सप्रेम

समर्पित

—बलदेव

श्री बलदेव उपाध्याय रचित ग्रन्थ

आर्य संस्कृति
भारतीय दर्शन
वैदिक साहित्य और संस्कृति
संस्कृत साहित्य का इतिहास
संस्कृत वाङ्मय
धर्म और दर्शन
बौद्ध दर्शन मीमांसा
काव्यानुशीलन
(शारदा मन्दिर, वाराणसी)
भागवत सम्प्रदाय
(नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)
आचार्य सायण और माधव
(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)
आचार्य शंकर
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)
भारतीय साहित्यशास्त्र
(प्रसाद परिषद्, काशी)
संस्कृत आलोचना
(हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ)
भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, (पटना)
पुराण विमर्श, (काशी)

सम्पादित ग्रन्थ

भरत–नाट्यशास्त्र
भामह–काव्यालङ्कार
वररुचि–प्राकृतप्रकाश (प्राचीन टीकायुक्त) ।
सायण–वेदभाष्यभूमिका संग्रह
माधव–शंकरदिग्विजय (अनुवाद और भूमिका)
हर्ष–नागानन्द (संस्कृत टीका)



आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय

आचार्य श्रीबलदेव उपाध्याय

(संक्षिप्त परिचय)

जिन मनीषियों ने सतत साधना, न्याय और तपस्या से एकाग्रमनसा सुर-भारती की आराधना की, उनमें आचार्य पं० श्री बलदेव उपाध्याय अग्रणी हैं। आपने आजन्म शारदा देवी की श्रद्धा से उपासना की और अपनी ज्ञानगरिमा, निश्छल प्रभावुक व्यक्तित्व और प्रकृष्ट पाण्डित्यपूर्ण 'अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना' वाणी से शिष्यों को आप्यायित किया। ज्ञानार्जन कर संस्कृत शब्दावली में उन्होंने 'अधीतमध्यापितमर्जितं यशः' को चरितार्थ किया। ज्ञान की ऊष्मा से वे कभी उत्तप्त नहीं हुए, सदैव शीतल बने रहे; प्रकृष्ट पाण्डित्य से कभी उद्धत नहीं हुए, सौम्य बने रहे; गद्दी की गरिमा से गर्वित नहीं हुए और सांसारिक प्रपञ्चों में रहते हुए भी तटस्थ रहे। वे ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें भवभूति की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि वे तत्त्व-निश्चय के लिये सतत अध्ययन करते हैं—"ते श्रोत्रियास्तत्त्वनिश्चियाय भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते"। सहज उन्नत व्यक्तित्व, स्मितपूर्ण मुखमण्डल, कुंकुमचुम्बित निटिल और मृजुतापूर्ण विद्वत्ता—यही उपाध्यायजी की विशेषता है। व्यक्तित्व, पाण्डित्य और चारित्र्य तीनों का यदि एकत्र योग देखना हो, तो आपको उपाध्यायजी में मिलेगा। संस्कृत विश्वविद्यालय ने इन्हें अपने अनुसन्धान संस्थान का निर्देशक बनाकर विद्वत्ता का आदर किया है।

पं० बलदेव उपाध्याय का जन्म बलिया जनपद के सोनबरसा ग्राम में १० अक्टूबर १८९९ ई० को एक वैष्णव परिवार में हुआ था। आपके पिता पं० रामसुचित उपाध्यायजी भागवत के मर्मी व्याख्याता थे। आपने १९१६ में फैजाबाद से हाई स्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। कक्षा में आप उत्कृष्ट विद्यार्थी थे और प्रिन्सिपल ध्रुव तथा महामहोपाध्याय पं० रामावतारजी के प्रिय छात्रों में थे। सन् १९२२ ई० में आपने एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम आकर उत्तीर्ण की। एम० ए० कक्षा में ही इनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि इतनी हो गई की उसी वर्ष इन्हें अध्यापक बना दिया गया। सतत ३८ वर्षों तक हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कर १९६० ई० में आपने वहाँ से अवकाश ग्रहण किया। बिदाई के अवसर पर जैसा भव्य अभि-

नन्दन आपका हुआ वैसा विरले अध्यापकों का होता है। अवकाश ग्रहण के कुछ समय बाद वाराणसेयसंस्कृत विश्वविद्यालय में पुराण के प्रोफेसर नियुक्त हुए और सम्प्रति वहीं पर शोध-संस्थान के निर्देशक नियुक्त हुए हैं। लौकिक दृष्टि से सफलता आपकी अनुगामिनी है—'अत्युग्रपापपुण्यानामिहैव फलमश्नुते।'

उपाध्यायजी का सबसे बड़ा गुण है उनकी मानवता। 'सदा आखें एक सी किये रहें' के वे जीवन्त प्रतीक हैं। उनका प्रफुल्ल आनन्दोज्वल मुख सदैव दिखाई पड़ेगा और दर्शक तुरत आत्मीय बन जायेगा। उनको किसी से न संदेह है, न भय। मनुष्य के सारे गुण मानवता के अभाव में व्यर्थ हो जाते हैं। सबके सुख दुःखों में सहानुभूति और निष्कपट व्यवहार ये ऐसे गुण हैं जो उपाध्यायजी के महत्त्व को और बढ़ा देते हैं। सुदीर्घकालीन समय से उनमें यह गुण उनके जीवन का अंग बन गया है। उनके जीवन की रसवत्ता इस वार्धक्य में भी सूखी नहीं है। अपार कालबाधा को पार कर वे उसी प्रसन्न और स्वस्थ मुखमुद्रा में आज भी मौजूद हैं।

उपाध्यायजी संस्कृत साहित्य, शास्त्र, दर्शन, वेद और धर्मशास्त्र के विद्वान् हैं। सरस्वती की एकनिष्ठ उन्होंने साधना की है। बाह्य प्रलोभनों ने उन्हें आकृष्ट नहीं किया—यहाँ तक कि उन्होंने डाक्टरेट के लिए भी कभी उद्योग नहीं किया, जब कि प्रचण्ड पण्डित डा० बलवल्कर ने बौद्ध दर्शन और सायणमाधव पुस्तकों को देखकर कहा था कि इन पुस्तकों पर कोई भी विश्वविद्यालय डाक्टरेट दे सकता है, पर उपाध्यायजी ने कभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। आज वे संस्कृत हिन्दी और दर्शन की पी० एच० डी० तथा डी० लिट्० के अनेक विद्वानों के स्रष्टा हैं। एकमात्र स्वाध्याय, शास्त्रचर्चा, ग्रन्थ लेखन तथा भगवद्भजन—यही उनका व्यसन है। उपाध्यायजी मूलतः साहित्यशास्त्र तथा दर्शन के अध्येता हैं, पर अन्य विषयों पर आपका समान अधिकार तथा अभिनिवेश है। भाषाविज्ञान, वेद तथा पुराणों का आपने विशेष अध्ययन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था कि आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय में पाण्डित्य और सारल्य का मणि-काञ्चन योग है। वे जानकारी का गट्ठर नहीं ढोते। विद्या उनका जीवन रस है। विद्या जब जीवन रस बनती है तो उसका वही रूप होता है जिसके मूर्तिमान रूप उपाध्याय जी हैं।

उपाध्यायजी अवढरदानी गुरु हैं। जीवन भर उन्होंने विद्या दान किया है। कठिन से कठिन विषयों को अत्यन्त अल्प समय में चश्मा उतार कर अभिव्यक्त कर

देना—ऐसी अभिव्यक्ति जो विद्यार्थी को हृदयंगम हो जाय—इनकी निजी विशेषता है। प्रसिद्ध दार्शनिक डा० मूर्ति ने उपाध्याय जी के अध्ययन-कौशल के बारे में लिखा है कि ऐसा विचारोत्तेजक अध्यापक मुझे दूसरा कोई नहीं मिला। उपाध्यायजी के समर्थ शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है, जिसमें डा० राजबली पाण्डेय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डाक्टर सिद्धेश्वर भट्टाचार्य, डाक्टर टी० आर० वी० मूर्ति, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० कान्तानाथ शास्त्री तैलंग आदि प्रमुख हैं। ये सभी विभिन्न क्षेत्रों में विद्या और कला की साधना में संलग्न हैं।

कुशल लेखक

आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय का लेखक रूप भी अत्यन्त महनीय तथा प्रशस्त है। इन्होंने विभिन्न विषयों पर बीसों पुस्तकें लिखी हैं, जो अपने विषय की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से हैं। आपकी दार्शनिक पुस्तकों में भारतीय दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा भागवत सम्प्रदाय प्रमुख हैं। इन ग्रन्थों की भारतरत्न डा० भगवानदास, डा० सम्पूर्णानन्द, प्रोफेसर रानाडे, महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज तथा क्षितिमोहन सेन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी आपके भारतीय दर्शन की प्रशस्ति की थी। भारतीय दर्शन पर हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट मंगलाप्रसाद पुरस्कार १२००) आपको मिला था और बौद्ध दर्शन पर डालमिया पुरस्कार २१००) प्राप्त हुआ। भरत-नाट्यशास्त्र तथा प्राकृत-प्रकाश का आपने सम्पादन किया, जिसकी देशी-विदेशी विद्वानों ने प्रशंसा की। दो खण्डों में लिखा गया आपका भारतीय साहित्य-शास्त्र अपने विषय की अपूर्व पुस्तक है, जिसने हिन्दीभाषी जनता के सामने भारतीय साहित्यशास्त्र की प्रथमतः रूपरेखा खड़ी की है। इसका प्रामाण्य हिन्दी के विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया। आपके अन्य ग्रन्थों में संस्कृत साहित्य का इतिहास, पुराण-विमर्श, संस्कृत वाङ्मय में श्रीराधा, वैदिक कहानियाँ, वैदिक साहित्य, आर्य संस्कृति, संस्कृत कवि चर्चा, सूक्तिमुक्तावली, धर्म और दर्शन आदि प्रमुख हैं। संस्कृत कविचर्चा की उस समय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बड़ी प्रशंसा की थी। आचार्य उपाध्याय ने विभिन्न विषयों पर विपुल ग्रन्थ लिखे हैं और सभी ग्रन्थ अत्यधिक प्रामाणिक तथा सरल सुबोध शैली में हैं।

इनके दो नूतन ग्रन्थ अपनी उत्कृष्टता तथा प्रामाणिकता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा'—राधा का इतिहास, दार्शनिक तथा साहित्यिक विवेचन है, जिसमें संस्कृत के अतिरिक्त समस्त प्रान्तीय भाषाओं के वैष्णव साहित्य का गम्भीर अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। 'पुराणविमर्श'—पुराणों के विषयों

का विश्लेषणात्मक एक अनुपम ग्रन्थ है, जिसमें पुराणों का गम्भीर अनुशीलन श्रद्धा तथा तर्क उभय-दृष्टियों से नवीन तथ्यों के उद्घाटन के लिए सन्तत जागरूक है। ये विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम० ए० पाठ्य ग्रन्थ तथा शोध छात्रों के लिये नितान्त उपकारक हैं। पुरस्कारों से प्रायः सभी ग्रन्थ पुरस्कृत हो चुके हैं।

हिन्दी के प्रेमी

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय हिन्दी भाषा के अत्यन्त प्रेमी हैं। हिन्दी में शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन करनेवाले वे अधिकृत विद्वान् हैं। उस समय जब सारा वातावरण अंग्रेजी का था, दिन भर कक्षा में अंग्रेजी में व्याख्यान देना पड़ता था, उपाध्यायजी ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। आपने प्रारम्भ में 'वेद भाष्यभूमिका' तथा 'काव्यालङ्कार' की बड़े अभिनिवेश तथा अधिकार के साथ अंग्रेजी में विस्तृत भूमिकायें लिखी, जिनकी प्रशस्ति देशी विदेशी सभी विद्वानों ने की, पर अन्त में उन्होंने उसी समय हिन्दी की श्रीवृद्धि का बीड़ा उठाया और उसे समृद्ध करना प्रारम्भ किया। संप्रति वे दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के इने-गिने लेखकों में से एक हैं। पाश्चात्त्य तथा पौरस्त्य उभयविध पद्धतियों का आपने सम्यक् उपयोग कर हिन्दी साहित्य के मस्तक को सजाया है। हिन्दी भाषा और शैली पर उन्हें व्यापक अधिकार है और संस्कृत भाषा ने उसे सुसंस्कृत कर दिया है।

उपाध्यायजी ने संस्कृत तथा संस्कृति की जो अनुपम सेवा अपने गौरवमय ग्रन्थों से की है, वह उल्लेखनीय, अनुकरणीय तथा आदरणीय है। संस्कृत के गूढ़ विषयों को हिन्दी जगत् के सामने यथार्थ रूप से प्रस्तुत करना उपाध्यायजी की लेखनी का चमत्कार है। इस समय वे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान के संचालक के पद पर प्रतिष्ठित होकर नाना विषय के छात्रों को अनुसंधान कार्य की शिक्षा देते हैं, तथा 'सारस्वती सुषमा' नामक संस्कृत शोध-पत्रिका के मुख्य सम्पादक हैं। भारतीय भाषाओं में संस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त बँगला, मराठी तथा गुजराती के साहित्य से वे पूर्ण परिचय रखते हैं। विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त वे लैटिन तथा जर्मन भली भाँति जानते हैं। उनके ग्रन्थ अपने विषयों के मार्गद्रष्टा हैं। वे अपने विषयों के सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं जिनका अनुशीलन कर अनेक लेखक इन विषयों पर लिखने के लिए अग्रसर हुए हैं। भगवान् ऐसे मनीषी लेखक को शतायु करें—यही हमारी विनम्र प्रार्थना है। तथास्तु—

डा० गङ्गासागर राय
(एम० ए०, पी० एच० डी०)

प्राक्कथन

काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने इन पृष्ठों में प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान का एक साङ्गोपाङ्ग विवरण हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, षड्दर्शन, पाञ्चरात्र और (गौडीय मत को सम्मिलित कर) पाँचों वैष्णव सम्प्रदाय, अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी विभिन्न शैव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों के महत्त्वशाली दर्शनशास्त्रों की इस ग्रन्थ में आलोचना की गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-संग्रह' की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। स्थान के परिमित होने के कारण ग्रन्थकार को विभिन्न तान्त्रिक तथा शैव-शाक्तादि मतों का विवेचन कुछ संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है, परन्तु जो कुछ कार्य वस्तुतः सम्पादित किया गया है वह इतना विशाल है कि यह आवश्यक संकोच विशेष महत्त्व का प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी जनता के सामने यह ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान के विषय में एक अत्यन्त मूल्यवान् कृति है। दार्शनिक विचारों का परिपूर्ण तथा क्रमबद्ध विवेचन होने के अतिरिक्त इस पुस्तक में बहुत ही अधिक उपादेय आलोचना और इतिहास-सम्बन्धी सामग्री संकलित की गई है। भारतीय विचारशास्त्र में महत्त्वशाली मतभेद होने पर भी, वह परस्पर सम्बद्ध अखण्डरूप है और उसके प्रत्येक अंश पर वस्तुतः स्वयं परिपूर्ण होने की छाप पड़ी है। जितनी भिन्नतायें दिखलाई पड़ती हैं, विभिन्न दृष्टियों के मानने के कारण उनकी सुसंगत व्याख्या की जा सकती है। 'सत्य' के खोज करने वाले साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रगतिशील होती हैं। उन्हीं पर अवलम्बित होने से तार्किक विकास को ध्यान में रखकर, ये दृष्टियाँ सोपान-परम्परा की तरह क्रमबद्ध रखी जा सकती हैं। प्रत्येक दर्शन का गहरा अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित की जा सकती है। ग्रन्थकार के पास पर्याप्त स्थान नहीं है कि वह विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करे। विभिन्न दर्शनों के विषयों के समालोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि भारतीय दर्शन के प्रेमी हिन्दी पाठकों की मण्डली में ही नहीं; प्रत्युत भारत के समग्र विश्वविद्यालयों तथा शिक्षासंस्थाओं में जहाँ हिन्दी स्वतंत्र रूप से पढ़ाई जाती है या शिक्षण का माध्यम है इस नितान्त उपादेय पुस्तक का सहानुभूति तथा आदर के साथ स्वागत किया जायेगा।

काशी
२।१।४२

गोपीनाथ कविराज
(महामहोपाध्याय, डाक्टर)

प्रस्तावना

(परिवर्धित पञ्चम संस्करण)

आज भारतीय दर्शन का पञ्चम परिवर्धित संस्करण पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। लगभग दो वर्षों से यह ग्रन्थ अप्राप्य था और इसके पाठकों की प्रार्थना को सफल बनाने में हम असमर्थ थे। ग्रन्थ की माँग निरन्तर आ रही थी; परन्तु इसे नयी परिस्थिति में पुराने रूप में प्रकाशित करने की इच्छा मुझे नहीं थी। यह अनेक वर्षों से अनेक विश्वविद्यालयों में बी० ए० तथा एम० ए० का पाठ्य ग्रन्थ नियत किया गया है और यह उन छात्रों की जिज्ञासा की भी यथासाध्य पूर्ति करता आया है, परन्तु इधर कुछ छात्रों को इसकी शास्त्रीय भाषा कठिन प्रतीत होती थी और उनका सन्तत आग्रह था कि इसकी भाषा कुछ सीधी और सरल बनाई जाय। छात्रों के आग्रह की रक्षा करने तथा इसे अत्यधिक उपयोगी बनाने के लिए मैंने इस संस्करण में ग्रन्थ की भाषा और विषय का संशोधन कुछ विस्तार के साथ कर दिया है।

भाषा को सरल तथा विषय को सुबोध बनाने का इस बार पूर्ण प्रयत्न किया गया है, साथ ही अनेक परिच्छेदों में नवीन सामग्री देकर उनका कायाकल्प ही कर दिया गया है। मूल ग्रन्थ में बहुत ही उपादेय सिद्धान्तों का वर्णन किया गया था, जो सम्भवतः पहिली बार हिन्दी का कलेवर धारण कर अवतीर्ण हुए थे। इन उच्च कोटि के तार्किक विषयों का निर्देशपुरःसर उपयोग करने के लिए ग्रन्थ के अन्त में टिप्पणियाँ अलग रख दी गई हैं। इनमें मूलग्रन्थ के सिद्धान्तों के पोषक संस्कृत के उद्धरण गद्य तथा पद्य में दिये ही गये हैं। साथ ही साथ मूल ग्रन्थ के बहुत से अंश भी जो साधारण छात्रों के लिए कठिन प्रतीत होते थे, उचित स्थान पर इन्हीं टिप्पणियों में निविष्ट कर दिये गये हैं। मेरा विश्वास है कि जो छात्र संस्कृत के मूल को देखना चाहते हैं तथा विषय के अन्तस्तल में प्रवेश करने के इच्छुक हैं उनकी जिज्ञासा की पूर्ति इन टिप्पणियों के द्वारा बहुत कुछ अंश में हो सकेगी। इस प्रकार इस नवीन संस्करण में यह ग्रन्थ पहिले की अपेक्षा नवीन सामग्री से मण्डित है जिसमें भाषा सरल तथा सुबोध बना दी गई है, तथा टिप्पणियों के रूप में उच्च कोटि के शोधन कार्य में लगे हुए छात्रों के उपयोग की अनेक बातें सन्निविष्ट कर दी गई हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ पहिले से अधिक

उपयोगी तथा उपादेय, सरल तथा सुबोध सिद्ध होगा और दर्शन-तत्त्वों के जिज्ञासु छात्र-अध्यापक तथा साधारण जनों के लिए भी समान भाव से लाभदायक होगा। तथास्तु।

महाशिवरात्रि
सं० २०१३
वाराणसी
२७-२-५७

बलदेव उपाध्याय

नवीन संस्करण

इस निर्णयात्मक नवीन संस्करण में पूरे ग्रन्थ का फिर से संशोधन कर दिया गया है। इस बार इस ग्रन्थ का आकार बदल दिया गया है। मूलतः डबल क्राउन में मुद्रित होने से यह ग्रन्थ बृहद् आकार का हो गया था। अतः अब इसे डबल डिमाई में छापा गया है। आशा है इस परिवर्तन से ग्रन्थ का आकार-प्रकार विशेषरूप से आकर्षक होगा। ग्रन्थ में अनेक नवीन विषय सन्निविष्ट कर दिये गये हैं, जैसे बौद्धदर्शन के प्रसङ्ग में 'निर्वाण' का विशद विवेचन विशेष उपयोगी है, तथा योग के विषय में 'निर्माणचित्त' का विषय एकदम मौलिक एवं नवीन है। आशा है इन परिवर्तनों तथा परिवर्धनों से ग्रन्थ और भी अधिक उपादेय, प्रामाणिक तथा संग्रहणीय हो जायगा। विश्वास है कि अब यह ग्रन्थ जिज्ञासुजनों के लिए और भी अधिक उपयोगी होगा।

इस संस्करण के तैयार करने में मेरे स्नेहपात्र छात्र पण्डित परमेश्वर पाण्डेय (साहित्याचार्य, पालि-आचार्य) ने मुझे अनेक प्रकार की सहायता दी है। इसके लिए वे मेरे आशीर्वाद के पात्र हैं।

अक्षयतृतीया
वैशाख पूर्णिमा, सं० २०२३
वाराणसी

बलदेव उपाध्याय

विषयसूची

चतुर्थ खण्ड

तन्त्र-मत का इतिहास

परिशिष्ट



संकेत सूची

अभि० को० = अभिधर्मकोष
अहि० स० = अहिर्बुध्न्य-संहिता
ऐत० उप० = ऐतरेय उपनिषद्
ऐत० आर० = ऐतरेय आरण्यक
किरणा० = किरणावली
कौषी० = कौषितकी उपनिषद्
छा० उप० = छान्दोग्य उपनिषद्
त० कौ० = तत्त्वकौमुदी
त० वै० = तत्त्ववैशारदी
त० सू० = तत्त्वार्थसूत्र
ता० टी० = तात्पर्य टीका
तैत्ति० भा० = तैत्तिरीयभाष्य
दी० नि० = दीर्घनिकाय
न्या० क० = न्यायकन्दली
न्या० भा० = न्यायभाष्य
न्या० मं० = न्यायमंजरी
न्या० सू० = न्यायसूत्र
प्र० पा० भा० = प्रशस्तपादभाष्य
बृ० सू० = बृहस्पतिसूत्र
ब्र० सू० = ब्रह्मसूत्र
भा० भा० = भास्करभाष्य
भा० प० = भाषा परिच्छेद
म० सि० सा० = मध्वसिद्धान्तसार
मा० का० = माण्डूक्यकारिका
मा० मे० = मानमेयोदय
मि० प्र० = मिलिन्दप्रश्न
मी० सू० = मीमांसासूत्र
मुक्ता० = मुक्तावली
मु० उप० = मुण्डक उपनिषद्
यो० भा० = योगभाष्य
यो० सू० = योगसूत्र
वा० प० = वाक्यपदीप
व्या० भा० = व्यासभाष्य
वे० प० = वेदान्तपरिभाषा
वे० सा० = वेदान्तसार
वै० सू० = वैशेषिकसूत्र
श्लो० वा० = श्लोकवार्तिक
शा० भा० = शाङ्करभाष्य
शा० भा० = शारीरकभाष्य
शा० दी० = शास्त्रदीपिका
स० द० सं० = सर्व-दर्शन-संग्रह
सां० का० = सांख्यकारिका



भा र ती य द र्श न

प्रथम खण्ड

(१) उपोद्घात
(२) श्रौत दर्शन
(३) गीता दर्शन

भारतीय दर्शन

प्रथम परिच्छेद

उपोद्घात

भारत का यह पुण्यमय देश सदा से प्रकृतिनटी का रमणीय रङ्गस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने करकमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार बनाया है। इसका बाह्य रूप कितना मनोरम है! उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय, जिसकी उत्तुङ्ग शिखरश्रेणियाँ मानो बाहरी संसार को भारत की आध्यात्मिक उन्नति का परिचय दे रही हैं। दक्षिण में नीलाभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चञ्चल लहरिकायें इसके चरणयुगल को प्रक्षालित करती हुई शोभा का विस्तार कर रही हैं। पश्चिम में अरब सागर तथा पूरब में बंगाल की श्याम खाड़ी। मध्यदेश में बहनेवाली गंगा-यमुना की विमल धारायें इसे शस्यश्यामल बना रही हैं। भारत का यह बाह्य रूप जितना ही भव्य तथा मनोहर है, उसका आन्तर रूप उतना ही अभिराम तथा आभामय है। इस जगतीतल पर सभ्यता की जननी यही हमारी भारत-मही है। जिस समय अन्य देश अज्ञानान्धकार के गाढ़ पटल से संच्छन्न होकर अभी बर्बरता का जीवन बिता रहे थे, उस समय इस भारत के गगन में प्रथम प्रभात का उदय हुआ था, ज्ञानसूर्य की प्रकाशमान किरणों ने अविद्या के घने तिमिर-मंडल को छिन्न-भिन्न किया था। पृथ्वीतल पर सभ्यता का विस्तार करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। "इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा था"—निखिल मानवों के कल्याणार्थ स्मृतिकी रचना करनेवाले महर्षि

मनु का यह कथन[1] कोरी कल्पना नहीं है; अपितु यह इतिहास की कसौटी पर कसे जाने पर नितान्त सत्य प्रमाणित हो चुका है। कुछ ऐसा ही कारण होगा जिससे इस कर्मभूमि के अजिर में जन्म ग्रहण करने के लिए भोगभूमि स्वर्ग के अधिवासी देवतागण भी लालायित थे तथा यहाँ के निवासियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कभी नहीं अघाते थे[2]। इसी भारतवर्ष की विद्याओं में से सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या के महत्व तथा स्वरूप, आविर्भाव तथा विकास की विविध प्रवृत्तियों के अध्ययन करने का प्रयत्न हम इस ग्रन्थ में कर रहे हैं।

१—'दर्शन' का अर्थ तथा उपयोग

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्ष बनाये रहता है; कभी वह लड़ता है अपनी विरोधी परिस्थितियों से और कभी वह संघर्ष करता है उसे दबानेवाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से। भेद इतना ही रहता है कि अन्य जीव विना विचार किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवन-संग्राम में लगा रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है, चाहे इसका ध्यान उसे रहता है या नहीं, पर उपयोग करता है वह अवश्य। शान्त चित्त से विचार करने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानव दृश्य या अदृश्य जगत्-विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का एक समुदायमात्र है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। गीता(१७।३) कहती है—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः", अर्थात् श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य

उपयोगिता

---

१ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।
(मनुस्मृति २।२०)

२ अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
(श्रीमद्भागवत स्कं० ५, अ० १९, श्लो० २१)

होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का 'दर्शन' होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। इस तरह 'दर्शन' हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है। हम उसे अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते। यदि किसी प्रकार कोई उसे निकाल कर अलग फेंकने का दुःसाहस करे, तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होगा; यह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत पशु का जीवन होगा। इसलिये पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है—धर्म=धारण करनेवाला वस्तुसमुदाय, उसका विवेक, उसका विचार या उसका दर्शन।

दर्शन का अर्थ

'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है–दृश्यते अनेन इति दर्शनम् = जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय? वस्तु का सत्भूत तात्त्विक स्वरूप। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इसकी सृष्टि का कौन कारण है? यह चेतन है या अचेतन? इस संसार में हमारे लिए कौन से कार्य कर्तव्य हैं? जीवन को सुचारु रूप से बिताने के लिए कौन सा सुन्दर साधन-मार्ग है? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना 'दर्शन' का प्रधान ध्येय है। दर्शन को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ क्या है? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है :—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।

'शास्त्र' की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है—शास्=आज्ञा करना तथा शंस्=प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करनेवाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेधरूप होने से दो प्रकार के होते हैं। श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य हैं (विधि) तथा निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय हैं (निषेध)। अतः 'शासन' अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए उपयुक्त है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधक-शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन-शास्त्र क्रिया-परक होता है, पर शंसक-शास्त्र ज्ञान-परक होता है। शंसक-शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' शब्द के साथ होता है। धर्मशास्त्र कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानतया विधान करने से 'पुरुष परतंत्र' है, पर दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से 'वस्तुतन्त्र' है।

'फ़िलासफ़ी' शब्द के साथ तुलना

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा 'फ़िलासफ़ी' है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है—'फ़िलास' = प्रेम या अनुराग तथा 'सोफ़िया' = विद्या। अतः इस शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम = विद्यानुराग। ग्रीस देश में इस शब्द का पहले पहल प्रचलन हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक हिरोडोटस (विक्रम पूर्व पञ्चम शताब्दी) ने सर्वप्रथम क्रीसस के द्वारा दार्शनिक सोलन के लिए इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख किया है। पेरिक्लीज के प्रसिद्ध व्याख्यान में एथेन्स के निवासियों को विद्यानुरागी बतलाने के लिए थ्युसिडाइड्स ने भी इस शब्द का प्रयोग किया। सुकरात ने उस समय के प्रसिद्ध, विज्ञान आदि विषयों के व्याख्याता सोफ़िस्ट (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिए अपने आपको फ़िलासफ़र (ज्ञानानुरागी = ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील) बतलाया है[1]! सुकरात के शिष्य अफलातूँ (प्लेटो) तथा प्रशिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) ने इसका प्रचार ही नहीं किया; प्रत्युत इसकी विभिन्न शाखाओं पर प्रामाणिक निबन्धों का निर्माण कर पाश्चात्य दर्शन के वास्तविक प्रचारक बने। इस प्रकार 'फ़िलासफ़ी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विद्या का प्रेम या विद्यानुराग। जो विद्वज्जन जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक या सामाजिक तत्त्वों की छानबीन करने में प्रयत्नशील होते थे वे 'फ़िलासफ़र' (विद्यानुरागी) कहलाते थे। इस मूल अर्थ की अधिक व्यापकता के कारण आजकल इसे संकुचित अर्थ में प्रयोग करते हैं। आरम्भ में 'फ़िलासफ़ी' के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्त्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतीतल के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को 'विज्ञान' कहते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योतिःशास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्भावित सत्यों का एकीकरण 'फ़िलासफ़ी' का विषय है। अतः ब्रह्माण्ड-जगत्, जीव तथा ईश्वर के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन 'विज्ञान' में तथा सामान्य रूप का अध्ययन 'फ़िलासफ़ी' में किया जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से 'दर्शन' के लिए 'फ़िलासफ़ी' का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों के ध्येय में नितान्त पार्थक्य है जिस पर दृष्टिपात न करना अनुचित होगा।

---

१ 'फ़िलासफ़ी' के प्रयोग तथा अर्थ के लिए देखिए—
कुल्पे—इन्ट्रोडक्शन टू फ़िलासफ़ी (परिच्छेद प्रथम)।

इन दोनों शब्दों की जो व्युत्पत्ति तथा व्याख्या ऊपर दी गई है, उससे दोनों के उद्देश्यों के पृथक् होने की पर्याप्त सूचना मिलती है। 'फ़िलासफ़ी' कल्पना-कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधनमात्र है। जगतीतल के अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों के जानने के लिए, कौतुक को शान्त करने के लिए, 'फ़िलासफ़ी' की उत्पत्ति बतलाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की छानबीन करने में मनमानी कल्पना करने का बाजार पश्चिमी दर्शन जगत् में खूब गरम है। पश्चिम का तत्त्वज्ञ उस नाविक के समान होता है जो बिना किसी गन्तव्य स्थान के निर्धारण किए ही अपनी नौका विचार-सागर में डाल देता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि नाव किस घाट लगेगी; अगर वह मीरघाट पर अटक रही तो भी खुशी है, यदि तीरघाट पर लग जाय तो भी आनन्द है। पर भारतवर्ष में दर्शनकार दुःखत्रय—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—के रात्रिंदिव विघात से उद्विग्न होकर इनके आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय अपनी सूक्ष्म विवेचना शक्ति के आधार पर करके ही वह साधन-मार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गन्तव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्त्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक, लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वाङ्गीण होती है।

दर्शन तथा फ़िलासफ़ी में उद्देश्य-विषयक पार्थक्य

भारतीय दर्शन का पाश्चात्त्य दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए पाश्चात्य दर्शन के श्रेणी-विभाग का ज्ञान अपेक्षित है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थकारों ने इसे विभिन्न रीति से किया है, पर निम्नलिखित श्रेणी-विभाग में अधिकांश दार्शनिकों का ऐकमत्य है—

पाश्चात्त्य दर्शन का श्रेणी-विभाग

(१) **मेटाफिजिक्स** (तत्त्वमीमांसा)—इस दर्शन का विवेच्य पदार्थ 'सत्' है। इस संसार में प्रकृति स्वयं प्राणियों के सामने सत्य तथा प्रातीतिक सत्य पदार्थों को उपस्थित करती है। अतः 'प्रतीति' से 'सत्' को पृथक् करने में इस दर्शन-विभाग की उपयोगिता है। दो प्रकार की वस्तुओं के निश्चयात्मक रूप से सत्य माने जाने की सम्भावना है—(१) भौतिक पदार्थ (यथा—वृक्ष, पर्वत, नदी आदि) तथा (२) मानसिक दशा (यथा—सुख, दुःख, औदासीन्य

आदि)। जिन दार्शनिकों की दृष्टि में भौतिक पदार्थ की ही स्वतन्त्र सत्ता है और मानसिक दशायें भौतिक सत्यता की आभास मात्र हैं, उन्हें मैटीरिअलिस्ट या नैचुरलिस्ट (भौतिकवादी) कहते हैं, पर जिनकी दृष्टि में सुख दुःखादि मानसिक दशाओं की या मानस-मात्र की स्वतन्त्र सत्ता है और भौतिक पदार्थ केवल मानस सत्ता के प्रतीति मात्र हैं उन्हें आइडीअलिस्ट (प्रत्ययवादी) कहते हैं। कुछ दार्शनिक भौतिक तथा मानस दोनों जगतों की निरपेक्ष तथा शाश्वतिक सत्यता को अंगीकार करते हैं, उन्हें ड्युअलिस्ट (द्वैतवादी) की संज्ञा दी जाती है। प्रत्ययवाद के विरोधी सिद्धान्त को रीअलिज़म (वास्तववाद) कहते हैं। इनके मन्तव्यानुसार इस जगत् के पदार्थ उसी रूप में 'सत्' हैं जिस रूप में हम उन्हें अपने इन्द्रियों से साक्षात्कार करते हैं। वास्तववाद प्रत्ययवाद की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विषयप्रधान माना जाता है।

(२) **एपिस्टोमोलाजी** (प्रमाणमीमांसा)—इसका विषय ज्ञान की विवेचना है। इसके भी अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया जाता है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयों की समीक्षा इस दर्शन में की जाती है। ज्ञान की सीमा के साथ-साथ ज्ञान-गम्यता तथा ज्ञानातीतता का विचार संवलित है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा अधिगम्य हैं, परन्तु कुछ अनुभव से अतीत हैं; इन दोनों का पृथक्करण नितान्त आवश्यक है। जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं उन्हें 'एपोस्टिओरि' (अनुभवजन्य) कहते हैं और जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव से स्वतन्त्र रहते हैं उन्हें 'एप्राओरि' (अनुभवाजन्य) कहते हैं। इनकी विशद व्याख्या इस दर्शन में की जाती है।

(३) **लॉजिक** (तर्कशास्त्र)—इसका उपयोग ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया के विवेचन में किया जाता है। किसी तर्क को सत्य तथा प्रामाणिक होने के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। इन्हीं नियमों का यथार्थ तथा विशद वर्णन 'लॉजिक' में किया जाता है। 'लॉजिक' के दो विभाग हैं—डिडक्टिव (निगमन)—सामान्य से विशेष का अनुसन्धान तथा (२) इन्डक्टिव—विशिष्ट दृष्टान्तों का अध्ययन कर सामान्य सिद्धान्त को खोज निकालना। पहले में केवल वैधिक सत्यता आवश्यक मानी जाती है, पर द्वितीय विभाग में वास्तविक भौतिक सत्यता विद्यमान रहती है। इन तीनों विभागों को सामान्य रूप से थिओरेटिकल फ़िलासफ़ी (कल्पनात्मक दर्शन) कहते हैं।

(४) **एथिक्स** (आचारमीमांसा या कर्तव्यशास्त्र)—आचार या कर्तव्य की मीमांसा इस दर्शन का प्रधान विषय है। मानवमात्र के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह अपने जीवन को क्यों कर उपयोगी बनावे। इस संसार के ऊपर दो प्रकार के दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में मानव-जीवन की दशा निसर्गतः बुरी है। जिन कामनाओं की सृष्टि प्रकृति ने सुख की उपलब्धि के उद्देश्य से की है, वे वास्तव में दुःखोत्पादक ही हैं। अतः उनका कथमपि विश्वास नहीं किया जा सकता। इस जगत् में दुःख ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। अतः इससे निराशा की उत्पत्ति ही अन्त में होती है। ऐसे मत का नाम है—पेसिमिज़्म (नैराश्यवाद)। परन्तु दूसरे दार्शनिकों की दृष्टि में मानव जीवन स्वभावतः शोभन है। दुःख आपाततः ही दिखलाई पड़ता है; विषाद मानव-जीवन को कतिपय क्षणों के लिए ही कलुषित करने में समर्थ होता है, परन्तु अन्त में आनन्द की विजय होती है; दुःख का नाश अवश्य होता है। इस मत का नाम है—ऑप्टिमिज़्म (आशावाद)। जीवन का ध्येय क्या है ? सुख की प्राप्ति या कल्याण की उपलब्धि ? 'कर्तव्य' किसे कहते हैं, तथा वह कितने प्रकार का होता है ? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का समुचित विवेचन एथिक्स में किया गया है।

(५) **एस्थेटिक्स** (सौन्दर्यमीमांसा)—ग्रीस के प्राचीन दार्शनिकों ने इस विषय का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं किया, परन्तु १८ वीं शताब्दी में यूरोप में इस दर्शन की विशद् छानबीन आरम्भ हुई, जो इस समय विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती है। जर्मन दार्शनिक बाउमगार्तेन ने 'एस्थेटिक्स' शब्द का सबसे प्रथम सौन्दर्यशास्त्र के अर्थ में प्रयोग किया। इस दर्शन को स्वतन्त्र विवेचन का भाजन बनाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसके प्रधानतया दो विभाग हैं—(१) **सौन्दर्य निर्णय**—किसी चीज को सुन्दर मानने का क्या कारण है ? किसी वस्तु के अवलोकन से सुख या दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है ? 'सुन्दरता' की तात्त्विक व्याख्या क्या है ? इन प्रश्नों का उचित उत्तर इस विभाग में मिलता है। (२) **व्यावहारिक सौन्दर्य**—सौन्दर्य को कलारूप में परिवर्तित होने की व्याख्या है। कला का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है। चित्रणीय वस्तु तथा चित्र में कौन सा सम्बन्ध होता है ? कलाकार में प्रकृति, कल्पना, स्मृति आदि किन गुणों की सत्ता होने से सामान्य वस्तु कला के रूप में परिवर्तित हो जाती है ? इन्हीं का उत्तर इस विभाग में दिया जाता है।

(६) साइकोलॉजी (मनोविज्ञान)—मन की विविध प्रवृत्तियों का शास्त्रीय विवेचन है। इस दर्शन ने आजकल इतनी उन्नति कर ली है कि इसे अधिकांश आलोचक 'विज्ञान' के अन्तर्गत मानने के पक्षपाती हैं। आजकल प्रयोगशाला में प्रयोग द्वारा मानसिक दशाओं की शास्त्रीय तथा यथार्थ व्याख्यायें की जाती हैं। डाक्टर फ्रायड ने अपनी मौलिक गवेषणाओं के बल पर मनोविज्ञान के जिस नूतन अंग (साइको-एनेलसिस या मानसिक विश्लेषण) को प्रवर्तित किया है उसने दार्शनिक जगत् के बाहर भी एक विशिष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

२—भारतीय दर्शन की कतिपय विशेषताएँ

प्रकृति ने इस भारतभूमि को मानव-जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर इस देश के अधिवासियों को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर किया है। यह देश निसर्गतः विचार-प्रधान है। अन्य देशोंमें जीवन-संग्राम इतना भीषण है, दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन की ही समस्याएँ इतनी उलझी हुई हैं कि उन्हीं के सुलझाने में वहाँ के निवासियों का समय व्यतीत हुआ करता है। जगत् के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की छानबीन करना, यथार्थ रूप से विचार करना, उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं, परन्तु भारत में ऐसी दशा नहीं है। मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा बतलाया है[1]। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के अवसर पर समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या (विचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र) को अपना ही स्वरूप बतलाकर[2] उसकी महत्ता पर्याप्तरूपेण प्रदर्शित की है। अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य का कहना है[3] कि आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के लिए दीपक है, सब कर्मों के अनुष्ठान का साधन-मार्ग है तथा सब धर्मों का आश्रय है। जैसी स्वतन्त्रता विचारशास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी स्वतन्त्रता और कहीं भी इसे प्राप्त नहीं हुई। ग्रीस देश में अपनी उन्नति के

स्वतन्त्र-स्थिति

---

१ स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (१।१)।

२ अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्—(गीता १०।३२)।

३ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता।
(कौटिल्य अर्थशास्त्र १।२)।

समय में प्लेटो और अरिस्टाटल के महत्त्वपूर्ण काल में भी विचारशास्त्र राजनीति या आचारशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में अध्ययन का विषय था; माध्यमिक काल में क्रिश्चियन धर्मशास्त्र के साथ तथा उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति, इतिहास तथा समाजशास्त्र के संग में इसके तत्त्वों का अन्वेषण किया गया है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र सदा अपने पैरों पर खड़ा रहा है, अध्ययन का स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, साथ ही सदा अन्य विद्याओं की प्रगति में सहायता देता आया है।

दर्शन और धर्म

भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र की लोक-प्रियता जितनी है उतनी किसी भी अन्य देश में नहीं। पाश्चात्य देशों में दर्शनशास्त्र विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन मात्र है। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मनमानी कल्पना किया करते हैं उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है, परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्व ज्ञान तथा भारतीय जीवन का, गहरा सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से सन्तप्त जनता की शान्ति के लिए, क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति करने के लिए ही भारत में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। विचारशास्त्र पण्डितजनों की कमनीय कल्पना का विजृम्भण मात्र नहीं है; अपितु उसका अधिराज्य इस व्यावहारिक जगतीतल पर है। अन्य देश में विचारशास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है, किन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है; जैसा विचार, वैसा आचार। विना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और विना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता अप्रतिष्ठित है। इन दोनों का सामञ्जस्य जितना इस भारतवर्ष में दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं। पश्चिमी विचारशास्त्र के अनेकांश में प्रतिष्ठाता यूनानी दार्शनिक अफलातूँ (प्लेटो) की यह नितान्त विख्यात उक्ति है कि दर्शन का उद्गम आश्चर्य से होता है (फिलासफी बिगिन्स इन वन्डर), आश्चर्य-जनक तथा कौतुकमय घटना की व्याख्या से विचारशास्त्र की उत्पत्ति होती है, परन्तु भारत में तो इसकी उत्पत्ति दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या तथा उसके निराकरण करने के लिए साधन-मार्ग की विवेचना से होती है। भारतीय जीवन तथा धर्म के ऊपर इतना प्रकृष्ट प्रभाव डालने के कारण ही दर्शन की इतनी लोकप्रियता है।

भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिककाल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस धारा में विराम के दर्शन तो कभी नहीं हुए। अन्य देशों के दर्शनशास्त्र से तुलना करने पर इस विशेषता की महत्ता का पर्यात रूप से अनुभव किया जा सकता है। क्या किसी अन्य देश में विचार-धारा इतने प्राचीन-काल से प्रवाहित हो रही है? आधुनिक काल में महत्ता पानेवाला पाश्चात्त्य दर्शन क्या अपने जीवन में इतना विपुल विकास पाने में समर्थ हो सका है? पाश्चात्त्य दर्शन की उत्पत्ति विक्रम-पूर्व सातवीं शताब्दी के आसपास प्राचीन यूनान में हुई, परन्तु उसका प्रवाह चलते-चलते रुक गया; फिर किसी विशेष दार्शनिक का जन्म हुआ और उसके प्रभाव से वह विचारधारा कुछ और अग्रसर हुई। जब तक उसका प्रभाव बना रहता है तब तक इसका प्रवाह भी समीचीन रूप से बहता है, परन्तु उसके प्रभाव के न्यून होते ही यह प्रवाह फिर स्थगित हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्त्य दर्शन की धारा उस नदी के समान है, जो कभी दृष्टिगत होती है और कभी दृष्टि से ओझल हो जाती है, परन्तु भारतीय दर्शन की धारा उस पुण्यसलिला गंगा के समान है, जो अनेक क्षुद्र नद तथा विपुलकाय नदियों के जल से परिपुष्ट होती हुई शुष्क स्थानों को जलाप्लावित तथा क्षेत्रों को शस्य-सम्पन्न बनाती हुई अपने निश्चित गन्तव्य स्थान की ओर समभाव से सदैव बहती चली जाती है। इस दीर्घकाल के जीवन में विभिन्न सभ्यताभिमानी जातियों तथा धर्माभिमानी पुरुषों के साथ सम्पर्क होने पर भी भारतेतर विचारों का प्रभाव इस दर्शन पर तनिक भी न पड़ सका; प्रत्युत अपनी विशालता तथा विशुद्धता के कारण इसी ने अन्य दर्शनों के ऊपर प्रकृष्ट प्रभाव जमाने में विशेष क्षमता प्राप्त की। प्राचीन यूनान के विचारक-मूर्धन्य पाइथेगोरस के रेखागणित, धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर—विशेषतः पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के ऊपर—भारतीय दर्शन के प्रभाव पड़ने की घटना इतिहास के साक्ष्य पर प्रामाणिक मानी जाती है। सूफी लोगों के ऊपर वेदान्त तथा तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा ही था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कर उनके सिद्धांतों को स्वधर्मावलम्बियों में फैलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। फारसी भाषा में अनूदित इन्हीं उपनिषदों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया, जिसके कारण भारतीय विचार की श्रेष्ठता तथा सुन्दरता का परिचय पहले पहल यूरोप के दार्शनिकों को हुआ। इन्हीं अनुवादों को पढ़कर जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावेर उपनिषदों के सूक्ष्म उन्नत विचारों पर इतने रीझ गये थे कि उन्हें अनेक सिद्धान्तों की स्फूर्ति इन ग्रन्थों से हुई और उन्होंने यह उदार हृदयोद्गार

अविच्छिन्नता

निकाला कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देनेवाले हैं और मेरी मृत्यु में भी सन्तोष देनेवाले रहेंगे। आजकल भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद संसार की समस्त सभ्य भाषाओं में हो गये हैं या हो रहे हैं। साथ ही इन अनुवादों के द्वारा भारत के विचार-शास्त्र का प्रभाव अलक्षित रूप से संसार के धर्मों तथा दर्शनों पर पड़ रहा है। इस प्रकार अन्य किसी विचार-धारा से बिना प्रभावित हुए अन्य दर्शनों पर प्रभाव डालने की विशेषता भारतीय दर्शनों की महत्ता सूचित कर रही है[1]।

विवेचनात्मकता

भारतीय तत्त्वज्ञान भारतीय धर्मज्ञान के समान उदार तथा व्यापक, विशाल तथा विवेचनात्मक रहा है। भारतीय जनश्रुति का बोझ कभी इसके उन्नति मार्ग में व्याघातक नहीं रहा है। ऐहिक तथा पारलौकिक तत्त्वों के विश्लेषण कार्य में तार्किक बुद्धि का उपयोग करने में ही दर्शन की 'दर्शनता' है। यदि धार्मिक परंपरा इस नैसर्गिक कार्य में व्याघातक बनती है, तो विचारों का विकास स्वाभाविक रूप से अग्रसर नहीं हो सकता। यूरोप के माध्यमिक काल में ईसाई धर्म के संप्रदाय ने दर्शन का गला घोंट डाला। वह उस धर्म के अस्वाभाविक तर्क विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगा। फलतः माध्यमिक काल में यूरोपीय तत्त्वज्ञान की बाढ़ रुक गई, वह धर्म के स्रोतहीन जलाशय के ऊपर ही तैरता रह गया। परन्तु इस पुण्यमय भारत देश में ऐसी विषम स्थिति कभी उपस्थित ही नहीं हुई। आरम्भ से ही भारतीय तत्त्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है और तार्किक बुद्धि की कसौटी पर धर्म के माननीय सिद्धान्तों को भी बताने तथा परखने से वह कभी नहीं हिचकता। ईश्वर जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर भी वह अपना स्वतंत्र विचार प्रकट करने में तनिक भी पीछे नहीं हटता। सांख्य ने ईश्वर की सत्ता के विषय में मौनावलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझा, यद्यपि उसे निश्चय है कि वह तार्किक युक्तियों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता[2]। योग एक निरतिशय ज्ञान-संपन्न परम पुरुष की कल्पना को स्वीकार करता है[3], परन्तु नैयायिकों की भाँति वह उसे जगत् का कर्ता मानने के लिए उद्यत नहीं है।

---

१ कीथ—रिलिजन ऐण्ड फ़िलासफ़ी आफ वेद। पृ० ६३४–३७।

२ ईश्वरासिद्धेः—सांख्यसूत्र १।९२।

३ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(योगसूत्र १।२४।)

कर्ममीमांसा खंडन करने के लिए पूर्व पक्ष के रूप में ईश्वर का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करती है[1], क्योंकि जगत् के समस्त व्यवहार के लिए वह कर्म को ही सर्व-प्रधान स्थान देती है[2]। प्राचीन बौद्धों (हीनयान मतावलम्बियों) को तथा जैनों को इस संसार के कार्य-कलाप की व्याख्या के लिए ईश्वर के प्रति तनिक भी पक्ष-पात नहीं है। भौतिकवादी चार्वाकों ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर का निराकरण किया है, वैदिक विधि-विधानों की अस्वाभाविक तथा तर्क-विरुद्ध होने के कारण खुले शब्दों में खिल्ली उड़ाई है, ब्राह्मण पुरोहितों पर गालियों की बौछार की है, परन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में वेद-बाह्य चार्वाक भी उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना वेदानुयायी नैयायिक। निरीश्वरवादी सांख्य को उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्त को। इस प्रकार भारत के तत्त्वज्ञान में जो व्यापकता, उदार हृदयता, विवेचना-शक्ति आलो-चकों की दृष्टि को आनन्दित करती है, वह अन्य देश के तत्त्वज्ञान में अप्राप्य ही है।

३—भारतीय दर्शन का लक्ष्य

आर्यावर्त के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहेली को समझाने का जो प्रयत्न अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर किया है वह विचारशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरव की वस्तु है। इन अनेक रूपात्मक, क्षण-क्षण में विलक्षण रूप धारण करनेवाले पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान रहनेवाली एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता को खोज निकालना प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शनशास्त्र को बहुमूल्य, महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिवर्तन-शील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है—ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा है आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड पिण्डाण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है। ब्रह्म कोई अलभ्य तथा अलौकिक और अद्‌भुत पदार्थ नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक (अन्तर्यामी) आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव किया करता है। इसीलिए ब्रह्म का साक्षात्कार करने तथा उसे पहचानने

---

१ मानमेयोदय (अड्यार संस्करण, पृ० १६६–१७१।)

२ देखिए इसी ग्रन्थ में इन दर्शनों का वर्णन।

का सबसे बड़ा उपाय है आत्मा को पहचानना और उसका साक्षात्कार करना। जगत् के समस्त प्रिय पदार्थों में श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा ही है।

आत्मा की श्रेष्ठता

क्या आत्मा की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की आवश्यकता है? जीवन के समस्त कार्य-कलापों के बीच इसी की शक्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। किसी जगह से शुरू कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा के ही ऊपर पर्यवसान होगा। शिक्षालयों के छात्र कितनी लगन से विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहते हैं? किस उद्देश्य से? ज्ञान-प्राप्ति की कामना से। ज्ञानोपलब्धि का फल है धन, धन से कौटुम्बिक सुख, कौटुम्बिक सुख से अन्तिम लाभ है आत्मसुख। इसी से हम कहते हैं कि कहीं से देखा जाय प्रिय पदार्थों की गणना में आत्मा ही प्रियतम (श्रेष्ठ) ठहरता है। इस विशाल विश्वरूपी वृत्त के केन्द्र में स्थित होनेवाला है—यही आत्मा। प्रियतम होने के कारण ही पुत्रवत्सला करुणामयी माता की भाँति श्रुति उपदेश देती है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करो—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"। मुक्ति की कल्पना में पर्याप्त मतभेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में नितान्त एकमत हैं—"आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः"। आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है।

याज्ञवल्क्य का उपदेश

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४) की यह कथा प्रसिद्ध है कि वृद्धावस्था आने पर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का विभाग अपनी दोनों पत्नियों (कात्यायनी तथा मैत्रेयी) के बीच में कर दिया। तब विदुषी मैत्रेयी ने अस्थिर लौकिक सम्पत्ति के ग्रहण करने में बड़ी अनास्था दिखलाई और पूछा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी मेरे लिए धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उससे अमरत्व को प्राप्त कर सकूँगी? 'बिलकुल नहीं' महर्षि ने उत्तर में कहा। "तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा जिसे आनन्द की समस्त **सामग्रियाँ** प्राप्त हैं, परन्तु केवल धन प्राप्ति से अमरत्व पाने की तनिक भी आशा नहीं है।" तब मैत्रेयी ने पुनः पूछा कि जिस धन से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती उसको लेकर मैं क्या करूँगी? मैं तो अमरत्व की भूखी हूँ। तब महर्षि ने उससे सम्पत्ति से बढ़कर प्रियतर वस्तुओं का नाम पूछा। मैत्रेयी ने ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया। इस उत्तर को सुनकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा

दर्शन के इतिहास में सदा अमर रहेगा। उन्होंने कहा—"पति के लिए पति प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए। पत्नी के लिये पत्नी प्यारी नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिये। संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होती, बल्कि आत्मा के लिये। अतः सबसे प्रिय वस्तु आत्मा ही है। इसलिये इस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान करना) चाहिये। क्योंकि आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है[१]।"

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश भारतीय दर्शन तथा धर्म की मूल भित्ति है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा का साक्षात्कार–आत्मा का साक्षात् अनुभव है। इस अनुभव के लिये उपनिषद् तीन साधनों का उपदेश देता है—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। आत्म-तत्त्व का श्रवण करना चाहिये श्रुति वाक्यों से, मनन करना चाहिये तार्किक युक्तियों से तथा निदिध्यासन करना चाहिये योग-प्रतिपादित उपायों के द्वारा[२]।

श्रवण—आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से हमें प्राप्त करना चाहिये जिनमें आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के अनुभवों का वर्णन है। भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रन्थ-रत्न वेद हैं। इसीलिये भारतीय दर्शन में वेदों की इतनी महत्ता है, क्योंकि जिन ग्रन्थकारों ने अपने अनुभव के विना दूसरों के अनुभवों का वर्णन किया है उनके वचन हमारे लिये मान्य नहीं हो सकते। इसीलिये महर्षियों की स्वानुभूति को प्रदर्शित करने वाली श्रुति तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रकट करने में सबसे अधिक प्रमाण मानी जाती है[३]। इसीलिये आत्म-तत्त्व-विचार के लिये भगवती श्रुति (वेद) की शरण लेना परमावश्यक है।

---

१. **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति"**
(बृह० उप० २।४।५)।

२. **श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।**
मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

३. **धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।**
(मनु, २।१३।)

मनन—आत्मानुभव का दूसरा साधन मनन है। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त निःसंदिग्ध हैं, संशय के लिये उसमें कोई भी स्थान नहीं है; तथापि मनन जरूरी है। विना तर्क का उपयोग किये किसी वस्तु का स्वरूप हृदयंगम नहीं किया जा सकता। संदेह हीन ज्ञान के एकमात्र उपयोगी होने से मनन की आवश्यकता है। इसी मननरूपी द्वितीय साधन के परमोपयोगी होने से दर्शनों का वास्तविक मूल्य है। दर्शनों ने इसी प्रमेय सिद्धि को लक्ष्य में रख कर स्वमतानुसार प्रमाण तथा उसकी पद्धति का विवेचन किया है। प्रमाणों का वास्तविक उपयोग प्रमेय की सिद्धि में ही होता है। इसीलिये मननोपयोगी दर्शनों ने प्रमाण-मीमांसा को इतना अधिक महत्त्व दिया है।

निदिध्यासन—आत्म-साधना का तृतीय साधन है—निदिध्यासन। योग-दर्शन में यह साधन प्रधानतया वर्णित तथा विवेचित है। 'अष्टाङ्गयोग' निदिध्यासन ही का उपाय है। ध्यान के द्वारा जब तक आत्मा का स्वानुभव नहीं होता, तब तक श्रवण तथा मनन का उपयोग ही क्या है? दिक्–काल से अनवच्छिन्न, शान्त, तेजःस्वरूप परमात्मा की सत्ता का प्रधान प्रमाण है अपने आपका अनुभव। इसलिये भर्तृहरि ने ब्रह्म को "स्वानुभूत्येकमान" बतलाया है[1]। ध्यान ही इसके लिये प्रधान साधन है। संशय तभी हटाया जा सकता जब मनन के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों का निरन्तर चिन्तन किया जाय। इन भ्रान्तियों को अपने हृदय से विना उन्मूलित किये सच्चे सिद्धान्तों की कल्पना नहीं जम सकती। इसलिये निदिध्यासन आत्म-साधन का अन्तिम उपाय बतलाया गया है।

आत्म-साधन के इन त्रिविध साधनों में केन्द्रभूत उपाय **मनन** का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये आपस में एक दूसरे के उपकारी हैं। धर्म के सहयोग से भारतीय विचारशास्त्र की जीवन के ऊपर व्यापक दृष्टि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा दर्शन की आधारशिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म तर्कसिद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार इस पुण्य भूमि भारतवर्ष में गंगा और यमुना के सम्मिलन के समान धर्म तथा दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामञ्जस्य का सूचक है।

---

१. दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥
(भर्तृहरि—नीतिशतक, श्लो० १)

४—भारतीय दर्शन का श्रेणी-विभाग

हिन्दू ग्रन्थकारों ने भारतीय दर्शनों को दो विभागों में विभक्त किया है—आस्तिक तथा नास्तिक।

(१) साधारण बोलचाल की भाषा में **'आस्तिक'** ईश्वर की सत्ता मानने वाले को तथा **'नास्तिक'** उस सत्ता के निषेध करने वाले को कहते हैं। परन्तु इस प्रचलित अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग दर्शनों के साथ नहीं किया गया है। आस्तिक दर्शनों में अन्तर्भुक्त होने पर भी कर्म-मीमांसा कर्म की महत्ता स्वीकार कर तथा फल के लिये 'अपूर्व' की कल्पना को प्रमाणयुक्त मानकर ईश्वर का निषेध करती है तथा सांख्य प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से सृष्टि-कार्य की सुसम्पन्नता मानकर ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है। बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शनों के लिए ईश्वर सत्ता के निषेधक होने के हेतु 'नास्तिक' शब्द प्रयोग के उपयुक्त भले हों, पर मीमांसा तथा सांख्य का आस्तिक दर्शनों के भीतर अन्तर्भाव इस दृष्टि से नितान्त अनुचित होगा।

(२) पाणिनि ने इनकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में की है—'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वास-शील पुरुष। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दों की व्युत्पत्ति—'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (४।४।६०) सूत्र से ठक् प्रत्यय के द्वारा सिद्ध मानी गई है। इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ में व्यवहृत होने पर जैन तथा बौद्ध दर्शनों की भी गणना आस्तिक मतों में होने लगेगी, क्योंकि इन दर्शनों में भी अन्य दर्शनों के समान कर्म-सिद्धान्त अंगीकृत है तथा परलोक की सत्ता में इन्हें पक्का विश्वास है। इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन ठहरेगा।

(३) अतः यहाँ 'आस्तिक' का प्रयोग पूर्वोक्त दोनों अर्थों में न होकर एक तीसरे ही अर्थ में किया गया है। 'आस्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा 'नास्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता का समर्थक न होकर उसका निन्दक है। मनु ने वेद-निन्दक को (नास्तिको वेद-निन्दकः २।११) नास्तिक माना है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया गया है। वेद की प्रामाणिकता मानने से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन माने जाते हैं तथा वेद की प्रामाणिकता न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक माने जाते हैं। सब दृष्टि से ईश्वर, वेद तथा परलोक को न माननेवाला चार्वाक ही पक्का नास्तिक है।

परन्तु भारतीय दर्शनों का यह श्रेणी-विभाग उतना युक्तियुक्त नहीं है। पाञ्चरात्र संहिता, शैव संहिता तथा शाक्त संहिता में वैदिक तथा वेदबाह्य सिद्धान्तों का विचित्र संमिलन है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२) में बादरायण ने पाञ्चरात्र तथा शैव सिद्धान्तों को अवैदिक मानकर इनका सप्रमाण खण्डन किया है। पाञ्चरात्र के अंश को शंकराचार्य खण्डनात्मक मानते हैं, परन्तु रामानुजाचार्य के मन्तव्यानुसार सूत्रों में पाञ्चरात्र का मण्डन किया गया है। इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि पाशुपत तथा पाञ्चरात्र के सिद्धान्त नितान्त वेद-सम्मत स्वीकार नहीं किये जाते थे। शिवमहिम्नः स्तोत्र में "त्रयी सांख्यं योगः पशुपति-मतं वैष्णवमिति" पद्यांश में पाशुपत मत तथा वैष्णव मत की त्रयी से पृथक् गणना करने का तात्पर्य भी यही है। अतः तन्त्रमूलक दर्शनों का निर्वाह पूर्वोक्त वर्गीकरण के स्वीकृत होने पर कहीं नहीं हो सकेगा, क्योंकि इनके सिद्धान्तों (चतुर्व्यूह की कल्पना आदि) को वेदानुकूल न मानने पर भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, दुःखात्यन्त निवृत्ति आदि अनेक सिद्धान्तों की वेदानुकूलता स्पष्ट है। अतः इन आगम ग्रन्थों के आधार पर निर्मित दर्शनों की उत्पत्ति के लिए पूर्वोक्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का श्रेणी-विभाग नितान्त अनुपयुक्त है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में श्रुति तथा गीता के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का वर्णन किया जायेगा, जो सर्वसाधारण में 'नास्तिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। तृतीय खण्ड में उन षड्दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त) का विवेचन किया जायेगा जो श्रुतिमूलक होने से 'आस्तिक' दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ खण्ड में भक्ति की भव्य कल्पना को महत्त्व देनेवाले तथा आगम की मूल भित्ति पर अवलम्बित होनेवाले पाञ्चरात्र, शैव तथा शाक्त दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन किया जायेगा। साधारणतया बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक—में विभक्त होने से नास्तिक दर्शन भी आस्तिक दर्शनों के समान छः प्रकार का होता है और इन्हीं बारह दर्शनों का विवेचन प्रचलित दर्शन पुस्तकों में उपलब्ध होता है, परन्तु आगममूलक दर्शनों का विवेचन न करना एक बड़ी भारी त्रुटि है। भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगमागम मूलक है, एक धारा है निगम (वेद) मूलक और दूसरी है आगम (तंत्र) मूलक। अतः इन द्विविध विचार-धाराओं से प्रभावित दर्शनों का निरूपण करना व्यापक दृष्टि से नितान्त उपयुक्त है।

काल-विभाग

भारतीय दर्शन के इतिहास को हम तीन निश्चित कालों में बाँट सकते हैं—(१) **वैदिक काल**—यह काल बड़े महत्त्व का है। इस काल में ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओं में संकेतित तत्त्वों का विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकों से होता हुआ उपनिषदों में पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ है। उपनिषदों में हम अनेक तत्त्वों की पर्यालोचना पाते हैं। इन तत्त्वों का विवेचन आत्म-स्फूर्ति या प्रातिभ-ज्ञान के बल पर इतनी सुन्दर रीति से किया गया है कि वे हमारे अन्तस्तल को स्पर्श करते हैं। उपनिषद्कालीन दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके द्वारा चरम तत्त्व का साक्षात्कार अनुभव के ही सहारे किया गया था, अन्यथा उनके वर्णनों में इतनी तलस्पर्शिता, रोचकता तथा सरलता नहीं होती।

(२) **आदिम उत्तरवैदिक काल**—यह काल वैदिक धर्म के विरोध का युग है। उपनिषद्काल में ही अनेक वेदविरोधी मतों की दबी हुई अस्फुट वाणी हमें सुनाई पड़ती है, लेकिन इतनी अस्फुटता से कि उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उपनिषदों के महत्त्वशाली युग के बीतते ही इन विरोधी दलों ने अपनी वाणी ऊँची की; ये अपने मतों की घोषणा उच्च स्वर से करने लगे। इन विरोधी दलों में आजीवक तथा चार्वाक का प्रभाव तो थोड़े ही समय तक व्यापक था, किन्तु जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि अवान्तर काल में ब्राह्मण दार्शनिकों से वे सदा टक्कर लेते रहे, साथ ही साधारण जनता के प्रेमपात्र होने से अपनी वृद्धि करने में कृतकार्य भी हुए।

(३) **दर्शनकाल**—इस काल को हम दो अवान्तर विभागों में बाँट सकते हैं—(क) **सूत्रकाल** तथा (ख) **वृत्तिकाल**। सूत्रकाल में न्याय तथा वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। उपनिषदों में सूचित तथ्यों को ग्रहण कर दार्शनिकों ने विभिन्न मतों की स्थापना इसी युग में की। सूत्रों की रचना का यह अभिप्राय नहीं है कि उसी समय से दर्शन का आरम्भ होता है; प्रत्युत ये सूत्र अनेक शताब्दियों की आध्यात्मिक गवेषणा के परिनिष्ठित फलस्वरूप हैं। सूत्रों में पारस्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं। वेदान्त सूत्रों (३।४।२८) में मीमांसा का उल्लेख है, न्याय-सूत्र (अ० ३, आ० २) वैशेषिक सूत्रों से परिचित है। सांख्य सूत्र (पञ्चमाध्याय) अन्य दर्शनों के सिद्धान्त का निर्देश करता है। इन सूत्रों के

रचना काल के विषय में विद्वान् लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु मोटे तौर से ४०० विक्रम-पूर्व से २०० विक्रम-पूर्व तक इनका निर्माण-काल स्वीकृत किया जा सकता है।

(ख) **वृत्तिकाल**—सूत्रों की शब्दावली इतनी स्वल्प तथा निगूढ़ है कि वृत्ति की सहायता के बिना इसका अर्थ बोधगम्य नहीं होता। अतः भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना सूत्रों के रहस्य समझाने के लिए इस युग में की गई। शबर तथा कुमारिल, वात्स्यायन तथा प्रशस्तपाद, शङ्कर तथा रामानुज, वाचस्पति तथा उदयन के आविर्भाव-काल होने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है। टीकाकार होने से इनकी रचनाओं की मौलिकता कम नहीं है; प्रत्युत मूल लेखक के समान ही ये भी नितान्त प्रामाणिक हैं। इनकी सहायता से प्राचीन आचार्यों के मतों का रहस्योद्घाटन ही नहीं होता; प्रत्युत अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना कर ये तत्तद्दर्शनों के सिद्धान्तों को विकसित करनेवाले हैं। तार्किक युक्तियों के द्वारा प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना इस काल की विशेषता है। उपनिषद् के पृष्ठों में स्फुरित तत्त्वों की तर्क के द्वारा स्थापना करना इस युग के लिए एक गौरव की वस्तु है। यह काल ३०० विक्रमी से लेकर १५०० विक्रमी तक माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन के काल-विभाग की यही सामान्य रूप-रेखा है, परन्तु पूर्वोक्त काल-विभाग एकदम नियमित तथा सुव्यवस्थित नहीं है। हमने इस ग्रन्थ में इन तीनों युगों के दर्शनों का परिचय दिया है। दूसरे परिच्छेद में श्रौत दर्शन के वर्णन के रूप में वैदिककालीन तत्त्वज्ञान के सम्मान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण है। गीता, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का आविर्भाव दूसरे युग से सम्बन्ध रखता है, जिनका भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में निरूपित दर्शनों का विवेचन तीसरे युग का संक्षिप्त विषय है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के विभिन्न युगों के विकास का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया गया है। भिन्न-भिन्न कालों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की चर्चा तत्तत् स्थानों पर उचित रीति से की गई है।

षड्दर्शन का श्रेणी विभाग

ऊपर निर्दिष्ट षड्दर्शन के सिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी कतिपय अंशों में उनमें समानता दीख पड़ती है। हिन्दू दार्शनिक अधिकार-भेद से दर्शन का भेद मानता है। मनुष्य का मानसिक विकास निसर्गतः भिन्न-भिन्न श्रेणी का है। सब मानवों की विचारधारा एक ही प्रवृत्ति को लेकर प्रवृत्त नहीं होती। दर्शन के व्यावहारिक होने से प्रत्यक्ष है कि मनुष्य के

बौद्धिक विकास के अनुरूप ही दर्शनों का निर्माण होना चाहिए। इसका ध्यान भारतीय दर्शन में सुन्दर ढंग से रखा गया है। दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म की ओर बढ़ने में है। सबसे स्थूल तथा प्रत्यक्ष गम्य वस्तु है—यह जगत् तथा इसका अनुभव। अतः जगत् के अनुभव की व्याख्या करने में प्रवृत्त होने से न्याय वैशेषिक की गणना सर्व-प्रथम की जाती है। अनन्तर सांख्य-योग की गणना है, जो मानस अनुभव तथा मानसिक प्रक्रिया के वर्णन में विशेष रूप से व्यस्त है। मीमांसा तथा वेदान्त का स्थान इन दोनों दर्शनों के अनन्तर है। मीमांसा धर्म का तथा वेदान्त परमात्म-तत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार षडदर्शनों की तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं—

(१) न्याय तथा वैशेषिक, (२) सांख्य तथा योग, (३) कर्म-मीमांसा (मीमांसा) तथा ज्ञान-मीमांसा (वेदान्त) परस्पर विभिन्नता के सद्भाव में भी इनमें विशेष समानता है जिसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

६—भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता

किसी देश का विचारशास्त्र उस देश की सभ्यता और संस्कृति का सबसे मूल्यवान् पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होनेवाले विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में कुछ भेद भले ही दिखलावें, परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है।

सबसे बड़ी विशेषता भारतीय दर्शनों की यह है कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। जनता के आधि-व्याधि-पूरित दैनिक जीवन से हटकर वे किसी काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते। विपद्ग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करा देना ही उनका प्रधान लक्ष्य है। इनका लक्ष्य मानसिक कौतूहल का हटाना ही नहीं; अपितु ऐसा जीवन व्यतीत करना सिखलाना है जो राग-द्वेष से संयुक्त न होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्पृहणीय है।

व्यावहारिक उद्देश्य

इस व्यावहारिक उद्देश्य का कारण यह है कि भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के आध्यात्मिक असन्तोष के ऊपर अवलम्बित है। वर्तमान से असन्तोष,

वर्तमान से सन्तोष

दिन-प्रति दिन की दुःखद घटनाओं से निराशा विचारशास्त्र का जनक होता है। दुःखमय वर्तमान से असन्तोष हुए बिना सुखमय भविष्य की कल्पना दुराशा-मात्र है। इस लिये भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय इस मौलिक प्रश्न को लेकर आगे बढ़ते हैं। बुद्ध ने निरतिशय गाढ़ समाधि के बल पर जिन चार 'आर्य सत्यों' को खोज निकाला, वे समग्र सम्प्रदाय में उसी प्रकार माननीय हैं। व्यास[1] तथा विज्ञानभिक्षु[2] का यह कथन नितान्त सत्य है कि अध्यातमशास्त्र चिकित्साशास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगनिदान, आरोग्य तथा भैषज्य—इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार आध्यात्म-शास्त्र दुःख, दुःखहेतु, मोक्ष तथा मोक्षोपाय—इस सिद्धान्त-चतुष्टय को मूल-भूत मानकर इनकी व्याख्या यथाशक्ति करता है। इस जगत् के कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने पर विवेकी जन इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह संसार नितान्त दुःखमय है तथा दुःख ही परम सत्यभूत पदार्थ है[3]। यह पहिला सत्य है, दूसरा सत्य इस दुःख का कारण द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग है (यू० सू० २।१७), तीसरा सत्य यह है कि इस दुःख का निरोध (रोकना) है और अन्तिम सत्य इस निरोध के मार्ग की व्याख्या करने में है। इस प्रकार भारतीय दर्शन दुःख की सत्ता को इस जगतीतल पर विद्यमान मान कर अवश्य प्रवृत्त होता है, परन्तु वह वहीं समाप्त नहीं हो जाता; प्रत्युत आगे बढ़ कर उसे दूर करने का मौलिक उपाय खोज निकालता है। सांख्याकारिका के आरम्भ में विचारशास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बतलाया है[4]। इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा से असन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने की

---

१ "यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुः, आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्। तद्यथा संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपायः" इति।

(व्यासभाष्य २।१५)

२ सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ६।

३ दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेयं दुःखमनागतम्।

(योगसूत्र २।१५, १६)

४ दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

(सां० का०, का० १)

प्रवृत्ति साधारण रूप से पाई जाती है। भारतीय संस्कृति में निराशावाद के अभाव का साहित्यिक प्रमाण भी है। संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटक (ट्रैजिडी) का अभाव है। संस्कृत नाटककार मनुष्यमात्र के हृदय में आशासंचार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर दुःखमय अन्त दिखलाने की कभी कल्पना ही नहीं करता। नाटक के भीतर दुःखमयी घटनाओं का प्रदर्शन करने पर भी यह अन्त में इन्हीं घटनाओं को सुखमयी और आनन्दमयी बना डालता है।

नैतिक व्यवस्था में विश्वास

मनुष्य स्वभाव से ही आशावादी है। निराशावाद की कालिमा उसके जीवन तथा विचार के नभो-मण्डल को क्षण भर के लिये भले ही दूषित कर दे, परन्तु आशावाद की नैसर्गिक प्रवृत्ति इस कालिमा को बहुत शीघ्र धो डालने में समर्थ होती है। क्रान्तदर्शी कविजनों की दृष्टि ने इस तरह तत्त्व को खोजा था कि इस विश्व में अव्यवस्था के लिए तनिक भी स्थान नहीं है, प्रत्युत सर्वत्र व्यवस्था ने अपना साम्राज्य जमा रखा है। यह जगत् व्यवस्था-नर्तकी की मनोरम रङ्गशाला है, जिसकी छोटी से छोटी वस्तु भी यदृच्छा से प्रवृत्त नहीं होती; प्रत्युत एक व्यापक नियम के वशीभूत होकर अपने जीवन का विस्तार करती है। दिन के अनन्तर रात का आगमन, नित्य प्रातःकाल सुवर्णमय रश्मियों को छिटकाते हुए पूर्व क्षितिज पर भगवान् सविता का मंगलमय उदय, रात्रि के समय रजतरश्मियों का विस्तार करने वाले सुधाकर का आविर्भाव तथा क्रमशः वृद्धि और ह्रास आदि प्राकृतिक दृश्य का निरीक्षण करने वाले वैदिक ऋषियों के हृदय में यह विश्वास स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हो गया कि इस जगत् के मूल में व्यवस्था है। ऋग्वेद के ऋषियों ने इस अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा दी है। इस जगत् में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला 'ऋत' ही है। "ऋतं च सत्यं चाभी-द्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ० वे० १०।१९०।१) ऋत की उत्पत्ति पहले हुई, तदन-न्तर सत्य का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। भारतीय दार्शनिकों ने इसी 'ऋत' के सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न रूपों में अपनाया है। वैदिक कार्यकलाप अनुष्ठान किये जाने पर सर्वथा लुप्त नहीं हो जाते; प्रत्युत एक 'अपूर्व' की सृष्टि करने में वे समर्थ होते हैं। यही अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतः मीमांसा ने ऋत को ही 'अपूर्व' के रूप में अंगीकार किया है। न्याय वैशेषिक में 'अदृष्ट' की कल्पना का मूल आधार 'ऋत' की यही वैदिक कल्पना है।

जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म सिद्धान्त है, जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य

कर्म सिद्धान्त

उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्व जन्म में किये गए कर्म का ही परिणाम है। वह विना कारण उद्-भूत होने वाला नहीं है। कर्म सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा के लिए कोई भी स्थान नहीं, सर्वत्र नैतिक सुव्यवस्था का साम्राज्य विराजमान है। कर्म सिद्धान्त को अंगीकार करने से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के विकाश के लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलता है। कर्म सिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषद् काल में हुई थी और वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने इस सिद्धान्त को वहीं से ग्रहण किया है[1]।

संसार के जितने बन्धन हैं उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही इस जगत् में प्राणीमात्र का जन्म-मरण हुआ करता है तथा वह अपने को विपुल

अविद्या से बन्धन तथा विद्या से मुक्तिलाभ

क्लेशों का भाजन बनाये हुए है, इस सिद्धान्त को भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय एक रूप से स्वीकार करते हैं। अविद्या के स्वरूप-निरूपण में भी सर्वत्र ऐकमत्य है। योग-सूत्रों के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" योo सूo २।५)। यह अविद्या ही अन्य समस्त अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभि-निवेशक्लेशों की जननी है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अविद्या का सामान्य लक्षण है। ज्ञान ही मुक्ति का एकान्त उपाय है। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**—यह सिद्धान्त सबको समान रूप से मान्य है।

तत्त्व ज्ञान के साधन से केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति ही ध्येय नहीं है; अपितु उसका उपयोग व्यवहारिक जगत् के तापत्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक

---

१ (क) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति।

(बृहo उपo ३।२।१३)

(ख) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥

(कठo उपo २।५।७)

मोक्ष

तथा आधिदैविक सन्तापों) से सदा के लिए प्राणीमात्र को छुटकारा प्राप्त कराने में है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है। इसी कारण जैनधर्म के आचार्यों की संज्ञा 'तीर्थंकर' है। इस शब्द का अर्थ है नदी के ऊपर उस पार जाने के लिए मार्ग का निर्माणकर्ता। इस अभिधान की उपयुक्तता इस कारण से है कि साधन मार्ग के उपदेशक आचार्यगण इस आधिव्याधिप्रपूरित भवसागर से पार जाने के लिए साधनभूत तत्त्वज्ञान की साधना का उपदेश देते हैं। मनुष्यमात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में **'पुरुषार्थ'** कहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। विचार-शास्त्ररूपी कल्पतरु का मोक्ष ही अमृतफल है। मोक्ष के विषय में एक विचित्र धारणा फैली हुई है कि इसकी प्राप्ति का स्थान यह जीवन नहीं है, परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अधिकांश दर्शनों में इस जन्म में ही ताप-संताप से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेना—जीवन्मुक्ति—परम लक्ष्य स्वीकृत किया गया है। यह नितान्त दूरस्थ आदर्श अवश्य है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का लक्ष्य काल्पनिक परलोक में दुःखनिवृत्ति न होकर जीते जी इसी देह में उस आदर्श को सिद्ध करने में है। जैन, बौद्ध तथा वेदान्त आदि षड्दर्शन जीवन्मुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैत[1] आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन्मुक्ति का आदर्श मान्य नहीं है, तथापि तत्त्वज्ञान के साधन से आत्मा ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच जाती है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि से बदल कर एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है। कठोपनिषद् (२। ३। १४) ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है[2] कि जब हृदय में रहने वाली समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। मोक्ष के ध्येय के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य होने पर भी उसके स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतवैषम्य है।

---

१ द्रष्टव्य श्रीभाष्य ४। १। १३

२ यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ उप० २।३।१४)

कुछ दार्शनिक (न्याय तथा वैशेषिक) मोक्ष की उन्नत अवस्था में दुःख की केवल निवृत्तिमात्र मानते हैं, परन्तु अन्य दार्शनिकों (मीमांसा, वेदान्त, जैन तथा महायान बौद्ध) के मत में उस समय आनन्द की उपलब्धि निश्चितरूपेण होती है।

मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में जो अनेक दर्शनों ने बता रक्खा है, एक विचित्र एकता का भाव दृष्टिगोचर होता है। विचारशास्त्र सिद्धि के द्वार तक पहुँचाकर विरत हो जाता है। इस द्वार के भीतर प्रवेश करने के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है। हम लोग गाढ़ अन्धकार से परिपूरित इस संसार में अपने गन्तव्य स्थानों को जाने के लिए अपने अपने रास्ते टटोल रहे हैं। दर्शनशास्त्र उज्वल प्रकाश की किरणों को दिखलाकर हमारे लिए मार्ग की सूचना देता है, परन्तु केवल शुष्क ज्ञान हमें लक्ष्य-प्राप्ति में कथमपि सहायता नहीं दे सकता। सुविचारित औषध भी क्या नाममात्र से आतुर पुरुष को रोग से उन्मुक्त करने में समर्थ हो सकती? काल्पनिक तत्त्वज्ञान को व्यवहारिक रूप में परिवर्तन करना चाहिए। इसका वर्णन योगसूत्रों में पूर्णरूपेण किया गया है। योगदर्शन में वर्णित प्रक्रियायें भारत के प्रत्येक दर्शन को सर्वथा मान्य हैं। बौद्धधर्म में मोक्षोपयोगी विविधि साधनों में समाधि विशिष्ट साधन के रूप में स्वीकार की गई है[1]। जैन धर्म 'सम्यक् चारित्र्य' के लिये यम, नियम तथा ध्यान को सबसे अधिक महत्त्व देता है[2]। न्यायदर्शन में भी यौगिक प्रक्रियायें आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक बतलायी गई हैं[3]। सांख्य-दर्शन में इन प्रकियाओं की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। वेदान्त-दर्शन में भी ज्ञान के आन्तरिक साधनरूप में योगसम्मत यम, नियमादि का उपयोग स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनकी कल्पनाओं में कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है[4]। इन दर्शनों के अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास है कि तर्क के द्वारा सिद्ध किया गया दार्शनिक सिद्धान्त तब तक हमारे अज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता, जब तक उसे हम आत्मसात् न कर लें। इसके लिये इन तत्त्वों का निन्तर अविच्छिन्न रूप से अभ्यास तथा मनन आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन के ऊपर अविद्या, राग तथा द्वेष का तमःपटल इतना गाढ़ है कि ज्ञानतत्त्व के निरन्तर मनन तथा अभ्यास के विना यह छिन्न-

मोक्ष-मार्ग

---

१ द्रष्टव्य—दीर्घ निकाय (हिन्दी अनुवाद)—पृ० २८-२९।

२ तत्त्वार्थसूत्र ९।२७।४६।

३ न्याय सूत्र—अध्याय ४, आह्निक २, सूत्र ३८-४८।

४ वेदान्तसार, पृ० ४७-५०।

भिन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारतीय दर्शन में तर्क-सिद्ध तत्त्वों के ऊपर निरन्तर गाढ़ मनन तथा निदिध्यासन की बात स्वीकार की गई है।

उपनिषद् का कहना है कि प्राणीमात्र के जीवन यापन के हेतु दो मार्ग हैं[१]—**प्रेयोमार्ग** तथा **श्रेयोमार्ग**। **प्रेयोमार्ग** में मनुष्य आपाततः रमणीय विषयों की ओर आकृष्ट होकर संसार में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के मूल कारण राग तथा द्वेष हैं। सुख देनेवाले पदार्थों से राग-अनुराग तथा प्रेम उत्पन्न होता है और दुःख पहुँचानेवाली चीजों से चित्त स्वतः घृणा करने लगता है। इन्हीं राग-द्वेषों का प्रभाव हमारे चित्त तथा इन्द्रियों पर इतना अधिक होता है कि वे अवश बन 'श्रेयोमार्ग' की अवहेलना कर 'प्रेयोमार्ग' का ही अवलम्बन किया करती हैं। 'श्रेयोमार्ग' वास्तव में परम मंगल साधन करने का रास्ता है। जब तक विषयोन्मुखी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों से बलात् खींचकर अन्तर्मुखी न बनाया जायगा, तब तक सच्चे कल्याण की साधना नहीं हो सकती। इस प्रकार मंगल मार्ग पर चलने के लिए आत्म-संयम तथा शुद्धि की नितान्त आवश्यकता है। चित्तशुद्धि के लिए योगदर्शन ने आठ योगाङ्गों की व्यवस्था बतलाई है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि। इन उपायों को प्रत्येक दर्शन ने आवश्यक बतला कर स्वीकार किया है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनों के विभिन्न सम्प्रदाय यह प्रकट करते हैं कि भारतीय विवेचक नाना मौलिक दृष्टिकोणों से तत्त्वों का विवेचन कर सकता है। वह लकीर का फकीर नहीं है, बल्कि अपनी बुद्धि से नये नये तत्त्वों की मीमांसा करने में समर्थ है। इसीलिए इन सम्प्रदायों में एकता है, भिन्नता नहीं; सामरस्य है, विरोध नहीं। ये सम्प्रदाय अपनी-अपनी दृष्टि से परमतत्त्व का सुन्दर विवेचन कर एक दूसरे के पूरक हैं। अधिकारी भेद से उनमें भेद होना स्वाभाविक है। प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि तथा बुद्धि एक समान नहीं हो सकती। इसलिए यह सबके लिए चिन्तन का विषय प्रस्तुत करता है।

भारतीय दर्शन संश्लेषण प्रधान है। उसमें नाना दृष्टियों से विवेचित तत्त्वों को एक साथ एक लड़ी में पिरोने का श्लाघनीय उद्योग है। यह पाश्चात्य दर्शन के समान विश्लेषण-प्रधान नहीं है। इस विवेचना से भारतीय दर्शन का रूप पाठकों के सामने भली भाँति आ सकता है।

---

१ **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।**
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(कठ उप० १।२।२।)

द्वितीय परिच्छेद

श्रौत दर्शन

वेद का महत्त्व

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन का प्राण है। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है, जहाँ से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं; प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति एवं प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है, परन्तु श्रुतिसम्मत दार्शनिक विचारों की रूपरेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार से किया जाता है—प्राचीन पद्धति से तथा अर्वाचीन पाश्चात्त्य रीति से। पाश्चात्त्य पद्धति वेदार्थ परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है, प्राचीन पद्धति इतिहास-पुराण को वेदार्थ का उपबृंहण मानती है[1] तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टिभेद की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्त्य लोग वेदों का असभ्य या अर्धसभ्य आरम्भिक आर्यजनों के अनगढ़ गायनों से बढ़कर अधिक महत्त्व देना नहीं चाहते, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार एवं धर्म का साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद ही हैं[2]। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य

---

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

(महाभारत आदिपर्व १।२५ =)

२. द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका, पृ० २।

तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपाय का बोध कराते हैं[1]। इसी भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर श्रुति-प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

वेदविभाग

संहिता

'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः' (आप० परि० ३१)। वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रत्युक्त होनेवाले अर्थ स्मारक वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं तथा यज्ञानुष्ठान का विस्तार पूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं। मन्त्रों के समुदाय को 'संहिता' कहते हैं, संहिताएँ चार हैं—ऋक् संहिता, साम संहिता, यजुः संहिता तथा अथर्व संहिता। पुराणों[2] का कहना है कि इस संहिता-चतुष्टय का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर किया। यज्ञानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता (पुकारनेवाला) देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों को उच्चारण कर तत्तद्देवता का आह्वान किया करता है। हौत्र कार्य के लिए आवश्यक मन्त्रसमुदाय का संकलन ऋग्वेद में किया गया है। उद्गाता का कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर मधुर स्वर में उन्हें गाना होता है। इस कार्य के लिए सामवेद का संकलन किया गया है। योग के विविध अंग तथा उपांगभूत अनुष्ठानों का विधिवत् सम्पादन करना अध्वर्यु का उत्तरदायी कर्तव्य है। इस आध्वर्यव कर्म के लिए यजुः संहिता का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मा का महत्त्वपूर्ण कार्य समग्र याग का विधिवत् निरीक्षण करना होता है, जिससे किसी प्रकार की त्रुटि अनुष्ठान की पूर्णता तथा सिद्धि में कथमपि बाधा उपस्थित न होने दे। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। इनका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है। इस प्रकार याज्ञ-विधान के सुचारु निष्पादन के लिए भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये भिन्न-भिन्न संहिताओं का संकलन किया गया है। वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इस नामकरण का भी एक रहस्य है। यह संज्ञा-विधान मंत्रों की उपयोगिता की अपेक्षा मंत्रों के स्वरूप के ऊपर अवलम्बित है। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों की 'ऋक्' संज्ञा है। इन ऋचाओं के गायन—गीति को 'साम' कहते हैं तथा इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को 'यजुः' के नाम से

---

१ श्रुतिश्च नः प्रमाणमतीन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ।

(शांकरभाष्य २।३।१)।

२ द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १।४।१९-२२।

पुकारते हैं[1]। वेद को ऋक्, यजुः तथा साम रूप से विभक्त होने के कारण 'त्रयी' कहते हैं। इसीलिए वेद-प्रतिपाद्य धर्म को 'त्रयी धर्म' तथा इस धर्म के मर्मज्ञ विद्वज्जन को 'त्रैविद्य' कहते हैं[2]।

वेद के तीन विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक। संहिता मन्त्रों के समूह को कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ यागादि के अनुष्ठान का विस्तृत तथा परिनिष्ठित वर्णन किया गया है। **'ब्राह्मण'** नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृह् वर्धने, बढ़ने वाला अर्थात् वितान, यज्ञ) है। आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों के अनन्तर है। अरण्य में पठनीय होने से इन्हें **'आरण्यक'** कहते हैं। इन ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के उपयोगी क्रिया-कलापों का वर्णन है, विशेषतः याग-विधान के आध्यात्मिक रहस्य की मीमांसा इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। उपनिषदों में अध्यात्मविषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। उपनिषद् को ही 'वेदान्त' कहते हैं। इस नामकरण के दो कारण हैं—एक तो यह कि इनका स्थान वेद के अन्त में आता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं; अतः वे वेदान्त (वेद+अन्त) कहलाते हैं। दूसरा कारण यह है कि इनमें वेदों के निश्चित प्रतिपाद्य सिद्धान्त विवेचित हैं। इसी कारण उपनिषदों का अध्यात्मशास्त्र विषयक समस्याओं के सुलझाने के लिए प्रकृष्ट महत्त्व है। प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण इनका कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव है। ज्ञान की विवेचना करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त इन उपनिषदों में प्रतिपादित किये गये हैं, पर कर्मप्रधान होने पर भी संहितादि भागों में अध्यात्म-विषयक विपुल रहस्यों का उद्घाटन उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य का जो अंश प्रकाशित हो चुका है वह भी मात्रा में अधिक है। अप्रकाशित अंश भी मात्रा में न्यून नहीं है, परन्तु खेद का विषय है कि हमारी अवहेलना से वेद की अनेक शाखायें लुप्त हो गईं। महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद की २१ शाखायें, यजुर्वेद की १०० शाखायें, सामवेद की

१ तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः-शब्दः। (जैमिनि सूत्र २।१।३५--३७)।

२ द्रष्टव्य गीता ९।२०-२१।

१ हजार शाखायें तथा अथर्ववेद की केवल ९ शाखायें थीं। इस प्रकार कुल मिल कर ११३० शाखायें थीं, जिनमें आजकल दस-बारह शाखाओं से अधिक नहीं मिलतीं। विषय की दृष्टि से समस्त संहिताओं में ऋग्वेद संहिता महत्त्वपूर्ण तथा प्रथम मानी जाती है। ऋग्वेद के सूक्तों की संख्या सब मिला कर १०२८ है। ऋग्वेद का विभाग दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(१) मण्डल, अनुवाक तथा सूक्त; (२) अष्टक, अध्याय तथा सूक्त। समस्त ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है; प्रत्येक मण्डल में अवान्तर विभाग को अनुवाक कहते हैं तथा उनके विभाग को सूक्त। अष्टकों की संख्या ८ है, प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय होते हैं। इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं। अध्यायों के भीतर सूक्त होते हैं। इन दोनों में प्रथम विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इन मण्डलों में से प्रथम तथा दशम मण्डल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है। नवम मण्डल में केवल 'सोम' विषयक मन्त्र हैं, परन्तु अन्य मण्डलों में एक ही ऋषि के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। द्वितीय मण्डल से लेकर अष्टम मण्डल तक ऋषियों के नाम क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा कण्व हैं। ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, रचयिता नहीं। ऋग्वेद की आध्यात्मिक तत्त्व-विवेचना ही हमारे लिए यहाँ आवश्यक है। अतः उसके ही अनुसन्धान में हम प्रवृत्त होते हैं।

देवता बहुत्व

वेदों में देवताओं की स्तुति ही प्रधान विषय है। निरुक्तकार यास्क ने स्थान विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वीस्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाशस्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सबसे अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसीकी कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पौत्र तथा समृद्धि को प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखने वाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला), सुक्रतु (शोभन कर्मों का निष्पादन करने वाला) तथा सम्राट् (सम्यक् रूप से प्रकाशित होने वाला तथा शासन करने वाला) कहा गया है (ऋ० १।२५)। सर्वज्ञ वरुण प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र वीर योद्धाओं को संग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करने वाले

देवता हैं। वज्रबाहु (वज्र के समान बलशाली बाहु वाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा शत्रुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं (पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंग वाले दस्युओं या दासों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के द्वारा रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़ कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं (ऋ० २।१२)। विष्णु आकाशगामी सतत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को माप डाला। इस कारण वे 'उरुगाय' तथा 'उरुक्रम' कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पाद-विन्यास किया गया है मधु का कूप है। वहाँ शीघ्रगामिनी भूरिशृङ्ग गायें (किरणें) इधर से उधर सतत आया-जाया करती हैं (ऋ० १।१५४)।

सवितृदेव सुप्त प्राणियों में जीवन का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० ६।५३) भूले-भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। वह मृत प्राणियों को पितरों के पास ले जाते हैं। मित्र मानवमात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ-साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सबसे सुन्दर देवी उषा हैं, जो द्यौः (आकाश) की पुत्री हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूप धारिणी भगिनी हैं। वह पुराणी युवति हैं—पुरानी होने पर भी सतत युवति है। वैदिक मन्त्रों में सबसे सुन्दर कमनीय कल्पना वाले मंत्र उषा की स्तुति में प्रयुक्त किये गये हैं (ऋ० ३।६१)। आगे चल कर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा और मन्यु, श्रद्धा आदि नये-नये देवताओं की सृष्टि होने लगी।

देवताओं की जो भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में पाश्चात्त्य कल्पना है वह निर्मूलक है तथा उसी के साथ वैदिकधर्म के विकास का कल्पित क्रम भी निःसार है। सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिककालीन आर्षचक्षुःसम्पन्न महर्षियों को ही है।

इस एक देवता की विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं—प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष आदि। ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२१ वाँ सूक्त हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादक है। यह सूक्त गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों से भरा हुआ है। उच्च दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आनन्द-रूप होने से अथवा इदमित्थं रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये ही प्रजापति 'कः' शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं, क्योंकि उनका स्वरूप अनिर्वचनीय है या सुखरूप है। "यही हिरण्यगर्भ सबके आगे उत्पन्न हुए, उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियों के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करनेवाले हैं। यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं"[१]। वे समस्त प्राणियों के प्राणदाता (आत्मदा) तथा बलदाता हैं। अमरता तथा मृत्यु छाया के समान उनके अधीन रहती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाये गये हैं। शतपथ ब्राह्मण (५।१।२।१०) का कहना है कि देवताओं की संख्या तैंतीस है, परन्तु प्रजापति ३४ वें देवता हैं, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता हैं।

हिरण्यगर्भ

ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है। इसका सबसे सुन्दर दृष्टान्त पुरुषसूक्त (१०।९०) तथा अदितिसूक्त (१।८९) में मिलता है। वह हजार मस्तक (सहस्रपुरुष शीर्षा), हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरुष' चारों ओर से इसी पृथ्वी को घेर कर परिमाण में दश अंगुल अधिक है। "जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है (भविष्य काल में) वह सब पुरुष ही है":—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।

इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सुस्पष्ट है। इसी प्रकार अदिति के वर्णन के अवसर पर राहुगणपुत्र गौतम ऋषि का कहना है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है, अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषाद सहित चतुर्वर्ण) है।

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋ० वे० १०।१२१।१)

जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है वह सब **अदिति** ही है[1]।

इस प्रकार पुरुष तथा अदिति की सर्वव्यापकता मानकर उनकी विश्व से अभिन्नता स्वीकार की गई है।

स्कम्भ

अथर्ववेद के 'स्कम्भ' सूक्त (१० काण्ड, ७वाँ तथा ८वाँ सूक्त) तथा 'उच्छिष्ट' सूक्त (११।९) की परीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धान्त अथर्ववेद को सर्वथा मान्य हैं। ब्रह्म की ही अन्यतम संज्ञा 'स्कम्भ' (आधार) है। जगत् के समस्त पदार्थ उसी के आश्रय में निवास करते हैं तथा अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। अतः उसकी 'स्कम्भ' संज्ञा अन्वर्थक है। 'स्कम्भ' विश्व का कारण है, ब्रह्म का भी वह कारण है। अतः उसे ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहते हैं। "जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश समाहित हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है" (१०।७।१२); द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदिशों का धारण करनेवाला वही 'स्कम्भ' है (१०।७।३५)। इतना ही नहीं, वह भूत, भव्य (भविष्य) तथा समस्त वर्तमान का अधीश्वर है (१०।८।१) एक मन्त्र 'स्कम्भ' की आत्मा के साथ एकता भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(१०।८।४४)

'उच्छिष्ट' सूक्त में उच्छिष्ट नाम के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य-प्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो

---

१ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
(ऋ० वे० १।८९।१०)

उच्छिष्ट

अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है, अर्थात् बाधा रहित परब्रह्म। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' पुकारता है।[1] सूक्त भर में विश्व के समस्त पदार्थ 'उच्छिष्ट' के ऊपर अवलम्बित बतलाये गये हैं। सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] में प्रतिपादित "उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलम्बित है" सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है ? 'नानारूप' का दृश्यमान जगत् के लिए प्रयोग कितना सारगर्भित है। समस्त वेद तथा पुराण की उत्पत्ति 'उच्छिष्ट' से हुई है (२४); प्राण, अपान, चक्षु तथा श्रोत्र, अक्षिति (स्थिति) तथा क्षिति (लय)—सब 'उच्छिष्ट' से उत्पन्न हुए हैं (२५)। अतः 'उच्छिष्ट' की महिमा अवर्णनीय है। इन सूक्तों के अनुसन्धान से स्पष्ट है कि प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं। उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यह पूर्वपीठिका है। इन्हीं संकेतों का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है। इस विवेचन को पढ़कर गीता (१५।१५) के **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"** तथा **"आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गायते"** पुराण के इस वाक्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

अद्वैत की भावना

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस जगत् के कर्ता तथा नियामक मूल तत्त्व को अपनी सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से ढूँढ़ निकाला था। इस विषय में **नासदीय सूक्त** (ऋ० वे० १०।१२९) ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया व्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत भावना को जिस रूप में अभिव्यक्त करता है उस रूप में अभिव्यक्त करनेवाले अन्य सूक्तों का नितान्त अभाव है। नासदीय सूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ ? इसके मूल में कौन सा तत्त्व विद्यमान था ? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई ? आदि

---

१ अथात आदेशो नेति नेति, बृ० उप० २।३।११।
नेह नानास्ति किञ्चन, वही, ४।२।२१।

२ उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥
(अ० सं ११।७।१)

प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है, परन्तु इस सूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। 'सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था और न सत् ही था। वहाँ न तो आकाश था, न तो स्वर्ग ही विद्यमान था, जो उससे परे है। किसने ढका था? यह कहाँ था? और किसकी रक्षा में था? क्या उस समय गहन तथा गम्भीर जल था (जिसमें वह पड़ा हुआ था?), उस समय न मृत्यु थी, न तो अमरत्व ही था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था'। इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि उस समय बस एक ही था, जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। उससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं।

यह है नितान्त उदात्त एकत्वभावना। **"तदेकम्"**—वह एक। उसके लिङ्ग निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परमतत्त्व के लिए नपुंसक 'तत्' तथा 'सत्' शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत् का मूल कारण है। उसी से यावत् चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। वह एक है, अद्वितीय है; उसके साथ तथा समकक्ष रहने वाले अन्य वस्तु का वास्तव अभाव है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करने वाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
(ऋ० वे० १।१६४।४६)

मनुष्य की मधुर-वाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोध-भाव प्रकट करता है, नभोमण्डल में चन्द्र, सूर्य तथा ताराओं को वही तत्तत् स्थानों पर स्थित कर देता है[1]। भिन्नता के स्तरों में अभिन्नता को यदि किसी ने पहचाना, तो वैदिक आर्यों ने। इस अभिन्नता का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान विषय है, पर इसका बीज ऋग्वेदीय-संहिता में सुस्पष्ट रूप से निहित है, जिसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं।

---

१. ऋ० वे० १०।१२।१५।

ब्राह्मण तथा आरण्यक की समीक्षा करने से हम उनके सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। यह काल संहिता तथा उपनिषद् काल का मध्यवर्ती युग है।

ब्राह्मण तथा आरण्यक

इसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर्याप्त रूप से सम्पन्न की गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने (३।१२।३) चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। 'ब्राह्मणों' में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार किया गया है। यज्ञ का महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह किसी देवता विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्यागरूप है; प्रत्युत वह इस विश्व के नियामक रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त विश्व ही यज्ञरूप है। यज्ञ के कारण देवता लोग अपने-अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ की निष्पत्ति से समस्त विश्व का कल्याण-साधन होता है। यज्ञ विष्णु का रूप बतलाया गया है (**विष्णुर्वै यज्ञः**)। आरण्यकों में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या है तथा उसके रहस्यों की यथार्थ मीमांसा है। आरण्यकों में कर्मों से उत्पन्न फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दीख पड़ता है। स्वर्ग के क्षय होने से कर्ममार्ग आत्यन्तिक सुख का सम्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञान-मार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः ज्ञान-कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषद् काल में प्रधानतया विद्यमान है उसका आरम्भ इसी युग में हो गया था।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। इन ग्रन्थरत्नों में वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक विद्या के गूढ़तम रहस्यों का विशद विवेचन किया है। भारतीय

महत्त्व

तत्त्व-ज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं उपनिषदों में है। उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरितायें निकलकर इस पुण्य-भूमि आर्यावर्त में मानवमात्र के सांसारिक अभ्युदय तथा पारलौकिक कल्याण-साधन के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं, जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। भारतीय विचार-शास्त्र के लिए सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भग-वद्गीता है, जो समस्त उपनिषद् रूपी धेनुओं का वत्सरूपी पार्थ के लिए भगवान

गोपाल कृष्ण द्वारा दूहा गया सुधा-सहोदर सारभूत दूध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण-व्यास-विरचित ब्रह्मसूत्र है, जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद् वाक्यों का समन्वय तथा एकमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रबल खण्डन किया गया है। इसी प्रस्थान-त्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भारतीय वैदिक-धर्म तथा दर्शन अवलम्बित है, परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्त्व सबसे अधिक है। इसी से नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता तथा अक्षुण्णता प्रदर्शित करने के लिए इन्हीं तीनों ग्रन्थरत्नों पर स्वमतानुकूल भाष्यों की रचना की है।

उपनिषद् का अर्थ

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विशरण = नाश होना, गति = प्राप्ति होना, अवसादन = शिथिल करना। उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्मविद्या। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःख-वृन्दों का सर्वदा शिथिलीकरण हो जाता है, वही आध्यात्मविद्या उपनिषद् है। शंकराचार्य के इस आख्यान के अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है—ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष (कठभाष्य)। ब्रह्म के स्वरूप, उससे उत्पन्न जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय आदि विषयों का विस्तृत तथा विशद वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा अन्वर्थक है।

संख्या

प्राचीनकाल में प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट उपनिषद् था, परन्तु आजकल उतने उपनिषदों की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की सूची दी गई है। उसके अनुसार उपनिषद् १०८ हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं, परन्तु मुक्तिकोपनिषद् के ही अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषदों की संख्या इससे भी कहीं अधिक थी। अष्टोत्तरशत उपनिषद् तो उपनिषत्साहित्य के सारभूत हैं। कतिपय वर्ष हुए

अड्यार (मद्रास) की थिआसोफिकल सोसायटी ने अप्रकाशित उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो संख्या में लगभग साठ हैं और जिनमें कतिपय उपनिषदों का अनुवाद दाराशिकोह (बादशाह शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र) ने फारसी भाषा में १७वीं शताब्दी में किया था।

इन १०८ उपनिषदों में भी बारह तेरह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के विचार से नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदीय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौषीतकि, साम उपनिषदों में छान्दोग्य तथा केन, कृष्णयजुः उपनिषदों में तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी, शुक्लयजुर्वेद के **ईशावास्य** तथा **बृहदारण्यक**; अथर्व उपनिषदों में मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा प्रामाणिक स्वीकार किये गये हैं। शंकराचार्य ने इन्हीं उपनिषदों पर भाष्य लिखा है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदाराण्यक तथा नृसिंह-पूर्वतापनी। इनके अतिरिक्त अपने भाष्यों में उन्होंने लगभग ६ अन्य उपनिषदों को प्रमाण के लिये उद्धृत किया है। इनमें शङ्कराजार्य के द्वारा व्याख्यात उपनिषद्-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली माने जाते हैं तथा लोकप्रिय होने से उन्हीं का पठनपाठन विशेषतया आजकल होता है। इनमें भी छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक हैं। उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से पहले हो चुकी थी, परन्तु समस्त उपनिषदों का निर्माण एक काल का विषय न होकर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी-विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषद् वेदान्त (आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध) के प्रतिपादक हैं, कुछ योग के स्वरूप विवेचन में निरत हैं, परन्तु उपनिषदों की महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्तिपरक है।

मुख्य तात्पर्य

उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सद्भाव है, इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब

श्रुतियाँ युक्तियुक्त हैं, केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। आचार्यों ने स्वसिद्धान्त-प्रतिष्ठापक श्रुतियों को प्रधानत्वेन स्वीकार किया है तथा अन्य श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उपपत्ति दिखलाई है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिख कर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की है, परन्तु अवान्तरकाल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखी हैं। रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रनिपादक हैं। श्रीमध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में इन ग्रन्थरत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता (द्वैत) के प्रतिपादन में है। आधुनिक आलोचकों के मत से उपनिषदों में समस्त दर्शनों का बीज निहित है। इन्हीं सूक्षम सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्ररूपेण प्रतिष्ठित किया है। आस्तिक दर्शनों की कथा कौन कहे? जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के भी मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद् वैदिक कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के बहुमूल्य भाण्डागार हैं। इन विचारों में सुव्यवस्था होने पर भी कहीं कहीं विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। अतः इन उपदेशों में सामंजस्य का अभाव होना नितान्त स्वाभाविक है; तथापि उपनिषदों की तारतम्यपरीक्षा से उनके मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(१) आत्मतत्त्व

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान-बीन के साथ किया गया है। आत्मा की सत्ता इसी जीवनकाल तक विद्यमान रहती है अथवा इस जीवन की समाप्ति के पश्चात् भी उसका निवास बना रहता है? इस समस्या की मीमांसा कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर रीति से की गई। नचिकेता ने यमराज से इसी समस्या को सुलझाने के लिए आग्रह किया। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। उसका यथोचित विवेचन यमराज ने स्वयं किया है। आत्मा नित्य वस्तु है, वह न कभी मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। वह विषयों का ग्रहण करनेवाली हमारी समस्त इन्द्रियों से, संकल्पविकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण-भूत प्राणों से पृथक् है। एक रमणीय रूपक के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया गया है—'यह शरीर रथ है,

बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी है।[1] आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि वस्तुओं का व्यापार हुआ करता है, उसी प्रकार रथी-स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीरादि विषयों का व्यापार होता है। बाह्य-विषयों से आरम्भ कर श्रेष्ठताक्रम से विचार करने पर आत्मा ही सब से श्रेष्ठ ठहरता है।

आत्मा की चार अवस्थाएँ

माण्डूक्य उपनिषद् में भी शुद्ध आत्मा को 'तुरीय' बतलाया गया है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् दशा में आत्मा बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नदशा में यह आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करता है, सुषुप्ति (घोर निद्रितावस्था) में वह अपने केवल आनन्द-स्वरूपता का अनुभव करता है। ये तीनों दशाएँ आत्मा की अपर अवस्थाओं को सूचित करती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के अंशमात्र का ही परिचय प्राप्त होता है, परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है जो इन दशाओं में उपलब्ध होते हैं। 'उस समय न तो बाह्य चेतना रहती है, न अन्तः चेतना और न दोनों का संमिश्रण, न प्रज्ञा रहती है और न अप्रज्ञा। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण (लक्षण या चिह्न से विरहित), अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म-प्रत्ययसार (एक आत्मा की ही सत्ता का केवल भान होता है), प्रपञ्चोपशम (जहाँ समस्त बाह्य जगत् शान्त रहता है) शान्त शिव, अद्वैत यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है, इसे ही जानना चाहिए' (माण्डूक्य उप० ७)। इस आत्मा को 'तुरीय' (चतुर्थ) कहते हैं। वह जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् है। यह आत्मा कूटस्थ अधिकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण ब्रह्म से सर्वतोभावेन सिद्ध मानी जाती है। ओंकार इसी आत्मा का द्योतक अक्षर है।

---

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषीणः॥
(कठोपनिषद् २।३-८)

(२) ब्रह्मतत्त्व

कहा गया है कि उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—अधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है। आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावकारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापों के अवलोकन करने से उनके मूल-भूत आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है। इन तीनों शैलियों के उपयोग करने से उपनिषद्-कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परम सत्यभूत पदार्थ का ऊहापोह किया है, उसे 'ब्रह्म' कहते हैं।

द्विविध ब्रह्म—सगुण तथा निर्गुण

उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन है—सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप। इन दोनों भावों में भेदनिर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष भाव को कहीं 'परब्रह्म' कहा गया है और सविशेषभाव को कहीं 'अपर ब्रह्म' तथा कहीं 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता, जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, ऐसे गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता जिससे उसे धारण किया जा सके। इसलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। सविशेष भाव ठीक इससे विपरीत होता है। इसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है, जिनके द्वारा उसका उक्त स्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। एक निर्विशेष-लिङ्ग, दूसरा सविशेष-लिङ्ग। सविशेषलिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेषलिङ्ग श्रुतियाँ अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् आदि हैं[1]।'

---

१. सन्ति उभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेषलिङ्गाः, अस्थूलमनणु इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः।—शाङ्करभाष्य।

इन वाक्यों में एक विशेषता और ध्यान देने योग्य है। सविशेष ब्रह्म के लिए पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा—सर्वकर्मा, सर्वरसः आदि। परन्तु निर्विशेष ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अस्थूलम् आदि नपुंसक शब्दों के द्वारा परब्रह्म का निर्देश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं। श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी तद्द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। निर्विशेष तथा सविशेष भाव-विभेद के सूचक हैं; इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्त्व के निर्देशक हैं, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियों के एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया गया है। मुण्डक-उपनिषद् (१।१।६) में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है—

"यत् तद् अद्रेश्यमग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तद् अपाणि-पादम्" (यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है), "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीराः" (इन पुल्लिंग पदों में सविशेष ब्रह्म का निर्देश किया गया है)। इस प्रकार जब एक ही मन्त्र उभयविध पदों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन कर रहा है, तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का वस्तुगत पार्थक्य नहीं है। भाष्यकारों में इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मतभेद है। आचार्य शंकर श्रुति को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक ही मानते हैं, पर आचार्य रामानुज उसे सगुण ब्रह्म का प्रतिपादक स्वीकार करते हैं, परन्तु परम तत्त्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण।

(क) सगुण ब्रह्म

अपर या सगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद् में दो प्रकार से दिया गया है। किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है। यह लक्षण दो प्रकार का होता है—तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण। जिसके द्वारा वस्तु के शुद्धस्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है, वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है। तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है। सगुण ब्रह्म के उभयविध लक्षण उपनिषदों में प्राप्त होते हैं।

(ख) निर्गुण ब्रह्म

पहले दिखाया गया है कि ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न के द्वारा चिह्नित नहीं किया जा सकता, किसी गुण से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता; अर्थात् पर-ब्रह्म निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है—उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तु का निर्देश किसी गुण के द्वारा ही हो सकता है, परन्तु जब ब्रह्म निर्गुण है, तो उसका निर्देश किया जाना नितान्त असम्भव है। इसी कारण बाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बराबर पूछे जाने पर बाध्य होकर ऋषि ने मौनावलम्बन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया[1]। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता[2]। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है, इसीलिए श्रुति सदा **'नेति' 'नेति'** (यह नहीं, यह नहीं) कहकर उसका परिचय देती है।

इसलिये परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। बृह० (३।८।८) के अनुसार वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ है। कठ (१।३।१५) उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त बतलाती है।

बृहदारण्यक उपनिषत् (३।८।८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय 'अक्षर' के स्वरूप का विवेचन करते हैं—"हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्त नहीं है, न चिकना है, वह छाया से भिन्न है और अन्धकार से पृथक् है, वायु तथा आकाश से अलग है, असङ्ग है; रस तथा गन्ध से विहीन न चक्षु उसे ग्रहण कर सकती है, न श्रोत्र; मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है; वह तेज से रहित है, प्राण तथा मुख से उसका सम्बन्ध नहीं है, वह परिमाण-रहित है, न अन्दर है, न बाहर है; वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है।"

---

१ बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते। स होवाच अधीहि भो इति। स तूष्णीं बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वचन उवाच 'ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा।
(शांकर भाष्य ३।२।१७)

२ बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२२) कहती है—स एष नेति नेति आत्मा। अर्थात् आदेशो भवति, नेति नेति, नह्येतस्माद् अन्यत् परम् अस्ति।

केनोपनिषद् में निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा सजीवन वर्णन है-—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (१५)

जिसे वाणी कह नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही तुम 'ब्रह्म' जानो। यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो।

परब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल तथा निमित्तरूपी उपाधियों से वह नितान्त विरहित है। वह देशातीत, कालातीत तथा निमित्तातीत है। प्रमाणतीत होने से वह नितरां अप्रमेय है, चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है। अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण-वृत्ति के ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता। ब्रह्म को 'अरस' आदि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्द, स्पर्शादि के तुल्य विषय नहीं हो सकता। वह विपुलकाय अगाध प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है। इस जगत् के समस्त प्रकाश का हेतुभूत यही ब्रह्म है। "वहाँ न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा, न तारायें, ये बिजलियाँ नहीं चमकतीं; यह अग्नि कहाँ से चमक सकता है? उसी के चमकने के पीछे सब चीजें चमकती हैं, उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है (कठ उप० ५।१५)।"

जगत्

ब्रह्म ही उस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। मुण्डक उपनिषद् (१।१७) का कहना है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाला तानता है तथा उसे अपने शरीर में फिर समेट लेता है, जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है।[1] परमात्मा से पहले उत्पन्न हुआ आकाश, आकाश से वायुः, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से समस्त जीवजन्तुतमय जगत्। इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है।

---

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृहणते च यथा पृथिव्यामोषधः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(मु० उप० १।१।७।)

(३) उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष

उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष बड़ा ही सुन्दर है। हम पहले कह आये हैं कि दार्शनिक तत्त्वों को व्यहार में लाकर उससे मानव जीवन को प्रभावित करने में भारयीय विचार-शास्त्र की विशेषता है। उपनिषदों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ होने के लिए अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।२।१-३) ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसंयम), दान तथा दया की सुशिक्षा दी है[1]। छान्दोग्य (३।१७।४) ने तपस्या, दान आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय (१।२।१-३) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षाएँ दी है। इन शिक्षाओं में माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्यायचिन्तन तथा धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु **'सत्यं वद'** को समस्त उपदेशों में विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य (४।४।१-५) ने सत्य-काम जाबाल की कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया है। प्रश्नोपनिषद् में अनृतभाषण की निन्दा[2] तथा मुण्डक (३।१।६) में सत्यय की प्रशंसा है[3]। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है (बृह० उप० ४।४।२३), परन्तु ज्ञान-साधन के मूलभूत गुण हैं—विवेक तथा वैराग्य। ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक जीव अग्रसर नहीं होता, जब तक उसे विवेक, सत्यासत्य का विवेचन, श्रेय तथा प्रेय का वास्तव निर्धारण तथा जगत् से आत्यन्तिक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। मुण्डक (१।२।१२) ने इन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। "कर्म के द्वारा प्राप्त लोक विनश्वर है, इस बात को जानने से ही ब्राह्मण के हृदय में निर्वेद—वैराग्य का उदय होता

---

१. एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दमध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति।

(बृह० उप० ५।२।३)।

२. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतं वदति।

(प्रश्नोप० ६।१)

३. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

(मु० उप० ३।१।६)

है। विवेक ही उसे निश्चय करा देता है कि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्य, ब्रह्म) की उपलब्धि नहीं हो सकती।"

कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं या नहीं? उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कर्म करने में आत्मा स्वतंत्र है। बृहदारण्यक ने निःसंदिग्ध शब्दों के संकल्प की स्वतंत्रता प्रतिपादित की है। "यह पुरुष काममय है; जैसे उनकी इच्छा है, वैसा ही उसका क्रतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह कर्म करता है[1]। कौषीतकि (३।९) ने मनुष्य की कर्म करने में स्वतंत्रत प्रवृत्ति का निषेध किया है, परन्तु छान्दोग्य में इस स्वतंत्रता का सुन्दर वर्णन है। आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सब लोकों में विचरण कर सकता है (छा० उप० ८।१६); वह जिस चीज की कामना करता है वह उसके संकल्प-मात्र से उत्पन्न हो जाती है (छा० उप० ८।२।१०)। मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) में स्पष्टतः पुरुषार्थ पर जोर दिया गया है।

कर्म स्वातंत्र्य

"वासनारूपी नदी दो मार्गों में प्रवाहित होती है—शुभ मार्ग से तथा अशुभ मार्ग से। मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ में ही ले जाय"[2]। कर्म-निष्पादन में आत्म-स्वातंत्र्य का उपपादन ही उपनिषद् की समस्त शिक्षाओं का सार है।

(४) उपनिषदों का चरम लक्ष्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य क्या है? कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्पन्न आत्मतत्त्व-विषयक ज्ञान उनका लक्ष्य नहीं है। उपनिषद् के सिद्धान्तों में मौलिभूत सिद्धान्त है—आत्मा की अपरोक्षानुभूति। परोक्ष अनुभूति से हमें अपना कौनसा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है? जब तक हम अपने प्रयत्न से अपने को तात्त्विक रूप से न जानें या 'स्व'रूप का साक्षात् अनुभव न करें, तब तक शास्त्र का रोमन्थन (चर्वित-चर्वण) व्यर्थ है। शंकराचार्य ने शुष्क ज्ञान की निन्दा करने

---

१ अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।
(बृह० उप० ४।४।५)।

२ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।

में उपनिषत्तत्त्व का ही अनुसरण किया है[१]। उपनिषदों ने इस अपरोक्षानुभूति के लिए आचार्य की महिमा का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। ओंकार की उपासना इसका प्रधानतम साधन है। ओंकार के निरंतर ध्यान करने से निगूढ़ देव का दर्शन किया जा सकता है, (श्वेता० १।१४)। इसी प्रसंग में 'योग' की उपयोगिता का वर्णन श्वेताश्वतर में किया गया है, (२।८-१०)। सुख दो प्रकार के होते हैं—छोटा सुख तथा बड़ा सुख। विषय-प्रपञ्च में सुखोपलब्धि अल्पकोटि की ही है, परन्तु वास्तव सुख तो उस 'भूमा'=आत्मा की उपलब्धि में है जो सर्वत्र विद्यमान है, ऊपर है तथा नीचे है, आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही संज्ञा 'भूमा' है। जहाँ पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को सुनता है, न दूसरे को जानता है, वह है 'भूमा'। भूमा ही अमृत है। जो अल्प है वह मर्त्य है, अनित्य है—"यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छा० ८।२२)।

स्वाराज्य प्राप्ति

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है? वह 'स्वाराज्य' प्राप्ति कर लेता है, वह अपने आत्मा से प्रेम करता है (आत्मरतिः), अपने आत्मा से क्रीड़ा करता है (आत्मक्रीडः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिथुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। आत्मा तो आनन्दरूप ठहरा, अतः स्वोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्द-मय रूप में विहार करता है। परन्तु क्या उस आनन्द की मात्रा लौकिक दृष्टान्तों से बतलाई जा सकती है? बृहदारण्यक (४।३।२१) ने एक लौकिक उदाहरण से उसका तनिक आभास सा दिया है। उसका कहना है[२] कि जिस प्रकार प्रिया से आलिंगन किये जाने पर पुरुष न तो किसी बाहरी वस्तु को जानता है, न भीतरी वस्तु को, उसी प्रकार प्राज्ञ आत्मा (परमात्मा) से आलिंगन किये जाने पर यह जीव न तो बाह्य को

---

१ विवेक चूड़ामणि ६०।६१।

२ तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्; एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम्। तद् वा अस्य एतदाप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपम्। (बृह० ४।३।२१)।

जानता है, न अन्तर को। उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती।

पर क्या लौकिक भाषा में उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि समझाई जा सकती है? ये समस्त उपाय व्यर्थ हैं। आत्मवेत्ता ही उसे जानता है, समझता है, पर उस अवस्था में पहुँचते ही उसकी वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है, वह मूक बन जाता है। कौन कहे और कौन सुने? उस समय बस "शिवः केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि होती है। आत्मा निरतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है। यह स्थिति स्वानुभूत्येकगम्य है; अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है, परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है। यह अपरोक्षानुभूति ही वैदिक तत्त्वज्ञान का हृदय है। इसे हम उपनिषदों का **'रहस्यवाद'** कह सकते हैं। उपनिषद् के अन्य सिद्धान्त इसके साधनमात्र हैं। यह रहस्यवाद 'श्रौत-दर्शन' का सार है, रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिषदों का उपनिषद् है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का यह चूडान्त सिद्धान्त है—जीव का शिव के साथ एकता तथा साधनों के द्वारा उस एकता को पा लेना, उपनिषद् के तत्त्व-ज्ञान की यहीं समाप्ति है। यह केवल सिद्धान्त ही नहीं है, उपायों के द्वारा उसका ज्ञान भी प्रत्येक मानव प्राप्त कर सकता है। भारतीय दर्शन का आग्रह है ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय पर। "ज्ञानं भारः क्रियां विना" विना क्रिया के ज्ञान केवल एक बोझ है जिसे व्यर्थ ही ढोना पड़ता है और उसका जीवन में कुछ भी उपयोग नहीं होता। फलतः उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है; प्रत्युत उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारना भी है। इसीलिए उपनिषद् आध्यात्म तत्त्व-ज्ञान के ऊपर आश्रित एक श्लाघनीय साधना मार्ग है।

तृतीय परिच्छेद

गीता दर्शन

(१) महाभारत-पूर्व काल

उपनिषद् युग से पीछे की शताब्दियाँ बड़ी विलक्षण थीं। उपनिषत्काल में ही वैदिकधर्म से विरोध रखने वाले दार्शनिकों के सद्भाव का पता चलता है (कठ उप० १।१।२०), परन्तु जो विरोधाग्नि अब तक मन्दरूप से जल रही थी, वह अब अपने प्रखर रूप में धधकने लगी। भिन्न-भिन्न मतवालों ने विरोध का झंडा ऊँचा किया। विरोध का विषय वैदिक धर्म तथा दर्शन था। इन लोगों ने धार्मिक तथा दार्शनिक श्रद्धा का मूलोच्छेद कर डाला। इन विरोधी मतवादों की संख्या भी अपनी अधिकता से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस युग के इतिहास के साधन नितान्त स्वल्प हैं, परन्तु जो कुछ आज उपलब्ध है उसी से इस युग में सक्रिय विरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। जैन-अंगों, बौद्ध-निकायों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में पिछले उपनिषदों तथा महाभारत में जो एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है वह एक दूसरे को पूरा करती है तथा उसकी प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है। इनकी छानबीन से जैन तथा बौद्ध धर्म के सच्चे स्वरूप का परिचय मिलता है। इन्होंने इन विरोधी दलों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। उस समय **अक्रियावाद** का बोल-बाला था कि न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया, न तो कोई प्रयत्न (नत्थि कम्मं, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं)। इसके उत्तर में जैन दर्शन ने इस मत का खण्डन करते हुए यह घोषणा की कि कर्म है, उत्थान (उद्योग) है, बल है, वीर्य है, (अत्थि उत्थानेति वा, कम्मोति वा, बलेति वा, विरियेति वा, पुरिसकारे परक्कमेति वा; भगवती-सूत्र १।३।५) इस प्रकार के सिद्धान्त को बुद्ध धर्म ने भी स्वीकृत किया, जिसके कारण उसे भी **कर्मवाद** या **क्रियावाद** के नाम से पुकारते हैं। अतः अधिकतर सयुक्तिक होने के कारण जैन तथा बौद्ध दर्शन तो जनता के प्रियपात्र हुए तथा अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ हुए, परन्तु अन्य मत कुछ दिनों तक ही अपना प्रभाव जमाये रहे। अन्ततः तर्कहीन होने के कारण वे सदा के लिए लुप्त हो गए।

जैन ग्रन्थों ने **क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद** तथा **विनयवाद** के अन्तर्गत ३६४ जैनेतर मतों का उल्लेख किया है। इतने मतों के प्रचार को हम सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु कतिपय मतों का प्रचलित होना अवश्य निःसंदिग्ध है। दीर्घनिकाय के 'ब्रह्मजाल सुत्त' में बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित ६२ मतवादों का वर्णन किया गया है[1]। ब्राह्मण ग्रन्थों में श्वेताश्वतर[2] तथा मैत्रायणी उपनिषद् ने मूल कारण की मीमांसा के विषय में भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है जिसके अनुसार काल[3], स्वभाव, नियति (भाग्य), यदृच्छा, भूत आदि जगत् के मूल कारण माने जाते थे। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।२०।२३) ने प्राचीनतम सांख्य ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' के विषयों का संक्षेप वर्णन किया है; उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र आदि ३२ तन्त्रों का उल्लेख किया गया है। संभवतः इन तन्त्रों में कतिपय तन्त्र श्वेताश्वतर निर्दिष्ट मत से संबन्ध रखते हैं। महाभारत में भी इन मतवादों का वर्णन तथा खण्डन है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्व-महाभारत युग में इन अवैदिक सिद्धान्तों की प्रचण्ड आँधी ने वैदिक धर्म को डाँवाडोल कर दिया था। सामान्यवाद के साथ-साथ विशिष्ट दार्शनिकों का नामोल्लेख भी किया गया है। ऐसे आचार्यों में ६ तीर्थंकरों के नाम आदर के साथ लिखे गये हैं तथा इनके मत का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है[4]।

पूर्णकश्यप के मतवाद का नाम **अक्रियावाद** है। उनके अनुसार किसी भी क्रिया का, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, फल कर्ता को भोगना नहीं पड़ता है।

---

१. देखिए दीर्घनिकाय (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५–१५।

२. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिंत्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात्, आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः।
(श्वेता० उप० १।२)

३. कालवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। अथर्ववेद के १८ वें काण्ड के ५३ वें सूक्त में काल की महिमा का वर्णन है। काल को सृष्टि का मूल कारण मानना वैदिक तत्त्व है। कालतत्त्व का वर्णन महाभारत में भी है।
(आदिपर्व २४७-२५१)

४. मेरा 'बौद्ध-दर्शन मीमांसा'—पृ० १९-४२।

पूर्ण कश्यप उनका कहना है कि गाँव लूटने से, चोरी करने से, बटमारी करने से, परस्त्री गमन करने से, झूठ बोलने से—न तो पाप किया जाता है और न पाप का आगम होता है। इसी प्रकार दान देने से, दान दिलाने से, यज्ञ करने से या कराने से—न पुण्य होता है न पुण्य का आगम।

अजित केशकम्बल इनका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि के समान जान पड़ता है, जो इनके मतवाद के कारण तिरस्कार प्रदर्शन के लिए दिया गया था। इनके मत का नाम था—**उच्छेदवाद** या जडवाद। मृत्यु के अनन्तर कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता। शरीरस्थ सभी पदार्थ अस्थायी हैं। मृत्यु के बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु अपने मूलरूप में लीन हो जाते हैं। शरीर के भस्म हो जाने पर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। आत्मा की सत्ता भी एक झूठी बात है।

प्रकुध कात्यायन इनके मत का नाम शाश्वतवाद है। इनकी सम्मति में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा आत्मा—ये सातों पदार्थ अकृत तथा अनिर्मित हैं, अतः कूटस्थ, स्तम्भवत् अचल हैं। सब पदार्थ शाश्वत हैं, नित्य हैं, न उनकी उत्पत्ति होती है न विनाश। न कोई हन्ता है न घातयिता। जो तीक्ष्ण शस्त्र से शीश भी काटे, तो भी किसी को प्राण से नहीं मारता, क्योंकि उसका हथियार सात कायों से अलग, विवर में—खाली जगह में—गिरता है।

संजय वेलट्ठिपुत्त यह दार्शनिक वेलट्ठि कुल में उत्पन्न संजय नामधारी था। यह बड़ा तर्क-कुशल प्रतीत होता है। इसके मत का नाम था—**अनिश्चिततावाद**। किसी भी वस्तु का रूप किसी भी प्रकार से निश्चित नहीं है। न तो उसके विषय में 'हाँ' कहा जा सकता है और न 'नहीं'। परलोक के विषय में पूछे जाने पर वह न तो उसकी सत्ता को स्वीकार करता है और न उसकी असत्ता का निषेध करता है। उसका सब बल वस्तु की अनिश्चितता के ऊपर है। बहुत सम्भव है 'स्याद्वाद' की उत्पत्ति ऐसी ही किसी कल्पना से हुई हो।

यह अपने समय का एक विशिष्ट दार्शनिक था। मंखलि का शुद्ध संस्कृत रूप मस्करी था, जो या तो मस्कर (बाँस) के धारण करने से या कर्मनिषेध के

मंखलि गोसाल उपदेश देने के कारण इन्हें दिया गया था। महावीर के साथ यह बहुत दिनों तक रहता था, पर सिद्धान्त में भेद होने से उसने पृथक् होकर **'आजीवक'** मत की स्थापना की। वह **नियतिवाद** का समर्थक था। प्राणियों के क्लेश का उदय विना किसी हेतु या प्रत्यय के ही होता है और विना किसी हेतु के ही वह स्वतः शान्त हो जाता है। अतः गोसाल के उपदेशों का सार यही था[१]—(नत्थि कम्म, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं) न कर्म है और न वीर्य। भाग्य का सहारा लेना चाहिए। जो कुछ होगा भाग्य से। अतः शास्त्र-निर्दिष्ट यज्ञ-याग, दान-पुण्य का सुखद पन्था निरर्थक है। पक्के भाग्यवादी के लिए कर्मों का आश्रय अभीष्ट नहीं है। इस सम्प्रदाय का विस्तृत इतिहास है[२]। पाणिनि के समय में भी 'मस्करी' परिव्राजक की कहानी अतीत की चर्चा न थी[३], क्योंकि इस नाम की व्युत्पत्ति उन्होंने प्रदर्शित की है। महाभाष्यकार (द्वितीय शताब्दी विक्रम पूर्व) इनसे परिचित थे तथा इस मत का उल्लेख नितान्त प्रामाणिक है--(मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसी)। षष्ठ-शताब्दी के महाकवि कुमारदास 'मस्करी' के आकार-प्रकार से अभिज्ञ प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने रावण का जानकी के हरण के अवसर पर इस तापस-वेश में वर्णन किया है[४]। अतः 'आजीवक' मत का प्रचार अन्य मतों की अपेक्षा समधिक व्यापक प्रतीत होता है। लोकायत मत की उत्पत्ति का काल यही युग है। चार्वाक-दर्शन की प्राचीनता दिखलाते समय बृहस्पति को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जायगा। इस युग का आध्यात्मिक वायुमण्डल लोकायत मत के उदय के लिए अत्यन्त उपयुक्त था। इस युग के कतिपय साधारण विचार तथा आचार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अब तक विचार-शास्त्र उच्च श्रेणी के विद्वानों की कल्पना की वस्तु था, परन्तु इस युग में इसका प्रचार साधारण जनता में किया जाने लगा।

---

१. अंगुत्तर निकाय, जिल्द १, पृ० २८६।

२. डाक्टर वेणीमाधव बरुआ--आजीवक (अ०)।

३. मस्करमस्करिणोर्वेणु-परिव्राजकयोः। ५।१।१५४।

४. दम्भाजीविकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम्।
कञ्चिद् मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥

(जानकीहरण १०।७६)

स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने विचारों के प्रचार करने की प्रवृत्ति का उदय इसी समय में प्रथमतः उत्पन्न हुआ, जिसका अनुकरण महावीर तथा बुद्ध ने अवान्तर काल में किया। अपने आध्यात्मिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने की तथा अपने विचारों के अनुरूप जीवन यापन करने की प्रवृत्ति का विशेष लक्ष्य इस युग में दीख पड़ता है।

इन समस्त विरोधी मतों का खण्डन कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने की जरूरत पड़ी। विरोधियों के झंझावात से बचाकर वैदिक धर्म की नौका को सुरक्षित घाट पर लगाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति महाभारत ने की। महाभारत ने इन अवैदिक मतों की अप्रामाणिकता दिखलाकर वैदिक मत की पुनः प्रतिष्ठा का पवित्र कार्य सम्पन्न किया। महाभारत के पञ्चम वेद होने का यही रहस्य है। भागवत (१।४।२५) ने ठीक ही कहा है कि स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विजों को श्रुति के अनधिकारी होने के कारण कारुणिक कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना की। **'महाभारत'** सरहस्य वेदचतुष्टय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है (म० भा०, आदिपर्व १।२७२)। महाभारत इस युग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

इस काल में आस्तिक विचारों की धारा रुकी नहीं, प्रत्युत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप वह भी प्रवाहित होती रही। इस काल में भक्ति के ऊपर विशेष जोर दिया जाने लगा तथा भिन्न-भिन्न देवताओं का रूप परिष्कृत होने लगा। शिव तथा विष्णु के प्रधान देवता की कल्पना इसी युग की वस्तु है। **'एकायन'** नाम से जिस भक्ति-प्रधान सम्प्रदाय का उल्लेख 'छान्दोग्य उपनिषद्' (७।१) में किया गया है, उस पाञ्चरात्र मत का अभ्युदय तथा विपुल प्रचार इस काल में आकर निष्पन्न हुआ। यादववंशी क्षत्रियों में विशेष प्रचार होने के कारण इसे **'सात्त्वत'** संज्ञा भी प्राप्त हुई। आस्तिक दर्शनों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क भूमि में इसी काल में उगने लगे थे। इन दर्शनों में **'सांख्य'** के आध्यात्मिक विचारों का प्रचार विशेषता से लक्षित होता है। 'योग' की प्रक्रिया तो उपनिषत्काल से ही भारतीय दार्शनिकों के लिए श्रद्धा तथा आदर का विषय बन गई थी। वेद से अपना नाता तोड़ने वाले मतवादियों ने भी 'योग' के व्यावहारिक बहुमूल्य उपदेश ग्रहण करने में आना-कानी नहीं की। व्यावहारिक जगत् में 'अहिंसा' की ओर जनता की रुचि स्वतः बढ़ रही थी और पशुयाग उनके लिए मीमांसा तथा सन्देह का विषय बन रहा था। ऐसे ही समय में महाभारत की रचना हुई, जिसने विरोधवादियों का खण्डन कर औपनिषद-ज्ञान के साथ

नवीन आस्तिक धारा के सामञ्जस्य को उपस्थित किया। इस युग की दार्शनिक प्रवृत्तियों की जानकारी के लिए महत्त्वशाली आध्यात्मिक रहस्य शान्तिपर्व तथा अनुशासन पर्व में भी भरे पड़े हैं। परन्तु महाभारत के इस लक्षश्लोकात्मक विपुलकाय ग्रन्थ में 'शतसाहस्री संहिता में' गीता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् मानी जाती है। अतः उसके विशेष अध्ययन की ओर अब हम प्रवृत्त होते हैं।

(२) श्रीमद्भगवद्गीता

महत्त्व

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का 'श्रीमद्भगवद्गीता' सारतम अंश है। इसके सात सौ श्लोकों के भीतर निःश्रेयस प्राप्ति के उपाय इतनी सुबोध तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये गये हैं कि सर्वसाधारण उन्हें आसानी से समझ सकते हैं और बिना किसी झगड़ा-टंटा के राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं। गीता दलबन्दी के दलदल से कोसों दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी। उन सबका उपयोग कर गीता एक परम रमणीय साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है, जो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुखकर है। इसीलिए केवल सात सौ श्लोकों की लघुकाय गीता को कामधेनु तथा कल्पवृक्ष से उपमा दी गई है। गीता के महत्त्व का कारण उसकी समन्वय दृष्टि है। गीता के समय में मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा की अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक थी उपनिषत्; प्रकृति पुरुष की विवेकख्याति से मोक्षलाभ का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम-सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टांग साधन के द्वारा प्रकृति के बन्धन से जीव को निर्मुक्त कर कैवल्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मा में समर्पण सिद्धान्त को बतलाने वाला था पाञ्चरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैसा मनोरम सामञ्जस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय एवं नितान्त उपादेय है। प्राञ्जल तथा सुबोध भाषा में यह आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है। भारतीय दर्शनकारों ने गीता की गणना द्वितीय प्रस्थान में कर इसकी महिमा का पूरा आभास दिया है तथा अवान्तर काल के धार्मिक मतों के संस्थापक

आचार्यों ने इसे भाष्य से सुशोभित कर इसके गूढ़मत तात्पर्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भारत के बाहर भी गीता का प्रचार कम नहीं है। शायद ही ऐसी कोई सभ्य भाषा होगी, जिसमें गीता का अनुवाद न मिले। गीता के कितने ही सुन्दर अनुवाद हैं तथा कितने ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। गीता का आकर्षण सार्वजनिक है, वह सब देश तथा काल के लिए समान है।

गीता का स्वरूप

जिस परिस्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था, वह विलक्षण थी। महाभारत का प्रलयंकारी संग्राम होने जा रहा था, जिसमें भाई के सामने भाई उसका खून पीने के लिए तैयार खड़ा था। ऐसी दशा में अर्जुन का विषादी होना नितान्त स्वाभाविक है। अर्जुन महाभारतकालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशील था। इस प्रकार सांसारिक परिस्थितियों के बीच पड़ कर कर्म के विषय में संशय रखने वाले मानव का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीताज्ञान के वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण थे, जो उस युग के परम मेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी—युद्ध करूँ या न करूँ ? इस विकट प्रश्न के उत्तर की मीमांसा करने में ही गीता का उदय होता है। अतः गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है; वह आचार-मीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिए गीता **'योगशास्त्र'** कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ व्यवहार है। **'सांख्य'** का अर्थ है—तत्वज्ञान तथा **'योग'** का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** कहने से तात्पर्य यही है कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार का प्रतिपादन है। तत्त्व-समीक्षा के आधार पर ही आचार-मीमांसा की सुन्दर प्रतिष्ठा होती है। अतः गीतार्थ के विवेचन के लिए इन उभय पक्षों का निरूपण नितान्त आवश्यक है।

(क) गीताका अध्यात्मपक्ष

अध्यात्म-तत्त्व का विवेचन गीता में बड़ी ही साफ-सुथरी भाषा में स्थान-स्थान पर किया गया है, परन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापित करना कुछ कठिन कार्य है। इसलिए आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाये हैं—**"तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्"—गीताभाष्य का उपोद्घात**। चरमतत्त्व के निर्देश भिन्न-भिन्न अध्यायों में किये गये

(१) ब्रह्मतत्त्व

हैं, परन्तु आठवें तथा तेरहवें अध्याय में इसका वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूप से परिचित है, परन्तु यह जानती है कि दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। निम्न श्लोक में इन दोनों रूपों की एकता स्पष्टतः प्रतिपादित की गई है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
(१३।१४)

ब्रह्म समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि में समर्थ होता है—आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा यह प्रतिभासित होता है। अथ च वह स्वयं समस्त इन्द्रियों से हीन है, वह सब प्रकार के देहादिक संबन्ध से रहित है, परन्तु सबको धारण करता है। वह निर्गुण है, तथापि गुणों का भोक्ता है—सत्त्वादि गुणों के परिणाम रूप, शब्द, स्पर्शादि विषयों का उपभोक्ता है। वह सत् है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है (**सदसत् तत्परं यत्**—११।३७); परब्रह्म न तो सत् और न असत् कहा जाता है (**न सन्नासदुच्यते**—१३।१२); ब्रह्म भूतों के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर, चर, दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ है (१३।१५); इन वर्णनों में विरोध की कल्पना न करनी चाहिए, क्योंकि देश-काल निमित्तादि उपाधियों से विरहित परम तत्त्व समस्त विरोधों का अन्त है, यह विचारशास्त्र का गूढ़ सिद्धान्त है। भगवान् जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय (लयस्थान) है (७।६); वह समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस तरह डोरे में मणियों का समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह भगवान् में समग्र जगत् ओत-प्रोत, अनुस्यूत, गूँथा हुआ है (७।७)। उसके हाथ-पैर चारों ओर हैं, आँख, सिर, कान, तथा मुँह चारों तरफ हैं, वह इस पूरे विश्व को आवरण कर स्थित है (१३।१३)।

इस प्रकार गीता की दृष्टि में ब्रह्म सगुण अथा निर्गुण दोनों प्रकार का है और इन रूपों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

ब्रह्म के दो भाव

गीता भगवान् के दो प्रकार के भावों की सत्ता बतलाती है। भगवान् के दो भाव हैं—अपर भाव तथा पर भाव। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहता है तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होता है। वह एक अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है (**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**—१०।४२);

इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप। परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इसे अतिक्रमण करनेवाले भी हैं। यह उनका वास्तव रूप है। इस अनुत्तम, अव्यय रूप का नाम है—पर भाव, विश्वातिग रूप; (**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्—७।२४**)। गीता की यह कल्पना ठीक पुरुषसूक्त के अनुरूप है। 'पुरुष का यह जगत् केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं[1]।' ब्रह्म के उभय भाव भी इसी प्रकार हैं। 'भगवान् विश्व के घट-घट में व्याप्त हो रहे हैं। ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें उनका अंश न हो? फिर भी विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का प्राकट्य समधिक दीखता है[2]।' दशम अध्याय में भगवान् की विभूतियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।

यह स्थावर तथा जंगम विश्व भगवदाकार ही है, इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है। इसीलिए गीता भगवान् की दो प्राकृतियों का वर्णन करती है। इस विषय में सांख्य तथा गीता के तत्त्वविवेचन के पार्थक्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। सांख्यशास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड़ प्रकृति तथा चेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि समस्त पदार्थ इन्हीं दोनों तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं—इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है, परन्तु गीता इससे सहमत नहीं है। उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है। सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं। परमेश्वर की प्रकृतियाँ दो प्रकार की हैं—अपरा तथा परा (७।४-५)। अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम क्षेत्र तथा क्षर पुरुष है। परा प्रकृति की अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष है। परा (उत्कृष्ट) प्रकृति से तात्पर्य जीव से है (७।५) तथा अपरा, चैतन्य के अभाव से निकृष्ट, प्रकृति से अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है। समस्त भौतिक पदार्थों का ग्रहण 'क्षर' पुरुष के रूप में किया गया है (**क्षरः सर्वाणि भूतानि—१५।१६**), जिसका विकास अष्टविधा अपरा प्रकृति तथा चतुर्विंशति प्रकार के क्षेत्र के रूप में अन्यत्र प्रदर्शित किया गया

दो प्रकृतियाँ

---

१. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(ऋग्वेद १०।९०।३)

२. यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है (७।४) तथा पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति) पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेंद्रिय, मन तथा शब्दस्पर्शादि पञ्च इन्द्रिय-विषय—यही चौबीस प्रकार का क्षेत्र है (१३-५)। इस प्रकार सांख्यों के २४ तत्त्वों का अन्तर्भाव गीता क्षेत्र, अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष में करती है। एक विषय और ध्यान देने योग्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (देह तथा इन्द्रियों का समूह), चेतना (प्राणशक्ति) तथा धृति—इन्हें गीता '**क्षेत्र**' का विकार मानती है (१३।६)। इनमें इच्छा-द्वेषादि को वैशेषिक दर्शन आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का गुण मानता है, परन्तु गीता की सम्मति में इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र से ही है।

जीव चैतन्यात्मक होने से परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। वही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। किये गये कर्मों के फल धारण करने के कारण या भोगायतन होने से शरीर की ही क्षेत्र (खेत) संज्ञा है। क्षेत्र के ज्ञाता को '**क्षेत्रज्ञ**' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक-पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित ही है।

(२) जीवतत्त्व

आत्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है, विशेषतः द्वितीय अध्याय में। आत्मा षड्विकारों से रहित है। न तो वह जन्मता है, न मरता है; वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता (भूत्वा न अभविता)। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण अर्थात् प्राचीन होने पर भी नवीन ही है। हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। (२।२०); अतः जो व्यक्ति उसे मारने वाला, या मारे जाने वाला समझता है, वे दोनों उसके तत्त्व से अपरिचित हैं, क्योंकि वह न तो मारत है, न मारा जाता है (२।१९)। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण (क्षीणकर्म) शरीर को छोड़ कर नये शरीरों को पाता है (२।२०)। वह स्वयं अविकार है; वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य तथा अशोष्य है; वह नित्य सर्वव्यापि, स्थिर, अचल तथा सनातन है (२।२४)।

यह जीव नाना न होकर एक ही है। गीता में इस विषय में एक उपमा दी गई है—'जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्र को (शरीर को) प्रकाशित करता है' (१३।३३)। इस श्लोक में क्षेत्री की उपमा सूर्य से देकर उसकी एकत्व-भावना का सुस्पष्ट समर्थन है। जीव परमेश्वर

का सनातन अंश है (**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—१५।७**) भगवान् अंशी है तथा जीव अंश। ब्रह्मसूत्र (२।३।४२–५३) का भी यही तात्पर्य है, जिसमें यही गीतावाक्य स्मृति कह कर प्रमाण रूप में उल्लिखित किया गया है। यह अंशांशी भाव गीता के अनुसार किस प्रकार का है? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। परवर्ती अद्वैती टीकाकारों ने प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति दिखलाई है, परन्तु ये सब कल्पनायें पीछे की जान पड़ती हैं।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। गीता के शब्दों में भगवान् सब भूतों का सनातन—अविनाशी बीज है (सनातनं बीजम् ७।१०) या अव्यय बीज है (बीजमव्ययम् ९।१८)। जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर बीज में ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है।

(३) जगत्तत्त्व

जगत् के अवान्तर आविर्भाव काल को **'ब्रह्मा का दिन'** कहते हैं तथा अवान्तर तिरोभाव काल को **'ब्रह्मा की रात्रि'** कहते हैं (८।१८, १९)। गीता में सांख्यों की **'प्रकृति'** स्वीकृत की गई है। गीता में प्रकृति को कहीं **'अव्यक्त'** (८।१८; ८।२०) तथा कहीं **'महद् ब्रह्म'** (१४।३) की संज्ञा दी गई है। सांख्य 'प्रकृति' से ही जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके मतानुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अध्यक्षता में प्रकृति जगत् को पैदा करती है, नहीं तो अचेतन जडात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते॥
(९।१०)

पशु पक्षी आदि सब योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि (उत्पत्ति स्थान) महत् ब्रह्म है तथा ईश्वर बीज रखने वाला है (१४।४)। अतः स्पष्ट है कि प्रकृति विश्व की मातृस्थानीया है तथा ईश्वर पितृस्थानीय है। इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर से न्यून है। गीता **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** का प्रतिपादन करती है। यह सत्कार्यवाद है। अतः गीता की दृष्टि में जगत् मायिक तथा काल्पनिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है।

पुरुषोत्तम-तत्त्व भगवद्‌गीता का परम रहस्य तथा महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है। सांख्य की आलोचना के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे 'अव्यक्त' है। अतः सांख्य-ग्रन्थों में उसी के लिए 'अव्यक्त' का प्रयोग पाया जाता है, परन्तु गीतानुशीलन के अवसर पर याद रखना चाहिए कि अव्यक्त तथा अक्षर का प्रयोग गीता में व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति-पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व के लिए भी किया गया है। वह तत्त्व है अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) निकृष्ट विभूति है। गीता में अचला प्रकृति को **क्षर** तथा कूटस्थ अधिकारी पुरुष को **अक्षर** कहा गया है। अक्षर से भी उत्तम है 'पुरुषोत्तम'। कहा गया है :—

(४) पुरुषोत्तम

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम का पार्थक्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। जड़ जगत् से भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति से भी परे विद्यमान रहने वाले सचेतन तत्त्व को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं (८।२०—२१); परन्तु जो ईश्वर इस विश्व को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित और साथ ही साथ उनसे पृथक् भी है—जो विश्वानुग होकर विश्वातीत है—वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' पद-वाच्य है। पूर्वोक्त श्लोक में 'पुरुषोत्तम' क्षर को अतिक्रमण करने वाले तथा अक्षर से उत्तम बतलाये गये हैं। 'अतीतः' उनके विश्वातिक्रमणकारी स्वरूप का परिचायक है तथा 'उत्तम' शब्द 'अक्षर' से उनकी उत्तमता का द्योतक है। इसी पुरुषोत्तम को सर्वकर्म-समर्पण कर देने की शिक्षा गीता देती है। इस प्रकार गीता में औपनिषद ब्रह्मवाद, सांख्य-सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद तथा भागवतधर्माभिमत ईश्वरवाद का हृद्य समन्वय उपस्थित किया गया है।

(ख) गीता का व्यवहारपक्ष

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता के जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा देना था, परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य

विभिन्न मार्गों का सामञ्जस्य

के मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचार-दृष्टि से वासुदेव-भक्ति ही है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्म का निष्पादन सिद्ध नहीं होता। इधर लोकमान्य तिलक जी ने 'गीतारहस्य' की रचना कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में अरुचि दिखलाकर भागवतधर्माभिमत प्रवृत्ति-मार्ग को[1] गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोग को तत्साधन बतलाया है। ग्रन्थकार ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल युक्तियाँ दी है। इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता, परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है। शास्त्रों ने मानवी प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रख चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। चिन्तन का प्रेमी साधक ज्ञानमार्ग से, सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्मयोग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों का विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है। इन भिन्न-भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते थे। गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक् पृथक् मार्ग प्रचलित थे (१३।२४–२५)। इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं, परन्तु भगवान् ने इस गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है, जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धारायें भारत भूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें गीता में मिल कर तत्त्वजिज्ञासुओं

---

१ नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः॥
(महाभारत शान्ति-पर्व ३४७।८०)

की ज्ञान-पिपासा मिटाती हुई भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीतार्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

(१) गीता तथा कर्मयोग

गीता से बहुत पहले मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही सार्थक है, ज्ञानकाण्ड निरर्थक है। जैमिनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा[1] है कि आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है, अतः उससे भिन्न ज्ञान प्रतिपादक वाक्य निरर्थक हैं। कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या ? देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग अर्थात् किसी देवता विशेष के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता कर्मकाण्ड की निरर्थकता से न सहमत है और न यज्ञ का यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है। वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३।१०–१६), क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं, परन्तु गीता ने 'यज्ञ' का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है। निःस्वार्थ बुद्धि से किये गए परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्मों को 'यज्ञ' कहते हैं। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं—द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि (४।१५–३२)। परन्तु गीता का कहना है कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से कभी कोई भाग नहीं सकता। इस जीवन-यात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमी विना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों ही गुण बलात्कार से उस प्राणी से कर्म कराते ही हैं (३।५)।

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है वासना—फलाकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस कामना या इच्छा से कर्म किया जाता है, उस फल को तो भोगना ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता; परन्तु फल के बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। कर्मसंन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गी० ५।२), परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है—(१) फलाकांक्षा का वर्जन,

---

१ आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्——मी० सू० १।२१।

(२) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग, (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार कर्म करने में है, फल में कभी नहीं है; फल की आकांक्षा से कभी कर्म मत करो तथा अकर्म में—कर्म के न करने में—कभी तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गी० २।४७)

कर्मयोग का यही महामन्त्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्ति का परित्याग कर कर्म करने में किसी प्रकार की बुराई का तनिक भी डर नहीं है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत कर्म के फल का त्याग करना चाहिए। इसलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु चतुर पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फल का त्याग ही वास्तव संन्यास है—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥
(१८।२)

कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों के दास हैं, जो बलात्कार से प्राणियों से कार्य कराया करती है। तब कर्तृत्व का अभिमान कहाँ ? तीसरा सोपान यह है कि समस्त कार्यों की निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना चाहिए। गीता (९।२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि 'जीव जो कुछ करे, खाय आहुति दे, दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् को समर्पण कर दे। इसका फल यह होगा कि कर्मबन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जायेगा।' इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है। अज्ञ तथा पण्डित के कर्म करने में यही तो अन्तर है। अज्ञ आसक्ति से कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण कर्तव्य बुद्धि से 'लोक संग्रह' के निमित्त करता है (३।२५)। 'लोक संग्रह' गीता का एक विशिष्ट सार गर्भित शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यों का यावत् रूप से निर्वाह है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते हैं:—
(१) आलस्यवश फलों की इच्छा न रखना और न उसके लिए कर्म करना।

यह प्रकृत जन-सम्मत मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (२) फल की आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना—यह 'सकाम' मार्ग है जिसमें कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना—यह निष्काम-मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भलीभाँति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना—यही गीता-सम्मत कर्मयोग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतों का समन्वय है। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करने में गीता की विशिष्टता है।

(२) गीता तथा ज्ञानयोग

पक्के कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान तथा भक्ति के पुट की नितान्त आवश्यकता है। कर्म से कर्तृत्वाभिमान को छोड़ना ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है तथा ईश्वर में कर्मों का समर्पण भक्तिप्रवण चित्त से ही किया जा सकता है। गीता ज्ञानमार्ग के महत्त्व को स्वीकार करती है, परन्तु उसका ज्ञानयोग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है। ज्ञानवादी (जैसा सांख्य) जिसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाये हैं, वह चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान है, परन्तु गीतासम्मत ज्ञान आत्मा की एकता का सम्पूर्ण अनुभव है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं (६।२९)—सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (**सर्वभूतस्थमात्मानम्**) एक दिशा है, जिसमें सर्वभूत आधार तथा आत्मा आधेय है, परन्तु इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इसकी दूसरी दिशा भी है—आत्मा में सब भूतों को देखना (**सर्वभूतानि चात्मनि**)। इसमें आधारभूत आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशायें परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष 'समदर्शन' कहलाता है। '**सर्वभूतस्थमात्मानम्**' का दृष्टान्त जगत् में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु '**सर्वभूतानि चात्मनि**' के दृष्टान्त को भगवान् ने अर्जुन को अपने देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखलाया है। एक विराट् आत्मा के भीतर एक जगह पर अनेकधा विभक्त समस्त जगत् को अर्जुन ने दिव्यचक्षु से देखा। विराट् दर्शन का रहस्य '**एकस्थं कृत्स्नं जगत्**' के प्रत्यक्ष दिखलाने में है। तब अर्जुन का आत्मैकत्व ज्ञान यथार्थ हुआ, परन्तु ऐसा सच्चा ज्ञानी महात्मा होना बिल्कुल दुर्लभ बात है, जो सब किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे (**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः—७।१६**)। ऐसे समदृक् पुरुष को विद्या विनयसम्पन्न ब्राह्मण, बैल,

हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में समदृष्टि रहती है। (५।१८)। गीता **'पण्डिताः समदर्शिनः'** में **'समदर्शिनः'** शब्द का प्रयोग करती है, **'समवर्तिनः'** का नहीं। गीता समस्त प्राणियों के साथ एक प्रकार का व्यवहार समवर्ती बनने का निषेध करती है। इसे भूलना नहीं चाहिए।

गीता ने ध्यानयोग को भी अपनाया है। छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशद वर्णन उपनिषद्पद्धति के अनुसार है। इस वर्णन में श्वेताश्वतर (२८–१५) की झलक साफ तौर से दीख पड़ती है।

(३) गीता तथा ध्यानयोग

चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए गीता आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि समस्त योग-साधनों का उपदेश देती है (६।११–१८), परन्तु ध्यान के द्वारा एकसंस्थ चित्त का उपयोग क्या है? अखिलाधार भगवान् में उसका अर्पण करना। मनुष्य विषयपंक से अशुद्ध, कलुषित चित्त को भगवान् को क्यों कर अर्पण कर सकता है? प्राणायामादि से परिष्कृत शुद्ध चित्त को ही भगवान् के आश्रय में लगाना उचित है। गीता (६।३१) कहती है कि योगी एकत्व की भावना कर सर्वभूतों में निवास करने वाले भगवान् को भजता है, वह जिस किसी अवस्था में रहने पर भी भगवान् के ही साथ रहता है। अतः गीता शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है। उसके अनुसार तो ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त से सर्वत्र वर्तमान घट-घट में व्यापक भगवान् के भजन करने में है (६।२८)। भगवान् ने (६।४६) योगी का पद तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मी—इन तीनों से बढ़कर बतलाया है तथा योगी होने का उपदेश दिया है। योगी भी गीता के अनुसार दो प्रकार का होता है—युक्त तथा युक्ततम। ज्ञान-विज्ञान से तृप्त अन्तः-करण वाला, मिट्टी, पत्थर तथा सोने को एक समान समझने वाला, जितेन्द्रिय, विकाररहित योगी 'युक्त' कहलाता है (६।८), परन्तु इन 'युक्त' योगियों में भी वही सर्वश्रेष्ठ युक्ततम है, जो अपने अन्तरात्मा को भगवान् में लगाकर पूरी श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरन्तर भजन करता है:—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (६।४७)

ध्यानयोग का यही निष्कर्ष है। विना भगवान् के श्रद्धापूर्वक हृदय से भजन किये ध्यानयोग केवल शारीरिक व्यायाममात्र है, काया को कष्ट पहुँचाना है। अतः गीता को ध्यान तथा भक्ति का सामञ्जस्य अभीष्ट है।

भक्तियोग गीता-ज्ञान का अमृत फल है। यह सब विद्याओं का राजा है (राजविद्या) तथा समस्त रहस्यों का रहस्य (राजगुह्य–९।२) है। गीता का हृदय भक्ति है। विविध साधनों की आलोचना से हम इसी तत्त्व पर पहुँचते हैं कि विना भक्ति से सम्पुटित हुए उसका आचरण अधूरा है, अपूर्ण है। विराट् रूपदर्शन के अन्त में इस रूप के दर्शन की साधना

(४) गीता तथा भक्तियोग

बतलाते समय श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि यह देव-दुर्लभ रूप न वेद, न तपस्या, न दान, न इज्या के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है (११।५३)। इसका एकमात्र साधन है—अनन्या भक्ति। इसी के द्वारा जीव भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वतः जान सकता है तथा प्रवेश कर सकता है, भगवान् के साथ ऐक्य भाव को प्राप्त हो सकता है (८।२२, ११।५४)। पर अनन्या भक्ति किसे कहते हैं ? गीता ने इस तत्त्व को इस श्लोक में समझाया है :—

मत्कर्मकृद् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (११।५५)

यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने वाला, भगवान् को परम आश्रय मानकर उनकी प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील (मत्परमः), भगवान् की सच्ची भक्ति करने वाला, आसक्ति रहित, सम्पूर्ण प्राणियों में वैरभाव से रहित पुरुष अनन्य भक्त कहलाता है। ऐसे भक्ति का फल भगवत्-प्राप्ति ही है। गीता सकाम (९।१०, २१) तथा निष्काम उपासना[1] (९।२२) के भेद को मान कर अन्तिम को श्रेष्ठ बतलाती है (६।२६,२७); वह निराकार उपासना को नितान्त क्लेशकर बतला कर (१२।५) सगुण उपासना का उपदेश देती है (१२।६–८)। गीता के भक्तियोग में अन्य साधनों से भी अविरोध है। आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों से कहीं बढ़ कर

---

१. उपासना के तात्पर्य को शंकराचार्य ने बड़े सुबोध शब्दों में समझाया है—"उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेन दीर्घकालं यद् आसनं यद् उपासनमाचक्षते" अर्थात् उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँच कर तैलधारा की तरह समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थिर रहने को उपासना कहते हैं। द्रष्टव्य गीता १२।३ पर शाङ्करभाष्य।

ज्ञानी भक्त का पद है। ज्ञानी भक्त तो भगवान् का आत्मा-स्वरूप है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्—७।१८), अतः सर्वश्रेष्ठ है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते—७।१७)।

इस प्रकार गीता भिन्न-भिन्न मार्गों में समन्वय प्रदर्शित कर साधनमार्ग को सुगम तथा सुलभ बना देती है। गीता की सम्मति में कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा

५ समन्वय मार्ग

भक्तियोग भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र साधनसरणी न होकर एक ही रास्ते के विभिन्न ठिकाने हैं, जिन्हें आध्यात्मिक पथिक को पार करना आवश्यक होता है। अठारहवें अध्याय में इन मार्गों का परस्पर सामञ्जस्य संक्षेप में दिखलाया गया है। गीता के साधन-मार्ग का आरम्भ निष्काम-कर्म से तथा अन्त शरणागति से है। निष्काम कर्म करने से तथा नियम पूर्वक ध्यान-योग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है, जिस दशा में वह प्रसन्न चित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है (१८।५१–५३)। इस ब्राह्मी स्थिति के उदय होने पर साधक परा भक्ति—परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति—को प्राप्त करता है (१८।५४) तथा भक्ति के उदय होने से वह 'पर ज्ञान' का अधिकारी होता है, जिसके द्वारा वह भगवान् के स्वभाव तथा स्वरूप (यश्चास्मि), विभूति तथा गुण को (यावान्) यथार्थरूपेण जानता है। इसका फल भगवत्-प्रवेश—ईश्वरोपालब्धि है (१८।५५), परन्तु इस अन्तिम फल के लिए प्रपत्ति की नितान्त उपयोगिता है। गीता का **'सर्वगुह्यतम'** ज्ञान यही है कि हृदयस्थित अन्तर्यामी ईश्वर के शरण में जाकर सब धर्मों का परित्याग कर दे। स्वरूपतः परित्याग न करे, अपितु ईश्वर को समर्पण-बुद्धि से उनका निष्पादन करे (१८।६६), प्रपत्ति-मार्ग अन्य मार्गों का नैसर्गिक पर्यवसान है। गीता का गुह्यतम ज्ञान यही है:—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९।३४)

गीता के साधन-मार्ग की जानकारी के लिए यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किंचित् पाठभेद से गीता में दो बार आया है (९।३४; १८।६५)। एक प्रकार से यह गीता का सार है। इसका तात्पर्य यह है कि जितने विभिन्न साधन विद्यमान हैं, ईश्वर उनके केन्द्र में स्थित रहने वाला है। उसी को लक्ष्य में रखने से विभिन्न साधनों का अपूर्व सामञ्जस्य निष्पन्न होता है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन लगाना चाहिए भगवान् में (ज्ञानयोग), भक्ति करनी चाहिए भगवान् की

(भक्तियोग), यज्ञ करना चाहिए भगवान् के निमित्त (कर्मयोग) तथा आश्रय लेना चाहिए भगवान् का ही (शरणागति)—इस प्रकार इन विविध मार्गों का अविरोध केवल भगवान् में आश्रित होने से ही होता है। गीताकार "**मत्परायणः**" शब्द को श्लोकान्त में रखकर तथा इसे '**सर्वगुह्यतमं वचनम्**' कह कर (१८।६४) शरणागति की श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं।

(६) सिद्धावस्था

इन साधनों के फल का भी वर्णन गीता ने विस्तार के साथ किया है। आत्मा को जानने वाले, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले ज्ञानी को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारती है। वह स्थितप्रज्ञ है (२।५२), भक्त है (१२।१३), त्रिगुणातीत है (१४।२२–२७), ब्रह्मभूत है (१८।४५)। ऐसे ब्रह्मभूत की स्थिति '**ब्राह्मी स्थिति**' (२।७२) कहलाती है। साधनाओं का चरम लक्ष्य परमतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान है। यह ज्ञानमार्ग से, भक्तिमार्ग से, सांख्य से समभावेन प्राप्य है। इसीलिए गीता में सिद्ध पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है, परन्तु तत्त्व एक ही है। सिद्ध पुरुष सब प्राणियों का अद्वेष्टा, सबका निःस्वार्थ प्रेमी, दयालु, ममता तथा अहंकार से रहित, सुख तथा दुःख की प्राप्ति में सम, शान्तचित्त तथा क्षमावान् होता है (१२।१३)। वह अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, दुःखों के बीच वह उद्वेग-रहित रहता है तथा सुखों की प्राप्ति होने पर वह स्पृहा नहीं रखता; सर्वत्र आत्मस्वरूप को देखने के कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों से वह उन्मुक्त रहता है। ऐसे पुरुष की ही संज्ञा है—स्थितप्रज्ञ, स्थितधी तथा प्रतिष्ठितप्रज्ञ (२।५५–५८)। गीता के अनुसार मानव जीवन के लिए यही आदर्श है, सफल जीवन के परखने की यही कुंजी है; 'जीवनमुक्ति' के औपनिषद आदर्श का इससे सुन्दर सरल रोचक वर्णन नहीं मिल सकता।

भगवान् को स्मरण करते हुए इस संसार-युद्ध में प्रवृत्त होने तथा अपने समस्त धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते रहने—मामनुस्मर युध्य च—की गीता-शिक्षा आज उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जिस प्रकार वह महाभारतकाल में थी। भारतीय धर्म तथा दर्शन का यह परम प्रामाणिक प्राञ्जल, सरल तथा सरस सारांश है। इसलिए शास्त्र इसी के अध्ययन करने का उपदेश देते हैं। शास्त्र विस्तार से लाभ क्या ? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिए। **(गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः—गीता-माहात्म्य)**। गीता का ज्ञान पुण्यसलिला गंगा के जल के समान पावन, पवित्र

तथा कलिकल्मषनाशन है जिसमें स्नान कर कौन मनुष्य विधूतपाप नहीं हो जाता? गीताकल्पद्रुम की शीतल छाया का आश्रय लेने पर किसकी मनोवाञ्छा सफल नहीं होती? इसलिए गीता का अनुशीलन तथा मनन आजकल नितान्त अपेक्षित है। शास्त्र से बढ़कर गीता का व्यवहार परमोपयोगी है। गीता के उपदेशों को अपने जीवन में उतारना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

गीता का सुलभ साधन

भगवान् को पाने का सुलभ साधन कौन-सा है? विचार करने पर भगवान् की शरण में जाने से बढ़कर अन्य कोई साधन है ही नहीं। जो सब शक्तियों का आधार है, जो अघटना को भी घटित कर सकता है, उस परमात्मा की शरण में जाने से दुर्बल आत्मा में अमित बल का संचार हो जाता है। उस मार्ग को पकड़ने पर अनायास ही हमलोग भगवान् के पास पहुँच सकते हैं। गीता का भी तात्पर्य इसी शरणागति में प्रतीत होता है। गीता के नवें अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को वह विद्या बतलाई है, जो सब विद्याओं की सार है और सब गुह्य बातों में भी गुह्य है। वह है भगवान् को अनन्य भाव से भजना। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' में अनन्यपद महत्त्व का है। जिसके लिए कोई आधार या आश्रय न हो उनके ऊपर भगवान् की दया होती है। जबतक हम जगत् की वस्तुओं का अवलम्बन कर बैठे हुए हैं तबतक भगवान् की दया हो तो कैसे हो? जब हृदय सबसे विमुख होकर केवल भगवान् ही पर अवलम्बित हो यह कहता है कि हे भगवान्—मुझे किसीका सहारा नहीं, कोई देखभाल करनेवाला नहीं, अन्धकारमयी रजनी में कहीं से भी प्रकाश की झलक नहीं आ रही है, आगे का रास्ता सूझता नहीं, क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? तब भगवान् का आसन डिगने लगता है। भक्त की आर्त पुकार भगवान् के आसन को हिला देती है। परन्तु भक्त को 'नित्ययुक्त' होना चाहिए, भगवान् में भक्त की निष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार अठारहवें अध्याय में भी इसी बात को भगवान् ने गुह्यतम बतलाया है। १८।६४ में गुह्यतम ज्ञान के बतलाने की प्रतिज्ञा है और वह ज्ञान दो पद्यों में है—'मन्मना भव तथा सर्वधर्मान् परित्यज्य।' इसलिए गीता का तात्पर्य यही शरणागतवाली भक्ति है, पर उस भक्त को ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिए 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' पर लोकसंग्रह के लिए सब कर्मों को करते रहना होगा। अतः गीता के अनुसार भक्ति को प्रधानता दी गई है।

ज्ञान और कर्म का समन्वय भक्ति में है। भक्त ही यथार्थ में ज्ञानी और कर्मयोगी हो सकता है। मेरे विचार से गीता में प्रधान लक्ष्य इसी समन्वय की

ओर है, जिसमें भक्ति की प्रधानता बनी रहती है। शुष्क ज्ञान को लेकर हम क्या करेंगे, साथ ही इसी प्रकार केवल भक्ति से भी हमारा काम नहीं चलेगा। देखने में ये भिन्न-भिन्न दो मार्ग प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः इनमें भेद नहीं है।

गीता के तात्पर्य के ऊपर जितना विचार किया जाता है, उतना ही अनन्य भक्ति के द्वारा भगवान् के भजन का ही तात्पर्य निकलता है। भगवान् ने अपने श्रीमुख से यही कहा है कि शास्त्र का ज्ञान, प्रत्यक्षरूप से दर्शन (ग्यारहवाँ अध्याय), तथा तन्मयता से भगवान् के साथ एकीकरण—इन तीनों की प्राप्ति **अनन्य भक्ति** के द्वारा होती है। (११।५४)। इससे बढ़कर स्पष्ट उक्ति और क्या हो सकती है। भगवान् का सदा स्मरण करते हुए अपने काम में लगे रहना चाहिए, परन्तु सदा अनन्यभाव से। भगवान् से बढ़कर अन्य हमारी गति नहीं हैं। वही हमारा आधार है। वही, अथर्ववेद के अनुसार, 'स्कम्भ' है। उसीसे यह हमारा जीवन है। नाशवान् पदार्थों में वह स्वयं अनश्वर होकर विद्यमान रहने वाला है। ऐसे भगवान् के ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए। जो हम करते हैं, वह उसका है, क्योंकि वह उसीकी अध्यक्षता में निष्पन्न हुआ है। इस भाव की अहैतुकी भक्ति ही वास्तव में सच्चा अनुराग है। प्रियतम को सर्वस्व मानकर जो अनुराग नहीं किया जाता, वह भला सचा अनुराग क्योंकर माना जा सकता है। अतः अनुराग को 'अनन्य' होना ही पड़ेगा। यदि भगवान् से माँगने की प्रवृत्ति बनी रही तो भी वह सच्चा नहीं हो सकता। जब पक्का प्रेम हुआ, तब माँगना क्या ? जो अपने हृदय में निवास करता है, जो हृदय की बातों से सर्वथा परिचित है, उससे कुछ कहना या माँगना उसकी सर्वज्ञता का अनादर करना है और अपनी तुच्छता प्रकट करना है। अतः भगवान् से माँगने की प्रवृत्ति बड़ी बुरी है। यह तो लेन-देन का व्यापार बनियापन हुआ। बणिक्-वृत्ति में साधुता के संसार की प्रिय वस्तुओं से अपने चित्त को समेट भगवान् के चरण में लगा देना ही मनुष्य का काम है। यही अनन्य भजन हुआ। पर विना सात्त्विकी श्रद्धा तथा दैवी सम्पत्ति के पाये यह हो नहीं सकता। अतः भगवद्भक्ति के लिए अभय, सत्त्वशुद्धि आदि सद्गुणों का उपार्जन करना नितान्त आवश्यक है। ये भी सात्त्विकी श्रद्धा से ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतः दैवी सम्पत्ति को पाकर कर्मयोग तथा ज्ञान में लगकर अनन्य भक्ति करना ही गीता का तात्पर्य प्रतीत होता है।

ज्ञान और भक्ति में कुछ लोग अन्तर बतलाते हैं और एक को दूसरे का प्रतिबन्धक समझते हैं। पर बात ठीक इसके विपरीत है। जबतक ज्ञान नहीं तब-

तक सच्ची भक्ति नहीं होती। जिस व्यक्ति के रूप के अवलोकन का अवसर ही नहीं मिला है, भला उससे हम प्रेम क्यों कर सकते हैं। अनुराग करने के लिए यह आवश्यक है कि उस व्यक्ति को हम सब प्रकार से जानें, उससे परिचित हो जायँ, उसके भीतरी तथा बाहरी तत्त्वों से हम अवगत हो जायँ। अतः ज्ञान होने पर ही सच्चे अनुराग का उदय होता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी कितना सुन्दर है। बिना भक्ति के ज्ञान नीरस है और बिना ज्ञान के भक्ति अंधी है। अतः इनकी जुगल जोड़ी ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। ज्ञानी भक्त को पहला दर्जा देकर इस बात की पुष्टि की गई है। ज्ञान से सम्पन्न भक्त ही तो सच्चा भक्त हो सकता है। भक्त ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकता और न ज्ञानी को भक्ति की उपेक्षा करनी चाहिए।

आदर्श मानव

गीता के अनुसार जीवन का आदर्श क्या है? आदर्श मानव कैसा होता है? वह जो घरबार छोड़कर जंगल में भागकर अरण्य की शरण लेता है अथवा वह, जो इस संसार में विषम स्थितियों के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाकर जीवन को आगे बढ़ाता है? इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु तथ्य तो यह है कि गीता व्यवहार-शास्त्र है, जो अध्यात्म-ज्ञान की दृढ़ भूमि पर अवस्थित है। इसीलिए गीता की पुष्पिका में **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** ये दो महत्त्व के शब्द मिलते हैं। यह योगशास्त्र है—कर्तव्यशास्त्र है, जो अपने खड़े होने के लिए ब्रह्मविद्या के दृढ़ आधार पर आश्रित है। गीता का सारांश कहीं श्लोक में, कहीं श्लोक के अर्धभाग में और कहीं श्लोक के चतुर्थ भाग में ही उद्घोषित किया गया है। इस श्लोक में गीता का तात्पर्य निविष्ट है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

अर्थात्—जिससे प्राणियों की प्रवृत्ति हुई कि वे अपने विशिष्ट कर्मों में लगें तथा जिससे यह समस्त विश्व रचित है, उस भगवान् को अपने कर्म से पूजा कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है—इस श्लोक के अनुसार सिद्धि लाभ का एक ही मार्ग है—भगवान् की अर्चना और वह सिद्ध होती है 'स्वकर्म' की उपासना से। फलतः मानव को चाहिए कि वह अपने वर्णाश्रम के द्वारा नियत कर्मों का सम्पादन करे, उनके फलों को भगवान् के चरणों में अर्पित करे और इस प्रकार उसे अपने

जीवन में सिद्धि अवश्यमेव प्राप्त होती है। इस प्रकार स्वकर्म से भगवत्-चर्चा और भगवत्-चर्चा से सिद्धि-लाभ यह साधना का व्यावहारिक पक्ष गीता को अभीष्ट है। **'मामनुस्मर युध्य च'** (मुझे सतत स्मरण करते हुए युद्ध करो, जीवनसंग्राम में अपनी विरुद्ध शक्तियों से)—इसका भी आशय यही है। इस प्रकार गीता संसार से भागने का उपदेश नहीं देती, प्रत्युत संसार में डटकर खड़ा होने, अपनी विषम परिस्थितियों से जूझने तथा अन्त में विजय पाने की उदात्त शिक्षा गीता हमें सर्वदा देती है। इसलिए गीता का आकर्षण सार्वभौम तथा सार्वकालिक है—सब समयों के लिए, सब परिस्थितियों के लिए, सब मानवों के लिए इसका उपदेश समान रूप से उपयोगी है।

गीता ने आदर्श मानव का वर्णन तीन स्थलों पर किया है—स्थितप्रज्ञ (द्वितीय अध्याय ५५-७२), भक्त (१२।१३-१९) तथा गुणातीत (१४।२१-२७)। ये तीनों वर्णन एक समान हैं—इनमें समरसता है। यही गीताभिमत जीवन्मुक्त का भी लक्षण है। आदर्श मानव सब प्राणियों से मित्रता करनेवाला, अद्वेष्टा, करुण, ममता तथा अहंकार से हीन, दुःख और सुख को समान मानने वाला तथा क्षमाशील होता है। वह न हर्ष के वश में जाता है और न द्वेष के; न शोक करता है और न आकांक्षा रखता है। वह शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल का त्याग करने वाला होता है। 'स्थितप्रज्ञ' का मान्य लक्षण यही है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

(गीता २।५६)

अर्थात्—वह दुःखों से कभी उद्विग्न नहीं होता, सुखों में स्पृहा नहीं रखता। राग, भय तथा क्रोध से विरहित होता है। यही मननशील व्यक्ति 'स्थितधी, स्थितप्रज्ञ, स्थिरधी' आदि नाना नामों से अभिहित किया जाता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥

(गीता १२।१३)

गीता की दृष्टि में ऐसा ही मानव जगत् का उपकार करने वाला तथा स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय कर जीवन की लक्ष्यसिद्धि करने वाला होता है।

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक दर्शन

सन्देहवाद बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी दर्शन की भूमि में लग जाते हैं, तो उन्हें दूर करने के सतत प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। वृक्षरूप में वे बढ़कर तैयार हो ही जाते हैं।

महाभारतोत्तर युग

उन्हें कितना भी काटा जाय, बेर के पेड़ के समान वे आप से आप पुनः उत्पन्न हो जाया करते हैं। विचार का झोंका सन्देह के बादलों को इतस्ततः विक्षिप्त करने में कतिपय क्षण के लिए ही समर्थ हो हो सकता है, परन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होता है, वे फिर गगन मण्डल में आ धमकते हैं और गाढ़ तिमिर-पटल से ज्ञानसूर्य को भी निगल जाने के लिए तैयार रहते हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान के इस नये युग के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। हमने गत परिच्छेद में देखा है कि उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों ने अनेक अवैदिक मतवादों को जन्म दिया। अक्रियावाद, यदृच्छावाद, नियतिवाद आदि समस्त वादों के मूल में यही सन्देहवाद क्रियाशील था। इन मतवादों को भारतभूमि से निकाल कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए पञ्चम वेद—महाभारत—का निर्माण किया गया। गीता ने सन्देहवादियों के आपाततः रमणीय युक्तियों की निःसारता भी दिखलाई। आसुरी सम्पत् के वर्णन के अवसर पर सोलहवें अध्याय में गीता उन लोगों की प्रवृत्तियों का उल्लेख करती है जो जगत् को आश्रय-रहित, नितान्त असत्य, अनीश्वर, अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला (**अपरस्परसंभूत**) तथा केवल भोगवृत्ति को चरितार्थ करने वाला (**कामहेतुक**) बतलाते हैं (१६।८), जो काम को परम पुरुषार्थ (**कामोपभोगपरमा**) मान कर मरणपर्यन्त अनन्त चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं (१६।११) तथा जो नाममात्र के यज्ञों का पाखण्ड से अविधिपूर्वक सम्पादन करनेवाले हैं (१६।१७)। परन्तु गीता के अनन्तर चार्वाकों की प्रगति

रुकी नहीं, प्रत्युत अनुकूल स्थिति में वे और भी पनपे। इन लोगों ने वैदिक धर्म के अध्यात्म-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष दोनों की आमूलतः उपेक्षा कर भूतात्मवाद का प्रचार किया। ये उस युग के सच्चे विज्ञानवादी प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका मतवाद समाज तथा धर्म के लिए इतना विद्रोही था कि इनके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार न हो सका। कोई भी व्यवस्थित समाज 'चार्वाक-दर्शन' का अनुयायी बन अपना वास्तव कल्याण-साधन नहीं कर सकता। अतः ये जनता की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट न कर सके।

इस युग में पनपनेवाले अन्य धर्मों की दशा इससे भिन्न थी। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म ने जनता के पीड़ित हृदय को पहचाना, उससे सहानुभूति दिखलाई, भव-रोग के औषध ढूंढ़ निकाले और सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती होने के हेतु जनता के प्रेमभाजन बने। जरामरण के क्लेश से मुक्ति प्राप्त करना प्राचीन उप-निषत्-कालीन ऋषियों का भी लक्ष्य था तथा उनकी बतलाई पगडंडी पर चलने वाले महावीर और बुद्ध का भी। महावीर और बुद्ध ने उपनिषत्-प्रतिपादित विचार-पद्धति का ही अवलम्बन किया है, परन्तु अपने सिद्धान्तों में विशिष्टता लाने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं श्रुतिमूल का तिरस्कार किया है। इसे आगे दिख-लाया जायेगा कि महावीर तथा बुद्ध उपनिषत्-परम्परा के बहिर्भूत नहीं हैं। एक ही विशालकाय प्रच्छाय शीतल भारतीय धर्मरूपी महाद्रुम की जिस प्रकार वैदिक धर्म एक शाखा माना जाता है, उसी प्रकार जैनधर्म तथा बौद्धधर्म भी शाखायें हैं। आरम्भ काल में दोनों का अवान्तर भेद नगण्य था, पर परवर्ती शताब्दियों ने इतने भेदभाव की कल्पना कर दी कि दोनों एक दूसरे से नितान्त विभिन्न प्रतीत होने लगे। परञ्च सच्ची बात ऐसी नहीं है। श्रुति-प्रमाण के निषेध करने के कारण ये तीनों 'अवैदिक' कहे जाते हैं। इन्हीं अवैदिक सम्प्रदायों का वर्णन इस खण्ड का विषय है।

आरम्भ

अवैदिक दर्शनों में 'चार्वाक-दर्शन' ही प्राचीनता की दृष्टि से सर्वप्रथम माना जाता है। यही लोक आत्मा का क्रीडास्थल है; इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है; यह शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है। अत एव जब तक इस शरीर में प्राण है, तब तक सुख प्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए। धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है। मानव जीवन के लिए 'काम' ही पुरुषार्थ है—आदि चार्वाक सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में सुदूर प्राचीन काल से चला आया है। उपनिषत्-काल में भी चार्वाकों के समान सिद्धान्त का प्रचार जहाँ-तहाँ इस देश में था। इस समय में भी मृत्यु के

अनन्तर आत्मा की स्थिति के विषय में लोगों में सन्देह का भाव बना हुआ था (कठ उप० १।१।२०)। कुछ लोग आत्मा की सत्ता मरणानन्तर स्वीकार करते थे, पर अन्य जन स्पष्ट शब्दों में उसके अभाव का प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगों की सम्मति में **'न प्रेत्य संज्ञास्ति'** (बृह० उप० ४।५।१३) वाक्य 'मरण के अनन्तर चैतन्य नहीं रहता' इस अर्थ में चार्वाकों की प्राचीन स्थिति की सूचना दे रहा है। गत परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि बौद्ध ग्रन्थों में चार्वाक सिद्धान्तों का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। उच्छेदवाद के प्रतिपादक 'अजित केशवकम्बल' का सिद्धान्त लोकायतिक मत के अनुरूप ही है। जैन ग्रन्थों में भी इस मत का निर्देश पाया जाता है। इस प्रकार चार्वाक मत की प्राचीनता का अनुमान इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है। श्रुतिकाल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्याचरण पर विशेष रूप से जोर दिया जाता था; ऐहिकता की अपेक्षा पारलौकिकता की चिन्ता प्राणियों को विशेष थी। चार्वाक-दर्शन में इन सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। परलोक की चर्चा सुनते-सुनते लोग इतने ऊब गये थे कि उन्होंने परलोक को ही उड़ा डाला तथा परलोक के साधनभूत धर्म की सत्ता को ही चट कर डाला। उस लोक में जाने वाले नित्य आत्मा के ही अस्तित्व का लोप कर डाला; इन्द्रिय-गम्य जगत् ही सत्य है, इसी सिद्धान्त पर डट गये। इस प्रकार श्रौतकालीन अधिक धर्मानुष्ठान की प्रतिक्रिया के रूप में इस दर्शन का उदय मानना उचित होगा।

नामकरण

इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम **'लोकायत'** है। इसके मानने वाले लोग शुद्ध बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे तथा परपक्ष का खण्डन ही उनका प्रधान ध्येय था। स्वपक्ष की स्थापना में उनका ध्यान न था, प्रत्युत इन लोगों का लक्ष्य वैदिक मार्गानुयायी लोगों के पक्ष का केवल शुष्क तर्क से खण्डन करना ही था। इस तरह लोकायतिक प्राचीन काल के **वैतण्डिक**[1] थे। अपने तर्कों को छोड़ ये लोग किसी भी शास्त्र का प्रमाण नहीं मानते थे। ये वेद के विदूषक तो थे ही; साथ ही साथ बुद्ध तथा जैन आगमों के भी निन्दक थे। इसलिए आपस में सिद्धान्तगत मतभेद होने पर भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्माचार्य इनके प्रति बड़ी घृणा का भाव रखते थे। रामायण में रामचन्द्र ने भरत से इन लोकायतिकों की निन्दा की है[2]। विनय-पिटक में बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को लोकायत शास्त्र सीखने या सिखाने का स्पष्ट निषेध किया है। सद्धर्मपुण्डरीक में (१३ परिच्छेद) बोधिसत्त्व को इस शास्त्र के पढ़ने तथा पढ़ाने का स्पष्ट निषेध मिलता है। जैन ग्रन्थ इसे 'मिच्छादिट्ठि'

(मिथ्यादृष्टि) का एक प्रकार मानता है। इस प्रकार तीनों धर्मों का लोकायतमत की निन्दा के विषय में ऐकमत्य था। सामान्य निर्विचार लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों की 'लोकायत' या 'लोकायतिक' संज्ञा पड़ी थी। आगे चलकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे। कुछ लोग बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इन्हें इस नाम से पुकारते हैं[३]। खाओ, (चर्व् = भोजन करना), पीओ, मौज उड़ाओ—इस सिद्धान्त के कारण चार्वाक संज्ञा भी मानी जाती है। पुण्य-पापादिक परोक्ष वस्तुजात के चर्वण कर जाने से (चट कर जाने से) इन दार्शनिकों का नाम 'चार्वाक' पड़ा; यह गुणरत्न का कहना है[४]। यह भी सम्भव है कि बहुत से लोग सुखप्राप्ति के उपदेशक इन दार्शनिकों की 'चारु वाक्' को सुनकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे थे। जो कुछ भी सच्चा कारण हो, पर इस नाम का खूब प्रचार हुआ। आजकल किसी प्रकार की नास्तिकता के सिद्धान्त को मानने वाला 'चार्वाक' नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन का तीसरा नाम **'बार्हस्पत्य दर्शन'** है। भारतीय दर्शन के इतिहास में बृहस्पति चार्वाक मत के संस्थापक माने जाते हैं। इसी कारण इस मत को 'बार्हस्पत्य मत' तथा उनके अनुयायी को 'बार्हस्पत्य' कहते हैं।

नास्तिक मत के संस्थापक कोई **बृहस्पति** नामक आचार्य थे। यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं है, प्रत्युत इसके लिए ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। यह बृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं। बृहस्पति-रचित सूत्रों का उल्लेख अनेक प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में मिलता है। **"एक आत्मनः शरीरे भावात्"** (ब्र० सू० ३।३।५३) के भास्कर-भाष्य में तथा शांकर-भाष्य में, गीता (१६।११) की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी में और अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि में निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किये गये हैं—

संस्थापक

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।
(२) तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा।
(३) तेभ्यश्चैतन्यम्।
(४) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
(५) मदशक्तिवद् विज्ञानम्।
(६) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।
(७) काम एवैकः पुरुषार्थः।
(८) मरणमेवापवर्गः।

ये सूत्र बृहस्पति की ऐतिहासिक सत्ता के लिए पर्याप्त साधन हैं। इसके अतिरिक्त राजनीति-शास्त्र के इतिहास में बृहस्पति का मत उल्लिखित किया गया है। भास ने प्रतिमा नाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का तथा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में (१।२) बृहस्पति के मत का निर्देश किया है। उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख के साधनभूत वार्ता तथा दण्डनीति ही प्रधान विद्यायें हैं (**वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः**)। कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों बृहस्पति—चार्वाकमत के संस्थापक तथा अर्थशास्त्रप्रणेता—अभिन्न व्यक्ति हैं या भिन्न। मतों की समानता दोनों की अभिन्नता मानने के लिए हमें प्रलोभित करती सी प्रतीत होती है।

चार्वाक ग्रन्थ

ये ही इने गिने बार्हस्पत्य-सूत्र चार्वाक दर्शन के सर्वस्व हैं। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन के मूल ग्रन्थ भी विद्यमान थे,[४] परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति अवहेलना के कारण इन ग्रन्थों का लोप हो गया। पतञ्जलि के समय में (वि० पू० द्वितीय शतक) 'भागुरी' नामक टीका-ग्रन्थ विद्यमान था[५]। भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में भी चार्वाक के तथ्यों का ही प्रतिपादन है[६]। यह तर्कबहुल ग्रन्थ १० वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था। इस मत के सिद्धान्तों का परिचय हमें सब दर्शनों के संग्रहात्मक ग्रन्थों से तथा न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि दर्शनों के ग्रन्थों से मिलता है, जिन में ये पूर्वपक्ष के रूप में बहुलतया निविष्ट किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के ३।३।५३-५४ सूत्रों के भाष्य, न्यायमञ्जरी, विवरणप्रमेय-संग्रह, सर्वसिद्धान्त-संग्रह, सर्वमत-संग्रह, षड्दर्शन-समुच्चय तथा इसकी गुणरत्न-कृत टीका, कमलशील कृत तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका, नैषध-काव्य का १७ वाँ सर्ग, कृष्णायतिमिश्र-कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक)—के अध्ययन करने से इसके मूलभूत तत्त्वों का पता पर्याप्त रूप से चलता है। 'सर्वदर्शन संग्रह' के प्रथम अध्याय में माधवाचार्य ने चार्वाकमत का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है।

अब इस परिच्छेद में चार्वाकों के सिद्धान्त तीन मीमांसाओं—ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा, आचार-मीमांसा—के अन्तर्गत दिखलाये जायेंगे।

(१) चार्वाक ज्ञान-मीमांसा

चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता निराधार मानी जाती है। विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला

प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता

ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, उससे अन्य पदार्थ नितरां असत् हैं; ये केवल कल्पना के विषय हैं, वास्तविकता के नहीं। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा मृदु, कठोर, शीत, उष्णादि भावों का ग्रहण होता है, रसनेन्द्रिय से कटु, कषाय, अम्ल, मधुरादि रसों का ग्रहण होता है, घ्राणेन्द्रिय से मृगमद, मलयचन्दन, कपूर आदि सुरभि पदार्थों का परिचय प्राप्त होता है, चक्षु-रिन्द्रिय से भू, भूधर, घट, पट, पशु, मनुष्यादि स्थावर-जंगम पदार्थों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान हमें होता है। इन्हीं पाँच प्रकार के प्रत्यक्षों के द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाणभूत मानी जाती है। अस्पृष्ट, अनास्वादित अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती।

बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शन तथा न्याय वैशेषिकादि वैदिक दर्शन अनुमान की प्रामाणिकता मानते हैं। प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती और न समस्त लोक-व्यवहार की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है। अतः अगत्या इन दर्शनों को अनुमानप्रमाण मानना ही पड़ता है, पर चार्वाक दर्शन अनुमान को प्रमाण कोटि में स्वीकार नहीं करता। इस विषय में उसकी तर्क प्रणाली बड़ी ही पैनी तथा मर्मस्पर्शिनी है।

अनुमान की अप्रामाणिकता

अनुमान लोकव्यवहार का साधक माना जाता है; पर चार्वाक का कहना है कि लोकव्यवहार के लिए निश्चय की आवश्यकता नहीं; आवश्यकता है सम्भावना की। सम्भावना के आधार पर जगत् का समस्त व्यवहार चलता है। दूर पर कटोरे में रखी गई सफेद रंग की चीज दूध सी है, तथा उसके लिए बालक आगे बढ़ता है। यह प्रवृत्ति सम्भावना-मूलक है, निश्चय-मूलक नहीं। बालक उस वस्तु को ग्रहण करने के लिए जब प्रवृत्त होता है, तब वह इसी लिए नहीं आगे बढ़ता कि वहाँ उसे दूध मिल ही जायगा, प्रत्युत सम्भव है दूध मिल जाय; यही ज्ञान उसकी प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त कारण है। ऐसी दशा में निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। अतः सम्भावनामात्र को उत्पन्न कर देने से ही लोकव्यवहार के लिए अनुमान आवश्यक है।

अनुमान तथा लोक-व्यवहार

अनुमानवादी यदि धूम-वह्नि के कार्य-कारणभाव को मान कर उनके साहचर्य को न्यायसंगत स्वीकार करे तो भी चार्वाक व्याप्ति मानने के लिए तैयार नहीं है। उसकी दृष्टि में जगत् में कार्य-कारणभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार की विचित्रता कार्य-कारणभाव की विचित्रता से नहीं है, बल्कि स्वभाव के कारण है। सुखी मनुष्य को देखकर धर्म की कल्पना तथा दुःखी मनुष्य को देखकर अधर्म की कल्पना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होती। सुख का कारण न तो धर्म है और न दुःख का अधर्म। मनुष्य स्वभाव से सुखी अथवा स्वभाव से दुःखी हुआ करता है। इसके लिए दूसरा कोई कारण नहीं। अग्नि जलाने वाला है तथा जल स्पर्श में शीतल होता है; इसके लिए किसी कारण को मानना ठीक नहीं है। यहाँ तो वस्तु का स्वभाव ही कारण है। मयूरों को इतना रंग-बिरंगा किसने पैदा किया? कोकिल की वाणी किसने इतनी मीठी बनाई? इसका कारण स्वभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है[८]? चार्वाक का सिद्धान्त **स्वभाववाद** के नाम से दार्शनिक जगत् में विख्यात है। वे जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण 'स्वभाव' ही मानते हैं। वस्तु-स्वभाव जगत् की विचित्रता का कारण है, अन्य कुछ भी नहीं[९]।

स्वभाववाद

कार्य-कारण का ठीक ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के समय अनेक साधक-उपाधियों की सत्ता रहती है, जिनमें बहुत से व्यक्त और बहुत से छिपे रहते हैं। इन समग्र व्यक्त तथा अव्यक्त उपाधियों के पूर्ण ज्ञान हुए बिना कार्य-कारणभाव की ठीक कल्पना हो ही नही सकती। यही कारण है कि चार्वाक लोग कार्य-कारणभाव को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। बिना हेतु के ही वस्तु के सद्भाव—अकस्मात् भूति—को अंगीकार करते हैं।[१०]

इन्हीं सब कारणों से बाध्य होकर चार्वाक लोग अनुमान को प्रमाण नहीं मानते। वे शब्द को भी प्रमाण नहीं मानते।

शब्द प्रमाण की सत्यता पर विभिन्न दर्शनों का पूर्ण विश्वास है। जैन तथा बौद्ध दर्शनों में वेद-प्रामाण्य के न मानने पर भी शब्द-प्रामाण्य का तिरस्कार नहीं किया गया है। जैनागमों तथा बुद्धवचनों की पर्याप्त प्रामाणिकता सिद्ध मानी जाती है, पर चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है कि किसी आप्त पुरुष के वाक्य को सुनने से जो अर्थज्ञान होता है वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होता है, उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितरां व्यर्थ है। किसी पुरुष के आप्त, प्रामाणिक, सत्यवचन तथा हितेच्छु होने के कारण उसके वचनों में

शब्द प्रमाण की असिद्धि

आस्था रखना अनुमान ही है और अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन अभी प्रबल युक्तियों से किया जा चुका है। अतः आप्त पुरुषों के वाक्यों की सत्यता में विश्वास करना एकदम निःसार है। यदि वे प्रत्यक्ष पदार्थों का वर्णन करें, तो विश्वास रखा भी जाय, पर अदृष्ट लोक के अश्रुतपूर्व पदार्थों का वर्णन मनोरञ्जन कहानी से बढ़कर और सत्यता नहीं रखता। इसी कारण वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। आपस में विरोध होने से, अनर्थक शब्दों के प्रयोग करने से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करने से वेद प्रमाण-बाह्य हैं। अश्वमेध में घृणित कार्यकलाप के वर्णन करने से, जर्भरी, तुर्फरी, पफरीका, जेमना, मदेरू आदि अनर्थक शब्दों के प्रयोग से (ऋ० १०।१०६।६) तथा यज्ञों में मांसभक्षण के विधान करने से यही प्रतीत होता है कि वेद के बनाने वाले भण्ड, धूर्त तथा निशाचर थे[११]। वेदों का जितना खण्डन चार्वाकों ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो। उन्होंने वैदिक ऋषियों को तथा तद्वर्णित श्रौत विधियों को पानी पी पी कर कोसा है।

(२) चार्वाक तत्त्वमीमांसा

चार्वाकों की तत्त्वसमीक्षा भी अपने ढंग की एक निराली वस्तु है। पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये ही चार जगत् के तत्त्व हैं। बौद्धों के ही समान चार्वाकों का भी मत था कि आवरणाभाव के कारण आकाश शून्य ही है; कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं।

(१) जगत्

ये ही चार पदार्थ अपनी आणविक अवस्था में जगत् के मूलकारण हैं। बाह्य जगत्, इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूलभूतों से उत्पन्न होते हैं। पर इनकी उत्पत्ति होती है कैसे? इस प्रश्न का उत्तर देने से चार्वाक लोग सदा विरत थे। उन्होंने इस सम्बन्ध को समझाया ही नहीं। दृष्ट तथा अदृष्ट कारणों के साक्षात् निषेध करने से तथा इस जगत् के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व, चार्वाकों की दृष्टि में अकस्मात् सम्मिलित होने वाले भूतचतुष्टय का एक संग्रहमात्र है। इसकी उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक मानवबुद्धि को लगा ही नहीं है। अतः इसे ठीक ठीक समझाने की चेष्टा विडम्बनामात्र है।

(२) जीव

पृथिवी आदि चारों भूत के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही नहीं। चैतन्य आत्मा का धर्म है; पर इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही

आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पुष्ट किया जा सकता है :—

(क) नैयायिकपद्धति से—शरीर रहने पर ही चैतन्य का उदय होता है और शरीर के नाश हो जाने पर चैतन्य का भी नाश सिद्ध हो जाता है। अन्नपान के उपयोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होने से चेतना का ह्रास हो जाता है। चैतन्य के कारण कार्य करने के लिए शरीर आवश्यक साधन है। अतः चैतन्य शरीर का ही सिद्ध होता है, आत्मा का नहीं।

(ख) अनुभव से—'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं श्रान्त हूँ', 'मैं प्रसन्न हूँ' आदि अनुभवों का ज्ञान हमें जगत् में पद-पद पर प्राप्त होता है। यहाँ पर स्थूलता कृशता, श्रान्ति तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न होता है।

(ग) वैद्यकशास्त्र के प्रमाण से—चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सत्य प्रतीत होता है[1]। ब्राह्मीघृत के उपयोग से संस्कृत कुमार-शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं, वर्षाकाल में दही में बहुत ही जल्द छोटे-छोटे कीड़े रेंगते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इन सब प्रमाणों के आधार पर शरीर में चैतन्य मानना क्या तर्कसंगत नहीं है? अतः **'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः'** यह बृहस्पति का सूत्र युक्ति-युक्त है। यही है चार्वाकों का सुप्रसिद्ध **'भूतचैतन्यवाद'**।

पर भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका भी उत्तर चार्वाक लोग लोकसिद्ध अनुभव के आधार पर देते हैं। मदिरा के साधक द्रव्यों में मादकशक्ति नामात्र को नहीं है, पर मदिरा में मादकता का आविर्भाव अनुभवसिद्ध है। इससे पता चलता है कि किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्थाविशेष में नये धर्म का उदय आप से आप हो जाता है[2]। भूत की एव विशेष ढङ्ग या परिमाण में समष्टि होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसके लिए एक दूसरा उदाहरण भी दिया जाता है—पान, खैर, चूना तथा सुपारी में अलग-अलग ललाई दीख नहीं पड़ती, पर एक विशिष्ट मात्रा में इनके संयोग होने से पान खाने वाले के मुँह में ललाई की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की

---

१. न्यायमञ्जरी (चौखम्बा संस्करण) द्वितीय भाग, पृ० १३।

२. द्रष्टव्य 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्' (बृ० सू०) 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता है जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था।

आधार–शिला पर समझाई जा सकती हैं[१] । अतः चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश के साधन तथा आधार होने के कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा मानते हैं।

चार्वाकों में आत्मतत्त्व के विवेक के विषय में अनेक मत थे । सदानन्द ने इन मतों का उल्लेख किया है । कुछ चार्वाक लोग एक-देशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर इन्द्रियों को, कुछ लोग प्राणों को और अन्य लोग मन को आत्मा मानते थे ।[१२]

(३) ईश्वर

ईश्वर की सत्ता शब्द-प्रमाण तथा अनुमान-प्रमाणों से सिद्ध मानी जाती है । श्रुति एक स्वर से पुकार कर कह रही है कि ब्रह्म इस संसार के जनन, स्थिति तथा नाश का कारणभूत है । पर श्रुति के प्रामाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता शब्द के आधार पर मानने के लिए उद्यत नहीं है । नैयायिक लोग ईश्वर का सद्भाव अनुमान के आधार पर मानते हैं । वे लौकिक दृष्टान्तों की सहायता से ईश्वर को स्वीकार करते हैं । यदि घड़ा कोई कार्य पदार्थ है तो उसका कर्ता कुम्भकार अवश्य ही विद्यमान है । यह जगत् भी कार्य है, अतः इसका भी कर्ता कोई अवश्यमेव होगा । पर चार्वाक अनुमान की भी प्रामाणिकता नहीं मानता । अतः उसके मत में शब्द तथा अनुमान के झूठा होने से ईश्वर असिद्ध है । स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या हल कर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर मानने की जरूरत ही नहीं होती ।

(३) चार्वाक आचार-मीमांसा

चार्वाकों की ज्ञान-मीमांसा तथा तत्त्व-मीमांसा के अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस जगत् के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ को अंगीकार नहीं करते । इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानव जीवन के कर्तव्य की भी विशद समीक्षा करते हैं । दार्शनिक लोग मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार पदार्थों को उपादेय बतलाते हैं तथा पुरुषमात्र के लिए उपादेय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से पुकारते हैं । पर चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते ।

---

१. जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
तांम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ॥
(स० सि० सं० २।७)

मीमांसकगण वेदविहित विधिविधानों के अनुष्ठान को धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। मानवमात्र का कर्तव्य है कि वेदप्रतिपाद्य यज्ञयागादिकों का अनुष्ठान कर मरने के बाद स्वर्ग सुख का उपभोग करे।

धर्म की अस्वीकृति पर इस लोक के ही अस्तित्व को मानने वाले चार्वाक लोग स्वर्ग को स्वीकार नहीं करते। जब स्वर्ग नामक सुखप्रधान ही लोक है, तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह का क्लेश देकर तपस्या करना तथा द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देने वालों को बड़ी खरी-खोटी सुनाई है। उनका कहना है कि किसी कपोलकल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिए जीव-विशेष की हत्या कर योगसाधन करना पहले दर्जे की मूर्खता है। 'ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता, तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता?' कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है? 'यदि श्राद्ध करने से मरे हुए जन्तुओं की तृप्ति होती, तो तेल डालने से बुझे हुए दीपक की भी शिखा बढ़ती?' पर जगत् में क्या ऐसी घटना देखी गई है? दीपक के बुझ जाने पर कितना भी तेल क्यों न डाला जाय, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। इन स्पष्ट उदाहरणों के आधार पर मृतक की तृप्ति के लिए श्राद्ध करने की कल्पना नितान्त निराधार है। क्या यहाँ दान देने से स्वर्गस्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है? यदि ऐसी बात सम्भव मानें, तो महल के ऊपर रहने वाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीजें दे दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमत्ता सिद्ध होती है। चार्वाक लोग वेद-विधानों की कपोल-कल्पना सिद्ध करने के लिए बड़े बड़े लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।[१३] वे स्पष्ट शब्दों में धर्म तथा अधर्म में न तो विश्वास करते हैं, और न पाप-पुण्य के फल को अंगीकार करते हैं।

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाकों की विलक्षण है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भोगायतन शरीर है। जब तक शरीर है तब तक जीव नाना प्रकार के संकटों को झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार **'मरणमेवापवर्गः'** (बृ० सू०) मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है।

मोक्षावस्था में आत्मा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है (**आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्षः**), परन्तु चार्वाक मत में इसकी उपपत्ति नहीं होती; देह

ही आत्मा ठहरा, तब देह-पात हो जाने पर अभिमत आत्मा के अभाव में कौन अपने स्वरूप में विद्यमान रहेगा ? मरण के साथ-साथ आत्मा भी जब नष्ट हो गया, तब 'स्वरूप' में स्थिति किस पदार्थ की मानी जाय ? अतः देहपात के अनन्तर किसी स्थायी नित्य पदार्थ को न मानने के कारण ही चार्वाकों की मुक्ति सर्वथा असत्य है।

आधिभौतिक सुखवाद

तब जीवन के लिए लक्ष्य क्या है ? अर्थ और काम। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तत्-सहायक होने से अर्थ भी। प्राणिमात्र के लिए जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ऐहिक सुख की प्राप्ति। लौकिक सुख ही जीवन का चरम-लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के ही द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ, काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाकों का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीए, सुख पूर्वक जीए। अपने पास द्रव्य न होने पर ऋण लेकर घृत पीए—आनन्द से मालपूवा चाभे। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता न करे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर भला जीव का पुनरागमन होता है ?

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ'—यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है। दुःख से मिश्रित होने से सुख त्याज्य नहीं है ? विशुद्ध सुख की सत्ता जगत् में नहीं है, तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें नहीं करनी चाहिए ? जिस प्रकार मछली खाने वाला कण्टक-युक्त मछलियों को ग्रहण कर ग्राह्यांश को ले लेता है और अन्य अंश को छोड़ देता है, जैसे धान्य को चाहने वाला पुरुष पलाल से युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेय अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से मिश्रित सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-लाभ करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही ठहरी कि दुःख के भय से सुख का सर्वथा त्याग किया जाय। जगत् में मृग हैं, तो उनके डर से क्या धान नहीं रोपे जाते ? माँगने वाले भिक्षुओं की सत्ता बनी हुई है, तो क्या भोजन बनाने के लिए आग पर हाँड़ी न चढ़ायी जाय[१४] ? विषय के संगम से उत्पन्न सुख-दुःख के साथ होने से त्याज्य है; यह मूर्खों का विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफेद, सुन्दर कणों से युक्त धान को इसी कारण छोड़ देता है कि उनके ऊपर भूसी का हलका छिलका लगा रहता है[१५]। सारांश यही है कि जीवन भोगविलास के साथ सुख की प्राप्ति में बिताना चाहिए। स्वर्ग-नरक तो इसी जगत् में विद्यमान हैं। सुख की प्राप्ति स्वर्ग तथा

दुःख का मिलना नरक है। अतः सांसारिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणिमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

(४) समीक्षा

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक चार्वाकमत के खण्डन करने के लिए सतत उद्यत थे, क्योंकि व्यवहार की सिद्धि केवल प्रत्यक्ष के अंगीकार करने से नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष ही केवलमात्र प्रमाण हो, तो पति के विदेश चले जाने पर उसके न रहने पर उसका नितान्त अभाव मानकर, क्या पत्नी अपने को विधवा मान लेती है? यदि लोकव्यवहार में ऐसा कभी नहीं होता तो प्रत्यक्ष अकेले लँगड़ा है। भूतचिद्वाद भी इसी प्रकार प्रबल युक्तियों के आधार पर टिक नहीं सकता। चार्वाक के आधार-सिद्धान्त से समाज के विशेष अस्तव्यस्त होने की सम्भावना है। अतः इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। इस प्रसंग में यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि बार्हस्पत्य सूत्रों में उच्छृंखल जीवन का—ऋण लेकर घृतपान का—कहीं भी विधान नहीं मिलता। बृहस्पति विश्व की पहेली को समझाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करने वाले विद्वान् थे। उनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप है। दार्शनिकों ने इन लोकप्रिय उपदेशों को चार्वाक के मत्थे मढ़कर उन्हें स्वार्थी भौतिकसुखवादी बतलाया है, परन्तु वास्तविक बात कुछ दूसरी ही थी। अतः ये सिद्धान्त चार्वाक के न होकर पीछे किसी के द्वारा उनके ऊपर मढ़ गये जान पड़ते हैं।

चार्वाकों की निन्दा दार्शनिकों ने जी खोलकर शतमुख से की है। इस निन्दा के यथार्थ होने में कोई सन्देह नहीं, पर इसका मूल आधार उनकी आचारमीमांसा ही है। जिस दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं, स्थूल भौतिक सुखवाद ही प्राणिमात्र के लिए परम पुरुषार्थ है, वह मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर उनके लिए एक आदर्श मार्ग की सृष्टि करेगा; यह आशा दुराशामात्र है। अतः चार्वाकमत में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, पर फिर भी उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान न देना भी उसके साथ अन्याय करना है।

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की प्रधान विशेषता है—आप्तवचनों में अन्धश्रद्धा या विश्वास का न रखना। श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं है; सिद्धान्त

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की विशेषतायें

की सृष्टि तो तर्क से होती है। सच्चा अविश्वास अन्धविश्वास की अपेक्षा दार्शनिक तत्त्वों की समीक्षा के लिए अधिक मूल्य रखता है। आप्तवाक्यों के व्यामोह से अपना उद्धार विना किए तथा अपनी तर्क-प्रधान बुद्धि का सहारा लिए विना दर्शन का उदय नहीं हो सकता। शुद्ध तर्क की उपयोगिता दिखलाकर चार्वाकों ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग की सृष्टि की है।

व्याप्तिनिरसन

अनुमान की अप्रामाणिकता दिखलाते समय इन लोगों ने 'व्याप्ति' के जिन दोषों का उद्घाटन किया है उन्हें आधुनिक पश्चिमी तर्क के पण्डितों ने 'इन्डक्शन' (आगमन) की परीक्षा करते समय अनेक अंशों में स्वीकृत कर लिया है[१६]। जान स्टुअर्ट मिल ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के आधार पर आगमन (इन्डक्शन) को सम्भावनामात्र बतलाया है। आगमन के निश्चय के लिए यूनिवर्सल मेजर प्रेमिस (व्याप्तिवाक्य) की सत्यता नितान्त अपेक्षित है, परन्तु 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इस वाक्य की सत्यता क्या कभी प्रमाणित की जा सकती है? समस्त मानवों में मरणशीलता की सत्ता को व्यापक बतलाना केवल अन्दाजा ही है। अतः उस सन्दिग्ध वाक्य के आधार पर आगमन का किला खड़ा करना ठीक नहीं है। मिल की इस तर्क प्रणाली का चार्वाकशैली से साम्य रखने में आश्चर्य न होना चाहिए, क्योंकि मिल भी दार्शनिक अभिरुचि में मेटीरीअलिस्ट (भौतिकवादी) ही थे।

समाज व्यवस्था

इसके अतिरिक्त चार्वाकों ने ऐहिक सुखमय जीवन के साधनभूत कला-कौशल की सृष्टि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य बृहस्पति ने अर्थ-शास्त्र लिखकर मनुष्यमात्र के लिए उच्छृङ्खलता का त्याग कर नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धति पर आग्रह दिखलाया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन की उन्नति समाज की उन्नति को छोड़कर कभी नहीं हो सकती। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को समाज के अनुकूल बनावे। समाज का नियमानुकूल चलना संसार के कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक है। चार्वाक लोग इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह, दण्ड तथा दया—करने वाले राजा को ही ईश्वर मानते थे (**निग्राहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः**)। वे जानते थे कि दण्ड का भय न होने पर मनुष्य को पशुरूप में परिवर्तित होने में बिलम्ब नहीं लगेगा। इसी कारण चार्वाक उच्छृंखल जीवन के पक्षपाती न थे, प्रत्युत नियम-

बद्ध सामाजिक जीवन को ही आदर्श मानते थे। अतः आधिभौतिक सुखवाद के पुजारी होने पर भी चार्वाकों ने मानव जीवन को विच्छृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख की मृगतृष्णा में अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलाने वाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया। उनकी इस सेवा की ओर ध्यान देना हमारे लिए न्यायसंगत ही है।

सच पूछिए तो चार्वाक प्राचीन काल के भारतीय वैज्ञानिक हैं जो 'तर्क' की कसौटी पर ही सत्य को कसते हैं, परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों की अपेक्षा वे संयमी हैं तथा संयत जीवन बिताने के पक्षपाती हैं। इसलिए वे ऋण लेकर भी घी पीने का उपदेश देते हैं, शराब पीने का नहीं। सुन्दर समाज में रह कर ही प्राणी अपनी उन्नति कर सकता है, इस बात की ओर चार्वाकों ने अधिक आग्रह दिखलाया है। अतः उनके सिद्धान्तों का भी मूल्य है। वे एकदम निःसार नहीं हैं।

—:※:—

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन

(१) जैनधर्म का उदय तथा विस्तार

जैनधर्म का उदय बौद्धधर्म से पहले की घटना है। दीर्घनिकाय (पृ० १८) में जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर का तत्कालीन विख्याततम ६ तीर्थङ्करों में 'निगण्ठ नाटपुत्त' के नाम से उल्लेख ही नहीं मिलता, बल्कि उनके 'चतुर्यामसंवर' के सिद्धान्त तथा उनकी मृत्यु का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था जो 'निर्ग्रन्थ' शब्द का पाली रूपान्तर है। भवबन्धन की ग्रन्थियों के खुल जाने के कारण महावीर को यह उपाधि दी गई थी। इस धर्म में सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजयी, त्रैलोक्य पूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों की संज्ञा 'अर्हत्' है[1]। अतः तद्द्वारा प्रचारित होने से यह धर्म 'आर्हत' कहलाता है। वर्धमान की रागद्वेषी शत्रुओं पर विजय पाने के कारण 'जिन' (जेता) उपाधि थी। अतः उनके द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन' कहलाता है। इन नामकरणों के मूल में इस धर्म की प्राचीन आचार-प्रधानता ही कारण है। जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को 'तीर्थङ्कर' कहते हैं, जिनमें आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में पुराणों के आधार पर संशय नहीं किया जा सकता। श्रीमद्भागवत के कई अध्याय (स्क० ५, अ० ४—६) ऋषभनाथ के वर्णन में लगाये गये हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि तथा महाराज्ञी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय-वैजयन्ती अखिल महीमण्डल के ऊपर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ थे महाराज भरत, जो जडभरत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकता के कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अधीश्वर होने के हेतु हमारा देश 'भारतवर्ष' के नाम से विख्यात हुआ है। ऋषभनाथ को जैन लोग ही आद्य तीर्थङ्कर होने से आदर नहीं करते; प्रत्युत ब्राह्मण-धर्म में भी विष्णु के

---

१. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥
(स० द० सं०, पृ० ६।)

चौबीस अवतारों में इनकी गणना की गई है। इनके पीछे होने वाले २३ तीर्थङ्करों का विस्तृत विवरण जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है, पर इनकी ऐतिहासिकता मान्य आलोचकों के लिए आज भी संशय का विषय बनी हुई है। अन्तिम दो तीर्थङ्कर—पार्श्वनाथ तथा महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक पुरुष थे।

पार्श्वनाथ

विवेचक विद्वान् पार्श्वनाथ को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इन्होंने चाहे कालक्रम से विलुप्त तथा शिथिलप्राय धर्म को नवीन जीवन प्रदान कर पुनरुज्जीवित किया, चाहे स्वयं जैनधर्म को प्रवर्तित किया, इतना तो निश्चित है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले इस देश को इन्होंने अपने जन्म से अलंकृत किया था। इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे तथा माता थी महारानी वामादेवी। काशी नगरी में ८७४ वि० पू० = ८१७ ईस्वी पूर्व में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म से पहले इनकी माता ने एक कृष्णवर्ण सर्प को अपने बगल में रेंगते हुए देखा था। इसी कारण इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। तीस वर्षों तक इन्होंने सांसारिक वैभव के बीच गार्हस्थ्य जीवन को बिताया। बाद में इन्होंने अगणित सम्पत्ति को लात मारकर भिक्षु-जीवन को स्वीकार किया तथा घोर तपस्या कर कैवल्यज्ञान का सम्पादन किया। इन्होंने सत्तर वर्ष तक जैनधर्म का अपने सदुपदेशों द्वारा प्रचार किया। अनन्तर 'समेत शिखर' पर निर्वाण प्राप्त किया।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी आचार-शिक्षा तथा महावीर की शिक्षा में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है, पर महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतला कर इसकी भी गणना महाव्रतों में की है। पार्श्वनाथ वस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे, पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियों के लिए वस्त्र-परिधान का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आज कल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का विभेद इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है।

वर्धमान महावीर

जैनधर्म में अन्तिम तीर्थङ्कर का नाम था—वर्धमान। ये वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ ग्राम) में पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष बाद (६५६ वि० पू०) में पैदा हुये थे। वैशाली में उस समय कई क्षत्रिय सरदार मिल कर राज्य किया करते थे। ऐसे ही 'ज्ञातृक' नामक क्षत्रियवंश में इनका जन्म हुआ

था। पिता का नाम था सिद्धार्थ तथा माता का त्रिशला। इनकी पूजनीय जननी राजकन्या थी। अपने कुल के नाम पर ही पाली ग्रन्थों में इन्हें नातपुत्त (ज्ञातृ-पुत्र) के नाम से निर्देश किया गया है। इनका शुभ विवाह यशोदादेवी के साथ सम्पन्न होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं। इन्होंने माता-पिता के अनन्तर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर घर-बार से नाता तोड़ा। हृदय में सच्चे वैराग्य के बीज पहले से विद्यमान थे, अवसर पाकर वे अंकुरित हो उठे। तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ६७२ वि० पू०) इन्होंने यतिधर्म को ग्रहण किया—बड़ी कठोर तपस्या का साधन किया तथा अन्त में तेरह वर्षों के लगातार अभ्यास के अनन्तर इन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने पहले-पहल पञ्च महाव्रतों की शिक्षा अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभूति को दी। इनके अनन्तर इन्होंने अंग, मगध, कौशाम्बी आदि राज्यों के अधिपतियों को अपने धर्म का मधुर उपदेश दिया, जिसके फलस्वरूप वे इनके धर्म में दीक्षित हो गये, पर इनका प्रधान स्थान मगध की तत्कालीन राजधानी 'राजगिर' थी। उत्तर भारत में 'अर्धमागधी' भाषा के द्वारा अपने प्रभावशाली व्याख्यानों से जैनधर्म का प्रचुर विस्तार सम्पादन कर पावापुरी में ७२ वर्ष की आयु में बुद्ध के निर्वाण से पचास वर्ष पहले महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। रागद्वेषरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेने के उपलक्ष में इन्हें 'जिन' तथा 'महावीर' की उपाधि प्राप्त हुई। जैन सम्प्रदाय के अनुसार इनका जन्म ६५६ वि० पू० =(५९९ ई० पू०) तथा मृत्यु ५८४ वि० पू० (५२७ ई० पू०) में बतलाई जाती है।

'श्वेताम्बर' तथा 'दिगम्बर' का भेद

इनकी मृत्यु के अनन्तर इस धर्म को विशेष राजाश्रय प्राप्त हो गया। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिंग के अधिपति सम्राट् खारवेल इसी धर्म में दीक्षित हुवे तथा उन लोगों ने इसकी श्रीवृद्धि करने में यथेष्ट परिश्रम किया। मौर्यवंश के संस्थापक आर्यावर्त के एकछत्र सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन-धर्मानुयायी थे। मगध में अकाल के प्रचण्ड ताण्डव के कारण यतिवर भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अन्यान्य अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर चले गये। चन्द्रगुप्त ने महीशूर प्रदेश के 'श्रवणबेल गोल' के पास तपस्या में निरत रह अपनी ऐहिक लीला समाप्त की, पर भद्रबाहु अकाल के शान्त होने पर उत्तरी भारत में आये और जैन-यतियों में आचार-सम्बन्धी परिवर्तनों को देखकर वे नितान्त दुःखित हुए। **संघभद्र** इस समय के जैनसंघ के प्रधान नेता थे। इन्होंने समय की गति के कारण उग्र तपस्या के शुद्ध भाव को भुला कर जैनाचार में अनेक संशोधन कर डाला था। प्राचीन संघ में नग्नता के आदर्श का ही बोल-

वाला था, पर अब मागध संघ ने श्वेताम्बर (सफेद कपड़ा) को धारण करना न्यायानुमोदित बतलाया। इस प्रकार ईस्वी-पूर्व द्वितीय शतक से श्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो अवान्तर भेदों का उदय जैनधर्म में उत्पन्न हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार दिगम्बरों की उत्पत्ति महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (अर्थात् वि० सं० १३९=८२ ई०) हुई है। तत्त्वज्ञान के विषय में इन दोनों में कोई भी मतभेद नहीं है, पर अनेक विषयों में आचारगत पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता स्पष्ट दीख पड़ती है, पर श्वेताम्बरों ने मानव कमजोरियों का स्मरण कर कुछ अंशों में कठोर नियमों में शिथिलता ला दी है। दिगम्बरों का कहना है कि केवली (केवलज्ञानसम्पन्न पुरुष) भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। स्त्रियों को पुरुष-जन्म ग्रहण के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति का विधान है।

भुंक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥

(सर्वदर्शन-संग्रह में जिनदत्तसूरि का श्लोक)

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त **यापनीय** या 'गोप्य' संघ प्राचीनकाल में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। दर्शनसार के कर्ता देवसेनसूरि के कथनानुसार वि० सं० २०५ से इसका पता चलता है। इसकी भी उत्पत्ति उन दोनों सम्प्रदायों के समय में ही हुई। इनके कतिपय सिद्धान्त दिगम्बरियों से तथा अन्य श्वेताम्बरियों से मिलते हैं। इस संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर का पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे, इन बातों में वे दिगम्बरियों के समान थे, परन्तु साथ ही वे यह भी मानते थे कि स्त्रियों को इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं (जिसे श्वेताम्बर लोग मानते हैं)। इनका विपुल साहित्य नष्टप्राय सा है[1]।

२—जैन प्रमाण-साहित्य

जैन दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थों की बहुलता है, पर आचार सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या प्रमाण-सम्बन्धी ग्रन्थों की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम इन दर्शन ग्रन्थों को चार काल विभागों में विभक्त कर सकते हैं :—

१. द्रष्टव्य 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ० ४१–६०।

(क) **आगम ग्रन्थ**—जैनधर्म के मूल आगम ग्रन्थों की रचना के विषय में दोनों सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है। दिगम्बरों का कहना है कि 'पूर्व' संज्ञक मूल आगम विलुप्त हो गये हैं, आज कल समुपलब्ध आगम श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही संरक्षित हुआ है। इसकी आदिम रचना के काल का पता हमें नहीं चलता, पर अन्तिम संशोधन छठी शताब्दी में वलभी की समिति में आचार्य देवर्धिगणि के द्वारा किया गया था। ऐसा श्वेताम्बरों का सम्प्रदाय है कि भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने पर स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में जैन-यतियों की समिति ने जैनागमों का स्थिरीकरण किया था। ११ अंगों का रूपविनिश्चय उसी समय हुआ था, तथा विलुप्त १४ पुब्वों के अवशिष्ट अंशों को १२ वें (दिट्ठवाय नामक) अंग में संकलन किया गया था, पर दिगम्बर सम्प्रदाय इस पर आस्था नहीं रखता। उसका कहना है कि पूर्व तथा अंग दोनों सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में विलुप्त हो गये हैं।

जैनसिद्धान्तों की संख्या ४५ है[1]—जिनमें ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलग्रन्थ तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा अनुयोगद्वार) माने जाते हैं। अंगों की महत्ता के कारण उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं :—(१) आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र), (२) सूयगडंग (सूत्रकृतांग), (३) थाणंग (स्थानांग), (४) समवायांग, (५) भगवतीसूत्र, (६) नायाधम्म कहाओ (ज्ञाताधर्मकथाः), (७) उपासगदसाओ (उपसकदशाः), (८) अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकदशाः), (१०) पण्हावागरणआई (प्रश्नव्याकरणानि), (११) विवागसुयं (विपाकश्रुत्) (१२) दिट्ठवाय (दृष्टिवाद—जो अधुना उपलब्ध नहीं होता)। इन आगमों की रचना अर्धमागधी भाषा में की गई है। अनेकान्तवाद, जीव तथा पुद्गल आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन उन आगम ग्रन्थों में मिलता है।

(ख) **आरम्भकाल**—जैन दर्शन की सुव्यवस्था विक्रम की प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुई। इस काल में तीन विद्वान् तथा महामान्य ग्रन्थकारों ने इसकी दार्शनिक नींव को खूब मजबूत बनाने का उद्योग किया। इसमें एक का नाम था उमास्वाति, दूसरे का कुन्दकुन्दाचार्य और तीसरे का समन्तभद्र।

---

१ इन ४५ ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए द्रष्टव्य डाक्टर विन्टरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४२८–४७४।

उमास्वाति—इन्हें दोनों सम्प्रदाय के लोग बड़े आदर तथा श्रद्धा के भाव से देखते हैं तथा इन्हें अपने सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। दिगम्बर लोग इन्हें उमास्वामी के नाम से पुकारते हैं। ये मगध के निवासी थे तथा विक्रम के आरम्भ काल में कुसुमपुर में इन्होंने अपना प्रख्याततम ग्रण्थ 'तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' की रचना की। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी बात से समझी जा सकती है कि इसकी वृत्ति, भाष्य तथा टीकायें मान्य जैनाचार्यों ने समय समय पर की। न्यायसूत्र के समान निगूढार्थ यह तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शन के माननीय मन्तव्यों का प्रकाण्ड भाण्डार समझा जाता है। उमास्वाति ने स्वयं इस पर अपना भाष्य बनाया। पूज्यपाद देवनन्दि का 'सर्वार्थसिद्धि' दिगम्बरों के सम्प्रदायानुसार समन्तभद्र का तथा श्वेताम्बरों के मतानुसार सिद्धसेनदिवाकर का तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार सिद्धसेनगणि (विक्रम ७ शतक—९ शतक के बीच उत्पन्न होने वाले) का 'गन्धहस्तिभाष्य', भट्ट अकलंक का 'राजवार्तिक' तथा विद्यानन्दि का 'श्लोकवार्तिक'—ये इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथा प्रधान भाष्य एवं वृत्तियाँ हैं[1]।

कुन्दकुन्दाचार्य—द्रविड़ देश के विख्यात दिगम्बर जैनाचार्य थे। इनके काल के विषय में बड़ा मतभेद है, पर मान्य ऐतिहासिक इन्हें विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्यमान बतलाते हैं[2]। इस प्रकार ये उमास्वाति के समसामयिक प्रतीत होते हैं। ये जैन दर्शन के प्रकाण्ड आचार्य माने जाते हैं तथा इनके ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विश्वकोष का काम करते हैं। इनका द्राविड़ी नाम 'कोण्डकुण्ड' था जिसका संस्कृत रूपान्तर 'कुन्दकुन्द' के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ। इनके लिखे अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें ८४ पाहुडों (या प्राभृत—एक विशिष्ट विषय पर लिखे गये ग्रन्थ) का नाम बतलाया जाता है। इनके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं:—(१) नियमसार, (२) पञ्चास्तिकायसार, (३) समयसार, (४) प्रवचनसार। विद्वत्ता की दृष्टि से तथा विषय-प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से ये प्रामाणिक तथा विद्वत्तासूचक माने जाते हैं। अन्तिम तीन ग्रन्थों की जैन सम्प्रदाय में 'नाटकत्रयी' की संज्ञा है। जिस प्रकार ब्राह्मण दर्शन में प्रस्थानत्रयी–उपनिषद्,

---

१. उमास्वाति के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ के लिए देखिए पण्डित सुखलालजी की तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत भूमिका, पृ०—३६।

२. द्रष्टव्य प्रोफेसर उपाध्ये—प्रवचनसार की भूमिका, पृ०—२२।

ब्रह्मसूत्र तथा गीता का समधिक आदर है, उसी प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान में नाट्कत्रयी को समधिक महत्त्व तथा आदर प्राप्त है।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं। इनके समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है; परन्तु इनके ग्रन्थों की अन्तः परीक्षा से इनका समय तृतीय या चतुर्थ शतक विक्रमी में पड़ता है। देवनन्दी (अपर नाम पूज्यपाद) के ग्रन्थों में समन्तभद्र का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है (चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ५।४।१६८)। पूज्यपाद ने आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर जो 'सर्वार्थ-सिद्धि' नामक टीका लिखी है उस पर समन्तभद्र के सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। ऐसी दशा में इनका समय पूज्यपाद (वि० षष्ठ शतक) से प्राचीन मानना ही न्याय संगत है। ये दिङ्नाग से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। समन्तभद्र के ग्रन्थ नितान्त प्रसिद्ध हैं:—

१—आप्तमीमांसा (या देवागमस्तोत्र—११४ कारिका में)—जिस पर दो प्रसिद्ध टीकायें हैं—(क) 'अष्टशती' भट्ट अकलंक रचित। (ख) 'अष्टसहस्री' विद्यानन्द लिखित।

२—युक्त्यानुसन्धान (६४ पद्य—स्वमत तथा परमतों के गुण-दोषों का सूत्र-रूप से विवेचन। टीका विद्यानन्द की (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित)।

३—स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र स्तोत्र—पद्य संख्या १४३—तीर्थङ्करों की स्तुति, पौराणिक तथा ऐतिहासिक उल्लेख के साथ जैनमत का विवेचन)।

४—जिनस्तुति-शतक (अपर नाम—स्तुति-विद्या, जिन-शतक, जिनशतालंकार (चित्रकाव्य का उत्कर्ष, भक्तिभावपूरित—११६ पद्य)।

५—रत्नकरण्डश्रावकाचार—श्रावकाचार का सबसे प्राचीन प्रसिद्ध ग्रन्थ।

६—जीवसिद्धि तथा
७—तत्त्वानुसन्धान } का निर्देश मिलता है, पर उपलब्धि नहीं हुई है।

८—गन्धहस्तिभाष्य—उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित, परन्तु एकत्र भी उपलब्ध नहीं है। यह नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ माना जाता है[1]।

(ग) मध्ययुग—(६ वीं शताब्दी–९ म शताब्दी) यह युग जैन दर्शन के इतिहास में सुवर्ण-युग समझा जाता है। इस काल को अनेक मौलिक

---

१. द्रष्टव्य—जुगलकिशोर मुख्तार—'स्वामी समन्तभद्र'।

विद्वत्तापूर्ण सारगर्भित रचनाओं के निर्माण करने का गौरव प्राप्त है। इस काल का आरम्भ गुप्तकाल के भीतर पड़ता है। कतिपय माननीय आचार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है :—

सिद्धसेन दिवाकर—(पंचम शताब्दी) अपने समय के सबसे बड़े पण्डित थे। उज्जैन के किसी विक्रमादित्य के साथ उनकी घनिष्ट मित्रता थी। इनके गुरु का नाम 'वृद्धवादी' था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं :—(१) न्यायावतार (सिद्धर्षि ने १० वें शतक में टीका लिखी), (२) सन्मति तर्क (विशद-व्याख्याकार अभयदेवसूरि), (३) तत्त्वार्थटीका, (४) कल्याणमन्दिर-स्तोत्र तथा अनेक द्वात्रिंशिकायें। न्यायावतार की रचना कर इन्होंने जैन-न्याय को जन्म दिया है। 'सम्मति-तर्क' नितान्त प्रमेयबहुल ग्रन्थ है[1]।

हरिभद्र (८ शतक विक्रमी)—जैनधर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने लोकप्रिय 'षड्दर्शन-समुच्चय' तथा 'अनेकान्त-जयपताका' की रचना की है।

भट्ट अकलंक—(८ शतक)—दिगम्बर मतानुयायी थे। अष्टम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए थे। इन्होंनें तत्त्वार्थसूत्र पर महत्त्वपूर्ण 'राजवार्तिक' तथा आप्त-मीमांसा के व्याख्यारूप में 'अष्टशती' की रचना की है। अभी हाल में इनके जिन तीन छोटे दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है उनके नाम—लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाणसंग्रह हैं। इन सब ग्रन्थों का विषय जैनन्याय है।

विद्यानन्द—(नवम शताब्दी) इन्होंने 'अष्टशती' पर 'अष्टसहस्री' तथा 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'श्लोकवार्तिक' लिखकर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिलभट्ट की शैली का अनुकरण किया है।

अकलंक और विद्यानन्द जैनदर्शन को प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य बनाने वाले विद्वान् हैं। इन दोनों की कृतियाँ प्रौढ़, विद्वतापूर्ण तथा माननीय हैं। विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक' में जितना और जैसा मीमांसा का सबल खण्डन है वैसा तत्त्वार्थ की किसी टीका में उपलब्ध नहीं। भट्ट अकलंक के 'राजवार्तिक' में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है, तो 'श्लोकवार्तिक' में इसके

---

१. इनके जीवन चरित तथा ग्रन्थों के विशेष वर्णन के लिए—'सम्मतितर्क' की पं० सुखलालजी कृत भूमिका (अं०) पृ० १—५५

साथ गम्भीरता भी विशेष रूप से है। भट्ट अकलंक ने न्याय प्रमाणशास्त्र का जैन परम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, परिभाषायें निर्दिष्ट कीं, लक्षण और परीक्षण किया वही सर्वमान्य हुआ। इन्होंने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति को मुँहतोड़ उत्तर दिया था। विद्यानन्द ने शान्तरक्षित के परीक्षणों की जैन परम्परा में समीक्षा का सूत्रपात किया। ये दोनों जैनेतर दर्शनों के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे।

वादिराजसूरि (नवम शतक)—दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक माने जाते हैं। ये द्राविड़ संघ के अनुयायी थे। षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद विद्यापति आदि उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का स्पष्ट पता चलता है। एकीभाव स्तोत्र के अनुसार इनके समान कोई भी अन्य शाब्दिक, तार्किक तथा कवि न था[१]। दक्षिण के सोलंकी वंश के विख्यात राजा जयसिंह प्रथम (९३८ श० सं०—९६४ श० सं०) के ये समकालीन थे। काव्यग्रन्थ में पार्श्वनाथचरित की पर्याप्त ख्याति है। 'न्यायविनिश्चय-निर्णय' इनका न्यायविषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें भट्ट अकलंकदेव के 'न्यायविनिश्चय' का भाष्य है।

(घ) अवान्तरयुग के दार्शनिक जैन ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। इनमें से समधिक प्रसिद्ध कतिपय ग्रन्थकारों का ही परिचय देना पर्याप्त होगा[२] :—

देवसूरि—(१२ वीं शताब्दी) इन्होंने 'प्रमाणनयनतत्त्वालोकालंकार' तथा इसकी टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' की रचना की है। ये ग्रन्थ जैनन्याय के महत्त्व-पूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं।

हेमचन्द्र—(११४५ वि०—१२२९ वि० = १०८८–११७२ ई०)—ये देवसूरि के समकालीन थे। ये अपने समय के उद्‌भट विद्वान् तथा विख्यात जैनाचार्य माने जाते थे। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य, व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने स्वयं जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादिकों की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैनन्याय के विषय में 'प्रमाणमीमांसा' नामक विद्वत्तापूर्ण तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थरत्न का भी निर्माण किया है। निखिल-शास्त्र-निपुणता तथा बहुज्ञता के कारण इन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि प्राप्त थी।

---

१. वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः॥

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लॉजिक (पृ० १८८—२२०)।

मल्लिषेणसूरि—(१३४९ वि० = १२९२ ई०) इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'स्याद्वादमञ्जरी' है जो हेमचन्द्र की 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण टीका है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनों की मार्मिक समालोचना है एवं जैन-सिद्धान्तों का प्रमाणपुरःसर विवेचन है।

गुणरत्न—(१४६६ वि० = १४०९ ई०)—इन्होंने हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय की बड़ी सुन्दर तथा विस्तृत व्याख्या लिखी है, जिसमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना की गई है तथा उनके विषय में अनेक विशिष्ट साम्प्रदायिक बातों का उल्लेख किया है।

यशोविजय—(१७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)—इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती तथा हिन्दी में खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक तथा समन्वयात्मक अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनका 'जैन तर्कभाषा' सरल, संक्षिप्त तथा अत्यन्त उपादेय है।

(३) जैनज्ञानमीमांसा

जैनमतानुसार जीव चैतन्यमय है, ज्ञान उसका साक्षात्-लक्षण है। वह निसर्गतः अनन्तज्ञान-विशिष्ट है, पर कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से सदा ओझल रहा करता है, परन्तु सम्यक्—चरित्र के सेवन करने से जीव अपने शुद्ध रूप को फिर से पा सकता है; वह कैवल्य तथा सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है।

यह ज्ञान दो प्रकार है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। इन दोनों शब्दों की व्याख्या में जैन दर्शन जैनेतर दर्शनों से नितान्त पृथक् है। यहाँ आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय-मनःसापेक्ष ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है, अन्य किसी की सहायता के लिये परतन्त्र नहीं है, उसे जैन दर्शन **'प्रत्यक्ष'** के नाम से पुकारता है; पर जिस ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होती है, उसे **'परोक्ष'** का नाम दिया जाता है।

परोक्ष ज्ञान, उमास्वाति के विवेचन के अनुसार दो प्रकार का होता है:—(१) मति तथा (२) श्रुत। ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। (१) अवधि, (२) मनःपर्याय तथा (३) केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष के भेद माने जाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही केवल आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय तथा मन के सम्पर्क से समुद्भूत विषयज्ञान को 'मतिज्ञान' कहते हैं। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये चारों मतिज्ञान के पर्याय हैं। मति सामान्यतः दो प्रकार की बतलायी जाती है:—(१) इन्द्रियजन्य—बाह्येन्द्रियों के द्वारा जन्य ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहते हैं। (२) अनिन्द्रियजन्य—मानस ज्ञान।

परोक्ष के भेद

शब्द से उत्पन्न ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भविष्य इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्ति होता है। इस विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता, श्रुतज्ञान में शब्दोल्लेख रहता है। जैनागम के द्वादश अंशों के ज्ञान को अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान, गणधरों के पश्चात् शुद्ध बुद्धिवाले आचार्यों के द्वारा विरचित शास्त्रों का ज्ञान अंगबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकारों का निर्देश ऊपर किया गया है। इनमें दूरस्थित व्यवधान-युक्त पदार्थों का ज्ञान **'अवधि ज्ञान'** कहलाता है। जब जीव विशिष्ट सात्त्विक साधनों की सहायता से आवरणीय कर्मों का आंशिक क्षय करने लगता है, तब उसे दूरस्थित पदार्थों का भी ज्ञान स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण उत्पन्न हो जाता है, यही **अवधि ज्ञान** है। जो अवधि जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं और जिस ज्ञान के लिए व्रत, नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा बनी रहती है उसे गुणप्रत्यय की संज्ञा दी जाती है (त० सू० १।२१-२३)। आगे चल कर जब जीव द्रोह, ईर्ष्या आदि परकीय मन की प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों का क्षय कर लेता है, तब उसमें दूसरों के मन के विचारों को जानने की योग्यता आ जाती है। यही **'मनःपर्याय ज्ञान'** कहलाता है। पर जब ज्ञान के समस्त आवरणीय कर्मों का नितान्त क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा अपने शुद्ध सर्वज्ञ रूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसमें सर्वज्ञता आदि धर्मों का उदय स्वतः हो

जाता है। यही प्रत्यक्ष का पारमार्थिक रूप है जिसे **'केवल ज्ञान'** कहते हैं। इसके अधिकारी सम्यक् चारित्र के अनुष्ठान करनेवाले सिद्ध पुरुष ही होते हैं।

यह विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर किया गया है, पर पीछे के जैनाचार्य प्रत्यक्ष तथा परोक्ष का विभाग एक दूसरे प्रकार से करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमांसा में तथा गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका (पृ० २०४) में प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक तथा पारमार्थिक दो भेद माने हैं। हमारा प्रत्यक्ष जिसमें इन्द्रिय तथा मन की सहायता नितान्त आवश्यक है 'सांव्यवहारिक' प्रत्यक्ष कहलाता है। आवरण के नाश हो जाने पर चेतन जीव के स्वरूप का प्रकट होना **'केवल ज्ञान'** या **'पारमार्थिक प्रत्यय'** कहलाता है। परोक्ष ज्ञान के पाँच प्रकार स्वीकृत किये गये हैं-(१) स्मृति = वासना के उद्बोध के कारण जायमान अतीत का यथार्थ स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञान = 'यह वस्तु वही है' इत्यादि ज्ञान, (३) तर्क = उपलम्भ तथा अनुपलम्भ, निमित्तव्याप्ति का ज्ञान, (४) अनुमान हेतु से साध्य का अनुमान, (५) आगम = आप्त पुरुषों तथा आगमों के वाक्यों से समुत्पन्न प्रामाणिक ज्ञान।

हेमचन्द्र—प्रमाण-विभाग

सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैनन्याय प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है, प्रत्यक्ष की सत्ता सर्वमान्य है। अनुमान चार्वाक को अस्वीकृत है, पर जैनाचार्यों ने बड़ी प्रबल युक्तियों के आधार पर लोकव्यवहार के लिए अनुमान की प्रामाणिकता मानी है। जैन आगम से प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूलभित्ति है, पर जैन लोग ब्राह्मणशास्त्र, श्रुति तथा स्मृति की प्रामाणिकता को अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

स्याद्वाद

जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हुआ करती है। इन समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ ज्ञान उसी पुरुष को हो सकता है जिसने कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया है। पर भ्रान्ति-बहुल मानवों में इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि वे प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। वह तो वस्तु के केवल एक धर्ममात्र को जान सकता है। अतः उसका ज्ञान सदा आंशिक हुआ करता है। जैन दर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान

को 'नय' के नाम से पुकारता है[1]। वस्तु-स्थिति पर विचार करने से प्रत्येक ज्ञान का आंशिक या सापेक्ष होना ही न्यायसंगत है, परन्तु वास्तविक ज्ञान इससे भिन्न पदार्थ है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकता है—(१) दुर्णय, (२) नय, (३) प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तु को हम विद्यमान ही (सदेव) बतलावें, तो उसके अन्य प्रकारों के निषेध किये जाने के कारण यह ज्ञान 'दुर्णय' (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जायेगा। अन्य प्रकारों का विना निषेध किये हुए वस्तु को सत् बतलाना आंशिक-ज्ञान-संवलित होने के कारण 'नय' कहलायेगा, पर प्रमाण इन दोनों से भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में 'संभवतः यह सत् है' (स्यात् सत्) यही ज्ञान वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात समस्त धर्मों के संकलन होने के कारण प्रमाणकोटि में आता है (स्याद्वाद-मञ्जरी, श्लोक २८)।

नयवाद

'नय' सिद्धान्त जैन दर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। किसी विषय का संक्षेप निरूपण नयवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस नयवाद का विवेचन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से किया गया उपलब्ध होता है (त० सू० १।३४-३५)। वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से उसके प्रत्येक विशेष के निरूपण करने से नयों की संख्या भी अनन्त है, परन्तु विवेक-दृष्टि से उसके सामान्यतः दो भेद स्वीकृत किये जाते हैं—(१) **द्रव्यार्थिक नय** तथा (२) **पर्यायार्थिक नय**। किसी वस्तु के दो धर्म हो सकते हैं—एक तो वह जिसके कारण वस्तु की विविध परिणामों के बीच एकता बनी रहती है। इसकी ही **द्रव्यार्थिक नय** की संज्ञा है। दूसरे वे धर्म जो देश तथा काल के कारण किसी वस्तु में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन विशेषों के निरूपण को **पार्यायार्थिक नय** की संज्ञा दी जाती है। प्रथम नय तीन प्रकार का तथा अन्तिम चार प्रकार का, दोनों मिलकर सात प्रकार के होते हैं–नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋतु नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय। इनके नामों में समानता होने पर भी भिन्न भिन्न ग्रन्थों में इनके स्वरूप के विषय में विशेष मतभेद दीख पड़ता है।

---

१. एकदेशविशिष्टो यो नयस्य विषयो मतः।
(न्यायावतार, श्लोक २९)।

'नय' शब्द की निरुक्ति यों है—'नीयते परिछिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थः अनेन इति 'नयः'। (स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १५९)

इस आंशिक ज्ञान के कारण ही जगत् में पारस्परिक कलह दिखलाई पड़ रहा है। प्रत्येक दर्शन इस विचित्र नानात्मक विश्व के ही विवेचन करने में व्यस्त हैं, पर वह किसी एक अंश को ही लेकर ऊहापोह में लगा रहता है। दर्शनों में पारस्परिक कलह का बीज यही है कि वे अपने ही विवेचन को यथार्थ मानकर अन्य दर्शनों के विवेचनों को अयथार्थ ठहराते हैं। इस विषय में दार्शनिकों का पारस्परिक विरोध हाथी के स्वरूप-निर्णय के विषय में झगड़ा करनेवाले अन्धों के कलह के समान ही है। पर जैन दर्शन का कहना है कि दर्शन नानारूपिणी सत्ता के अंशमात्र के विवेचन करने में अपना महत्त्व रखते हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नहीं है। इस उदार चित्तवृत्ति तथा विशालहृदयता के कारण जैन-तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैनदर्शन न केवल आचार के लिए अहिंसा का पक्षपाती है; प्रत्युत तात्त्विक समीक्षा के विषय में वह 'बौद्धिक अहिंसा' को मानता है।

दार्शनिक विरोध का कारण

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द अस् धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़े के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति = कथंचित् यह विद्यमान हैं' इसी रूप में होना चाहिये। वर्तमानकाल तथा देश के विचार करने से हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, परन्तु यह सत्ता त्रैकालिक सत्य नहीं है; अपितु सापेक्षिक सत्य है, क्योंकि प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक दशा में तथा एतादृश अन्य प्रकारों में घट की सत्ता का अनुभव हमें नहीं हो सकता। अतः घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति' का ही रूप धारण कर सकता है। इसी कारण जैन दर्शन प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद के योग करने के लिए आग्रह करता है। यह सुप्रसिद्ध **स्याद्वाद** या **अनेकान्तवाद** जो जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा के इतिहास को एक अपूर्व महत्त्वपूर्ण देन माना जाता है।

स्याद्वाद का अर्थ

'स्याद्वाद' की उत्पत्ति भी बड़ी रोचक है। बुद्धकाल में अनेकान्तवाद मानने वाले दार्शनिकों की कमी नहीं थी। ये ब्राह्मण तथा परिव्राजकों में पाये जाते

थे। सामञ्ञफल-सुत्त में 'संजय बेलट्ठिपुत्त' के मत का जो वर्णन मिलता है वह स्याद्वाद के अनुरूप ही था। संजय ने स्पष्ट शब्दों में परलोक के अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों की सत्ता के विधान तथा प्रतिषेध के विषय में अपने को नितान्त असमर्थ ठहराया है।

स्याद्वाद की उत्पत्ति

पाली ग्रन्थों में 'अमराविक्खेपिक'[1] संज्ञक दार्शनिकों के मत की चर्चा उपलब्ध होती है, जो वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व की स्थिति तथा अनुभव के विषय में एक मत को अंगीकार न करके अनेक मतवाद की पुष्टि किया करते थे। ये मत ब्राह्मणों तथा परिव्राजकों के बतलाये गये हैं। अतः स्याद्वाद की उत्पत्ति को कतिपय विद्वान् जैनेतर सम्प्रदायों में मानते हैं[2]। उपनिषदों में ब्रह्म कहीं सत्, कहीं असत्, कहीं उभयात्मक बतलाया गया है। इन मतों के आधार पर ही सत्ता को अनेकान्त मानने की कल्पना अवान्तरकाल में मानी गई; यह मत भी सम्भव है। स्याद्वाद की उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक भले न चले, पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भगवतीसूत्र में स्वयं महावीर ने 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति तथा स्याद् अवक्तव्यम्' इन ३ भंगों का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसी कारण इन भंगों को **'मूलभंग'** की संज्ञा दी गई है। आगे चलकर इन्हीं मूलभंगों के पारस्परिक मिश्रण से **'सप्तभंगी'** की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ[3]।

सप्तभङ्गी नय

साधारणतया न्यायशास्त्र में परामर्श के दो ही प्रकार के रूप हो सकते हैं:—(१) **अन्वयी,** जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का विधान

---

१. 'अमराविक्षेपवाद' का अर्थ किसी निश्चित सिद्धान्त को न मानना है। 'अमराविक्षेप' नामक छोटी-छोटी मछलियाँ बड़ी चञ्चल हुआ करती हैं, जो बहुत प्रयत्न करने पर भी हाथ में नहीं आती हैं। अतः प्रयत्न करने पर भी किसी निर्णय पर न पहुँचने के कारण इस वाद को 'अमराविक्षेप' की संज्ञा दी गयी है। यह ब्रह्मजालसुत्त में उल्लिखित बुद्धकालीन १२वाँ सिद्धान्त है। देखिये दीर्घनिकाय, पृ० ९–१०।

२. द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जरी की भूमिका, पृ० ७५–७६।

३. अनेकान्तवाद के विषय में द्रष्टव्य प्रमाणसमुच्चय की पं० सुखलालजी कृत प्रस्तावना, पृ० १८–२८; सम्मतितर्क की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १३२–१४०, उपाध्येकृत प्रवचनसार की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ८६–९१।

किया जाय अथवा (२) **व्यतिरेकी,** जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का निषेध किया जाय, परन्तु जैन न्याय में सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे **'सप्तभंगी नय'** के नाम से पुकारते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं:—

(१) स्यादस्ति (किसी प्रकार में है)।

(२) स्यान्नास्ति (किसी प्रकार में नहीं भी है)।

(३) स्यादस्ति च नास्ति च (कथञ्चित् है और नहीं है)।

(४) स्याद् अवक्तव्यम् (कथञ्चित् अवक्तव्य=वर्णनातीत है)।

(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् अथवा किसी प्रकार में है और अवक्तव्य है)।

(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् नहीं है और अवक्तव्य है)।

(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (कथञ्चित् है, नहीं है तथा अवक्तव्य है)

इनके स्वरूप को जानने के लिए थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। पहले वाक्य का अर्थ है कि कथञ्चित् कोई पदार्थ किसी धर्म विशेष के साथ सम्बद्ध है। जैसे 'स्यात् घड़ा है' अर्थात् 'इस समय में एक विशेष प्रकार के स्थान में (घर में) एक विशेष रूप को रखने वाला घड़ा विद्यमान है' इस वाक्य का यही अर्थ समझा जाना चाहिये। दूसरे वाक्य का प्रयोग पदार्थ विशेष का धर्म विशेष के साथ सम्बन्ध प्रतिषेध के अवसर पर किया जाता है। जैसे 'स्यात् इस घर के बाहर घड़ा नहीं है' इसका यह अर्थ है कि 'किसी विशेष प्रकार का घड़ा विशिष्ट समय में एक विशिष्ट गृह के बाहर अभाव धारण किये हुए है'। किसी वस्तु के सत्तात्मक तथा निषेधात्मक उभयविध स्वरूप के संवलित रूप से ज्ञान के लिए पूर्व वाले दोनों परामर्शों को एकत्र करने से तीसरे प्रकार के परामर्श का उदय होता है। जैसे—स्याद् गृहे अस्ति घटः, गृहाद् बहिर्नास्ति घटः (स्यात् घर के भीतर घट विद्यमान है तथा गृह के बाहर वह अविद्यमान है)। इसका निर्देश तृतीय वाक्य में किया गया है। कच्चा होने पर घड़ा काला है, पर पक जाने पर वही लाल बन जाता है, तब घट का यथार्थ रूप क्या है? इस प्रश्न का निष्कपट उत्तर यही हो सकता है कि परिस्थितियों की विपुलता के कारण एकत्र विरोधात्मक नानाधर्मों की सत्ता होने के कारण घट का वास्तविक रूप अवक्तव्य अनिर्वचनीय है। जैनन्याय के अनुसार चतुर्थ परामर्श इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है।

अन्तिम तीन परामर्शों की उत्पत्ति पूर्वनिर्दिष्ट चारों विचार-बिन्दुओं के सम्मिश्रण से होती है। जैनन्याय के अनुसार किसी भी पदार्थ के विषय में इतने ही विकल्पक ज्ञानों का उदय हो सकता है। अतः सात प्रकारों को धारण करने के कारण इसे **'सप्तभंगी नय'** की संज्ञा प्रदान की गई है।

(४) जैन तत्त्वसमीक्षा

वस्तु

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है **(अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्)**। किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिए उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म, वर्ण समाज आदि का जानना तो अत्यन्त आवश्यक है। इन सत्तात्मक धर्मों का नाम 'स्वपर्याय' है; ये अल्प ही हुआ करते हैं; पर वस्तु के निषेधात्मक धर्म अनन्त होते हैं जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से पृथक् किया करते हैं। 'देवदत्त' के विषय में इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि वह भारतवर्षवासी, श्यामवर्ण, हिन्दू, आर्य-धर्मानुयायी, ब्राह्मण-कुलोत्पन्न है, यह तो सत्तात्मक गुण हुए। निषेधात्मक गुणों की जानकारी भी उतनी ही जरूरी है। यह भी जानना पड़ेगा कि वह न तो यूरोपियन है, न चीनदेशीय, न श्वेतवर्ण का है, न पीत वर्ण का है—आदि आदि। इन इयत्ताहीन निषेधात्मक, धर्मों को 'परपर्याय' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन की कल्पना में प्रत्येक वस्तु 'स्वपर्याय' तथा 'परपर्याय' का समुच्चय है।

द्रव्य

'सत्' की व्याख्या

'सत्' के स्वरूप के विषय में दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्तदर्शन केवल ब्रह्म को 'सत्' मानता है, बौद्धदर्शन 'सत्' पदार्थ को निरन्वयक्षणिक (अर्थात् उत्पाद विनाशशील) मानता है, सांख्यदर्शन चेतन तत्स्वरूप 'सत्' पदार्थ (पुरुष) को कूटस्थ नित्य मानता है, पर अचेतन तत्त्वरूप 'सत्' पदार्थ (प्रकृति) को परिणामिनित्य अर्थात् नित्यानित्य मानता है, परन्तु जैनदर्शन के अनुसार 'सत्' का विवेचन एक विभिन्न ही प्रकार से किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हुआ करते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रौवात्मक अर्थात् नित्य है और अशाश्वत अंश के कारण हरएक वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति तथा विनाशशाली अर्थात् अनित्य है) यदि केवल एक अंश पर दृष्टिपात करते हैं तो

वस्तु स्थिर प्रतीत होती है, तथा दूसरे अंश पर दृष्टि डालते हैं तो वह स्थिर प्रतीत होती है। पर एकांश पर दृष्टि डालना एकांगी सत्य हो सकता है, सर्वांगीण सत्यता उभयांशों के निरीक्षण पर अवलम्बित है। अतः इन दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैनशास्त्र प्रत्येक वस्तु को उत्पादव्यय-ध्रौव्य युक्त बतलाता है। अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने तथा नाश होने वाला होता है; साथ ही साथ वह स्थिर होने वाला भी होता है[1]। अर्थात् वह नित्यानित्य होता है। यहाँ पर शंका का उदय होना स्वाभाविक है कि जो पदार्थ नित्य है वह उसी क्षण में अनित्य कैसे हो सकता है? क्या एक ही पदार्थ में नित्यता तथा अनित्यता का एककालिक सम्बन्ध मानना विरुद्ध नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर जैनदर्शन में बड़े सुन्दर ढंग से दिया गया है। विना किसी प्रकार के परिवर्तन हुए समानभाव से रहने वाली वस्तु को वह नित्य नहीं मानता। उसकी दृष्टि में 'अपनी जाति से च्युत न होना' ही नित्यत्व का लक्षण है। वस्तु में परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विघटित नहीं होती, अतः उसे नित्य मानने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए। अनुभव इस परिणामनित्यता के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। सुवर्ण में कुण्डलत्व, अंगुलीयत्व आदि धर्म के उत्पन्न होने पर भी वह सुवर्णत्व जाति से च्युत नहीं होता। 'परिणामिनित्यता' के सिद्धान्त में वेदान्तियों के 'कूटस्थनित्यता' तथा सौगतों के 'परिणामवाद' का हृद्य समन्वय है। प्रपञ्च के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को जैन-दर्शन अंगीकार करता है। वह कहता है कि जगत् का नानात्व भी वास्तविक है तथा एकत्व भी सत्य है।

सतत विद्यमान रहनेवाले तथा वस्तुसत्ता के लिए नितान्त आवश्यक धर्मों को **'गुण'** कहते हैं तथा देशकालजन्य परिणामशाली धर्म को **'पर्याय'** कहते हैं। गुण तथा पर्यायविशिष्ट वस्तु को जैनन्याय के अनुसार **'द्रव्य'** कहते हैं (**गुणपर्यायवद् द्रव्यम्**—तत्त्वार्थसूत्र ५-३७)।

---

१ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (तत्त्वार्थसूत्र ५।२९)

द्रव्य का सबसे बड़ा विभाग दो प्रकार का होता है :—(१) एक देशव्यापी द्रव्य तथा (२) बहुप्रदेश-व्यापी द्रव्य। काल ही एक पदार्थ ऐसा है जो एक प्रदेशव्यापी माना जाता है। जगत् के अन्य समस्त पदार्थों में

द्रव्यविभाग

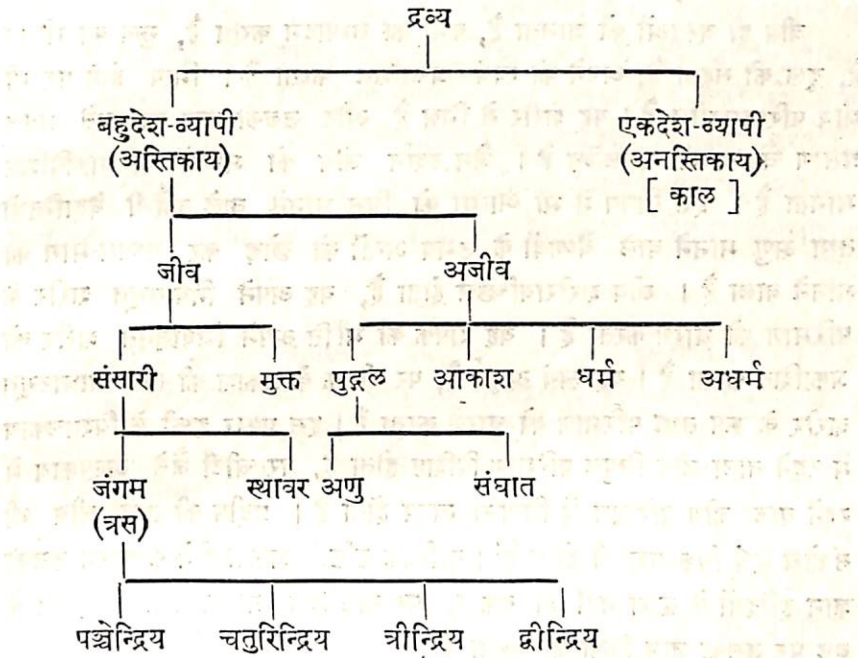
विस्तार उपलब्ध होता है। अतः वे बहुप्रदेश-व्यापी माने जाते हैं। जैनदर्शन में विस्तार धारण करनेवाले द्रव्य **'अस्तिकाय'** कहे जाते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर की भाँति विस्तार से समन्वित होने से वे 'काय' कहे जाते हैं[1]। ऐसे पाँच द्रव्यों की सत्ता स्वीकृत की गई है—(१) जीवास्तिकाय, (२) पुद्गलास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) धर्मास्तिकाय तथा (५) अधर्मास्तिकाय।

देशव्यापी (अस्तिकाय) द्रव्यों के दो प्रधान भेद हैं—जीव और अजीव। इनमें जीव आत्मा का वाचक है। जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—बद्ध (संसारी) तथा बन्धन से निर्मुक्त (मुक्त)। इनमें संसारी जीवों के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं। वे जीव जो उद्देश्य पूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं **'त्रस'** कहलाते हैं और जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते हैं उन्हें **'स्थावर'** कहते हैं। संसारी जीव के अन्य चार प्रकारों का वर्णन तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (२।३२-३६) में दिया गया है:—(१) नारक—विविध नरकों में निवास करनेवाले जीव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च—पशु पक्षी आदि लघुकाय जीव, (४) देव—ऊर्ध्वलोक में निवास करनेवाले जीव। स्थावर जीव सबसे निकृष्ट माने जाते हैं, क्योंकि इसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय की ही सत्ता मानी जाती है। जंगम जीवों में कुछ दो इन्द्रियसम्पन्न, कुछ तीन इन्द्रिय से युक्त और कुछ चतुरिन्द्रिय से युक्त होते हैं; परन्तु मनुष्य, पशु-पक्षी आदि उन्नत जीवों में पाँचों इन्द्रियाँ पाई जाती हैं। यह तो जीव का सामान्य निरूपण हुआ। अजीव चार प्रकार के होते हैं—पुद्गल, आकाश, धर्म तथा अधर्म।

---

१ संति जदो तेणेदे अस्थीति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया थ अस्थिकाया थ॥
(द्रव्यसंग्रह, गाथा २५)

द्रव्य-विभाग का संक्षिप्त वर्णन



जीव

चेतनद्रव्य को जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है[1]। संसार के समस्त जीवों में चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों चैतन्य उपलब्ध होता ही है। प्रत्येक जीव नैसर्गिक रूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु जीवों में आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय नहीं हुआ करता। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुणों पर एक प्रकार का आवरण पड़ा रहता है। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से इस आवरण के तिरोधान होने से इन गुणों का साक्षात्कार जीव को हुआ करता है। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विपुल तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्म-

---

१. चैतन्यलक्षणो जीवः। (षड्दर्शन-समुच्चय, कारिका ४९)।

फलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जगत् के प्रत्येक भाग में जीवों की सत्ता मानी गयी है।

जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्मों का सम्पादन करता है, सुख का भोक्ता है, दुख को सहता है; अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है और उसकी सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैन दर्शन जीव को मध्यम परिमाणविशिष्ट मानता है। इस विषय में भी आत्मा को विभु मानने वाले अद्वैती वेदान्तियों तथा अणु मानने वाले वैष्णवों के उभय अन्तों को छोड़ कर मध्यम-मार्ग को मानने वाला है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। यह स्वयं अमूर्त है, पर दीपक के प्रकाश की तरह आधारभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को धारण करता है। इस प्रकार हस्ती के विशालकाय में रहने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है। प्रदीप की तरह जीव भी संकोच एवं विकाशशाली होता है[१]। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर उसका ज्ञान किया जा सकता है।

अजीव

जैन दर्शन में 'पुद्गल' शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण माना जाता है। यह भूत सामान्य के लिए व्यवहृत किया जाता है। 'पुद्गलास्तिकाय' यह संज्ञा जैन शास्त्र में ही प्रसिद्ध है; अन्य दर्शनों में पुद्गल स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं। सर्व-दर्शन-संग्रह में 'पुद्गल' शब्द की

(१) पुद्गल

निरुक्ति बतलाई गई है—पूरयन्ति गलन्ति च (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय) अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर का निष्पादन करने वाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होने पर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं—अणु तथा संघात। पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा

---

१. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्।
(त० सू० ५।१६)।

सकता 'अणु' कहलाता है। दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से 'संघात' बनता है। इन्हीं संघातों के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अंग, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है। पौद्गलिक पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण। ये गुण उसके द्विविध रूपों में विद्यमान रहते हैं। अणु या संघात—दोनों प्रकार में ये चारों गुण पाये जाते हैं। अन्य दार्शनिक 'शब्द' को भी भूतों का गुणविशेष स्वीकार करते हैं, पर जैन दार्शनिक शब्द को मूलभूत गुण नहीं मानते, प्रत्युत सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, अन्धकार, छाया आदि के समान होनेवाला आवान्तर परिणाम बतलाते हैं (तत्त्वार्थसूत्र ५।२४)।

(२) आकाश

'आकाश' जीवादि अस्तिकाय्य द्रव्यों को अवकाश देनेवाला पदार्थ है। आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर अंगीकृत की जाती है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेशव्यापी हैं। अतः इनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्यायवाले आकाश-द्रव्य की सत्ता मानना न्याय-संगत है। आकाश दो प्रकार का माना जाता है:—(१) जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है उसे **लोकाकाश** की संज्ञा दी जाती है, (२) तथा लोक से उपरितन आकाश की **'आलोकाकाश'** संज्ञा है।

(३) काल

काल की कल्पना अनुमान के आधार पर मानी जाती है। जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं। इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व—ये पाँचों काल के **'उपकार'** माने जाते हैं। काल के विना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। स्थिति का अर्थ पदार्थ का अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान है। काल के अवयवों को विना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है। किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है। कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है। पूर्वापरक्षण-व्यापिनी क्रिया काल के ही कारण सम्भव है। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि के प्रमाणभूत बतला रही है। काल का विस्तार नहीं माना जाता, अतः वह अस्तिकाय द्रव्यों से इस विषय में भिन्न ही है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश में अणुरूप काल की सत्ता रत्नों की

राशि के समान मानी जाती है। रत्नों के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप से पृथक्-पृथक् स्थित रहता है (द्र० सं० का० २३)। 'द्रव्यसंग्रह' में काल के दो भेद माने गये हैं (गाथा २२)—

(१) **व्यावहारिक काल**—द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, घटी, पल आदि अवयव से सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते हैं।

(२) **पारमार्थिक काल**—यह काल नित्य, निरवयव माना जाता है। वर्तना—पदार्थ की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। व्यावहारिक काल के ही अंगों की कल्पना है। अतः वह सादि तथा सान्त है, पर परमार्थिक काल एक अनवच्छिन्न रूप से सतत विद्यमान रहता है।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की जैन कल्पना अन्य दर्शनों में स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न ठहरती है। गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य-विशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। जल में चलनेवाली मछली के लिए जिस प्रकार जल सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए धर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। धर्म स्वयं जीव की गति की प्रेरणा में असमर्थ है, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र करता है। जल मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

(४) धर्म

अधर्म की कल्पना धर्म के ठीक विरुद्ध है। स्थितिशील जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को **'अधर्म'** की संज्ञा जैनदर्शन में दी गई है। जिस प्रकार श्रान्त पथिक के ठहरने के लिए वृक्षों की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति के वास्ते अधर्मास्तिकाय की कल्पना स्वीकृत की गई है। छाया पथिक के टिकने के लिए कारण नहीं हो सकती, न उसे टिकने के लिए प्रेरणा कर सकती है, केवल सामान्यरूपेण कारण बन सकती है। जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी इसी तरह मानी गई है।

(५) अधर्म

(५) जैन आचारमीमांसा

जैनदर्शन में मोक्ष के साधन तीन हैं[1]—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चरित्र। **'दर्शन'** शब्द का अर्थ है—श्रद्धा, अतः

---

१ सम्यक्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। (तत्त्वार्थसूत्र १।१)।

मोक्षमार्ग में जाने के लिए साधक के पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक् श्रद्धा[1]। तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्र-सिद्धान्तों में अटूट तथा गहरी श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए सबसे अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण पाथेय सम्यक् श्रद्धा है। सम्यक् ज्ञान दूसरा साधन है। शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित निखिल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का यथार्थ एवं गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही आवश्यक तथा उपादेय है। सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता सम्यक् चारित्र में ही सम्पन्न होती है। इन्हीं मोक्षोपयोगी तीनों साधनों—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र—को जैन दर्शन में **'रत्नत्रय'** की संज्ञा दी गई है।

रत्नत्रय

जीव निसर्गतः मुक्त है; पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर आवरण डाले रहता है। इस कर्म के स्वरूप को जैन दर्शन अन्य दर्शनों से नितान्त भिन्न मानता है। कर्म पौद्गलिक होते हैं। पृथिवी, जल आदि के समान कर्म भी भौतिक माना जाता है। यह जीव को सर्वांशतः व्याप्त कर इस दुःखमय प्रपञ्च में डाले हुए है। कर्म के साथ सम्बद्ध जीव ही बद्धपुरुष के रूप में दीख पड़ता है। कर्म के आठ मुख्य प्रकारों का वर्णन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ किया गया मिलता है। कुछ कर्म ज्ञान को ढके हुए रहते हैं, कुछ दर्शन को आच्छादित किये रहते हैं तथा कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने रहते हैं। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुध्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय—इन आठ कर्मों के १४४ भेदों का वर्णन जैन ग्रन्थों में दिया गया है (त० सू० ८।५–१६)।

कर्म

जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिखलाने के लिए जैन दर्शन-सम्मत सप्त पदार्थों का वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। इन पदार्थों के नाम हैं—(१) आस्रव, (२) बन्ध, (३) संवर, (४) निर्जरा, (५) मोक्ष—जो पूर्ववर्णित, (६) जीव तथा (७) अजीव के साथ मिल कर सात पदार्थ माने जाते हैं (त० सू० १।४) भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के

सप्त पदार्थ

---

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। (तत्त्वार्थसूत्र १।२)।

साथ जीव के सम्बन्ध कराने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसी के साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन तथा उसके प्रभाव से हीन होने पर जीव का मोक्ष निर्भर रहता है। अपने व्यापार के लिए अपरतन्त्र कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना **'आस्रव'** कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (६।१–२) में शरीर, वचन तथा मन की क्रिया को योग का नाम दिया गया है और यह योग ही **'आस्रव'** कहलाता है। जिस प्रकार जलाशय में जल के प्रवेश कराने वाले नाले का मुख आस्रव कहलाता है, उसी प्रकार कर्म के प्रवेश कराने का मार्ग होने के कारण योग को 'आस्रव' की संज्ञा दी गई है। इस तरह चरम तत्त्वों के अज्ञान तथा वासनादि के कारण कर्मों का जीव के प्रति जो संयुक्त होने की क्रिया हुआ करती है उसे ही जैन दर्शन **'आस्रव'** कहता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—भावास्रव (कर्मोत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यास्रव (पुद्गलकर्मों का आना; द्रव्य संग्रह गाथा ३०)।

उसके अनन्तर कर्मों के द्वारा जीवों का साक्षात् व्याप्त कर लेना **'बन्ध'** कहलाता है। दूसरे शब्दों में जब जीव कषाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तब इसे **'बन्ध'** की संज्ञा प्रदान की जाती है। उमास्वामी (त० सू० ८।१) बन्धन के पाँच कारण मानते हैं—(१) मिथ्यात्व (अतत्त्व में तात्त्विक दृष्टि रखना), (२) अविरति (दोषों से विरत न होकर सदा उनमें लगे रहना), (३) प्रमाद (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्यों में अविवेक के कारण सावधान न होना), (४) कषाय (समभाव की मर्यादा का तोड़ना), (५) योग (मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्ति)। इन्हीं कारणों से जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त करता है।

अब इन कर्मों का सम्बन्ध-विच्छेद भी दो भिन्न-भिन्न क्रमों से निष्फल हो सकता है। आगे आने वाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देने को **'संवर'** कहते हैं (त० सू० ९।१)। यह **'आस्रव'** से विपरीत क्रिया है। संवर का ग्रहण करना अग्रिम कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर जीव को अत्यधिक बन्धन में पड़ने से बचाता है तथा उसे मुक्ति की ओर उन्मुख करता है। संवर दो प्रकार का होता है—भावसंवर तथा द्रव्यसंवर। 'भावसंवर' मुमुक्षु के उन मानसिक उद्योगों तथा नैतिक प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके द्वारा वह कर्म के मार्ग का निरोध कर देता है। **'द्रव्यसंवर'** नवीन पुद्गलकर्म के सम्बन्ध के वास्तविक निरोध की संज्ञा है। वास्तव क्रिया के पहिले ही मानस व्यापार का होना अनिवार्य है। अतः संवर दो प्रकार का माना जाता है।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी **निर्जरा** की होती है जिसके द्वारा सम्पादित कार्यों को निर्वीर्य बनाकर फलाभाव के लिये उन्हें जीर्ण कर देना होता है। इनका फलस्वरूप 'मोक्ष' कहलाता है। इसकी स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के विना सम्भव नहीं हो सकती; इसलिए उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है[1]। मोक्ष प्राप्त करते ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध स्वरूप को पात्त कर लेता है और उसमें इन 'अनन्त-चतुष्टयों' की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति। कैवल्य प्रात कर लेने पर जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज का परम मंगल सम्पादन करने में लगा रहता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्यमात्र के हृदय में दुःखनिवृत्ति के लिए आशा का संचार करता रहता है।

सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एकदम नहीं हो सकता, प्रत्युत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के इन सोपानों को

गुणस्थान

जैन दर्शन में **'गुणस्थान'** कहते हैं। प्रत्येक धर्म इस कल्पना की युक्तिमत्ता स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार गुणस्थानों की संख्या १४ है, जिनमें मिथ्यात्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचना लक्ष्य माना जाता है। गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित है। इन गुणस्थानों के नाम क्रमशः यों हैं—(१) मिथ्यात्व (विवेक-हीनता की दशा), (२) ग्रन्थिभेद (सत्-असत् के विवेक का उदय), (३) मिश्र (निश्चय और अनिश्चय की मिश्रित दशा), (४) अविरत सम्यग्-दृष्टि (संशय नाश होने पर सम्यक् श्रद्धा की अवस्था), (५) देशविरति (पापों का आंशिक त्याग), (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्व करण, (९) अनिवृत्ति करण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह (मोक्ष को आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों के नाश से उत्पन्न दशायें), (१३) संयोग केवल (इस गुणस्थान में साधक अनन्त ज्ञान तथा अनन्त सुख से देदीप्यमान हो उठता है। वह तीर्थङ्कर कहलाता है और उसमें उपदेश देने की तथा धार्मिक सम्प्रदाय के स्थापन की योग्यता हो जाती है, इस दशा में शुक्ल ध्यान की सहायता से जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है), (१४)

---

१. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। (त० सू० १०।२-३)।

आयोग केवल—यही अन्तिम दशा है। इस अवस्था के उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश और आलोकाकाश के बीच में एक नितान्त पवित्र स्थान है, यही इन सिद्धों की निवासभूमि है। इस स्थान को 'सिद्ध-शिला' कहते हैं। साधक अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त कर चरम शान्ति का अनुभव करता है। साधकों के लिए यही चरम मुक्तावस्था है।

सम्यक् चारित्र

सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है—(१) अहिंसा (शरीर से, वचन से या मन से किसी भाँति किसी प्राणी को हानि न पहुँचाना), (२) सत्य (जो वस्तु जिस रूप में विद्यमान हो उसे उसी रूप में कहना), (३) अस्तेय (दूसरे किसी की वस्तु को उसकी आज्ञा के विना कभी ग्रहण न करना), (४) ब्रह्मचर्य (वीर्य रक्षा करते हुए नैष्ठिक जीवन व्यतीत करना), (५) अपरिग्रह (किसी भी पदार्थ में आसक्त हो कर उसे ग्रहण न करना अर्थात् संसार के समस्त विषयों से सच्चा वैराग्य)। इन व्रतों में सांसारिक गृहस्थों के लिए कभी-कभी वस्तु-स्थिति के विचार से शिथिलता भी दिखलाई गई है। यतियों के लिए अपरिग्रह के कठोर नियम का विधान है, पर गृहस्थों के लिए उसके स्थान पर सन्तोष का ही निर्देश है। जैन धर्म में आचार के नियमों के पालन में बड़ी कठोरता तथा व्यवस्था दीख पड़ती है।

(६) समीक्षा

जैन दर्शन इस जगत् के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करता है। अतः वह दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक के रूप में हमारे सामने आता है। वह आरम्भ से ही वास्तववाद (रीअलिजम) का अनुयायी है। वह हमारी बाह्येन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता को वास्तव मानता है। कुछ दार्शनिक लोग जगत् की सत्ता में बाह्य इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं। उनकी सम्मति में चक्षुरादि बाहरी इन्द्रियाँ जिन पदार्थों का स्वयं अनुभव जिस रूप में करती हैं वे पदार्थ उसी रूप में सत्य हैं। इसके विपरीत कुछ दार्शनिक लोग अन्तरिन्द्रिय—मन बुद्धि के—द्वारा ग्राह्य विषय को ही सत्य अङ्गीकार करते हैं; परन्तु जैन दर्शन इस विषय में दोनों के समन्वय का इच्छुक है। उसके अनुसार बाह्य जगत् की सत्यता प्रमाणित करने के लिए मन के साथ-साथ बाह्य इन्द्रियों की भी उपयोगिता किसी प्रकार न्यून नहीं

है। इस प्रकार जैन दर्शन का दृष्टिबिन्दु निःसन्देह बहुत्व-संवलित वास्तववाद (प्ल्युरलिस्टिक रीअलिजम) है। इस दृष्टि के अनुयायी होने से पाश्चात्त्य दार्शनिक लाइबनित्स के समान ही जैन दार्शनिक इस जगत् के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है[1]? इस विश्व में उस प्रदेश का सर्वथा अभाव है जिसे जीव अपनी उपस्थिति से सजीव नहीं बनाते। वह विविध विचित्रतामय विपुल प्रदेश से संवलित विश्व के कण-कण में जीवों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा किसी प्रकार की इन्हें हानि न पहुँचाने के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अहिंसा को परम धर्म मानता है।

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का माननीय तथा बहुमूल्य देन माना जाता है। समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विना ध्यान दिये सत्य-ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। गुणरत्न ने एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की पर्याप्त पुष्टि की है[2]। जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान सम्पादन कर लिया, उसने समग्र वस्तुओं के सर्वथा ज्ञान को प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं का सर्वथा अनुभवकर्ता एक वस्तु का सर्वथा अनुभव करनेवाला है। नानात्मक सत्ता की तात्त्विक आलोचना **'स्याद्वाद'** के सिद्धान्त को मानकर ही की जा सकती है। यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है, परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जायगा। यह निश्चित है कि इसी शमन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता, तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस **'स्याद्वाद'** का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिकभाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यह जैन सिद्धान्त दार्शनिक विवेचन के लिए आपाततः उपादेय तथा मनोरञ्जक प्रतीत होता है, पर वह मूलभूत तत्त्व के स्वरूप को समझाने में सर्वथा असमर्थ है। इसी कारण यह

---

१. राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३३४।

२. एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
(षड्-दर्शनसमुच्चयटीका, पृ० २२२)

व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोबीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षणों के लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से बढ़कर महत्त्व नहीं रखता।

आचार-मीमांसा जैन दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है। जैन मत आरम्भ में धर्म रूप में उदित हुआ था, क्रमबद्ध दर्शन का रूप उसे अवान्तर शतकों में प्राप्त हुआ है। अतः विद्वज्जन आस्रव तथा संवर के मोक्षोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन ही जैन दर्शन का प्रधान विषय बतलाते हैं[1]; अन्य सब बातें उसी की प्रपञ्चभूत हैं। जैन धर्म की एक बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है—कर्मफल के दाता ईश्वर की सत्ता न मानने में। वह ईश्वरविषयक युक्तियों का तर्क से खण्डन करता है तथा वह ईश्वर के निषेध करने में सविशेष जागरूक बना हुआ है। कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर की अध्यक्षता के अभाव में भी तत्तत् फल देने में स्वयं कारण मानी जा सकती है। इस विषय में जैनदर्शन मीमांसक मत के साथ समता रखता है, पर जहाँ मीमांसा धर्म-कर्म के अन्तिम निर्णय के लिए श्रुति का आश्रय लेती है वहाँ जैनधर्म उस आश्रय से भी वञ्चित रहता है। मानव हृदय अपनी श्रद्धा तथा भक्ति की विशेष उन्नति के लिए किसी साकार वस्तु को चाहता है। सिद्धों को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर जैनधर्म ने इस कमी की पूर्ति कर दी है। 'अर्हत्' की देवत्व कल्पना मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए संजीवनी ओषधि का काम करती है, पर इससे भी बढ़कर है उसका जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य तथा अनन्त सौख्य में गम्भीर विश्वास। वह मनुष्य मात्र के लिए आशा का सन्देश तथा स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है। इस विषय में यह धर्म उपनिषत् प्रतिपादित आध्यात्मिक परम्परा के अधिकारी होने से ही इतना प्रभावशाली बन पाया है, यह कहना ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दोनों दृष्टियों से अयुक्त न होगा।



१. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥
(स० द० सं०, पृ० ३१)।

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध दर्शन

ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्ध धर्म का उदय जैन धर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध 'निकायों' में अन्तिम जैन तीर्थंकर नाटपुत्त के नाम, सिद्धान्त तथा मृत्यु के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं, परन्तु जैन 'अंगों' में बुद्ध धर्म विषयक उल्लेखों का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। बुद्ध धर्म के दो रूप हमें इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं—पहला शुद्ध धार्मिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन को अनावश्यक मान कर आचार-मार्ग का ही जनता के कल्याण के लिए सरल रीति प्रतिपादन किया गया है। दूसरा दार्शनिक रूप है, जिसमें बौद्ध तत्त्व-विवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा के तह में रहने वाले सूक्ष्म सिद्धान्तों का तर्क-निष्णात बुद्धि से गहरा अनुशीलन किया तथा बुद्ध धर्म की धुँधली दार्शनिक रूप-रेखा को स्पष्ट कर दिखलाया। इन दोनों रूपों का संक्षिप्त विवेचन इस परिच्छेद का विवेच्य विषय है।

इस धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है। (४४८ ई० पूर्व) ५०५ विक्रम पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्य-गणाधिप शुद्धोदन की भार्या मायादेवी के गर्भ से गौतम का जन्म हुआ। १९ वें वर्ष में उन्होंने पत्नी के प्रेममय आलिंगन, नवजात शिशु की मन्द मुसुकान तथा राजपाट के विशाल वैभव को लात मार कर महाभिनिष्क्रमण किया। सांख्योपदेशक आराड कालाम के उपदेशों को उन्होंने सुना, पर सन्तोष न हुआ। अन्ततोगत्वा पचीस साल की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने उरुवेल में चार आर्यसत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर ४७१ वि० पूर्व के वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। मृगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि पञ्चवर्गीय पञ्च भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने **'धर्म-चक्र-प्रवर्तन'** किया। गणराज्य के आदर्श पर बुद्ध ने भिक्षुओं के 'संघ' की स्थापना की और मानव क्लेशों से उद्धार पाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जनसाधारण को 'मागधी भाषा' में दी। ४२६ वि० पू० वैशाखी पूर्णिमा को ८० वर्ष की आयु में मल्ल-

गौतम बुद्ध

गणतन्त्र की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में निर्वाण प्राप्त किया। जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति की घटनाएँ एक ही तिथि वैशाखी पूर्णिमा को घटित हुई थीं। अतः बुद्ध धर्म के लिए यह तिथि अत्यन्त पवित्र मानी जाती है।

त्रिपिटक

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। अतः उन्हें विस्मृति-गर्भ से बचाने के लिए बुद्ध के निर्वाणकाल में महाकश्यप के सभापतित्व में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम संगीति (सम्मेलन) राजगृह में सम्पन्न हुई, जिसमें बुद्ध के पट्टशिष्य आनन्द के सहयोग से 'सुत्तपिटक' तथा नापितकुलोद्भूत उपालि के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। सुत्तपिटक के अन्तर्गत 'मातिका' (मात्रिका = दार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से अवान्तर काल में 'अभिधम्म पिटक' का निर्माण किया गया। बुद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक सर्वस्व हैं—सुत्त-पिटक (बुद्ध के उपदेश), विनय पिटक (आचार-सम्बन्धी ग्रन्थ), अभिधम्म पिटक (दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रन्थ)। इन पिटकों (पेटारियों) के भीतर अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ हैं[१]। सुत्तपिटक में पाँच निकाय (सुत्त-समूह) हैं—(१) दीघनिकाय (३४ सुत्त), (२) मज्झिमनिकाय (१५२ सुत्त), (३) संयुत्तनिकाय (५६ संयुत्त), (४) अंगुत्तरनिकाय (११ निपात), (५) खुद्दकनिकाय (१५ छोटे-मोटे ग्रन्थ) जिनमें बुद्ध की ४२३ उपदेशात्मक गाथाओं का संग्रहात्मक 'धम्मपद' तथा बुद्ध के पूर्व-जन्म से सम्बद्ध ५५० कथाओं का संग्रहरूप 'जातक' नितान्त विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त खुद्दक पाठ, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस तथा चरियापिटक हैं। विनयपिटक के तीन अङ्ग हैं—(१) सुत्तविभंग या पातिमोक्ख, भिक्खु-पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी-पातिमोक्ख, (२) खन्धक—(क) महावग्ग तथा (ख) चूलवग्ग तथा (३) परिवार। अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं—पुग्गलपञ्ञत्ति, धातुकथा, धम्मसंगणि, विभंग, पट्ठान, पकरण, कथावत्थु तथा यमक। नागसेनकृत 'मिलिंदपञ्हो' भी त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

---

१. इन ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए देखिए डा० विमलचरण ला—हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर (दो भाग) तथा डा० विन्तरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दूसरा।

(१) बुद्ध की आचार शिक्षा

बुद्ध की शिक्षाओं का रहस्य समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का लक्ष्य नहीं था, प्रत्युत इस क्लेश-बहुल प्रपञ्च से उद्धार पाने के लिए सरल आचार-मार्ग का निर्देश करना ही उनका प्रधान ध्येय था। शिष्यों के द्वारा अध्यात्मविषयक प्रश्नों को सुनकर बुद्ध के चुप हो जाने का यही रहस्य है। ऐसे प्रसंग निकायों में अनेक बार आये हैं कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में 'अतिप्रश्नों' के पूछने से अपने शिष्यों को रोका। श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर मालुंक्यपुत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान् अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा, परन्तु भगवान् ने आचारमार्ग के लिए वैराग्य, उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तरज्ञान), संबोध (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति) के उत्पन्न करने में साधक न होने से उन्हें अव्याकृत (व्याकरण—कथन के अयोग्य) बतलाया। इस विषय में उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है—यदि कोई व्यक्ति विष-दग्ध बाण से विद्ध होकर कराहता हो, और बन्धु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हों, तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना पहले दर्जे की मूर्खता नहीं है? भवरोग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठीक ऐसी ही है। उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है? उन्हें तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना ही जरूरी है।

कर्तव्य-शास्त्र के विषय में बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्यों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है—(१) इस संसार में जीवन दुःखों से परिपूर्ण है (दुःखम्); (२) इन दुःखों का कारण विद्यमान है (दुःख समुदयः); (३) इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है (दुःख निरोधः) तथा (४) इस निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग (दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपत्)। सत्यों की संख्या अनन्त है; परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं। चन्द्रकीर्ति के कथनानुसार इन सत्यों को 'आर्य' कहने का अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्यों के तह तक पहुँचते हैं, पामरजन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत् का अनुभव प्रतिक्षण करने पर भी इन सत्यों तक नहीं पहुँच पाते। हमने पहले बतलाया है कि

चिकित्सा-शास्त्र के ढंग पर मोक्ष-शास्त्र को चतुर्व्यूह मानना भारत में एक मान्य सिद्धान्त है। वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध की 'महाभिषक्' (वैद्यराज) संज्ञा है तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य में 'भैषज्य' नामधारी ग्रन्थ भी मिलते हैं (जैसे 'भैषज्यगुरुवैदूर्यप्रभराज सूत्र' जो चीन और जापान में बौद्ध-सिद्धान्तों के लिए नितान्त मान्य है)।

आर्यसत्य

प्रथम आर्यसत्य **दुःख** है। लौकिक अनुभव कहता है कि इस जगतीतल पर दुःख की सत्ता इतनी ठोस तथा स्थूल है कि उसका कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। द्वितीय आर्यसत्य **दुःखसमुदय** है--दुःखों का कारण। इस विषम दुःख के उदय के लिए केवल एक ही कारण नहीं है, प्रत्युत कारणों की एक लम्बी श्रृंखला है। इस कारण-परम्परा की लोकप्रिय संज्ञा है द्वादश निदान—(१) जरामरण, (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान, (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) षडायतन, (९) नामरूप, (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। पूर्व के प्रति पर-निर्दिष्ट कारण हैं। जरा-मरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करने वाले कर्म। वसुबन्धु ने 'भव' का यही अर्थ किया है (यद् भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भावः—अभिधर्म कोश ३।२४)। भव उत्पन्न होता है उपादान--आसक्ति से। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं—कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शीलोपादान (व्रतों में आसक्ति) से कहीं बढ़कर है आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)। आसक्ति पैदा होती है तृष्ण--इच्छा के कारण। इन्द्रिय द्वारा बाह्यार्थानुभव के विना तृष्णा की उत्पत्ति हो नहीं सकती; अतः वेदना (इन्द्रियजन्यानुभूति) तृष्णा की जननी है। वेदना का उद्गमस्थल है स्पर्श अर्थात् विषयेन्द्रिय का सम्पर्क; जो स्वयं षडायतन (मन सहित ज्ञानेन्द्रियपञ्चक) के ऊपर निर्भर रहता है। यह षडायतन नामरूप--दृश्यमान शरीर तथा मन से संवलित संस्थान-विशेष--का कार्य है। नामरूप की सत्ता विज्ञान (चैतन्य) पर प्रतिष्ठित है। यह चित्तधारा या चैतन्य मातृगर्भ से भ्रूण के नामरूप का साधक है। यह विज्ञान संस्कार (पूर्व जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार) से उत्पन्न होता है, जो स्वयं अविद्या—अज्ञान का कार्य है। इस प्रकार समस्त दुःखपुञ्जों का आद्य कारण अविद्या ही है। इन द्वादश निकायों के चक्र को **'भवचक्र'** (संसार का चक्कर) कहते हैं।

इस भवचक्र का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीन जन्मों से है। इन्हीं द्वादश निदानों का दूसरा नाम **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** है, जो बुद्धधर्म का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है। इसका अर्थ है--प्रतीत्य [प्रति + इ (जाना) + ल्यप्] किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद=अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद। **'प्रतीत्यसमुत्पाद'** बुद्धसम्मत **'कारणवाद'** है। उसका उपयोग मानव व्यक्ति की स्थिति समझाने के लिए किया गया है। मनुष्य की उत्पत्ति शृंखला-बद्ध होती है। इस शृंखला के बारह अंग तथा तीन काण्ड हैं:--

प्रतीत्यसमुत्पाद

क—अतीत जन्म से सम्बद्ध निदान	१ अविद्या २ संस्कार
ख—वर्तमान जीवन से सम्बद्ध निदान	३ विज्ञान ४ नामरूप ५ षडायतन ६ स्पर्श ७ वेदना ८ तृष्णा ९ उपादान १० भव
ग—भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान	११ जाति १२ जरामरण

तृतीय आर्यसत्य **दुःख-निरोध** या **निर्वाण** है। कारण की सत्ता पर ही कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण—परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो आप से आप चलने वाली मशीन की तरह कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायेगा। मूल कारण अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःखनिरोध अवश्य हो जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत् अर्थात् निर्वाण-मार्ग है। बुद्ध ने सुख-समृद्धि में जीवन-यापन करने वाले सुखमार्गियों तथा घोर व्रताचरण से इस काञ्चन काया को सुखाकर काँटा बना देने वाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक न मान कर इन उभय सुख तथा दुःख के छोरों को छोड़कर

'मध्यम प्रतिपदा' को खोज निकाला। इस प्रतिपत् को **'आर्य अष्टांगिक-मार्ग'** भी कहते हैं जिसके आठ अंगों का संक्षिप्त वर्णन यों है—(१) सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान), (२) सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय), (३) सम्यक् वचन (सत्य वचन), (४) सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म), (५) सम्यक् आजीव (न्याय-पूर्ण जीविका), (६) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत उद्योग करना), (७) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्तसंताप से अलग हटना), (८) सम्यक् समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है।

आर्यसत्यों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग से एकान्त भिन्न नहीं है। उपनिषदों का 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था, परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता; ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है। बुद्ध ने भी **'शील'** के द्वारा शारीरिक शोधन पर विशेष जोर दिया है। बुद्ध दर्शन में तीन साधन हैं—शील, समाधि तथा प्रज्ञा।

त्रिरत्न

(१) **शील** से समग्र सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है। भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के कतिपय साधारण शील हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है (दी० नि०, पृ० २४–२८)। अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना—ये **'पञ्चशील'** कहे जाते हैं। इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान है, परन्तु भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का (दश शीलों) उपदेश है—अपराह्ण भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या का त्याग। दीर्घनिकाय के ३१ वें सुत्त 'सिगालोवादसुत्त' में गृहस्थाचार का विस्तृत-प्रामाणिक वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में यानद्वय का विधान है—समथयान तथा विपस्सनायान। निर्वाण के लिए समाधि का स्वतन्त्र साधनरूप से अभ्यासी साधक **'समथयानी'** कहलाता है। समाधि के अभ्यास करने का अन्तिम फल चित्तवृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है, जिसे प्राप्त करने वाले व्यक्ति की संज्ञा **'कामसक्खी'** है।

(२) **समाधि** से तीन प्रकार की विद्यायें उत्पन्न होती हैं—पूर्व जन्म की स्मृति, जीव को उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामञ्ञफलसुत्त (दी० नि०, पृ० २८–२९) में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त-सहित सुन्दर वर्णन दिया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' का मुख्य विषय यही समाधि तथा उसके अवान्तर विभेद हैं। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषद्-मूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है।

(३) **प्रज्ञा** तीन प्रकार की है[1]—श्रुतमयी (आप्त प्रमाण-जन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शीलसम्पन्न, श्रुत-चिन्ता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु से श्रामण्य फलों की चर्चा करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद वर्णन किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञानदर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियाँ, दिव्य श्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म-स्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःखक्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामास्रव (भोगने की इच्छा), भवास्रव (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यास्रव, (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है[2] और साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अतः बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। धम्मपद ने बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्य-संचय, चित्तपरि-शुद्धि—इन तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

(धम्मपद १४।५)

(२) दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध धर्म की आचार-प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं:—(१) संघातवाद और (२) सन्तानवाद।

---

१. द्रष्टव्य अभिधर्म कोश ६।५।

२. द्रष्टव्य सामञ्जफलसुत्त, दीर्घनिकाय, पृ० ३०-३२।

(१) नैरात्म्यवाद

बुद्ध का उपनिषत् प्रतिपादित आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान विषय था। सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में इसी आत्मवाद को कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक पृथक् पदार्थ की सत्ता को ही अस्वीकार किया है (दी० नि०, पृ० १३—११५)। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा को उनके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते। आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुञ्जमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी सत्ता क्या कभी प्रत्यक्षरूप से दीख पड़ती है ? उसका सिद्धान्त आजकल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष है, जो मानस दशाओं को मान कर भी तदेकीकरणात्मक आत्म-पदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं है।

यह आत्मा नामरूपात्मक है। इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये जाने के लिए जो अपने स्वरूप का निरूपण करते हैं उन पदार्थों को **'संज्ञा'** कहते हैं (अनुभवार्थमानं रूपयतीति)। वह वस्तु जिसमें भारीपन हो और जो स्थान घेरती है **'रूप'** कहलाती है। अतः रूप से तात्पर्य जल, तेज तथा वायु चतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है। जिसमें न तो भारीपन है, न जो स्थान घेरता हो ऐसे द्रव्य को **'नाम'** कहते हैं अर्थात् मन तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ। अतः नामरूप का अर्थ हुआ शरीर और मन, शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ। आत्मा इस शरीर तथा मन, भौतिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों का एक समुच्चयमात्र है। रूप एक ही प्रकार का है, पर नाम चार प्रकार का होता है—वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों (समुदाय) का पुञ्जमात्र है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को **'रूप'**, किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को **'संज्ञा'**, तज्जन्य दुःख, सुख तथा उदासीनता के भाव को **'वेदना'**, अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को **'संस्कार'** तथा चैतन्य को **'विज्ञान'** के नाम से पुकारते हैं। विज्ञान तथा संज्ञा स्कन्धों में वही भेद है जो निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है। 'यत् किञ्चित्' रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष 'विज्ञान' है तथा नामजात्यादि योजनाविशिष्ट ज्ञान 'संज्ञा' है। ये ही **'पञ्च स्कन्ध'** हैं।

मिलिन्दप्रश्न (पृ० ३०—३३) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द से बौद्ध-सम्मत आत्म-स्वरूप का वर्णन एक बड़ी सुन्दर उपमा के सहारे

आत्मा के विषय में नागसेन

बतलाया है। नागसेन ने राजा से पूछा कि इस कड़कड़ाती धूप में जिस रथ पर सवार होकर आप इस स्थान पर पधारे हैं उस रथ का इदमित्थं वर्णन क्या आप कर सकते हैं? क्या दण्ड रथ है या अक्ष रथ है? राजा के निषेध करने पर फिर पूछा कि क्या चक्के रथ हैं? या रस्सियाँ रथ हैं? या लगाम या चाबुक रथ है? बारम्बार निषेध करने पर नागसेन ने पूछा—आखिर रथ है क्या चीज? अगत्या मिलिन्द को स्वीकार करना पड़ा कि दण्ड, चक्र आदि अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए **'रथ'** नाम दिया गया है; इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवी की सत्ता नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा **'आत्मा'** की भी है; पञ्चस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवी के नितरां अगोचर होने के कारण इन अवयवों के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के ही लिए दिया गया है। आत्मा की वास्तव सत्ता है ही नहीं। इस अज्ञात अवास्तव आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपञ्च में पड़नेवाले लोग उसी प्रकार उपहास्यास्पद तथा अनादरणीय हैं, जिस प्रकार गुण, वर्णादि को न जानने पर भी जनपदकल्याणी की कामना वाला पुरुष अथवा प्रसाद की सत्ता विना जाने, उसपर चढ़ने के गरज से चौरस्ते पर सीढ़ी लगाने वाला व्यक्ति। यही बौद्धों का संघातवाद या नैरात्म्यवाद है।

त्रिपिटिकों के कथानुसार यह आत्मा तथा जगत् अनित्य है। इसका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। यह पञ्च स्कन्ध बौद्धों के अनुसार दो क्षण

(२) सन्तानवाद

तक भी समानरूप से स्थिर नहीं रहता; वह तो प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। जल-प्रवाह तथा दीपशिखा के उदाहरणों से इस सन्तान के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है। जिस जल में हम एक बार स्नान करते हैं; क्या दूसरी बार हमारे स्नान के समय भी वह जल वही पुराना अनुभूत जल रहता है? उसी प्रकार दीपशिखा की अभिन्नता कैसे मानी जा सकती। क्षण क्षण में एक लौ निकलकर अस्त हो जाती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है।

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस तत्त्व को बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। दूध दुहे जाने पर कुछ समय के उपरान्त जम कर दही बन जाता है, दही से मक्खन तथा मक्खन से घी बना दिया जाता है? यहाँ भिन्न

भिन्न विकारों के सद्भाव में भी वस्तु की एकता का अपलाप नहीं किया जाता। ठीक इसी भाँति किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है, पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। जन्मान्तर ग्रहण में भी यही प्रवाह जारी रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है (मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ४९–५०)। इसी प्रकार अनुभव की वस्तु क्षण-क्षण में परिणाम प्राप्त हो रही है; वस्तु की एकता तदाकार वस्तुओं की एक वीथी है। वास्तविक एकता जगत् में अलभ्य वस्तु है। बुद्ध के इस सिद्धान्त में हम दो विपरीत मतों के समन्वय करने का उद्योग पाते हैं—एक मत सत्ता पर विश्वास करता है तथा दूसरा मत असत्ता पर निश्चय रखता है, पर मध्यम प्रतिपदा के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीचो-बीच में कहीं है। बुद्ध सत्ता तथा असत्ता के बीच 'परिणाम' के सिद्धान्त को मानते हैं। जगत् के सत्य रूप की अवहेलना न करते हुए भी वे उसकी परिणामात्मक व्याख्या करते हैं। इस विश्व में परिणाम ही सत्य है, पर इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। बुद्ध की यह सूझ दार्शनिक जगत् को एक अपूर्व बहुमूल्य देन मानी जाती है। पश्चिम जगत् में 'परिणाम' की सत्यता का सिद्धान्त बुद्ध से अवान्तर काल का है। ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक 'हिरेक्लिटस' ने इस सिद्धान्त को बुद्ध के कई पुश्त पीछे निर्धारित किया तथा फ्रेंच दार्शनिक 'बर्गसों' ने 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' ग्रन्थ में आधुनिक जगत् में इसी सिद्धान्त की मनोरम व्याख्या कर विपुल कीर्ति अर्जित किया है।

धार्मिक विकास

आज कल महायान का प्रचार भारत के उत्तरी प्रदेशों—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान—में पाया जाता है। महायानवादी थेरवाद को अपनी दृष्टि से हेय मान कर उन्हें **'हीनयान'** अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का निकृष्ट मार्ग कहते हैं और अपने सिद्धान्त को **'महायान'** कहते हैं। भारत के दक्षिण तथा पूरब के सिंघल, बरमा, स्याम, जावा आदि प्रदेशों में बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानने वाले 'हीनयान' का प्रचार है।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार त्रिविध यान हैं तथा प्रत्येक यान में जीवन्मुक्ति या बोधि की कल्पना एक दूसरे से नितान्त विलक्षण है—श्रावक बोधि, प्रत्येकबुद्ध

त्रिविध यान

बोधि तथा सम्यक् संबोधि। (१) **श्रावक बोधि** का आदर्श हीनयान को मान्य है। बुद्ध के पास धर्म सीखने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीव को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं है; यदि वह स्वयं आर्य **अष्टांगिक** मार्ग का यथावत् अनुसरण करे, तो संसार की रागद्वेषमयी विषयवागुरा से मुक्ति पा सकता है। श्रावक के लिए चार अवस्थाओं का विधान किया गया है—सोतापन्न (स्रोत आपन्न), सकदागामी (सकृद् आगामी), अनागामी तथा अहरत्त (अर्हत्)। स्रोत आपन्न साधक का चित्त प्रपञ्चमार्ग से एकदम हटकर निर्वाणरूपी स्रोत-प्रवाह में पड़कर आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर होता है। व्यासभाष्य के शब्दों में चित्त-नदी उभयतोवाहिनी है—पाप की ओर भी बहती है, कल्याण की ओर भी बहती है। (**चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च**। योगसूत्र १।१२)। अतः कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल देना प्रथम अवस्था का मूल मन्त्र है। महालिसुत्त (दी० नि० ६ ठा सुत्त) ने तीन संयोजनों (बन्धन—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श) के क्षय होने से फिर पतित न होनेवाले नियत संबोधि की ओर जानेवाले व्यक्ति को '**स्रोत-आपन्न**' कहा है। इसके ४ अंग होते हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, तथा संघानुस्मृति अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ में अत्यन्त श्रद्धा तथा अखण्ड अनिन्दित समाधिगामी कमनीय शीलों का सम्पादन।

संसार के प्रपञ्च में अज्ञानपूर्वक जीवनयापन करने वाला व्यक्ति 'पृथक् जन' कहा जाता है। बुद्ध के ज्ञानरश्मियों से जब साधक का सम्बन्ध हो जाता है तथा

चार अवस्थायें

वह निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'आर्य' है। आर्य को अर्हत् अवस्था तक पहुँचने में चार भूमियों को पार करना होता है। प्रत्येक भूमि में दो दशायें हैं:—मार्गावस्था, फलावस्था। स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को 'गोत्रभू' कहते हैं, जब कामक्षय होने से कामलोक से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तथा साधक रूपलोक की ओर अग्रसर होता है उस समय उसका नवीन (लोकोत्तर) जन्म सम्पन्न होता है। एक क्षण के लिए अनास्रव ज्ञान को पा लेता है। तीन संयोजनों (बन्धनों) के क्षय होने से साधक को सात जन्म से अधिक जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

द्वितीय भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से आरम्भ कर अर्हत् की मार्गदशा तक रहती है। इस भूमि में उसे 'कायसाक्खी' की संज्ञा मिलती है। आस्रव-क्षय

करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है। सकृदागामी संसार में एक ही बार आता है। अनागामी के लिए फिर इस भवचक्र में आने की आवश्यकता नहीं होती। अन्तिम भूमि में आस्रवों का नितान्त क्षय हो जाता है। अतः जीव अर्हत् पद को प्राप्त कर स्वकीय व्यक्तिगत कल्याण साधन में तत्पर हो जाता है। उसे दूसरों को निर्वाण प्राप्त कराने की योग्यता नहीं रहती। श्रावकयान का यही अर्हत् प्राप्ति लक्ष्य है।

(२) **'प्रत्येकबुद्ध'** की कल्पना अर्हत् तथा बोधिसत्त्व के बीच की साधना का सूचक है। जिस व्यक्ति को विना गुरुपदेश के ही स्वस्फूर्ति से बुद्धत्व लाभ हो जाय, उसे कहते हैं—प्रत्येकबुद्ध। बुद्धत्व लाभ हो जाने पर भी उसे दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती। वह तो द्वन्द्वमय जगत् से अलग हट कर निर्जन स्थान में एकान्त वास करता हुआ विमुक्तिसुख का प्रत्यक्ष अनुभव किया करता है।

महायान के मुख्य सिद्धान्तों त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय तथा संभोगकाय); दशभूमि, धर्मशून्यता या धर्मसमता अथवा तथता तथा बोधिसत्त्व—में

बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व के रहस्य को प्रथमतः यथार्थ रूप से निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है। **बोधिसत्त्व** की कल्पना महायान की सबसे बड़ी विशेषता है। 'बोधिसत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (**बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः**)। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण-साधन होता है। बोधिसत्त्व का 'स्वार्थ' इतना विस्तृत होता है कि उसके 'स्व' की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। उसके प्रधान गुण होते हैं—महामैत्री तथा महाकरुणा। विश्व के पिपीलिका से लेकर हस्ती पर्यन्त जीवों में जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद) में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्॥

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का मैंने अर्जन किया है उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो। मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द सागर हिलोरें मारने लगता है वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है?

इस प्रकार हीनयान तथा महायान का परस्पर भेद नितान्त प्रकट है। हीनयान का आदर्श है **अर्हत्** और महायान का आदर्श है **बोधिसत्त्व**। अर्हत् अपने ही निर्वाण की प्राप्ति के लिए सदा उद्योगशील रहता है। 'अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता' के अनुसार हीनयानी का विचार होता है कि मैं एक आत्मा का दमन करूँ; तथा एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी शिक्षा, समग्र साधना इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर रहती है, परन्तु **बोधिसत्त्व** का लक्ष्य केवल अपने को ही निर्वाण में प्रतिष्ठित कराना नहीं होता; प्रत्युत सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है। हीनयान कोरा निवृत्तिमार्ग है, इसके विपरीत महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान में केवल ज्ञान का ही साधन के लिए प्राधान्य है, परन्तु महायान में भक्ति की विशिष्टता है। बुद्ध के मूर्ति की स्थापना और भक्ति के द्वारा उसकी पूजा अर्चना महायान में प्रमुख स्थान रखती है। इस प्रकार दोनों मार्गों का लक्ष्य तथा साधनक्रम नितान्त भिन्न है।

निष्कर्ष—महायान सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे प्रवृत्तिप्रधान तथा भक्ति-भावान्वित बनाकर मानवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना दिया। हीनयान में शुष्क ज्ञान की ही प्रधानता थी, परन्तु महायान ने भक्तिभाव को आश्रय देकर जीवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के नैसर्गिक विकास के लिए अवसर प्रदान किया। बौद्धधर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में भी होता ही गया। वैपुल्यवादियों ने मन्त्र-तन्त्र की ओर विशेष अभिरुचि दिखलायी थी। इनके प्रधान आचार्य तान्त्रिकशिरोमणि नागार्जुन की गुह्य शिक्षाओं ने महायान का रूप परिवर्तन कर दिया। 'मञ्जु श्रीमूलकल्प' में मन्त्र-तन्त्रों का पर्याप्त विधान है। भोट ग्रन्थों का कहना है कि 'धान्यकटक' तथा 'श्रीपर्वत' के प्रान्त में 'मन्त्रयान' का उदय हुआ। आगे चलकर इसी मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिससे मद्य, मन्त्र, हठयोग आदि तान्त्रिक आचारों का विपुल प्रचार हुआ। अविनाशी, अच्छेद्य तथा अभेद्य होने से 'शून्यता' ही वज्र का वाच्यार्थ है।

दृढं सारमसौ शौर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥
(वज्रशेखर)।

वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है, पर आचार में तान्त्रिक क्रिया-कलाप की बहुलता है। इस प्रकार वज्रयान तान्त्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप है। यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर भारतेतर प्रदेशों तथा पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का प्रधान बना।

(४) दार्शनिक विकास

पहले कहा गया है कि बुद्ध ने तत्त्वों के ऊहापोह को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बतलाकर अपने शिष्यों को इन व्यर्थ के बकवादों से सदा रोका, पर हुआ वही, जिसके विरुद्ध वे उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध के उपदेशों के तह में पहुँचकर विशेष सूक्ष्म विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकाला। तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपना बदला खूब चुकाया। धर्म एक कोने में पड़ा रह गया और तत्त्वज्ञान की तूती बोलने लगी।

तार्किक विकास

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है, पर ब्राह्मण दार्शनिकों ने इन भेदों पर दृष्टिपात न कर बौद्धदर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा है। चारों सम्प्रदायों के नाम हैं :—

(१) **वैभाषिक**— बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद
(२) **सौत्रान्तिक**—बाह्यार्थानुमेयवाद
(३) **योगाचार**—विज्ञानवाद
(४) **माध्यमिक**—शून्यवाद

यह श्रेणिविभाग 'सत्ता' विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर ही किया गया है। 'सत्ता' की मीमांसा करने वाले दर्शन चार ही हो सकते हैं। व्यवहार के आधार पर ही परमार्थ का निरूपण आरम्भ किया जाता है। स्थूल से सूक्ष्म विवेचन की ओर बढ़ने से पहला मत उन दार्शनिकों का होगा जो बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। बाह्य वस्तु का व्यावहारिक जगत् में अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष-

रूपेण सत्य मानने वाले बौद्धों को **वैभाषिक** कहते हैं। दूसरा मत बाह्यार्थ को प्रत्यक्षसिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है। इस मत के अनुयायी **सौत्रान्तिक** कहे जाते हैं। तीसरा मत बाह्य, भौतिक जगत् का नितान्त मिथ्यात्व स्वीकार कर चित्त को ही एकमात्र सत्य पदार्थ मानता है। यह मत विज्ञानवादी **योगाचार** दार्शनिकों का है। चौथा मत वह है जो चित्त की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करता। उसके मन्तव्यानुसार न बाह्यार्थ है और न विज्ञान है; प्रत्युत शून्य ही परमार्थ सत्य है। ये शून्याद्वैत के अनुयायी हैं। इस समस्त जगत् की सत्ता प्रातिभासिक (सांवृतिक) है, शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। इस मत के अनुयायी शून्यवादी **माध्यमिक** कहे जाते हैं। अतः 'सत्' के विषय में ही विभिन्न कल्पना-चतुष्टय के आधार पर जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन को चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

इन चारों मतों के स्वरूप को प्रथमतः संक्षेप में समझने की आवश्यकता है—

वैभाषिक—इस मत के अनुसार जिस जगत् का अनुभव हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा हो रहा है उसकी 'बाह्यसत्ता' अवश्यमेव है। हमारे भीतर चित्त की भी सत्ता स्वतन्त्ररूप से है। बाहरी पदार्थों की सत्ता चित्तनिरपेक्ष है, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों की सहायता से बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्षरूप से मानते हैं। बाह्य तथा आन्तर पदार्थ स्वतन्त्र रूप से पृथक् सत्ता धारण करते हैं।

सौत्रान्तिक—इनका कहना है कि 'बाह्यसत्ता' है तो अवश्य, परन्तु उसका ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से नहीं होता। जब समग्र पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। जिस क्षण में किसी भी पदार्थ का हमारी इन्द्रियों के साथ सम्पर्क घटित होता है, वह पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर अतीत हो चुका रहता है, केवल उससे उत्पन्न संवेदन शेष रहता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों का नीला, पीला, या काला चित्र चित्त के ऊपर खिंच जाता है। चित्त को इसी का ज्ञान होता है और इनके द्वारा वह इनके उत्पादक बाहरी पदार्थों की सत्ता का अनुमान करता है। फलतः बाहरी पदार्थों की सत्ता प्रत्यक्ष से सिद्ध न होकर अनुमान के द्वारा गम्य है। यही है सौत्रान्तिकों की **बाह्यार्थ** की **अनुमेयता** का सिद्धान्त। इस मत में चित्त के आकारों के द्वारा ही बाह्य पदार्थों का अनुमान होता है, उनकी चित्त-निरपेक्ष सत्ता नहीं है। फलतः ये दोनों ही **सर्वास्तिवादी** हैं। दोनों मतों में "सर्व है' (सर्वम् अस्ति) का सिद्धान्त मान्य है। अन्तर इतना ही है कि

वैभाषिक मत में बाह्यसत्ता **चित्तनिरपेक्ष** है, परन्तु सौत्रान्तिक मत में बाह्यसत्ता **चित्तसापेक्ष** है।

विज्ञानवाद—विज्ञानवाद सत्ता की मीमांसा में एक पग आगे बढ़कर आता है। यह बाह्यसत्ता को कथमपि नहीं मानता। अन्ततः बाह्यसत्ता का पता ही कैसे चलता है हमको? चित्त में होने वाले समय-समय पर उत्पन्न होने वाले आकारों के ज्ञान द्वारा ही तो। ऐसी दशा में ज्ञान की सत्ता मानना ही तर्कसंगत सिद्धान्त है। यदि बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है, तो ज्ञान ही वास्तव सत्ता है। **विज्ञान** (या विज्ञप्ति) ही एकमात्र परमार्थ है। विज्ञान के ही चित्त, मन तथा विज्ञप्ति अन्य पर्याय हैं। एक ही वस्तु विभिन्न नामों के द्वारा अपनी क्रिया के भेद के कारण भिन्न भिन्न शब्दों से पुकारी जाती है। चेतनक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण यह **'चित्त'** कहलाता है; मननक्रिया करने से वही **'मन'** है, तथा विषयों के ग्रहण करने में कारण होने से वही **'विज्ञान'** शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। 'आलयविज्ञान' भी विज्ञान का ही एक प्रकार है। योगाचार दार्शनिकों का यही मत है।

शून्यवाद—माध्यमिक लोग न तो बाह्यार्थ को मानते हैं और न विज्ञान को ही। उनकी दृष्टि में **शून्य** ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द नहीं है; प्रत्युत यह अनिवर्चनीय तत्त्व का द्योतक है, जो न सत् है, न असत् है, न सदसद् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण यह परमार्थ **'शून्य'** नाम से अभिहित किया जाता है।

इस प्रकार 'प्रत्यक्ष बाह्यसत्ता' से 'अनुमेय बाह्यसत्ता' पर हम आते हैं। तदनन्तर 'विज्ञानमात्र सत्ता' से आगे बढ़कर हम 'शून्य' में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन में निःस्वभाव, अनिर्वचनीय, अलक्षण आदि शब्दों के द्वारा निरूपित **'शून्य'** ही परम तत्त्व है। इस स्थान पर पहुँचना ही बौद्ध-साधना का अन्तिम फल है।

इन मतों के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी सुन्दर रीति से इस श्लोक में किया गया है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगद्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है, तथा अन्य तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है, क्योंकि सत्ता-विषयक प्रश्न को लेकर मतभेद होने पर भी ये महायान के समस्त सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। तत्त्व-समीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है तो योगाचार-माध्यमिक दूसरे छोर पर टिके हुए हैं। सौत्रान्तिक का स्थान इन दोनों के बीच का है, क्योंकि कतिपय अंश में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, पर अन्य सिद्धान्तों में वह योगाचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्त्वपूर्ण विषय पर भी इन मतों की विशेषता निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है—

वैभाषिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य, निर्वाण असत्य।
सौत्रान्तिक	संसार सत्य, निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य, निर्वाण सत्य।

बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास भी अत्यन्त रोचक है। विक्रम के पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष बौद्ध दर्शन की स्थिति का महत्त्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्ध आचार्य बुद्ध धर्म के तीन बार परिवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे **'त्रिचक्र'** के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग पाँच सौ वर्ष का माना जा सकता है।

ऐतिहासिक विकास

पहले काल-विभाग में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धान्त प्रधान था। बाह्य आयतन या विषय के अस्तित्व का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूल-सत्ता-विहीन एक क्षणिक परिणाममात्र, सन्तानमात्र है। पारस्परिक कार्य-कारणभाव की सत्ता मानी जाती थी। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर 'अर्हत्' पद की प्राप्ति ही मानवमात्र का कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वरूप का परिचय हमें वैभाषिक मत में उपलब्ध होता है।

दूसरा काल-विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पञ्चम शताब्दी तक था। पुद्गल-शून्यता के स्थान को सर्वधर्म-शून्यता या धर्म-नैरात्म्यवाद ने ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत कल्याण की जगह विश्व-कल्याण की उन्नत भावना विराजने लगी। इस नवीन बौद्ध मत ने जगत् की सत्ता का एकदम तिरस्कार न कर उसे परमार्थ दृष्टि से आभासमात्र माना। आर्य सत्य की जगह द्विविध सत्यता (सांवृतिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया। मूल

बौद्धधर्म के बहुत्ववाद के स्थान पर अद्वैतवाद (शून्याद्वैतवाद) के सिद्धान्त को प्रश्रय दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिभ चक्षु ही कर सकता है। अतः तर्क बुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के संकीर्ण आदर्श ने पल्टा खाया और बोधिसत्त्व के उदार भाव ने विश्व के प्राणियों के सामने उन्नति तथा परमानन्द-प्राप्ति का मंगलमय आदर्श समुपस्थित किया। 'मानव बुद्ध' के स्थान पर 'लोकोत्तर बुद्ध' का सिद्धान्त लाया गया। बौद्ध दर्शन का यह विकास **'शून्यवाद'** के नाम से पुकारा जाता है।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। न्याय की उन्नति होना इस समय का प्रधान दार्शनिक कार्य था। सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसके स्थान पर विज्ञान-चैतन्य-चित्त की सत्यता मानी गई। बाह्यार्थ का निषेध स्वीकार कर समग्र प्रपञ्च चित्त का विविध परिणाममात्र माना गया। विषयीगत प्रत्ययवाद का सिद्धान्त विद्वज्जन मान्य हुआ, परन्तु इस नवीन दर्शन की एक विलक्षण कल्पना थी आलय-विज्ञान की। विज्ञानवाद के आदिम आचार्य असंग और वसुबन्धु को यह कल्पना मान्य थी, पर उनकी शिष्य-मण्डली (दिङ्नाग आदि) ने आलयविज्ञान को आत्मा का ही निगूढ़ रूप बतलाकर न्यायपद्धति से इसका खण्डन किया। बौद्ध दर्शन का यह तृतीय विकास विज्ञानवाद या योगाचार के नाम से विख्यात है। इसके बाद बौद्ध दर्शन में मौलिक कल्पना का अभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पुरानी कल्पना ही नवीन रूप धारण करने लगी। अतः दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व की बात नहीं हुई। एक बात ध्यान देने योग्य है कि शून्यवाद का उदय न नागार्जुन से हुआ, न विज्ञानवाद का उदय मैत्रेय से। ये मत प्राचीन महायानसूत्रों के आधार पर अवान्तर शताब्दियों में इन आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित किये गये। शून्यवाद की झलक 'प्रज्ञापारमितासूत्र' में तथा विज्ञानवाद का आभास 'लंकावतारसूत्र' में उपलब्ध होता है। अश्वघोष (प्रथम शतक) कृत 'महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र' में **'भूततथता'** के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

(बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास[1])

समय विभाग	प्रथम		मध्यम		अन्तिम	
	विक्रमपूर्व ५००–१ विक्रमी		विक्रमी १–५००		विक्रमी ५००–१०००	
मुख्य सिद्धान्त	बहुत्ववाद (पुद्गल शून्यता)		अद्वैतवाद (सर्वधर्म-शून्यता)		प्रत्ययवाद (बाह्यार्थ-शून्यता)	
	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत	गरम मत	नरम मत
सम्प्रदायवादी	सर्वास्तिवादी	वात्सी पुत्रीय	प्रासंगिक	स्वातन्त्रिक	आगमानुसारी	न्यायवादी
			माध्यमिक			
आचार्य	कात्यायनीपुत्र और संघभद्र		नागार्जुन तथा आर्यदेव	भव्य	असंग तथा वसुबन्धु	दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति

१ द्रष्टव्य डा० चेरवास्की (Dr. Stcherbatsky)—बुधिस्ट लाजिक, भाग प्रथम, पृष्ठ १४ ।

(क) वैभाषिक मत

इन चारों सम्प्रदायों में आचार्यों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। बौद्ध दर्शन की ग्रन्थ सम्पत्ति बड़ी विशाल, मौलिक तथा मूल्यवान् है, परन्तु आजकल संस्कृत मूल के अभाव में तिब्बती तथा चीनी अनुवादों से ही सन्तोष करना पड़ता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' है, जिसका कात्यायनीपुत्र ने बुद्ध-निर्वाण के तीन सौ वर्ष पीछे निर्माण किया था। इस

साहित्य

विपुलकाय ग्रन्थ में ८ परिच्छेद, ४४ वर्ग तथा १५ हजार श्लोक थे। संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, परन्तु चौथी तथा सातवीं शताब्दी (हुएनच्वांगकृत) के चीनीभाषा के अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कनिष्क के समय चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म - विभाषाशास्त्र' के नाम से एक भाष्यग्रन्थ की रचना की गई। मूल संस्कृत का यहाँ भी अभाव है, परन्तु तिब्बती तथा चीनी (हुएन-च्वांगकृत) अनुवाद प्राप्त हैं। इसी 'विभाषा' के आधार पर प्रतिष्ठित होने से इस सम्प्रदाय का नाम **'वैभाषिक'** पड़ा।

(१) **'वसुबन्धु'** का 'अभिधर्मकोश' काश्मीर-वैभाषिकों की परम आदरणीय, प्रामाणिक तथा मौलिक रचना है। अपनी विद्वत्ता, उन्नत आचरण, प्रकाण्ड आचार्यत्व के कारण इनका नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में एक गौरवास्पद वस्तु है। अपने जीवन के आरम्भिक काल में ये वैभाषिक थे, परन्तु पीछे अपने जेठे भाई असंग के उपदेश से विज्ञानवादी हो गए। पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिकगोत्री एक ब्राह्मण के तीन पुत्रों में ये मध्यम पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में इन्होंने अयोध्या को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। यहीं स्थविर बुद्धमित्र के द्वारा हीनयान में दीक्षित होकर प्रतिपक्षियों को विवाद में परास्त कर इन्होंने अपनी वावदूकता, विद्वत्ता तथा शास्त्रनिपुणता का पर्याप्त परिचय दिया। कुमारजीव ने ४०१–४०९ ई० के बीचोबीच वसुबन्धु का पुण्य चरित लिखा। इनका समय अनेक अकाट्य प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शतक (२८०--३६० ई०) माना जाता है। इनका वैभाषिक विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है, जिसकी विमल ख्याति तिब्बत, चीन, जापान तथा मंगोलिया में आज भी अक्षुण्ण है, जहाँ यह ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय स्तोत्रों के समान कण्ठ किया जाता है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः' लिखकर ब्राह्मणों में भी इस ग्रन्थ की महत्ता का निदर्शन उपस्थित किया है। इसकी अनेक टीकाओं में

स्थिरमति (तत्त्वार्थ), दिङ्नाग (मर्मप्रदीप), यशोमित्र (स्फुटार्था) की टीकायें प्रामाणिक तथा बहुमूल्य मानी जाती हैं। यशोमित्र ने अनुमति तथा वसुमित्र की व्याख्याओं को अपना उपजीव बतलाया है (स्फुटार्था श्लो० ५)। अतः ये टीकायें निःसन्दिग्ध नितान्त प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं। डाक्टर पुसें ने अश्रान्त घोर परिश्रम कर कोश के मूल का उद्धार किया है, तथा चीनी अनुवाद को फ्रेंच भाषा में पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियों के साथ अनेक भागों में प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त परमार्थसप्तति (सांख्यसप्तति का खण्डन), तर्कशास्त्र तथा वादविजि वसुबन्धु के बौद्ध न्याय के माननीय ग्रन्थ हैं।

(२) संघभद्र (चतुर्थ शतक) बसुबन्धु के प्रतिस्पर्धी बौद्धाचार्य थे। वसुबन्धु के मतों का खण्डन करने के लिए इन्होंने 'कोशकरका' का निर्माण किया, जिसमें कोश के मन्तव्यों का सप्रमाण खण्डन है। 'समय-प्रदीपिका' वैभाषिक सिद्धान्तों का सार ग्रन्थ है। 'करका' में ७ लक्ष श्लोक थे, प्रदीपिका में १० हजार। हुएनच्वांगकृत इनके चीनी अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं।

बौद्ध दर्शन के स्वरूप को जानने के लिए 'धर्म' शब्द का अर्थ जानना जरूरी है। 'धर्म' की दार्शनिक मीमांसा अनेक अर्थों में की गई है। सामान्यतः **धर्म** से अभिप्राय भूत (बाहरी) तथा चित्त (भीतरी) के सूक्ष्म तत्त्वों से है, जिनका पृथक्करण और नहीं किया जा सकता। धर्मों के आघात-प्रतिघात से ही यह

सिद्धान्त

विचित्र जगत् उत्पन्न होता है। यह विश्व बौद्धदर्शन के अनुसार धर्मों का परस्पर मेल से होने वाला एक संघातमात्र है। ये धर्म अत्यन्त सूक्ष्म तथा सत्तात्मक होते हैं। इनकी सत्ता के विषय में प्रथम तीन मतों में कोई अन्तर नहीं है। केवल संख्या के विषय में ही भिन्नता मानी जाती है। जगत् में जितने धर्म हैं, वे सब 'हेतु' से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत (बुद्ध) ने बतलाया है, तथा इनके 'निरोध' को भी कहा है। इस प्रकार धर्म, उनके हेतु तथा उनके निरोध का ज्ञान ही बुद्ध धर्म का सार है।

वैभाषिकों के मतानुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है; इनकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। बाह्य और आभ्यन्तर द्विविध भेद की कल्पना कर वैभाषिक भौतिक तथा मानसिक जगत् दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। वस्तु-विभाग दो प्रकार से किया जाता है—विषयीगत तथा विषयगत। विषयीगत विभाजन पद्धति से समस्त पदार्थ तीन प्रकार से बाँटे जा सकते हैं :—

(१) **पञ्चस्कन्ध**—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

(२) **द्वादस आयतन**—आयतन अनुभव के साधनभूत द्वार को कहते हैं। इनकी संख्या बारह है—षट् इन्द्रिय तथा षट् विषय। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन—इन इन्द्रियों को अभ्यतन्तरवर्ती होने के कारण 'अध्यात्म-आयतन' तथा उनके विषयभूत रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य तथा धर्म आयतन (अतीन्द्रिय) को बाह्य आयतन कहते हैं।

(३) **अष्टादश धातु**—जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह या सन्तान निष्पन्न होता है उन्हें **'धातु'** कहते हैं। इन धातुओं की संख्या १८ है जिसमें आदिम द्वादश ऊपर निर्दिष्ट आयतन हैं तथा नवीन धातुओं में चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु तथा मनोविज्ञानधातु की गणना की जाती है।

विषयगत विभाजन—यह त्रैधातुक जगत् दो प्रकार के धर्मों का समुच्चय है। वैभाषिक लोग प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को **'धर्म'** कहते हैं। अभिधर्म कोश (प्रथम कोशस्थान) के अनुसार धर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) सास्रव (मलसहित) तथा (२) अनास्रव (मलरहितविशुद्ध)। मलसहित धर्मों की दूसरी संज्ञा **'संस्कृत'** है। हेतु तथा प्रत्यय से उपन्न धर्मों को **'संस्कृत'** कहते हैं, अर्थात् संस्कार वाले धर्म। रागद्वेष आदि मलों के आश्रय होने से **'सास्रव'** भी कहे जाते हैं। अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाले (अत एव अनित्य), पदार्थ **'संस्कृत'** हैं (संस्कृतं क्षणिकं यतः)।

असंस्कृत को अनास्रव (विशुद्ध) तथा मार्गसत्य कहते हैं। ये धर्म हेतु-प्रत्यय जनित न होने से नित्य हैं। अतः असंस्कृत से अभिप्राय नित्य धर्मों से है, जो तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) **आकाश**—यह निर्विशेष, अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक, सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नहीं होता, यह भौतिक वस्तु नहीं है; प्रत्युत स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ है। आवरणाभाव आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं है। आकाश को अभावात्मक मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों का खण्डन औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। भावपदार्थ मानने के कारण कमलशील ने तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका में वैभाषिकों को बौद्ध मानने में संशय प्रकट किया है।

(२) **प्रतिसंख्यानिरोध**—प्रतिसंख्या (प्रज्ञा) के द्वारा उत्पन्न सास्रव धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग (प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक्—अभि० को० १।६) यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी सास्रव धर्म के विषय में

राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय तो उस धर्म के लिए प्रतिसंख्या-निरोध का उदय होता है।

(३) **अप्रतिसंख्यानिरोध**—विना प्रज्ञा के ही निरोध। जिस वस्तु का अप्रतिसंख्यानिरोध होता है, वह भविष्य में उत्पन्न नहीं होती। प्रतिसंख्यानिरोध से 'आस्रव-क्षय ज्ञान' उदित होता है, अर्थात् समस्त मलों के नाश होने का ज्ञान उत्पन्न होता है, भविष्य में उनके उत्पत्ति की संभावना रहती है। यह 'अनुत्पाद ज्ञान' अप्रतिसंख्यानिरोध का फल है जिसमें भविष्य में रागादिकों की कथमपि उत्पत्ति न होने से जीव भवचक्र से मुक्ति लाभ करता है।

संस्कृत धर्म के भेद

संस्कृत धर्म के चार मुख्य भेद हैं—रूप, चित्त, चैतसिक तथा चित्त-विप्रयुक्त। इनमें **रूपधर्म** ११ प्रकार का होता है, **चित्तधर्म** (मन या विज्ञान) एक ही प्रकार का माना जाता है, **चैतसिक** ४६ प्रकार के तथा चित्तविप्रयुक्त धर्म १४ प्रकार के होते हैं। इन चारों प्रकारों का सम्मिलित भेद ७२ होता है।

(१) **रूप**—रूप का अर्थ है—भूत अर्थात् वह धर्म जो रूप धारण करे। रूप वह पदार्थ है जो अवरोध उत्पन्न करता है। रूप एकादश प्रकार का होता है, जिसमें पाँच बाह्य इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा काय) तथा पाँच इनके विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्प्रष्टव्य) मिलकर दस भेद होते हैं। अन्तिम भेद है—अविज्ञप्ति। वसुबन्धु के अनुसार **अविज्ञप्ति** कर्म का एक भेद है। चेतनाजन्य कर्म दो प्रकार के होते हैं—कुछ कर्मों का फल तुरन्त प्रकट होता है **(विज्ञप्ति)**, परन्तु कुछ कर्मों का फल सद्यः अभिव्यक्त न होकर कालान्तर में प्रकट होता है। इन्हीं कर्मों का नाम **'अविज्ञप्ति'** है। यह वस्तुतः कर्म न होकर कर्म का फल है, भौतिक न होकर नैतिक है। कोई व्यक्ति किसी व्रत का अनुष्ठान करता है, तो यह हुआ **विज्ञप्ति-कर्म**, परन्तु उस व्रत के अनुष्ठान से उस व्यक्ति का विज्ञान गूढ़रूप से शोभन तथा सुन्दर बन जाता है। इसी का नाम है—**अविज्ञप्ति-कर्म**। इस प्रकार अविज्ञप्ति वही तत्त्व है जिसे वैशेषिक **'अदृष्ट'** के नाम से और मीमांसक **'अपूर्व'** के नाम से पुकारते हैं।

(२) **चित्त**—साधारण रूप से हम जिसे 'जीव' कहते हैं, उसे ही बौद्ध लोग 'चित्त' की संज्ञा देते हैं। चित्त की सत्ता तभी तक है जब तक इन्द्रियों तथा उनके विषयों में घात-प्रतिघात होता रहता है। चित्त, मन तथा विज्ञान समानार्थक शब्द हैं। मन की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से होने के कारण इसका अर्थ है—नापने वाला या किसी वस्तु का निश्चय करने वाला। **'चित्त'** का अर्थ है किसी

वस्तु का सामान्य ज्ञान (आलोचनमात्र या निर्विकल्पक ज्ञान)। यही चित्त जब वस्तुओं के ग्रहण में प्रवृत्त होता है, तब इसे **'विज्ञान'** कहते हैं। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह कार्य कारण के नियमानुसार नवीन रूप धारण करता है। चित्त वस्तुतः एक ही धर्म है, परन्तु आलम्बनों की भिन्नता के कारण वह सात प्रकार का होता है।

(३) **चैतसिक** (या चैत्त धर्म)—चित्त से सम्बन्ध रखने वाले धर्म या संस्कार चैतसिक या चित्तसंप्रयुक्त के नाम से पुकारे जाते हैं। ये विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले धर्म गणना में ४६ माने जाते हैं।

(४) **चित्त-विप्रयुक्त** धर्म—जिन धर्मों का समावेश न तो भौतिक-धर्मों के भीतर किया जाता है और न चैत्त धर्मों में ही, उन्हें ही इस नाम से पुकारते हैं। इनका विस्तृत तथा अन्वर्थक नाम है—**रूपचित्त-विप्रयुक्त** अर्थात् रूप और चित्त दोनों से पृथक् रहने वाले धर्म। इनकी संख्या १४ है।

एक बात ध्यान देने की है, धर्म के ऊपर वर्णित ७५ भेद सर्वास्तिवादियों के अनुसार हैं। स्थविरवादियों के मत में प्रथम तीन ही भेद मान्य हैं, जिनके प्रकारों की सम्मिलित संख्या १७० है, तथा विज्ञानवादियों के अनुसार यह संख्या पूरी एक शती है[1]।

इस प्रकार समस्त धर्मों की संख्या (संस्कृत ७२ + असंस्कृत ३) ७५ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये ही चार भूत हैं; आकाश भूत नहीं है। पृथिव्यादि भूत-चतुष्टय के अन्तिम उपादान **'अणु'** हैं, जो चार प्रकार के होते हैं। पार्थिव परमाणु कठिन स्वभाव, जलीय स्निग्ध, तैजस उष्ण तथा वायवीय चलन-स्वभाव के होते हैं। परमाणु षट्कोणात्मक होते हैं।

ज्ञान के साधन दो प्रकार के होते हैं—ग्रहण और अध्यावसाय। ग्रहण के द्वारा पदार्थ के सामान्य रूप का ज्ञान होता है। वस्तु को नाम-जाति आदि योजना (कल्पना) से संयुक्त करना **अध्यवसाय** कहलाता है। 'इस पदार्थ का नाम गौ है, तथा यह काले रंग की है' इस प्रकार के विशेष ज्ञान को **'अध्यवसाय'** कहते हैं। यह निश्चयात्मक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। ग्रहण तथा अध्यवसाय का भेद न्याय के निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के अनुरूप ही है।

---

१. इस तुलनात्मक विवरण के निमित्त देखिये—बलदेव उपाध्याय रचित 'बौद्धधर्ममीमांसा' पृष्ठ १८७-२०२ (द्वितीय संस्करण, १९२४)

वैभाषिकों के अनुसार **निर्वाणधातु** दो प्रकार का होता है—सोपधिशेष तथा निरुपधिशेष। कुछ लोग सोपधिशेष को सास्रव, संस्कृत, कुशल आदि बतलाते हैं और निरुपधिशेष को अनास्रव, असंस्कृत, अव्याकृत, परन्तु दोनों ही अनास्रव, असंस्कृत तथा अव्याकृत हैं। आस्रवक्षय होने पर भी जो अर्हत् जीवित रहते हैं, उनके पञ्च-स्कन्ध से उत्पन्न अनेक विज्ञान शेष रहते हैं; अतः उसकी दशा का नाम है **सोपधिशेष दशा**; परन्तु शरीरपात होने पर, संयोजन-क्षय होने पर, समस्त उपाधियों के हटने से **निरुपधिशेष** निर्वाण होता है। अतः इन दोनों निर्वाणों में वही अन्तर है जो वेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति में है।

निर्वाण

(ख) सौत्रान्तिक मत

हीनयान के दार्शनिक दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। सौत्रान्तिक दार्शनिक 'अभिधर्म' को बुद्धरचित न होने के कारण अप्रामाणिक मानते हैं। तथागत के आध्यात्मिक उपदेश सुत्तपिटक के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तों) में सन्निवेशित हैं। अभिधर्म बुद्ध की रचना न होने से भ्रान्त हो सकता है, परन्तु सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के भण्डार होने से नितान्त प्रामाणिक हैं। इस मत की यही मान्यता है। अतः इस सम्प्रदाय का नामकरण 'सौत्रान्तिक' है[1]। 'दार्ष्टान्तिक' सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों की एक शाखा है।

नामकरण

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है, क्योंकि सौत्रान्तिकों के प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में विशेषतः उपलब्ध होते हैं। **वसुबन्धु** ने अभिधर्मकोश के स्वरचित भाष्य में वैभाषिकों के अनेक मुख्य सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका खण्डन किया है। ये खण्डन संभवतः सौत्रान्तिक दृष्टि-बिन्दु से किये गये हैं। अतः वैभाषिक **संघभद्र** ने वसुबन्धु-प्रदर्शित दोषों के निराकरण के लिए 'समय-प्रदीपिका' तथा 'न्यायानुसार' की रचना की, परन्तु सौत्रान्तिक यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्था'

---

१. कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिकाः, न तु शास्त्रप्रमाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः। (यशोमित्रः—स्फुटार्था, पृ० १२)

वृत्ति अभिधर्मकोश पर लिखी है। यही कारण है कि दोनों सम्प्रदायों के मत साथ-साथ उल्लिखित मिलते हैं।

आचार्य

सौत्रान्तिक के चार विशिष्ट आचार्यों का उल्लेख मिलता है—(१) **कुमारलात**—हुएनच्वांग (६५० ई०) के कथनानुसार सौत्रान्तिक मत के स्थापक **कुमारलात** ही थे। इनका समय द्वितीय शतक का उत्तरार्ध तथा तृतीय शतक का प्रथमार्ध माना जाता है। इस प्रकार ये नागार्जुन के समसामयिक थे। 'कल्पना मण्डितिका' इनकी एकमात्र रचना है जिसमें धार्मिक कथाओं का गद्य-पद्य में वर्णन है। (२) **श्रीलात**—कुमारलात के शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने 'विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु दुर्भाग्य-वश यह अभी तक अप्राप्त है। 'निर्वाण' के विषय में श्रीलात या श्रीलब्ध का अपना विशिष्ट मत था[1]। (३) **धर्मत्रात** तथा (४) **बुद्धदेव** के विशिष्ट सिद्धान्तों के निर्देश अनेक वैभाषिक ग्रन्थों में किये गये हैं। अभिधर्मकोश (५।२६) की टीका में इन आचार्यों के काल-विषयक मतों का उल्लेख आदर के साथ किया गया है। धर्मत्रात की सम्मति में भाववैसादृश्य (भावान्यथात्व) के कारण और बुद्धदेव के विचारानुसार अन्यथान्यथात्व के कारण भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में भेद का समर्थन किया जा सकता है; वास्तविक रूप से वर्तमान-काल की ही सत्यता है। (५) **वसुमित्र** ने अष्टादशनिकायों के विस्तृत वर्णन के लिए 'समभेदउपरचनचक्र' नामक पुस्तक लिखी है। (६) **यशोमित्र** अभिधर्मकोश की स्फुटार्था वृत्ति (पृ० १२) के प्रमाण पर सौत्रान्तिक मत के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं।

---

१. कुमारलात के एक दूसरे शिष्य हरिवर्मा ने 'सत्यसिद्धि सम्प्रदाय' की स्थापना की। इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' की कुमारजीव (४०३ ई०) कृत चीनी भाषानुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इसका समय तृतीय शतक का मध्यकाल माना जा सकता है। सत्यसिद्धि सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त 'सर्वधर्मशून्यता' है। सर्वास्तिवादी लोगों के विपरीत ये लोग पञ्चस्कन्धात्मक वस्तु के अभाव के साथ साथ रूपादि स्कन्धों की भी अनित्यता मानते थे, परन्तु अन्य सिद्धान्त हीनयान के ही थे। अतः सत्यसिद्धि सम्प्रदाय हीनयान-सम्मत शून्यवाद का प्रचारक था। इसका विवरण श्री यामाकामी सोगन ने 'सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थाट' (पृ० १७२-१८५) में किया है।

सौत्रान्तिकों के मुख्य सिद्धान्त संक्षेपरूप से अब दिए जाते हैं[1]—(१) काल के विषय में ये लोग वर्तमान काल की सत्यता तो मानते थे, परन्तु भूत एवं भविष्य काल की सत्ता काल्पनिक तथा निराधार स्वीकार करते थे। इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद था। वैभाषिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्हें 'सर्वास्तिवादी' कहते हैं (अभि० को० २।२५)। धर्मत्रात तथा बुद्धदेव के कालभेद विषयक मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

सिद्धान्त

(२) ज्ञान के विषय में ये स्वतः प्रामाण्यवादी थे। जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं-प्रकाश्य है। स्वसंवित्ति या स्वसंवेदन का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों को भी अभिमत है। (३) वैभाषिकों के विरुद्ध ये लोग बाह्य जगत् की सत्ता को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय बतलाते हैं; जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष असम्भव है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ में चली गई रहती है, केवल उससे उत्पन्न विज्ञान ही शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीलपीतादि बुद्धिवाले चित्र मन पर खिंच जाते हैं, इन्हीं चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक बाह्य पदार्थों की सत्ता का अनुमान किया जाता है[1]। अतः बाह्यार्थ की सत्ता प्रत्यक्ष-गोचर न होकर अनुमान-सिद्ध है। (४) बाह्य वस्तु सत् है, परन्तु इसके आकार के विषय में सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कतिपय सौत्रान्तिकों की सम्मति में पदार्थ स्वयं **'आकार'** रखता है, परन्तु सामान्यतः सौत्रान्तिकों के कथनानुसार पदार्थ में आकारनिवेश चित्त से विनिर्मित है। अर्थात् वस्तु में अपना खास कोई आकार नहीं होता, बल्कि चित्त ही यह आकार उन पर रखता है। एक तीसरे मत में वस्तु का आकार उभयात्मक होता है। (५) **परमाणुवाद** के विषय में सौत्रान्तिकों का विशिष्ट मत था। परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव होता है। परमाणु स्वयं निरवयव होते हैं, अतः स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा में एक परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर एक हो जायेंगे (तादात्म्य)। अतः परमाणुओं का संघात परमाणु से परिमाण में अधिक न हो सकेगा। परमाणु

---

१. द्रष्टव्य डा० पुसें का सौत्रान्तिक शीर्षक लेख-इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स, भा० ११, पृ० २१२-२१४।

निरन्तर होते हैं, दोनों के बीच अन्तर या अवकाश नहीं होता। (६) विनाश का कोई हेतु नहीं है, समस्त पदार्थ स्वभाव से ही विनाश-धर्मशील हैं; वे अनित्य नहीं हैं, बल्कि क्षणिक हैं। उत्पाद का अर्थ है—अभूत्वा भावः (सत्ता धारण न करने के अनन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश सत्ताहीन पदार्थ हैं, वस्तुतः सत्य नहीं है। क्रिया, वस्तु तथा क्रियाकाल–तीनों में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु असत् से उत्पन्न होती है, एक क्षण तक रहती है और फिर लीन हो जाती है, तब भूत तथा भविष्य की सत्ता क्यों मानी जाय ? (७) निर्वाण के विषय में श्रीलात का विशिष्ट मत था कि प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध में कोई अन्तर नहीं है। प्रतिसंख्यानिरोध से अभिप्राय है प्रज्ञानिबन्धन भाविक्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रज्ञा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना। अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ क्लेश-निवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति है। क्लेशों की निवृत्ति के ऊपर ही दुःख या संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित रहती है; अतः क्लेशानुदय दुःखाभाव का कारण है। श्रीलब्ध की यही निर्वाण-कल्पना है।

मत का निष्कर्ष

विज्ञानवाद ज्ञान की सत्ता अंगीकार करता है, परन्तु ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की सत्ता क्यों कर प्रमाणित हो सकती है ? विज्ञानवादियों का यह कथन है कि विज्ञान ही बाह्य वस्तु के समान प्रतीत होता है और बाह्य वस्तु को स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। दो वस्तुओं की समानता तभी मानी जा सकती है जब वे दोनों अलग-अलग हों तथा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हो, परन्तु एक ही वस्तु होने पर सादृश्य का ज्ञान नहीं माना जा सकता। संक्षेप में सौत्रान्तिक चित्त तथा बाह्य जगत् दोनों की सत्ता मानते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न माना जाय, तो बाह्य वस्तु की प्रतीति किस प्रकार होती है; इसे हम ठीक ठीक समझा नहीं सकते। विज्ञानवादी कहता है—मेरा 'ज्ञान' ही सच्चा है, परन्तु गाय के ज्ञान के समय मैं अपनी मानस अवस्था को ही 'गाय के समान' देखता हूँ। इस पर सौत्रान्तिक का कहना है कि जिस व्यक्ति ने गाय का प्रत्यक्ष ज्ञान ही कभी नहीं किया हो, वह अपने ज्ञान को 'गाय के समान' कैसे बतला सकता है। 'गाय के समान' कहना वैसा ही अर्थहीन और निरर्थक है जिस प्रकार 'वन्ध्यापुत्र'। जब वह बाह्य वस्तु को मानता ही नहीं; तब बाह्य वस्तु का ज्ञान क्यों कर हो सकता है, तथा उस ज्ञान से किसी की तुलना भी कैसे की जा सकती है ?

विज्ञानवादी वस्तु तथा वस्तुज्ञान को समकालीन मानता है। घट तथा घटज्ञान दोनों एक ही अभिन्न वस्तु हैं, क्योंकि वे समकालीन होते हैं। सौत्रान्तिक मत में यह युक्ति ठीक नहीं है। जब हमें घट का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, तब हमें स्पष्ट अनुभव होता कि घड़ा हमारे बाहर है और ज्ञान हमारे भीतर है। स्थिति दोनों की भिन्न भिन्न होती है। अत एव बाह्य वस्तु और उसके ज्ञान को अभिन्न मानना तर्कहीन बात है। इसे हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—वस्तु (घट, पट आदि) बाहर में एक सत्ताधारी पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयी (अनुभव-कर्ता) में उत्पन्न होता है। वस्तु होता है विषय, परन्तु वस्तु-ज्ञान होता है विषयी-गत। घड़ा एक बाहरी वस्तु है (विषय) और घड़ का ज्ञान होता है अनुभव करने वाले मुझमें (विषयी में), इससे दोनों की भिन्नता सिद्ध है। यदि दोनों को एक ही अभिन्न माना जाय, तो "मैं ही घड़ा हूँ" ऐसा अनुभव होना चाहिए, परन्तु लोक में ऐसा अनुभव कभी नहीं होता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं माना जायगा, तो 'घट ज्ञान' और 'पट ज्ञान' में भी कोई अन्तर नहीं होगा, क्योंकि ज्ञानरूप होने के कारण घट का ज्ञान और पट का ज्ञान एक ही होगा। लेकिन 'घट ज्ञान' को तथा 'पट ज्ञान' को क्या कभी हम एक मानते हैं ? इससे स्पष्ट है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद है।

इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं में भिन्न भिन्न आकार हैं; फलतः उनका ज्ञान भी भिन्न भिन्न आकार का होता है। इन विभिन्न आकारों के ज्ञान से ही हम उनके कारणरूप बाहरी वस्तुओं की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण हैं। इसीलिए सौत्रान्तिक लोग बाह्य वस्तु को मानते हैं और उसकी सत्ता को अनुमान से सिद्ध मानते हैं।

इसी सिद्धान्त को **'बाह्यानुमेयवाद'** कहते हैं। विज्ञानवाद के खण्डन में सौत्रान्तिकों की युक्तियाँ बड़ी महत्त्व रखती हैं। पाश्चात्त्य दर्शन के इतिहास में सौत्रान्तिकों के समान अनेक दार्शनिक हुए हैं। बर्कले के 'विज्ञानवाद'[1] के खण्डन में आधुनिक काल में मूर जैसे वस्तुवादी की युक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। सौत्रा-न्तिकों की प्रमाणमीमांसा लाक के 'साकार ज्ञानवाद'[2] के साथ बहुत मिलती हैं। इस प्रकार इस मत का दार्शनिक महत्त्व कम नहीं है।

---

1 Subjective Idealism

2 Representationism.

(ग) योगाचार सम्प्रदाय

मैत्रेय (तृतीय शतक)—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय में पर्याप्त मत-भेद था, परन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने मैत्रेय या मैत्रेयनाथ को एक ऐतिहासिक व्यक्ति तथा विज्ञानवाद का प्रवर्तक होना बलवत्तर प्रमाणों से सिद्ध किया है। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) 'मध्यान्त-विभाग' या 'मध्यान्तविभंगसूत्र' जिसमें कारिका भाग मैत्रेय का तथा गद्यांश असंग का है। इसके ऊपर वसुबन्धु ने भाष्य तथा स्थिरमति ने भाष्य पर टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ प्रकरण थे। तिब्बती अनुवाद पूरे ग्रन्थ का है, मूल संस्कृत प्रथम प्रकरण का ही अधूरा उपलब्ध हुआ है।[१] (२) 'अभिसमयालङ्कार' (प्रज्ञापारमिता के विषय में अद्वितीय ग्रन्थ) इसका पूरा नाम 'अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेश शास्त्र' है, जिसमें आठ अधिकार हैं। आर्य विमुक्तिसेन, भदन्त विमुक्तिसेन (दोनों षष्ठ शतक) तथा हरिभद्र (नवम शतक) ने टीकायें लिखी हैं[२]। (३) सूत्रालङ्कार, (४) महायान उत्तरतन्त्र, (५) धर्मधर्मताविभंग। भोट देशीय इतिहास के लेखक 'बुस्तोन' के अनुसार मैत्रेय की ये ही पाँच कृतियाँ हैं।

आचार्य

असङ्ग (चतुर्थ शतक)–पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र असंग का नाम इनके गुरु (मैत्रेय) से भी बढ़कर है। ये समुद्रगुप्त के समय में अयोध्या में आकर रहते थे। ग्रन्थ के निर्माण के अतिरिक्त इन्होंने अपने अनुज वसु-बन्धु को योगाचार मत में दीक्षित किया तथा विज्ञानवाद के प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखवाया। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'महायान-संपरिग्रह' (टीका वसुबन्धु की), 'महा-यानाभिधर्मसंगीति शास्त्र', 'योगाचारभूमि शास्त्र' (या सप्तदशभूमि शास्त्र), 'अभिसमयालङ्कारटीका'। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'महायानसूत्रालङ्कार' को डा० लेवी ने फ्रेंच अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। वसुबन्धु ने योगाचार मत में दीक्षित होने पर बीस और तीस कारिकाओं में 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' लिखी, जिसका संस्कृत मूल 'विंशिका' तथा 'त्रिंशिका' नाम से डा० लेवी ने पेरिस

१ पं० विधुशेखर शास्त्री और डा० तुशी के सम्पादकत्व में प्रथम परिच्छेद ही कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० २४) में प्रकाशित हुआ है।

२ तिब्बती अनुवाद के साथ मूल ग्रन्थ डा० चेरबास्को के सम्पादकत्व में बि०ओथिका बुद्धिका सीरीज (नं० २३) में प्रकाशित हुआ है।

से प्रकाशित किया है। 'विंतिमात्रतासिद्धि' विज्ञानवाद का सर्वमान्य और नितान्त प्रमाणिक ग्रन्थ है।

स्थिरमति—वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे। वसुबन्धु के वृत्तिकाररूप से इनकी विपुल ख्याति है। समय चतुर्थ शतक का अन्तिम भाग मानना चाहिए। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) त्रिंशिका भाष्य (मूलसंस्कृत प्रकाशित है), (२) मध्यान्त-विभंगसूत्रभाष्य टीका, (३) अभिधर्मकोश-भाष्यवृत्ति, (४) सूत्रालङ्कार-वृत्ति-भाष्य, (५) मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति।

दिङ्नाग—बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग अपनी प्रगल्भ वावदूकता तथा शास्त्रार्थ-पटुता के कारण **'वादिवृषभ'** की उपाधि से सम्मानित किये गये थे। कांची के पास 'हिंसवक्र' में ब्राह्मणकुलोद्भूत दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। अतः इनका समय ३४५-४२५ ई० के आसपास है। प्रसिद्ध ग्रन्थ—(१) प्रमाणसमुच्चय, (२) प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति, (३) न्यायप्रवेश[1], (४) हेतुचक्रडमरु, (५) प्रमाणशास्त्र न्यायद्वार या न्यायमुख, (६) आलम्बनपरीक्षा तथा इसकी वृत्ति।

धर्मकीर्ति—(षष्ठ शतक ६३५-६५० ई०) दिङ्नाग के भाष्यकाररूप से ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में भी ये उल्लिखित हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' तथा 'न्यायबिन्दु' हैं, जिनमें बौद्ध न्याय के ऊपर ब्राह्मण नैयायिकों के आक्षेपों का उत्तर देकर अपने सिद्धान्त का मण्डन है। टीका-सम्मति की दृष्टि से भी यह आदरणीय है। इन्होंने केवल प्रमाण शास्त्र (न्याय) पर ही अपने सातों ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) प्रमाणवार्तिक (१०५४½ कारिका), (२) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक), (३) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक), (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वादविषयक ग्रन्थ), (६) सम्बन्ध-परीक्षा (२९ कारिका; जिनमें क्षणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध का निरूपण है), (७) सन्तानान्तरसिद्धि (७२ सूत्र)—जिनमें मनःसन्तान (मन एक वस्तु न होकर क्षण-क्षण में नष्ट और नया उत्पन्न होने वाला सन्तान—घटना है, से भी परे दूसरी मनःसन्तानें हैं, इसे सिद्ध किया है। इसलिए इसका सार्थक नामकरण है)। इन ग्रन्थों में तीन (१, २, ५) मूल संस्कृत में छपे हैं, शेष के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं।

---

१. मूलसंस्कृत प्रिन्सिपल ध्रुव के सम्पादकत्व में तथा तिब्बती अनुवाद, दोनों गायकवाड़ ओ० सीरीज (बड़ोदा) में प्रकाशित हुआ है।

धर्मपाल—(षष्ठ शतक का आरम्भ) नालन्दा बौद्धविहार के अध्यक्ष थे। योगाचार तथा शून्यवाद दोनों मतों के ग्रन्थों पर टीकायें लिखी। 'विज्ञतिमात्रता-सिद्धिव्याख्या' वसुबन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ की तथा 'शतशास्त्र-वैपुल्यभाष्य' शून्य-वादी आर्यदेव के विख्यात ग्रन्थ की टीका इन्हीं की रचनायें हैं।

विज्ञानवाद का सिद्धान्त

माध्यमिकों के अनुसार न बाह्य वस्तु की सत्ता है और न चित्त की। विज्ञानवादी इनमें प्रथम अंश को तो मानते हैं, परन्तु द्वितीय अंश को नहीं मानते; उनका कहना है कि चित्त के द्वारा ही किसी मत का विचार किया जा सकता है। जो दार्शनिक मत चित्त को ही नहीं मानता, वह किस प्रकार अपने तथ्यों के विचार करने का अधिकारी हो सकता है? इस असम्भावना से बचने के लिए चित्त को सत्य मानना नितान्त उचित है।

बाह्य पदार्थ की समीक्षा—बाह्य पदार्थ चित्त की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। चित्त ही एकमात्र सत्ता है और यह चित्त विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा नाम है। विज्ञानवादी का कथन है कि स्वप्नदशा में हमें मालूम पड़ता है कि देखी गई वस्तुयें बाहर विद्यमान हैं, परन्तु ऐसी बात तो नहीं होती, सब चित्त के भीतर ही वर्तमान रहती हैं। जागरित दशा की भी यही अवस्था है। घट तथा-घट-ज्ञान में कोई भी अन्तर नहीं है। दृष्टि-विकार से यदि कोई व्यक्ति आकाश में दो चन्द्रमा को देखता है, तो क्या हमें दो चन्द्रमा मानना चाहिए? बाह्य वस्तु को पृथक् मानना मतिभ्रम है। धर्मकीर्ति ने बड़े आग्रह के साथ कहा है कि नील रंग और नील रंग का ज्ञान एक ही वस्तु है। उनमें तनिक भी अन्तर नहीं है।

विज्ञानवादी की दृष्टि में बाह्य वस्तु को मानने में अनेक दोष दीखते हैं। उनका पूछना है कि बाहरी वस्तु एक अणु की बनी है या अनेक की? यदि एक अणु की बनी होती, तो अणु के सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; अनेक अणुओं के संघात से वस्तुओं के बनने पर भी यह बड़ा दोष होता है कि हम समस्त वस्तु को पूरी तरह नहीं देखते हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि वस्तु तो क्षणिक होती है, एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती है। तब उसका ज्ञान क्यों कर हो सकता है? सत्तात्मक वस्तु का ही तो प्रत्यक्ष होता है, नष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है? फलतः बाह्य वस्तु को मानना सर्वथा असम्भव है। अतः विज्ञान ही एकमात्र तथ्य है।

विज्ञानवाद—इस मत को 'विज्ञानवाद' कहते हैं। इसके अनुसार विज्ञान (कानशसनेस) ही एकमात्र सत्य है। जगत् में प्रतीत होने वाली बाह्य वस्तुयें वस्तुतः चित्त की ही प्रत्यय हैं। पाश्चात्त्यदर्शन में यह मत 'सबजेकटिव आइडीए-लिज़्म' के नाम से विख्यात है और बर्कले इसके प्रमुख प्रतिष्ठाता थे[1]।

निर्वाण—विज्ञानवादी के अनुसार योगी दो आवरणों की निवृत्ति से मोक्ष लाभ कर सकता है—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। इन आवरणों की सत्ता रहने पर मुक्ति तथा सर्वज्ञता की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती। मुक्ति का बाधक क्लेश है। अतः क्लेशावरण की निवृत्ति हो जाने पर मोक्षलाभ हो जाता है, पर सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होती। इसकी प्राप्ति ज्ञेयावरण की निवृत्ति होने पर ही हो सकती है। आत्मदृष्टि से रागद्वेषादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है। जब साधक की पुद्गलनैरात्म्य में प्रतिष्ठा हो जाती है तब क्लेशों का नाश होने से मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। पर जब धर्मनैरात्म्यज्ञान में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है, तो किंचित् ज्ञेय के अभाव में चित्त सर्वज्ञतावस्था को प्राप्त कर लेता है। यही विज्ञानवादी दार्शनिकों के मत से परमपद की प्राप्ति है।

विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। नाना उपचारों से युक्त यह संसार मन का विलास है। **उपचार** दो प्रकार के अनुभव में आते हैं—आत्मोपचार तथा धर्मोपचार। जीव, जन्तु, आत्मा, मनुष्य—ये **आत्मोपचार** हैं, स्कन्द, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये **धर्मोपचार** हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है, अर्थात् आत्मा तथा धर्म विज्ञान के ही विभिन्न परिणामरूप हैं। विज्ञानवादी चित्त को आठ प्रकार का बतलाते हैं। चक्षुर्विज्ञान आदि षड्भेद वैभाषिकों को भी सम्मत हैं, पर योगाचार के मत से **मनोविज्ञान** तथा **आलय-विज्ञान** विज्ञान के दो भेद अधिक माने जाते हैं। इस विभागपद्धति में आलयविज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों के सूक्ष्म मानसतत्त्व-विवेचन की सूचना देती है। चक्षुर्विज्ञान आदि छः विज्ञान बाह्य वस्तु तथा इन्द्रिय के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, ये विषयज्ञान के लिए द्वारमात्र हैं। ये अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाते हैं, जो स्वयं आलय-विज्ञान के पास उन्हें प्रस्तुत करता है। तभी विषय का यथार्थ ज्ञान होता है। समस्त जगत् चित्त का परिणाममात्र होने से इन्हीं अष्टभेदों के अन्तर्भूत बतलाया जा सकता है।

---

१. दोनों की तुलना के लिए द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का प्रथम परिशिष्ट।

विषय—योगाचार के मत से विज्ञान तथा विज्ञेय का अन्तर स्पष्ट है। विज्ञेय कल्पित होने से वस्तुतः नहीं है, पर विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से नितान्त सत्य है। जहाँ जो वस्तु नहीं रहती है, वहाँ उसका **उपचार** होता है। इस जगत् में न आत्मा है न धर्म, परन्तु इसके उपचार अनादिकाल से वर्तमान हैं। उपचार होने से ये परिकल्पितमात्र हैं, पारमार्थिक या सत्यस्वरूप नहीं। त्रिंशिका (का० १–२) के अनुसार विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं— (१) विपाक, (२) मनन तथा (३) विषयविज्ञप्ति। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक होने से फल की अभिनिर्वृत्ति का नाम **'विपाक-परिणाम'** है। इसका दूसरा नाम **'आयल-विज्ञान'** है। क्लेश को उत्पन्न करने वाले धर्म-बीजों के आलय (स्थान) होने से इसकी 'आलयविज्ञान' संज्ञा है। यह आलय-विज्ञान सदा स्पर्श, मनस्कार, चित्त, संज्ञा तथा चेतना नामक पाँच धर्मों से युक्त रहता है। विज्ञानपरिणाम का द्वितीय प्रकार **'मनन'** या **'क्लिष्ट मन'** कहलाता है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है। अतः उसे मनन कहते हैं। क्लिष्ट मन आलयविज्ञान के आश्रय को लेकर प्रवृत्त होता है, या अपने मनन कार्य में लगता है। विज्ञानपरिणाम का तृतीय भेद **'विषयविज्ञप्ति'** है। चक्षु-र्विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक के छः प्रकार के विज्ञानों के षड्विध विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य, तथा धर्म—की उपलब्धि ही **विषयविज्ञप्ति** है। यह उपलब्धि तीन प्रकार की हो सकती है—कुशल, अकुशल, तथा दोनों से भिन्न। अलोभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है; लोभ, द्वेष तथा मोह से समन्वित होने पर अकुशल है।

यह विविध विज्ञानपरिणाम योगाचार के मत से विकल्पमात्र है[२]। यह जगत् विज्ञान के विविध परिणामों का रूप धारण करने वाला विकल्परूप है। विकल्प तीन प्रकार के हैं—आलय-विज्ञान में समस्त धर्मों की उत्पादनशक्ति छिपी रहती है, क्योंकि वह **'सबीज'** कहा गया है। इस आलयविज्ञान से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः इस जगत् में विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि होती है (त्रिंशिका, का० १८)।

आलयविज्ञान

समुद्र के दृष्टान्त से हृदयंगम किया जा सकता है। हवा के झकोरों से समुद्र में तरंगें नाचने लगती हैं, वे सदा अपनी लीला दिखलाया करती हैं, कभी विराम नहीं लेतीं। इसी प्रकार 'आलय-विज्ञान' में भी विषयरूपी वायु के झकोरों

से चित्र विचित्र की विज्ञानरूपी तरंगें उठती हैं, सदा नृत्यमान होकर अपना खेल किया करती हैं और कभी नाष्ट नहीं होती हैं। 'आलय-विज्ञान' समुद्र-स्थानीय है, विषयपवन का प्रतिनिधि है तथा विज्ञान (सप्तविध विज्ञान) तरंगों का प्रतीक है। जिस प्रकार समुद्र और तरंगों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान तथा अन्य सप्तविध विज्ञान विज्ञानाकार से भिन्न नहीं हैं[३]। आचार्य वसुबन्धु ने भी आलयविज्ञान की वृत्ति जल के ओघ (बाढ़) के समान बतलाई है। जिस प्रकार जल का प्रवाह तृण, काष्ठ, गोमय आदि नाना पदार्थों को खींचता हुआ सदा आगे बढ़ता जाता है, उसी प्रकार यह विज्ञान भी पुण्य, अपुण्य, अनेक कर्मों की वासना से अनुगत स्पर्श, संज्ञा, वेदना आदि चैत्त धर्मों को खींचता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है। जब तक यह संसार है तब तक आलय-विज्ञान का विराम नहीं। यह उस जल-प्रवाह के समान है जो अनवरत वेग से आगे बढ़ता जाता है, खड़ा होना जानता ही नहीं[४]।

आलय-विज्ञान और आत्मा—यह आलय-विज्ञान आत्मा का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। आत्मा अपरिवर्तनशील रहता है, सदा एकाकार एकरस; परन्तु आलय-विज्ञान परिवर्तनशील होता है। अन्य विज्ञान क्रियाशील हों या अपना व्यापार बन्द कर दें, परन्तु यह 'आलयविज्ञान' विज्ञान का सतत प्रवाह बनाये रखता है, इसकी चैतन्यधारा कभी शान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है, परन्तु यह समष्टि-चैतन्य का प्रतीक है।

आलय-विज्ञान के चैत्तधर्म—इसके साथ सम्बद्ध सहायक चैत्तधर्म पाँच माने गये हैं—(१) मनस्कार (चित्त की विषय की ओर एकाग्रता), (२) स्पर्श (इन्द्रिय तथा विषय के साथ विज्ञान का सम्पर्क), (३) वेदना (सुख-दुःख की भावना), (४) संज्ञा (किसी वस्तु का नाम), (५) चेतना (मन की वह चेष्टा जिसके रहने पर चित्त आलम्बन की ओर स्वतः झुकता है)[५]। जो वेदना आलय विज्ञान के साथ सहायक धर्म है, वह उपेक्षाभाव है, जो अनिवृत तथा अव्याकृत माना जाता है। यह उपेक्षा (तटस्थता की भावना—न सुख, न दुःख की दशा) मनोभूमि में विद्यमान रहनेवाली आगन्तुक उपक्लेशों से ढकी नहीं रहती। अतः वह प्राणियों को निर्वाण तक पहुँचाने में समर्थ होती है। जिस विज्ञान का यह विश्व विलासमात्र माना गया है वह यही **'आलयविज्ञान'** है।

योगाचार—विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से भी विख्यात हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि 'आलय विज्ञान' के अस्तित्व को जानने के लिए, योग के

आचरण को ये नितान्त आवश्यक मानते थे। एक और कारण बतलाया जाता है, इसकी दो विशेषतायें थीं—योग से तात्पर्य जिज्ञासा से और आचार का सदाचार से है। इन दोनों पर जोर देने के कारण यह मत इस नाम से विख्यात था।

(घ) माध्यमिक मत

नागार्जुन—शून्यवाद या माध्यमिक सिद्धान्त के प्रचारक थे। ये दक्षिण भारत के निवासी ब्राह्मण थे। अनन्तर बौद्धधर्म में दीक्षा लेकर श्रीपर्वत पर रहते थे।

आचार्य

अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता, प्रगाढ़ तान्त्रिकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारत के दार्शनिक जगत् में सदैव अक्षुण्ण रहेगी। प्रधान रचना 'माध्यमिक-शास्त्र' या 'माध्यमिककारिका' है, जो २७ प्रकरणों में विभक्त है। शून्यवाद की प्रतिष्ठा इसी ग्रन्थ पर है। इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में आचार्यभव्य कृत 'प्रज्ञा-प्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' मुख्य हैं। 'प्रज्ञा-पारमिताशास्त्र' ('पञ्चविंशतिसाहस्रिका' प्रज्ञापारमिता की टीका जो कुमारजीव के द्वारा ४०२–४०५ में अनूदित हुई थी) तथा 'दशभूमिविभाषाशास्त्र' (दशभूमिसूत्र की वृत्ति विषयपर्यालोचन के महत्त्व से महायान के विश्वकोश कहे जा सकते हैं। ये दोनों भी इन्हीं की विख्यात रचनायें हैं।

आर्यदेव—(२००–२२४ ई०) चन्द्रकीर्ति के वर्णनानुसार ये सिंघलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और उस देश के राजा के पुत्र थे। अतुल सम्पत्ति को लात मारकर ये दक्षिण में आए और नागार्जुन के शिष्य बन गये। ये शून्यवाद के प्रकाण्ड आचार्य थे। इनकी अनुपम दार्शनिक कृति 'चतुःशतक' है जिसमें नामानुसार चार सौ कारिकायें, १६ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकायें हैं। धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति ने टीकायें जिसपर लिखी थीं, जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उत्तरार्ध को हुएनच्वांग (६५० ई०) ने चीनी भाषा में अनुवादित किया। चीनी में इसका अभिधान 'शतशास्त्रवैपुल्य' है। चन्द्रकीर्ति की वृत्ति के साथ समग्र ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती भाषा में तथा वृत्ति का कतिपय अंश मूल संस्कृत में उपलब्ध होता है। शून्यवाद के रहस्योद्घाटन के लिए यह नितान्त प्रामाणिक, प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। इसके आदिम दो शतकों को 'धर्मशासन शतक' (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रति-पादन) तथा अन्तिम दो शतकों को 'विग्रह शतक' (परमतखण्डन) कहते हैं।

ग्रन्थ के उत्तरार्ध को अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने विश्वभारती सीरीज (नं० २) में प्रकाशित किया है।

स्थविर बुद्धपालित--(पञ्चम शतक)-माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमाणभूत आचार्यों में से अन्यतम हैं। इन्होंने नागार्जुन के 'माध्यमिककारिका' के ऊपर एक वृत्ति लिखी है जिसका अभी तक केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध हुआ है। वे प्रासंगिक मत के उद्भावक माने जाते हैं।

भाविवेक—('भव्य' या चीनी ग्रन्थों के अनुसार 'भाविवेक') बौद्ध न्याय के 'स्वातन्त्र मत' के उद्भावक थे। नवीन मत के प्रवर्तक होने से अवान्तर शताब्दियों में इनकी विशेष ख्याति थी। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं—(१) प्रज्ञा-प्रदीप ('माध्यमिककारिका' की वृत्ति, जिसका तिब्बती अनुवाद ही प्राप्त है), (२) मध्यम-हृदय-कारिका, (३) मध्यमार्थसंग्रह, (४) हस्तरत्न।

चन्द्रकीर्ति—(६००–६५० ई०) दक्षिण भारत के निवासी थे। बुद्धिपालित तथा भव्य के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि से इन्होंने शून्यवाद के ग्रन्थों को पढ़ा। इस प्रकार ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के प्रशिष्य थे। नालन्दा में अध्यापक थे। इनके विख्यात ग्रन्थ हैं—(१) माध्यमिकावतार, (२) प्रसन्नपदा—माध्यमिक-कारिकाओं की सर्वश्रेष्ठ सुबोध प्रामाणिक टीका। इसे डाक्टर पुसें ने बिब्ली-ओथिका बुद्धिका सीरीज (नं० ४) में मूल संस्कृत में सम्पादित किया है, (३) चतुःशतकवृत्ति--आर्यदेव के ग्रन्थ पर टीका, जो तिब्बती अनुवाद में पूरी तथा संस्कृत में अधूरी ही मिलती है। प्रासंगिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सब से श्रेष्ठ माध्यमिक विद्वान् थे।

शान्तरक्षित—(८ म शतक)—स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे, तथा नालन्दा विहार में अध्यापक थे। तिब्बत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिब्बत गये, एक बड़े विहार की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बने। इन्होंने धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' पर विस्तृत टीका लिखी है, परन्तु इनका मौलिक विपुलकाय ग्रन्थ **'तत्त्वसंग्रह'** है। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण दार्शनिकों के मत की विस्तृत समीक्षा कर बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। यह वास्तव में नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। इसकी टीका कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' नाम से लिखी है। कमलशील स्वयं नालन्दा में तन्त्रों के अध्यापक थे, तथा गुरु के साथ तिब्बत गये थे। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३०, ३१) में प्रकाशित हुआ है।

शून्यवाद

माध्यमिक आचार्य अपने मत को 'शून्यवाद' के नाम से पुकारते हैं, परन्तु 'शून्यवाद' का तथ्य क्या है ? इसके विषय में ब्राह्मण और माध्यमिक से भिन्न दार्शनिकों के विचार एक-समान हैं। ये विद्वान् 'शून्य' का अर्थ बिल्कुल सत्ता का निरास मानते हैं। विज्ञानवादियों ने 'शून्य' का यही अर्थ समझकर उसका खण्डन किया है। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में एक विलक्षण युक्ति देकर संसार को सर्वशून्य सिद्ध किया है। माध्यमिक शून्यवाद को 'सर्ववैनाशिक-वाद' के नाम से भी अभिहित किया है, क्योंकि माना जाता है कि इसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; परन्तु शून्यवाद के मूल ग्रन्थों के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि 'शून्य' शब्द का प्रयोग सत्तानिरास के अर्थ में नहीं किया गया है।

शून्य का अर्थ—इस प्रत्यक्ष जगत् से परे परमार्थिक सत्ता वर्तमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि वह तत्त्व मानसिक या बाह्य है। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण वह तत्त्व **'शून्य'** कहा गया है, परन्तु शून्य वस्तुतः अभावरूप नहीं है। अभाव स्वयं एक सापेक्ष शब्द है, क्योंकि 'भाव' की कल्पना के ऊपर ही 'अभाव' आश्रित है। परन्तु वह परमतत्त्व स्वतः एक निरपेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने में चार ही कटियों का प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, तदुभयं (अस्ति और नास्ति) तथा नोभयं (न अस्ति, न च नास्ति)[६]; पर परम तत्त्व का निर्णय इन कोटियों की सहायता से नहीं किया जा सकता। वह मनोवाणी से अगोचर होने से नितरां अनिर्वचनीय है। इसी कारण उस परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता की सूचना देने के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धदर्शन में 'अनिर्वचीय' शब्द का प्रयोग चतुष्कोटिविमुक्त तत्त्व के लिए है, परन्तु वेदान्त में इसका प्रयोग 'सदसत्-विलक्षण' के लिए ही किया जाता है। 'शून्य' का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीनयान के आचारविषयक मध्यम प्रतिपद् के अनुरूप ही माध्यमिक लोग तत्त्वमीमांसा के विषय में मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्; प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् तथा असत् के मध्यबिन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है, जो स्वयं शून्यरूप ही होगा।[७] यह शून्य अभाव से नितान्त भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परम तत्त्व का सूचक है।

इस आध्यात्मिक मध्यमार्ग के उद्भावक होने के कारण ही इस दर्शन का नाम **'माध्यमिक'** दिया गया है।

चन्द्रकीर्ति ने इसलिए लिखा है कि शून्यता मध्यम मार्ग का ही नाम है। वस्तुओं के दो ही रूप (अन्त) हो सकते हैं—भाव तथा अभाव। जो वस्तु सदा वर्तमान रहती है वह तो भावरूप है, जो वस्तु विद्यमान नहीं रहती वह अभाव-रूप है। वस्तु का न तो भाव है और न अभाव। इसीलिए वह **'शून्य'** कहलाती है अर्थात् भाव और अभाव दोनों के बीच में रहनेवाली मानी जाती है। अतः 'शून्य' मध्यमा प्रतिपत् या मध्यम मार्ग का ही नाम है।[८]

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ एक अपरोक्ष तत्त्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य **शून्याद्वैत** के समर्थक हैं। यह समस्त नानात्मक प्रपञ्च इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। परमतत्त्व की ही सत्यता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप अथकनीय एवं अज्ञेय है। हम न तो यही कह सकते हैं कि वह सत् है, या असत् है, या इन दोनों को संवलित करने वाला सत्-असत् दोनों है, या इन दोनों में से कोई भी नहीं है। इसकी सूचना देने के लिए **'शून्य'** का व्यवहार इस दर्शन में किया गया है।

सत्य की मीमांसा

माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने दो प्रकार की सत्यता मानी है[९]—बुद्धों का उपदेश दो सत्यों को ध्यान में रखकर किया गया है। एक तो लोकव्यवहार में आनेवाला सत्य और दूसरा वास्तविक सत्य है। पहला व्यावहारिक है, तो दूसरा पारमार्थिक; (१) पारमार्थिक तथा (२) सांवृतिक। अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित शून्य ही पारमार्थिक सत्य है, तथा बुद्धि के अगोचर है। बुद्धिमात्र विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अतः बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं है कि वह परम सत्य का यथार्थ ग्रहण कर सके। संवृति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—सब पदार्थों को ढकने वाला पदार्थ अर्थात् अज्ञान या माया[१०]। इस जगत् की सत्ता अज्ञान के द्वारा ही है। इसलिये समस्त जगत् की सत्ता सांवृतिक या व्यावहारिक है। माध्यमिक लोग अविद्या के दो कार्य मानते हैं—(१) स्वभाव—दर्शन का आवरण तथा (२) असत् पदार्थ स्वरूप का आरोपण। संवृति दो प्रकार की होती है—**(१) तथ्यसंवृति—** जब हम प्रत्यक्ष दृश्य घट-पटादि विषयों का अदुष्ट इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं, तब उसे तथ्यसंवृति कहते हैं जो लौकिक रीति से सत्य माना जाता है। **(२) मिथ्यासंवृति—**जब पदार्थ दुष्ट इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं तब इन्हें

व्यावहारिक दृष्टि से मिथ्या कहते हैं। यही है **मिथ्यासंवृति**। अतः सांवृतिक सत्य का अर्थ होता है व्यावहारिक सत्यता।

संवृतिसत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिए एक साधनमात्र है। निर्वाण की दशा भी साधारण व्यावहारिक दशा से भिन्न होती है, क्योंकि निर्वाण पाने वाला प्राणी व्यावहारिक दशा से सर्वथा मुक्त हो जाता है, हमारी कल्पना से वह अतीत होती है। उसका भी वर्णन नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। निर्वाण के रूप निर्धारण करते हुए आचार्य नागार्जुन के इस नकारात्मक विवरण पर ध्यान देना आवश्यक है। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों के द्वारा अविदित होता है), जिसकी प्राप्ति नई नहीं होती (अर्थात् जो सर्वदा प्राप्त होता है), जिसका विनाश नहीं होता, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसी का नाम **निर्वाण** है (माध्यमिक कारिका २५।३)। निर्वाण को यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति ही 'तथागत' (बुद्ध) है और इसीलिए उनका भी स्वरूप निर्वाण के समान ही वर्णनातीत है।

परमार्थ संवृति से विलक्षण होता है। त्रिकाल में अबाधित होने से शून्य तथा निर्वाण तत्त्व परमार्थरूप माना जाता है। इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण योगिजनों के द्वारा ही किया जा सकता है। आर्य सत्यचतुष्टय के तीन सत्य दुःख, समुदय तथा मार्ग सांवृतिक सत्य के अन्तर्भूत हैं, केवल निरोध परमार्थ सत्य है। इन्हीं दोनों सत्यों के आधार पर बुद्ध लोग जीवों को धर्मोपदेश किया करते थे।

शून्यता की प्राप्ति—यह अद्वैत परमार्थतत्त्व शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में **'तथागत'** नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके आलम्बन विना न तो आत्म-कल्याण सम्पन्न हो सकता है और न परकल्याण। अविद्या के द्वारा अस्पृष्ट होने से इसमें समस्त मलों का अभाव रहता है। उभयविध क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण से यह उन्मुक्त रहता है। सम्यक् संबोधि के सिवा इस अद्वैततत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधि की प्राप्ति के लिये षट् पारमिताओं—ज्ञान, शील, क्षान्ति, वीर्य, समाधि तथा प्रज्ञा की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। ज्ञान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकाल तक अभ्यास करने से पुण्यसंभार की प्राप्ति होती है, तथा वीर्य और समाधि के सतत अभ्यास से ज्ञानसंभार का उदय होता है। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार के उदय से प्रज्ञा का जन्म होता है। प्रज्ञा की निर्मलता का सम्पादन धीरे-धीरे किया जाता है। साधन तथा फलरूपा होने से इसके द्विविध भेद माने जाते हैं। साधन-प्रज्ञा के प्राप्त होने पर साधक **'अभिमुक्तचरित'** कहलाता है, पर अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव होने पर फलरूपा प्रज्ञा का उदय

होता है, जिसमें बोधिसत्त्व भूमियों की प्रतिष्ठा होती है। बुद्धत्व ही प्रज्ञा का अन्तिम उत्कर्ष है। उस समय द्वैत ज्ञान का सर्वथा लोप हो जाता है। योगी लोग इस प्रज्ञा को निर्विकल्प तथा सर्वधर्मशून्यता की प्राप्ति बतलाते हैं। इस दशा में स्वदुःख और पर-दुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। समस्तधर्म स्वभावहीन हैं, इसी का नाम '**शून्यता**' है।

नागार्जुन की **तर्कपद्धति** नितान्त सूक्ष्म, परन्तु अभावात्मक है। उस शैली से परीक्षा करने पर जगत् के समस्त पदार्थ तथा बौद्धिक धारणायें निःस्वभाव प्रतीत होती हैं। नागार्जुन 'माध्यमिककारिका' में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, कर्म, बंधमोक्ष, काल, आत्मा—आदि समग्र व्यावहारिक धारणाओं की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा कर इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब एकदम असत्य हैं। '**शून्यता**' ही एक सत्य परमार्थ है :—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

अर्थात् भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः (दूसरे कारण से), न दोनों से, न अहेतु से। यदि पदार्थ स्वतः उत्पन्न हों, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा? अपने से भिन्न वस्तुओं से भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि तब तो किसी पदार्थ से कोई पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा। दोनों पक्षों में दोष होने से इनका समुच्चय ठीक नहीं। बिना हेतु के ही कार्य उत्पन्न होते हैं, यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त माननीय है और ऐसी दशा में सब पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगेंगे। अतः त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातुमय) जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं होती।

बुद्धपालित तथा उनके अनुयायियों ने निर्वाण तथा शून्यता की सिद्धि में तर्क का सर्वतोभावेन तिरस्कार किया है; अतः उन्हें **माध्यमिक प्रासंगिक**' की संज्ञा प्राप्त है; पर भव्य (या भाव-विवेक) ने माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए न्यायानुमोदित स्वतन्त्र तर्कों की कल्पना की है, जिससे उन्हें '**माध्यमिक स्वातन्त्रिक**' की संज्ञा मिली है। भव्य अपने कुशाग्र तर्क के लिए महामान्य दार्शनिकों में नितान्त विख्यात हैं, पर 'सप्तम शतक' में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में बुद्धपालित की शैली का अनुसरण कर आचार्य भव्य की पद्धति को गहरा धक्का पहुँचाया। चन्द्रकीर्ति की व्याख्या परम्परागत सिद्धान्तों के लिए चीन,

तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों में भी प्रमाणभूत थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली (पृ० १४) में माध्यमिकों के दो मतभेदों का उल्लेख किया है—(१) मायोपमाद्वयवाद तथा (२) सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद। पहला मत अद्वयवाद को माया के समान मानता है, तथा दूसरा मत सब धर्मों के अप्रतिष्ठान में ही परमार्थ सत्य के स्वरूप को देखता है। महायान के 'अधिमात्र' अनुयायी शून्यवाद के मानने वाले दार्शनिक थे।

शून्यवाद के इस संक्षिप्त वर्णन से पाठकों को यह बात ध्यान में आ गई होगी कि माध्यमिकों के शून्य अद्वैत तथा शंकराचार्य के ब्रह्माद्वैत के सिद्धान्तों में अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य मानते हैं—व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य। वे वस्तु जगत् को काल्पनिक और असत्य मानते हैं, पारमार्थिक सत्ता का नकारात्मक वर्णन करते हैं, तथा निर्वाण को उस सत्य की अनुभूति मानते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी ये विचार पाये जाते हैं। इसी कारण बहुत से आलोचक शंकाराचार्य के ही नहीं, प्रत्युत उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य गौडपाद के सिद्धान्तों पर माध्यमिकों की विचारधारा का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

निर्वाण का स्वरूप

निर्वाण के स्वरूप के विषय में हीनयान और महायान की कल्पनाएँ नितान्त भिन्न हैं। यह विषय बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निर्वाण के विषय में बौद्ध धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का विशिष्ट मत है। निर्वाण भाव रूप है अथवा अभाव रूप? इस विषय को लेकर बौद्ध दर्शन में पर्याप्त मीमांसा की गई है।

(क) हीनयान

निर्वाण का सामान्य रूप

हीनयान मतानुयायी अपने को तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित मानता है—(१) **दुःख-दुःखता** अर्थात् भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाला क्लेश, (२) **संस्कार-दुःखता** अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशाली जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होनेवाला क्लेश, (३) **विपरिणाम-दुःखता** अर्थात् सुख को दुःख रूप में परिणत होने के कारण उत्पन्न क्लेश। मनुष्य को इन क्लेशों से कभी छुटकारा नहीं मिलता, चाहे वह कामधातु, रूपधातु अथवा अरूपधातु में ही जीवन क्यों न व्यतीत करता हो। इस दुःख से छुटकारा पाने का उपाय बुद्ध ने स्वयं बतलाया

है—आर्य सत्य, सांसारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनात्मता का ज्ञान। अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन से तथा जगत् के पदार्थों में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस ज्ञान को परिनैष्ठिक रूप देने पर साधक उपरिनिर्दिष्ट क्लेशों से सदा के लिये मुक्ति पा लेता है। फिर ये क्लेश उसे किसी प्रकार पीड़ित करने के लिये या संसार में बद्ध करने के लिये कथमपि समर्थ नहीं होते। अतः आर्य सत्य के ज्ञान से—सदाचार के अनुष्ठान से—हीनयानसम्प्रदाय में कोई भी साधक क्लेशों से निवृत्ति पा लेता है—यही **निर्वाण** है।

निर्वाण और निरोध की एकता

हीनयान के विविध संप्रदायों में इस विषय को लेकर पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेशाभाव रूप है। जब क्लेश के आवरण का सर्वथा परिहार हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का जन्म होता है। इसे सुखरूप भी बतलाया गया है; परन्तु अधिकतर बौद्ध निकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानते हैं। 'मिलिंदप्रश्न' में निर्वाण के विषय में बड़ी सूक्ष्म विवेचना की गई है। इसका स्पष्ट कथन है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में लगे रहने के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं, परन्तु ज्ञानी आर्य श्रावक इन्द्रियों और विषयों के उपभोग में न कभी लगा रहता है और न उसमें आनन्द ही लेता है। फलतः उसकी तृष्णा का निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का (भव का) निरोध उत्पन्न होता है। पुनर्जन्म के बन्द होते ही सभी दुःख रुक जाते हैं। इस प्रकार तृष्णादिक क्लेशों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। नागसेन की सम्मति में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखाया नहीं जा सकता[1], क्योंकि उसके व्यक्तित्व को बनाए रखने के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। अतः निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

निर्वाण की निर्गुणता

संसार में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं की यह विशेषता है कि उनमें से कुछ तो कर्म के कारण उत्पन्न होती हैं, कुछ हेतु के कारण और कुछ ऋतु के कारण; परन्तु निर्वाण ही आकाश के साथ ऐसा पदार्थ है जो न तो कर्म के कारण उत्पन्न

१. मिलिंदप्रश्न, पृष्ठ ९२।

होता है, न हेतु के कारण और न ऋतु के कारण। वह तो हेतु से रहित त्रिकालातीत, इन्द्रियातीत और अनिर्वचनीय पदार्थ है, जिसे विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अर्हत् जान सकता है। निर्वाण के साक्षात् करने के उपाय हैं, परन्तु उसे उत्पन्न करने का कोई उपाय नहीं है। साक्षात् करना तथा उत्पन्न करना दोनों भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। कोई भी मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्ति के बल पर हिमालय तक जा सकता है, परन्तु वह लाखों कोशिशें करने पर भी उसे इस स्थान पर नहीं ला सकता, कोई भी मनुष्य साधारण शक्ति के सहारे भी नाव पर चढ़कर समुद्र के इस पार से उस पार तक जा सकता है, परन्तु अश्रान्त परिश्रम करने पर भी उस पार को इस पार नहीं ला सकता; ठीक यही दशा निर्वाण की भी है। उसके साक्षात्कार करने का मार्ग बताया जा सकता है, परन्तु उसके उत्पादक हेतु को कोई भी नहीं दिखा सकता[1]। इसका कारण यह है कि निर्वाण निर्गुण है। उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से परे है। अदृश्य होने पर भी इन्द्रियों द्वारा गोचर न किए जाने पर भी उसकी सत्ता है। अर्हत् पद को प्राप्त कर भिक्षु विशुद्ध, ऋजु और आवरणों तथा सांसारिक कर्मों से रहित मन द्वारा निर्वाण को देखता है। अतः उसकी सत्ता के विषय में किसी प्रकार का अपलाप नहीं किया जा सकता, परन्तु निर्गुण होने से वह उत्पादरहित है। उपाय होने से उसका साक्षात्कार अवश्य होता है, परन्तु वह स्वयं अनिर्वचनीय पदार्थ है।

निर्वाण की सुखरूपता

नागसेन ने निर्वाण की अवस्था के विषय में भी खूब विचार किया है[2]। महाराज मिलिन्द की सम्मति में निर्वाण में दुःख कुछ न कुछ अवश्य ही विद्यमान रहता है, क्योंकि निर्वाण की खोज करनेवाले नाना प्रकार के संयमों से अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों को तप्त किया करते हैं। ये संसार से नाता तोड़कर और इन्द्रियों तथा मन की वासनाओं को मारकर बन्द कर देते हैं, जिससे शरीर को भी कष्ट होता है और मन को भी। इसी युक्ति के सहारे मिलिन्द की दृष्टि से निर्वाण भी दुःख से सना होता है। इसके उत्तर में नागसेन की स्पष्ट सम्मति है कि निर्वाण में दुःख का लेश भी नहीं रहता। वह तो सुख ही सुख है। राज्य की प्राप्ति होने में नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, परन्तु स्वयं राज्य-प्राप्ति क्लेश में नहीं है। इसी प्रकार तपस्या, ममता, त्याग, इन्द्रिय, जय आदि निर्वाण के

१. मिलिंदप्रश्न, पृष्ठ ३२९–३३३।

२. मिलिंदप्रश्न (हिंदी अनुवाद), पृष्ठ ३८४–४०३।

उपायों में क्लेश है, परन्तु स्वयं निर्वाण में क्लेश कहाँ ? वह तो महासमुद्र के समान अनन्त है। कमल के समान क्लेशों से अलिप्त है। जल के समान सभी क्लेशों की गर्मी को शान्त कर देता है। काम तृष्णा, भव तृष्णा और विभव तृष्णा की प्यास को बुझा देता है। वह आकाश के समान दश गुणों से युक्त रहता है। न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है और न आवागमन को प्राप्त करता है। वह दुर्ज्ञेय, स्वच्छंद तथा अनन्त है। अच्छी राह पर चलकर संसार के सभी संस्कारों को अनित्य दुःख तथा अनात्म रूप से देखता हुआ कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। उसके लिये किसी दिशा का निर्देश नहीं किया जा सकता। महाकवि अश्वघोष का कहना है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी पर जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में और न किसी विदिशा में; प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कहीं नहीं जाता है—न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में और न किसी दिशा में—केवल क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति को प्राप्त कर लेता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्[1]॥

स्थाविरवादी मत में निर्वाण की कल्पना

निर्वाण की यही सामान्य कल्पना है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के पाश स्वतः छिन्न भिन्न हो जाते हैं, तब अर्हत् की उसी अवस्था का नाम **निर्वाण** है। यही चरम लक्ष्य है, जिसके लिये भगवान् तथागत ने अपने धर्म की शिक्षा दी है। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में जीवन्मुक्त पुरुष की जो कल्पना है वही कल्पना निर्वाण-प्राप्त अर्हत् की है। परन्तु निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान संप्रदाय के अनुयायियों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभावमात्र मानता है, परन्तु महायान उसे आनन्दरूप बताता है। किञ्च, हीनयान संप्रदायों के भीतर भी इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। स्थविरवादियों की दृष्टि से निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद

---

१. सौन्दरनन्द, १६।२८,२९।

व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ ही है—बुझ जाना। जिस प्रकार दीपक तब तक जलता रहता है जब तक उसमें बत्ती और तेल विद्यमान रहते हैं, उनके नष्ट होते ही दीपक स्वतः शान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेशों के विराम ले लेने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुँच जाता है, तब वह **निर्वाण** कहलाता है।

वैभाषिक मत में निर्वाण

वैभाषिकों के मत इस विषय में स्थविरवादियों के मत के समान ही हैं। वे भी निर्वाण को अभावात्मक मानते हैं। निर्वाण प्रतिसंख्यानिरोध है, अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक साश्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है, तब वही **निर्वाण** कहलाता है[1]। निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतन्त्र सत्ता (भाव = वस्तु), पृथग्-भूत सत्य पदार्थ (द्रव्य सत्) है[2]। निर्वाण अचेतन अवस्था का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का? इस प्रश्न के विषय में वैभाषिकों में ऐकमत्य नहीं दिखाई पड़ता। तिब्बतीय परम्परा से ज्ञात होता है कि कुछ वैभाषिक लोग निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर उस चेतना का सर्वथा निरोध मानते थे, जो क्लेशोत्पादक (साश्रव) संस्कारों के द्वारा प्रभावित होती है। इसका अभिप्राय यह है कि आश्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होनेवाली कोई चेतना अवश्य है, जो निर्वाण की प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह एकांगी मत था। इस मत के माननेवाले कौन थे, यह कहना बहुत ही कठिन है। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। संघभद्र की 'तर्कज्वाला' के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मध्य भारत में वैभाषिकों का एक ऐसा संप्रदाय था जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह 'तथता' वैशेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिये ही अभाव के चारों भेदों—प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव की कल्पना की गई थी। यह 'तथता' महायान संप्रदाय में

---

१. प्रतिसंख्यानमनाश्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते, तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोध इति प्रतिसंख्यानिरोधः—यशोमित्रकृत अभिधर्मकोश-व्याख्या, पृष्ठ १६।

२. द्रव्यः सन् प्रतिसंख्यानिरोधः, सत्यचतुष्टयनिर्देशनिर्दिष्टत्वात्; मार्ग-सत्यवदिति वैभाषिकाः—वही, पृष्ठ १७।

परमार्थ सत्य के लिये प्रयुक्त 'तथता' शब्द से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में **निर्वाण** क्लेशाभाव रूप माना जाता है, परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी वैशेषिकों के समान पदार्थ मानते थे। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

सौतान्त्रिक मत में निर्वाण का रूप

ये लोग निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाला भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसीलिये यह उस सत्ता का अभाव माना गया है, परन्तु इस विषय में वैभाषिकों से इनका मत भिन्न है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ, अर्थात् वस्तु मानते हैं। परन्तु सौतान्त्रिक लोग निर्वाण को वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के अनन्तर सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है, जो चरम शान्ति में डूबी रहती है। भोट देश की परम्परा से पता चलता है कि सौतान्त्रिकों की एक ऐसी उपशाखा थी, जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपशम मानती थी। उसकी दृष्टि में निर्वाण प्राप्त करने वाले अर्हत् की भौतिक सत्ता का ही सर्वथा निरोध नहीं हो जाता; प्रत्युत चेतना का भी विनाश हो जाता है। इस शाखा के मतानुसार निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। न तो कुछ जीवन शेष रहता है और न कोई चेतना ही बाकी रह जाती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

नैयायिकों की मुक्ति से निर्वाण की तुलना

निर्वाण की यह हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्शनिकों में से न्याय, वैशेषिक की मुक्ति की कल्पना से बिलकुल मिलती जुलती है। गौतम के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं[1]। **अत्यन्त** का अर्थ है—चरम अवसान, अर्थात् जिससे उपात्त वर्तमान जन्म का परिहार हो जाय, तथा भविष्य में अन्य जन्म की उत्पत्ति न हो। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, साथ ही भविष्य जन्म की अनुत्पत्ति भी आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति पा लेती है। जब तक वासना आदि आत्मगुणों का उच्छेद नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा के नवों विशेष

---

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्यायसूत्र १।१।२२)।

गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है और अखिल गुणों से विरहित रहती है। वह छह प्रकार की ऊर्मियों से भी रहित हो जाती है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेश। भूख-प्यास प्राण को, लोभ-मोह चित्त को और शीत-आतप शरीर को क्लेशदायक होने से ये छहों **ऊर्मि** कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छहों ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और सुख-दुःख आदि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाती है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। जयन्त भट्ट[1] ने बहुत विस्तारपूर्वक भाववादी वेदान्तियों के मत का खण्डन कर मुक्ति के अभाव पक्ष को पुष्ट किया है। मुक्ति में सुख न मानने का प्रधान कारण यह है कि सुख के साथ राग का सम्बन्ध सदा लगा रहता है और यह राग ही बन्धन का कारण है। ऐसी अवस्था में मोक्ष को सुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। इसीलिये नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव-रूप ही मानते हैं।

इसी अभावात्मक मोक्ष की कल्पना के कारण वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैयायिकों की बहुत दिल्लगी उड़ाई है। उनका कहना है कि जिन सूत्रकारों ने सचेत प्राणियों के लिये ज्ञान, सुख आदि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बताकर उपदेश किया है उनका 'गोतम' नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है; अपितु अर्थतः भी यथार्थ है। वे केवल गो न होकर गोतम (अतिशयेन गौरिति गोतमः = घोर बैल)[2] हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नैयायिक मुक्ति और हीनयानी निर्वाण की कल्पना एक ही है।

(ख) महायान

हीनयान संप्रदाय के अनुसार निर्वाण का रूप बताया गया है। महायान संप्रदाय वाले इस मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी सम्मति में इस निर्वाण से केवल क्लेशावरण का ही क्षय होता है, ज्ञेयावरण

---

१. न्यायमञ्जरी, भाग २ (चौखंभा संस्करण), पृष्ठ ७५–८१।

२. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थस्तथैव सः॥
(नैषधचरित, १७।७५)।

की सत्ता बनी ही रहती। हीनयान संप्रदाय की दृष्टि में रागद्वेष की सत्ता पञ्चस्कन्ध के रूप से या उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के ऊपर अवलम्बित है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ यागादिक में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है। परलोक में आत्मा को सुख पहुँचाने के लिये ही मनुष्य नाना प्रकार के अकुशल कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिए समस्त क्लेश और दोष इसी आत्मदृष्टि (सत्काम दृष्टि) के विषम परिणाम हैं। अतः आत्मा का निषेध करना क्लेश-नाश का परम उपाय है[1]। इसी को कहते हैं पुद्गल नैरात्म्य। हीनयान इसी नैरात्म्य को मानता है, परन्तु इस नैरात्म्य के ज्ञान से केवल **क्लेशावरण** का ही क्षय होता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरे आवरण की भी सत्ता है, जिसे **ज्ञेयावरण** कहते हैं। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में इन दोनों आवरणों का भेद बड़ी कुशलता से दिखाया गया है। नैरात्म्य दो प्रकार का है—(क) पुद्गल-नैरात्म्य और (ख) धर्म-नैरात्म्य। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं, अतः पुद्गल नैरात्म्य के ज्ञान से प्राणी सब क्लेशों को छोड़ देता है।

जगत् के पदार्थों के अभाव या उनकी शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर पड़ा आवरण स्वतः छिन्न भिन्न हो जाता है। मोक्ष और सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिये इन दोनों आवरणों (क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण) का हटना नितान्त आवश्यक है। क्लेश मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवरण का काम करते हैं—मुक्ति को रोकते हैं। अतः इस आवरण को दूर हटाने से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञेयावरण सब ज्ञेय पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। अतः इस आवरण के दूर हो जाने पर सब वस्तुओं में अप्रतिहत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिससे सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है[2]।

---

१. सत्कामदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशाँश्च दोषाँश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयञ्च बुद्ध्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ॥
(चन्द्रकीर्तिकृत 'मध्यमकावतार'—६।१२० । माध्यमिकवृत्ति, पृ० ६४० में उद्धृत)।

२. पुद्गलधर्मनैरात्म्यप्रतिपादनं पुनः क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणार्थम्। तथा ह्यात्मदृष्टिप्रभवा रागादयः क्लेशाः पुद्गलनैरात्म्यावबोधश्च सत्कामदृष्टेः प्रतिपक्षत्वात् तत्प्रहाणाय प्रवर्तमानः सर्वक्लेशान् प्रजहाति। धर्मनैरात्म्यज्ञानादपि ज्ञेयावरणप्रतिपक्षत्वाद् ज्ञेयावरणं प्रहीयते। क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमपि मोक्षसर्वज्ञत्वाधिगमार्थम्। क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति; अतस्तेषु

अवरणों का यह द्विविध भेद दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। महायान संप्रदाय के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहले आवरण (अर्थात् क्लेशावरण) का ही अपनयन होता है। परन्तु शून्यता का ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। जब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता तब तक वास्तविक निर्वाण हो ही नहीं सकता। परन्तु हीनयानी लोग इस भेद को मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है; परन्तु महायान संप्रदाय की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान संप्रदाय के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। किन्तु महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उद्देश्य की इसी भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन का मत

नागार्जुन ने निर्वाण की बहुत विशद परीक्षा 'माध्यमिककारिका' के पचीसवें परिच्छेद में की है। उनके मतानुसार निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जाता है। यह न तो उच्छिन्न होने वाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। यह न तो निरुद्ध है और न उत्पन्न। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है, यह दोनों से भिन्न है—

अप्रहाणम् असंप्राप्तम् अनुच्छिन्नम् अशाश्वतम्।
अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते॥

इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण (त्याग) नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही सम्भव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाशरहित है। और इसका लक्षण शब्दतः निर्वचनीय नहीं है। जब तक कल्पना का साम्राज्य बना हुआ है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और

प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते। ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतमक्लिष्टज्ञानम्। तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते॥ (स्थिरमतिकृत और डा० सिल्वन लेवी द्वारा संपादित 'त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम्'—पृष्ठ १५)।

संसार में कुछ भी भेद नहीं है। कल्पना-जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है। नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ मानने वाले तथा अभाव पदार्थ मानने वाले दार्शनिकों के मत की आलोचना की है। उनके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनों से अतिरिक्त पदार्थ है। यह अनिर्वचनीय है। यह परम तत्त्व है। इसी का नाम **भूतकोटि** या **धर्मधातु** है।

दोनों मतों में निर्वाण का सामान्य रूप

हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों के ग्रन्थों के अनुशीलन से निर्वाण विषयक सामान्य कल्पना का रूप इस प्रकार का स्थिर होता है—(१) यह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता (निष्प्रपञ्च)। यह असंस्कृत धर्म है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न इसका विनाश है और न परिवर्तन है। (२) इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी को योगाचारी लोग प्रत्यात्मवेद्य कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्बं' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। (३) यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के बुद्धों के लिये एक है और सम है। (४) मार्ग द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। (५) निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है। (६) दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथा शक्ति को लोकोत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निर्वाण को निम्न कोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इसे हीनयानी लोग भी स्वीकार करते हैं।

दोनों सम्प्रदायों में निर्वाण की कल्पना में पार्थक्य

हीनयान	महायान
(१) निर्वाण सत्य, नित्य, दुःखाभाव तथा पवित्र है।	(१) महायानी इसको स्वीकार करता है, केवल दुःखाभाव न मानकर इसे सुखरूप मानता है। वस्तुतः माध्यमिक और योगाचार नित्य, अनित्य, सुख और असुख की कल्पना निर्वाण में नहीं मानते, क्योंकि उनकी दृष्टि में निर्वाण अनिर्वचनीय है।
(२) निर्वाण प्राप्त करने की वस्तु है (प्राप्तम्)।	(२) निर्वाण अप्राप्य है।

(३) निर्वाण भिक्षुओं के ध्यान और ज्ञान के लिये आरम्भण (आलम्बन) है।	(३) ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय, भिक्षु और निर्वाण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।
(४) निर्वाण लोकोत्तर दशा है। प्राणिमात्र के लिये यह ऐसी सबसे उन्नत दशा है जिसकी कल्पना की जा सकती है।	(४) लोकोत्तर से भी बढ़कर एक दशा होती है जिसे 'लंकावतार सूत्र' में **'लोकोत्तरतम'** कहा गया है। यही निर्वाण है, जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। योगाचार के मत में हीनयानी लोग केवल विमुक्तिकाय (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं और महायानी लोग धर्मकाय और सर्वज्ञत्व को प्राप्त करते हैं।
(५) निर्वाण के केवल दो रूप हैं—सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष या प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध।	(५) योगाचार के अनुसार निर्वाण के दो भेद और होते हैं—प्रकृतिशुद्ध निर्वाण और अप्रतिष्ठित[1] निर्वाण।
(६) हीनयानी निर्वाण और संसार की धर्म-समता नहीं मानता।	(६) माध्यमिकों के मतानुसार निर्वाण ही निराकार परमार्थभूत है। यही

१. 'सूत्रालङ्कार' (पृष्ठ १२६-१२७) के अनुसार श्रावक और प्रत्येक बुद्ध मैत्री से हीन होने के कारण अपना चित्त निर्वाण की प्राप्ति में ही लगाते हैं, परन्तु बोधिसत्त्व मैत्री से युक्त होने के कारण निर्वाण में अपना चित्त कभी नहीं लगाता। इसीलिये उसकी सत्ता 'अप्रतिष्ठित निर्वाण' में मानी जाती है। यह निर्वाण बुद्धों के द्वारा ही प्राप्य है। यह अवस्था अर्हत् से बढ़कर है। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के अनुसार इस दशा में बुद्ध संसार एवं निर्वाण दोनों की कल्पना से बहुत ऊँचे रहते हैं।

आविष्टानां कृपया न तिष्ठति मनः शमे कृपालूनाम्।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः॥

निःस्नेहानां श्रावकप्रत्येकबुद्धानां सर्वदुःखोपशमे निर्वाणे प्रतिष्ठितं मनः, बोधिसत्त्वानां तु करुणाविष्टत्वाद् निर्वाणेऽपि मनो न प्रतिष्ठितम्।

एकमात्र सत्ता है। अन्य पदार्थ चित्त के केवल विकल्पमात्र हैं। इस प्रकार निर्वाण और संसार में धर्म-समता रहती है। इन दोनों का सम्बन्ध समुद्र और लहरी के समान है।

(७) हीनयानी जगत् के पदार्थों की भी सत्ता मानता है। जगत् उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार निर्वाण।

(७) माध्यमिक और योगाचार दोनों की सम्मति में निर्वाण अद्वैत है, अर्थात् उसमें ज्ञाता, ज्ञेय; विषय, विषयी; विधि, निषेध का द्वैत किसी प्रकार भी विद्यमान नहीं रहता। यही एक तत्त्व है। जगत् का प्रपञ्च मायिक तथा मिथ्या है।

(८) हीनयानी को यह द्विविध आवरण की कल्पना मान्य नहीं है। उसकी सम्मति में क्लेशावरण के अनन्तर अर्हत् का ज्ञान आवरणहीन रहता है।

(८) महायान-सम्प्रदाय में निर्वाण की प्राप्ति को रोकने वाले दो प्रकार के आवरण माने गए हैं—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। उनकी सम्मति में हीनयानी केवल क्लेशावरण से मुक्त हो सकता है। और वे ही स्वयं दोनों आवरणों से मुक्त हो सकते हैं[1]।

निर्वाण का परिनिष्ठित रूप

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में जब भिक्षु अर्हत् की दशा प्राप्त कर लेता है, तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होति है। साधारणतया प्राणी पूर्व-कर्मों के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का संघातमात्र है। वह अनन्त काल से इस भ्रान्ति में पड़ा है कि उसके भीतर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। **अष्टाङ्गिक मार्ग** के सेवन से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कन्धों से उसका शरीर बना हुआ है वे स्कन्ध

---

१. हीनयानी निर्वाण का वर्णन कथावत्थु, विशुद्धिमग्ग तथा अभिधम्मकोश के अनुसार है, तथा महायानी निर्वाण का वर्णन माध्यमिकवृत्ति, लंकावतारसूत्र के अनुसार है। इन दोनों मतों के विशेष विवरण के लिये देखिए दत्तकृत आस्पेक्ट्स आव् महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १९८-२०१।

विशिष्ट रूप से उसी के नहीं हैं; अपितु जगत् के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कन्धों से बने हैं। इस विषय का जब उसे अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना विभेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है, तथा सब प्राणियों के एकत्व की भावना उसके हृदय में जागरित हो जाती है। साधारण रीति से हीनयानी निर्वाण की यही कल्पना है। परन्तु महायानी कल्पना इससे नितान्त भिन्न है; महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्मधातु को ही सत्य मानते हैं। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी हैं वे सब कल्पना-जाल में पड़े हैं। पुत्र और धन को रखने वाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्ति में पड़ा हुआ है, जिस प्रकार सुख और शान्ति के सूचक निर्वाण को पाने वाला हीनयानी अर्हत्। दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपञ्च में पड़े हुए हैं। हीनयानी मत में निर्वाण ही परम सत्ता है, उसे छोड़कर जगत् के समस्त पदार्थ कल्पना-प्रसूत हैं। जिस क्षण प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही हैं), उस क्षण वह बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। इसके लिये केवल अपने आत्मत्व की भावना को दूर करने से काम नहीं चलेगा; प्रत्युत जिस वस्तु को वह देखता है वह पदार्थ भी आत्मशून्य है, इसका ज्ञान भी परमावश्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की भी प्राप्ति हो जाती है।

सांख्य और वेदान्त की मुक्ति से निर्वाण की तुलना

उपरिनिर्दिष्ट निर्वाण की द्विविध कल्पना सांख्य तथा वेदान्त की मुक्ति के साथ तुलनीय है। इन दोनों ब्राह्मण दर्शनों की मुक्ति में महान् अन्तर है। सांख्य द्वैतवादी है और वेदान्त अद्वैतवादी। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति और पुरुष को एक मानने से अज्ञान उत्पन्न होता है, वेदान्त की दृष्टि में एक तत्त्व को अनेक समझना अज्ञान है। सांख्य की प्रक्रिया के अनुसार समाधि के द्वारा बाह्य जगत् के पदार्थों पर ध्यान लगाने से सब विषय धीरे धीरे छूट जाते हैं, तथा अस्मिता में उनका अवसान हो जाता है। अस्मिता विषयी और विषय के परस्पर मिश्रण की सूचक है। 'अस्मि' में दो अंश हैं—अस्+मि। अस्=सत्त्व या प्रकृति तथा मि=उत्तम पुरुष=चेतन। 'अस्मि' पुरुष नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सत्त्व का अंश नहीं है। 'अस्मि' प्रकृति भी नहीं है, क्योंकि जड़ होने से वह

'मि' अर्थात् 'चेतन पुरुष' नहीं हो सकती। इसीलिए 'अस्मि' प्रकृति तथा पुरुष का, विषयी तथा विषय का मिश्रण है। समाधिप्रज्ञा के बल पर हम इस अंश तक पहुँचते हैं। अब यहाँ से पुरुष को प्रकृति से पृथक् हटाने का प्रयत्न होता है। विवेकख्याति ही सांख्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति तथा पुरुष के पृथक्त्व के ज्ञान को **विवेकख्याति** कहते हैं। 'योगसूत्र' के मतानुसार इसकी सात भूमियाँ हैं। पुरुष धीरे धीरे इन भूमियों को पार करता हुआ सत्त्व से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सत्त्व तो स्वयं अंधकारमय है; पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ही वह दिखाई पड़ता है। विवेकख्याति होने पर जब पुरुष का प्रतिबिम्ब हट जाता है, तब सत्त्व जड़ अंधकारमय हो जाता है। यही सांख्य की मुक्ति है, जिसमें पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति का सर्वथा विनाश हो जाता है। इस मुक्ति की कल्पना में प्रकृति अवश्य रहती है, परन्तु पुरुष से उसका किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता।

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना

वेदान्त में मुक्ति की कल्पना इससे बढ़कर है। उसमें प्रकृति या माया का कोई भी स्थान नहीं है। माया बिल्कुल असत्य पदार्थ है, ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ है। जब इसका ज्ञान हो जाता है, तब प्रकृति या माया की सत्ता कथमपि रहती ही नहीं। ब्रह्म की ही केवल सत्ता रहती है। उस समय ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का भान होता है। वेदान्त की मुक्ति आनन्दमयी है। वह नैयायिक तथा सांख्य की मुक्ति के समान आनन्दविरहित नहीं है। इस प्रकार सांख्य मत में क्लेशावरण का ही क्षय होता है, परन्तु वेदान्त में ज्ञेयावरण का भी लोप हो जाता है। अतः हीनयानी निर्वाण सांख्य की मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदान्त की मुक्ति का प्रतीक है।[1]

१—बौद्ध निर्वाण के विस्तृत तथा प्रामाणिक प्रतिपादन के लिये देखिए—

(अ) डा० ओबरमिलरकृत निर्वान एकार्डिंग टु टिबेठन ट्रेडिशन, आई० एच० क्यू०, भाल्यूम १०, संख्या २, पृष्ठ २११–२५७।

(आ) डा० दत्तकृत आस्पेक्ट्स आव् महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १२९–२०४

(इ) डा० पासिनकृत लेक्चर्स आन निर्वान।

(ई) डा० स्टरबाट्स्कीकृत दि सेंट्रल कांसेप्शन् आव् निर्वान।

समीक्षा

बुद्ध दर्शन की मूलभित्ति उपनिषद् ही है। कर्मकाण्ड की अकिञ्चित्करता, भवप्रपञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के नाश से रागद्वेषादि बन्धनों से मुक्त होना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में उपलब्ध होते हैं। 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति का तत्त्व छान्दोग्य में उल्लिखित है (छा० उप० ९।२।१)। अन्य कतिपय सिद्धान्तों में समानता भले हो, परन्तु क्षणिकवाद, अनात्मता, विज्ञान तथा शून्य की वास्तविकता के सिद्धान्त इतने घोर विद्रोही थे कि ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने इनका खण्डन नितान्त प्रौढ़ युक्तियों के सहारे किया।

क्षणभङ्गनिरास

जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने से व्यवहार तथा परमार्थ की उपपत्ति कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती[1]। वस्तुओं के क्षणिक होने पर किसी क्षण की क्रिया फल उत्पन्न किये बिना ही अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है; इस दोष का नाम **'कृतप्रणाश'** है। और किसी भी क्रिया के बिना किए प्राणी को स्वयं अकृत कर्मों के फल को भोगना पड़ता है (अकृत कर्म भोग)। भवभंग का दोष उसी प्रकार जागरूक है। कर्मफल को भोगने के लिए ही प्राणियों का जन्म होता है, परन्तु क्षणिकवाद के मानने पर जब प्राणियों में उत्तरदायित्व का ही अभाव है, तब संसार की उत्पत्ति ही क्योंकर सिद्ध मानी जाय? मोक्ष सिद्धान्त को भी इससे हानि पहुँचेगी। बुद्धधर्म मोक्षप्राप्ति के लिए **अष्टाङ्गिक मार्ग** का विधान करता है, परन्तु कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सुतरां असम्भव है, तब निरोधगामिनी प्रतिपद् की व्यवस्था का फल क्या होगा? स्मृति-भंग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिए एक प्रबल व्यावहारिक प्रमाण है। स्मरणकर्ता तथा अनुभवकर्ता की एकता लोकव्यवहार अंगीकार करता है। पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो, परन्तु क्षणिकवाद के अनुसार अनुभव का कर्ता कल रहनेवाला देवदत्त है और स्मरण करता है आज का देवदत्त व्यक्ति। स्मरण के समान प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की व्यवस्था कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से क्षणिकवाद विचार की

---

१. द्रष्टव्य कुमारिल—श्लोकवार्तिक (पृ० २१७–२२३), शङ्कराचार्य—२।२।१८ शांकरभाष्य, जयन्तभट्ट—न्यायमञ्जरी भाग २ (पृ० १६–३९), मल्लिषेण—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० १२२–१२६।

कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। इसीलिए इतने दोषों के रहने पर हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद को माननेवाले बौद्ध को ठीक ही 'महासाहसिक' कहा है।[११]

क्षणिकवाद के अंगीकार से विषम अवस्था की झलक जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। बौद्ध लोगों का चरित दम्भों की खान है। उनकी कथनी तथा करनी में कितना अन्तर दीखता है। कहते हैं कि आत्मा नहीं है, पर स्वर्ग पाने के लिए चैत्य की पूजा करते हैं। संस्कार क्षणिक होते हैं, तब युग युग में रहने वाले विहार क्यों बनाये जाते हैं? जब सब शून्य ही है तब गुरु को धन देने का आदेश क्यों दिया जाता है? इस प्रकार उनके उपदेश में और व्यवहार में महान् अन्तर उनकी दाम्भिकता को दिखला रहा है।[१२]

आत्मा को पञ्चस्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को हानि पहुँचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक ने पुण्य किया, वह तो अतीत की वस्तु बन गया है। ऐसी दशा में पूर्वप्रदर्शित दोषों का सद्भाव तो बना ही रहेगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए बौद्धों ने **'वासना'** का अस्तित्व माना है। पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान में उत्पन्न शक्ति को बौद्ध वासना कहते हैं (**वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः**—स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९)। प्रथमतः वासना का क्षण-सन्तति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं उत्पन्न होता। और भी वासना स्वयं निर्विषय ही ठहरती है। मृगमद की वासना के समान पूर्वक्षण से उत्तर क्षण का 'वासित' वासना का स्वरूप है, परन्तु स्थायी आधार के न होने से वह संक्रमण-शीलता कैसे सिद्ध मानी जाय? स्थायी वस्त्र की सत्ता रहने पर ही मृगमद की वासना ठीक है, परन्तु पञ्चस्कन्धों के क्षणिक होने से वासना का आधार कौन पदार्थ होगा? ऐसी दशा में **'वासना'** की कल्पना अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से बचा नहीं सकती।[१३]

विज्ञानवाद का खण्डन आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र (२।२।२८—३२) के भाष्य में बड़े विस्तार के साथ किया है। विज्ञानवादियों का बाह्यार्थ के अभाव का सिद्धान्त कथमपि माननीय नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थ की उपलब्धि का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। घटपटादि की अनुभूति सर्वजन प्रसिद्ध है। 'बाह्य पदार्थ विज्ञानात्मक होने पर भी बाह्य की भाँति (बहिर्वत्) प्रतीत होता है' इस कथन से भी बाह्यार्थ की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। सादृश्य की प्रतीति उभय पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता पर ही अवलम्बित रहती है। 'देवदत्त वन्ध्या-पुत्र के समान प्रकाशित हो रहा है' इस वाक्य का प्रयोग भला

कोई कर सकता है, जब वन्ध्यापुत्र एक झूठी कल्पना है। जाग्रत जगत् को भी स्वप्नवत् मायिक बतलाना तथ्य से बहुत दूर है, क्योंकि स्वप्नानुभूत पदार्थ का जागरण होने पर बाध हो जाता है, परन्तु जागरित दशा में उपलब्ध वस्तु का बाध किसी अवस्था में नहीं होता। और भी एक महान भेद है—स्वप्नदर्शन स्मृति रूप है, परन्तु जागरित दर्शन उपलब्धि रूप है। जागने पर ही स्वप्न की प्रतीति होती है। भूतकालीन होने से उसका स्मरण ही होता है, परन्तु जाग्रत अवस्था में जो अनुभव किया जाता है वह एक नई वस्तु होती है। स्मृति और उपलब्धि में स्पष्ट भेद है—स्मृति पूर्व अनुभव के स्मरण को कहते हैं और उपलब्धि होती है नया अनुभव। ऐसी दशा में जगत् को स्वप्न जगत् के समान मानना कपोल-कल्पना है।

शून्यवाद की कल्पना भी इसी प्रकार घोर विप्लव मचाने वाली है। शून्यवादी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति इस तत्त्व-चतुष्टय को परिकल्पित, अवस्तु मानते हैं। सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इसी निषेधात्मक सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि जितना वस्तुतत्त्व का विचार किया जाता है, उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा); परन्तु आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (पृ० २६८-३४५) में इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है। मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी (श्लोक १७) में इसके दोषों का संक्षेप में वर्णन किया है। शङ्कराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है।[१५]

———

भारतीय दर्शन

तृतीय खण्ड

(१) न्याय
(२) वैशेषिक
(३) सांख्य
(४) योग
(५) कर्ममीमांसा
(६) वेदान्त

सप्तम परिच्छेद

न्याय दर्शन

षड्दर्शनों का संक्षिप्त विवरण इस खण्ड का मुख्य विषय है। आस्तिक दर्शनों में ये ही प्रधान माने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति तथा विकास का सामान्य वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। यहाँ विकास की रूप-रेखा विशेषरूप से दिखाई जायेगी। आरम्भ **न्यायदर्शन** से किया जा रहा है। वैदिक धर्म के स्वरूपानुसन्धान के लिए न्याय की परम उपादेयता है। इसीलिए मनु ने श्रुत्यनुगामी तर्क के सहारे ही धर्म के रहस्य को जानने की बात लिखी है।[1] न्याय समस्त विद्याओं का प्रकाशक है। वात्स्यायन के शब्दों में न्याय विद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है; सब कर्मों का उपाय, प्रवर्तक है तथा समग्र धर्मों का आश्रय है।[2] यही सार्वजनीन उपयोगिता न्याय की लोकप्रियता का मुख्य हेतु है।

(१) नामकरण और आरम्भ

न्यायदर्शन का विषय **'न्याय'** का प्रतिपादन है। **'न्याय'** का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व की परीक्षा (**प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः**—वात्स्यायन-न्यायभाष्य १।१।१)। इन प्रमाणों के स्वरूप का वर्णन करने से तथा इस परीक्षाप्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के कारण यह दर्शन **न्याय-दर्शन** के नाम से पुकारा जाता है। **'न्याय'** शब्द का एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ है—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पञ्च अवयव। इस संकीर्ण अर्थ में 'न्याय' शब्द का प्रयोग प्रमाणों में अन्यतम पदार्थ अनुमान के लिये किया जाता है। इसका दूसरा नाम है—**आन्वीक्षिकी**, अर्थात् अन्वीक्षा के द्वारा प्रवर्तित होने वाली विद्या। अन्वीक्षा का अर्थ है[3]—(१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा (२) प्रत्यक्ष तथा शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत विषय की अनु (पश्चात्) ईक्षण = पर्यालोचन = ज्ञान, अर्थात् अनुमिति। अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम **आन्वीक्षिकी** है। अनुनान प्रक्रिया में हेतु का महत्व सबसे अधिक होता है; अतः इसका नाम **हेतुविद्या** या हेतुशास्त्र भी है। विद्वानों की परिषद् में किसी गूढ़ विषय के विचार

नामकरण

या शास्त्रार्थ को 'वाद' के नाम से पुकारते हैं। ऐसे शास्त्रार्थों में नितान्त उपादेय होने के कारण यह **वादविद्या** या तर्कविद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रमाण की मीमांसा करने से न्यायदर्शन प्रमाणशास्त्र भी कहलाता है। इन विभिन्न अभिधानों पर दृष्टिपात करने से न्याय का मूल प्रयोजन छिपा नहीं रह जाता कि प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना और प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश्य है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति

न्यायविद्या की उत्पत्ति का समय इतना सुदूर, अतीत तथा धुँधला है कि उसका यथार्थ ज्ञान इस समय एक प्रकार से असम्भव सा है। तर्क के उपयोग से तथ्य का पता लगाना प्राचीन काल में भी अज्ञात न था। श्रुति ने आत्मदर्शन के जिन उपायों का वर्णन किया गया है उनमें युक्तियों के सहारे तर्कानुकूल मनन भी एक उपाय है। इसके अतिरिक्त उपनिषत्काल में ही अजातशत्रु तथा जनक की सभा में तत्कालीन अनेक तार्किकों का जमाव होता था, जिसमें अनेक रहस्यमय समस्याओं की आलोचना की जाती थी। अतः उपनिषदों के समय में भी 'वाद' की सफलता के लिए अनेक तर्कप्रधान नियमों की छानबीन की जा चुकी थी, तथा तर्कविद्या आरम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी।

संहिता काल में दो प्रकार की दृष्टियों की पर्याप्त सूचना उपलब्ध होती है, जिनमें पहली दृष्टि को **'प्रातिभ'** तथा दूसरी दृष्टि को **'तार्किक'** कह सकते हैं। तर्क-प्रधान दृष्टि श्रौत आचार के विभिन्न नियमों में प्रतीत होने वाले विरोध के परिहार के लिए की जाती थी। श्रौतानुष्ठान के विरोध को सुलझाने के लिए मीमांसा ने तर्क का उपयोग सर्वप्रथम किया। मीमांसकगण भारतीय दर्शन के इतिहास में पहले नैयायिक थे। इसी कारण मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था, बहुत दिनों तक 'न्याय' धर्ममीमांसा के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। पर पीछे वह श्रौत विषय की परिधि को छोड़कर बाहर आया और धर्मेतर विषयों की विवेचना में भी प्रयुक्त होने लगा।

इस प्रकार वैदिक काल में तर्क की पर्याप्त उन्नति के लक्षण उपलब्ध होते हैं। उपनिषदों के सिद्धान्त मूलतः अद्वय-प्रतिपादक हैं, तथा न्याय वैशेषिक के मौलिक सिद्धान्तों से प्रतिकूल हैं; तथापि कतिपय तथ्य उपनिषदों में भी यत्र तत्र मिलते हैं। बृहदारण्यक (२।१।१९) का कथन है कि जब (अन्तःकरण) नाड़ियों के द्वारा पुरीतत नामक नाड़ी में स्थित हो जाता है, तब निद्रा आती है।

न्याय ने इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, पर आत्मा के स्थान पर मन को ला जमाया। वैशेषिक द्रव्य की कल्पना तथा संख्या का निर्धारण करने में उपनिषदों का विशेष ऋणी है, क्योंकि उपनिषदों में द्रव्यों की संख्या का निरूपण अनेक स्थानों पर पाया जाता है। छान्दोग्य (७।१२।१) ने आकाश को शब्दों का वाहक बतलाया है; उसका कहना है कि 'आकाश के द्वारा मनुष्य किसी को बुलाता है, आकाश के द्वारा मनुष्य सुनता है, और आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि सुनता है।' न्याय ने इस सिद्धान्त को अपने दर्शन में खूब महत्त्व दिया है। अतः अन्य दर्शनों के समान न्यायदर्शन भी श्रुति-मूलक है।

(२) न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

भारतीय दर्शनों के इतिहास में ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्यायदर्शन का स्थान वेदान्त दर्शन को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ है। विक्रम की ५ वीं शताब्दी पूर्व से लेकर आजतक न्याय-दर्शन की विमल धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चली आ रही है। आरम्भ में न्याय और वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शनों के रूप में प्रादुर्भूत हुए। अपने उत्पत्तिकाल में न्याय पूर्वमीमांसा का पुत्र था, परन्तु कालान्तर में वह वैशेषिक का सहायक बन गया। इसलिये वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्याय का **'प्रतितन्त्र-सिद्धान्त'** कहा है। बौद्धकाल में इन दोनों दर्शनों का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि न्याय के सूत्र वैशेषिक दर्शन के सूत्रों के नाम से उल्लिखित किये जाने लगे। वसुबन्धु ने इसी विस्तृत अर्थ में वैशेषिक शब्द का प्रयोग किया है, तथा 'शतशास्त्र' में आर्यदेव के द्वारा उद्धृत न्याय-सूत्रों को भी उनके टीकाकर ने वैशेषिकसूत्र ही बतलाया है। ११ वीं शताब्दी में शिवादित्य के 'सप्तपदार्थी' में दोनों दर्शनों का समन्वय एक साथ किया गया मिलता है। समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से निष्पन्न की गई मिलती है। यदि न्यायसम्मत षोडश पदार्थों का वर्णन अभीष्ट होता, तो 'प्रमेय' के अन्तर्गत वैशेषिक के षड्-पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे तर्कभाषा में)। यदि वैशेषिक की रूपरेखा स्वीकृत की गई होती, तो 'बुद्धि' गुण के अन्तर्गत न्याय-सम्मत प्रमाणों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे कारिकावली तथा तर्कसंग्रह में)। कणादसूत्र गौतमसूत्रों से प्राचीनतर है।

न्यायदर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धारायें दृष्टिगत होती हैं। पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है, जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण होने से 'पदार्थ मीमां-

सात्मक' प्रणाली (कैटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को 'प्रमाण मीमांसात्मक' (एपिस्टोमोलॉजिकल) कहते हैं, जिसे गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्व-चिंतामणि' में प्रवर्तित किया। प्रथम धारा को 'प्राचीन-न्याय' तथा दूसरी को 'नव्य-न्याय' कहते हैं। अर्थात् प्राचीनन्याय में पदार्थों की मीमांसा ही मुख्य विषय है, तथा नव्यन्याय में प्रमाणों का वर्णन और विस्तृत विषय प्रधान है।

गौतम—न्यायसूत्र के रचयिता गोत्र-नाम गौतम या गोतम है, व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति इन्हें मिथिलानिवासी मानने के पक्ष में है। न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थों के उद्देश्य (नामकथन), लक्षण (परिभाषा) तथा परीक्षण किये गये हैं। इन षोडश पदार्थों के नाम हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह-स्थान। इन पदार्थों का उपयोग वादी-प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त-निर्णय के लिए किया जाता है। न्यायसूत्र के निर्माण-काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन पाकर डा० याकोबी सूत्रों की रचना तृतीय शताब्दी में मानते हैं, पण्डित हरप्रसाद शास्त्री द्वितीय शतक में तथा डा० विद्याभूषण षष्ठ शतक विक्रम-पूर्व मानते हैं।[1] सूत्र नितान्त प्राचीन हैं। चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित 'वाद' बुद्ध के जन्मकाल से भी पूर्व प्रचलित थे। अतः गौतम के समय को विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दीख पड़ती। सूत्रों में क्षेपक की कल्पना भी निःसार तथा निर्मूल है।

वात्स्यायन (वि० पू० प्रथम शतक)—ने न्यायसूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना की। सूत्रों के गूढ़ अर्थों के रहस्य को जानने के लिए भाष्य से बढ़कर अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इसके भी प्रथम व्याख्या-ग्रन्थ था। अनेक वार्तिकों का उद्धरण तथा व्याख्यान भाष्य के प्रथम अध्याय में पाये जाते हैं। 'त्रिविधमनुमानम्' (न्या० सू० १।१।५) के व्याख्याप्रसंग में भाष्यकार ने दो प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है। अतः सूत्रकार तथा भाष्यकार के बीच यदि चार सौ वर्ष का अन्तर माना जाय, तो भाष्य का रचनाकाल विक्रमपूर्व प्रथम शतक सिद्ध होगा।

---

१. **म० म० पं० गोपीनाथ कविराज—न्यायभाष्य अंग्रेजी—अनुवाद की भूमिका, पृ० १–१८ (कलकत्ता)।**

उद्योतकर (षष्ठ शतक)—इन्होंने दिङ्नाग के कुतर्कों का खण्डन करने के लिए तथा ब्राह्मण-न्याय की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से **न्यायवार्तिक** लिखा। सुबन्धु ने अपनी 'वासवदत्ता' में 'न्यायसंगतिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' लिखकर न्यायजगत् में उद्योतकर की विमल कीर्ति की सूचना दी है। यह सुप्रसिद्ध है कि दिङ्नाग के विख्यात टीकाकार धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस दिङ्नागीय प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' पद जोड़कर उद्योतकर के प्रबल खण्डन से इसे बचाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। अतः धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी का द्वितीय भाग) तथा सुबन्धु (षष्ठ शतक का मध्य भाग) से उद्योतकर प्राचीन है। दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्यायविद्या के विमल प्रकाश का सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। यह ग्रन्थ प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण है। उद्योतकर की बौद्धन्याय की विद्वत्ता नितान्त श्लाघनीय है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शतक)—के समय में पण्डितमण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गूढ़ार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की 'अतिजरती' वाणी के मर्म को समझाने के लिए वाचस्पति ने 'तात्पर्यटीका' का प्रणयन किया। इनके 'न्यायसूची निबन्ध' की रचना ८९८ विक्रमी में हुई अतः इनका समय नवमी शताब्दी का मध्य भाग है। ये मिथिला के निवासी थे। अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण **'स्वर्वतन्त्रस्वतन्त्र'** कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़ कर पञ्चदर्शनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। 'तात्पर्यटीका' ने न्याय के प्रमेयों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझने में इतनी सफलता पाई कि ये **'तात्पर्याचार्य'** के नाम से न्याय-जगत् में विख्यात हैं।

जयन्त भट्ट (नवम शतक)—'न्यायमञ्जरी' में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख करने से इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनकी 'न्यायमञ्जरी' गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला वृत्ति है। विरोधी मतावलम्बियों (विशेषतः चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) का प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा खण्डन अत्यन्त रोचक और साहित्यिक भाषा में किया गया है।

भासर्वज्ञ (नवम शतक)—रत्नकीर्ति (१००० ई०) ने 'अपोहसिद्धि' में इनके 'न्यायभूषण' को उद्धृत किया है, तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरुद्धव्यभिचारी' दोष को अपने ग्रन्थ में ग्रहण किया है। अतः इनका समय नवम शताब्दी

का अन्त है। इनकी एक ही रचना **'न्यायसार'** न्यायजगत् में इन्हें अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ तथा परमार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पक्षाभास एवं दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धिरूप मुक्ति की कल्पना—इनके ये कतिपय सिद्धान्त नैयायिक जगत् में सर्वथा अपूर्व हैं।

उदयनाचार्य (दशम शतक)—उदयन का समय १० म शतक का उत्तरार्ध है। लक्षणावली के निर्माण का काल ९०६ शकाब्द (९८४ ईस्वी) है[५]। **'तात्पर्य-परिशुद्धि'** तात्पर्यटीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है, परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता मौलिक चिन्ता थी। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं—आत्मतत्व-विवेक (प्रसिद्ध नाम बौद्धधिक्कार) तथा न्यायकुसुमाञ्जलि। प्रथम ग्रन्थ में क्षणभंग तथा शून्यवाद का खण्डन कर न्याय-सम्मत आत्मतत्त्व का विस्तृत निरूपण है। 'न्यायकुसुमाञ्जलि' तो उदयन के ग्रन्थों में मुकुटमणि है। इसमें सांख्यादि वैदिक तथा बौद्धादि वेदबाह्य दर्शनों के ईश्वर-निषेधक प्रमाणों का न्यायपक्ष से बड़ा ही मार्मिक तथा विद्वत्तामण्डित खण्डन है। ईश्वर-सिद्धि के विषय में यह तर्कप्रधान ग्रन्थ न्यायजगत् में अद्वितीय है।

गंगेश (१३ शतक)—उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने एक ऐसे नैयायिक-रत्न को जन्म दिया जिसने प्राचीन-न्याय की धारा पलट कर 'नव्यन्याय' को जन्म दिया। इनका नाम गंगेश उपाध्याय था, जिनकी रचना 'तत्त्व-चिन्तामणि' न्याय के इतिहास में वास्तव में एक नवीन युग का प्रवर्तक है। गंगेश के हाथों में पुराना पदार्थ-शास्त्र अब सर्वाङ्गपूर्ण प्रमाण-शास्त्र में परिवर्तित हो गया। 'तत्त्व-चिन्तामणि' की भाषा भी इसी प्रकार अपनी विशिष्टता के लिये विख्यात है। गंगेश ने अवच्छेदक, अवच्छेद्य; निरूपक, निरूप्य तथा अनुयोगी, प्रतियोगी आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना कर भाषा का जो शास्त्रीय विशुद्ध रूप निर्धारित किया, वह वास्तव में एक श्लाघनीय व्यापार है। गंगेश ने खण्डनखण्ड-खाद्यकार श्रीहर्ष (१२ वें शतक का अन्तिम भाग) का उल्लेख कर उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया। जयदेव (पक्षधरमिश्र, १३वें शतक का अन्तिम भाग) ने इनके 'तत्त्वचिन्तामणि' के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी है। इस प्रकार इनका समय श्रीहर्ष तथा जयदेव के मध्य, अर्थात् १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में समझना चाहिये।

अब पाण्डित्य की कसौटी क्या थी? उदयन तथा गंगेश के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर व्याख्या की रचना। गंगेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय अपने पिता

के समान ही उद्भट नैयायिक थे। सर्व-प्रथम इन्होंने उदयन के ग्रन्थों, गंगेश के 'चिन्तामणि' तथा वल्लभाचार्य के 'न्यायलीलावती' पर 'प्रकाश' नामक सुन्दर टीकाओं का निर्माण किया है। **जयदेव** के विषय में कहा जाता है कि तत्कालीन विद्वन्मण्डली में उनका प्रतिस्पर्धी कोई नहीं था।[६] किसी सिद्धान्त को लेकर पक्षभर तक समर्थन करने के कारण जयदेव ही सर्वसाधारण में 'पक्षधर मिश्र' के नाम से प्रख्यात थे। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' को 'आलोक' व्याख्यान से उद्भासित किया। इन्हीं के शिष्य रुचिदत्त मिश्र भी अपने समय के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिन्होंने वर्धमान के 'कुसुमाञ्जलि-प्रकाश' पर 'मकरन्द' तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'प्रकाश' नामक टीकायें लिखी हैं।

इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक मिथिला न्याय-विद्या की केंन्द्रस्थली बनी रही। १५ वीं शताब्दी में बङ्गाल के नवद्वीप में विद्यापीठ की स्थापना हुई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के काल को 'नव्यन्याय के इतिहास में सुवर्ण युग' समझना चाहिये। इसमें बङ्गाल के नैयायिकों ने अनेक प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थों की रचना कर नवद्वीप को वह प्रतिष्ठा प्रदान की जो आज भी अविच्छिन्नरूप से उसे प्राप्त है। इन नैयायिकों में **वासुदेव सार्वभौम** सर्वप्रथम थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्त तथा १६ वीं शताब्दी का आरम्भ-काल है। इन्हें बङ्गाल के अनेक महापुरुषों के गुरु होने का गौरव प्राप्त है। धार्मिक निबन्धों के निर्माता रघुनन्दन, शक्ति तन्त्रों के प्रामाणिक व्याख्याता तान्त्रिक कृष्णानन्द तथा नैयायिक-शिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य जैसे सुप्रसिद्ध पुरुष सार्व-भौम के ही शिष्य थे।

नवद्वीप के नैयायिक

रघुनाथ शिरोमणि (१६ वीं शताब्दी)—बङ्गीय नैयायिकों में रघुनाथ जैसा धुरन्धर तार्किक कोई नहीं हुआ। तर्क-विषयक अद्वितीयता के कारण नदिया की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक **'दीधिति'** है, जो गंगेश के 'तत्त्वचिन्तामणि' की विवरणात्मक टीका है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में 'दीधिति' ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों, रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्डार है।

मथुरानाथ (१६ शतक)—शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कवागीश निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इन्होंने 'आलोक', 'चिंतामणि'

तथा 'दीधिति' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर गूढ़ार्थप्रकाशिनी 'रहस्य' नाम्नी टीकायें लिखीं।

जगदीश भट्टाचार्य (१७ वीं शताब्दी)—मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के सबसे बड़े नैयायिक जगदीश ने 'दीधिति' के ऊपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी, जो सर्वसाधारण में 'जागदीशी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्द-शक्तिप्रकाशिका' शब्दशक्ति के ऊपर नितान्त प्रामाणिक और विस्तृत निबन्ध है जिसे पण्डितमण्डली जगदीश का सर्वस्व मानती है।

गदाधर भट्टाचार्य (१७ शती)—इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है 'दीधिति' की बृहत्काय व्याख्या, जो सर्वसाधारण में 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्वविवेक' के ऊपर तथा 'तत्त्व-चिन्तामणि' के कतिपय भागों पर 'मूलगादाधरी' नामक व्याख्या लिखी है। टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्त्वपूर्ण विषयों के ऊपर लगभग ५२ मौलिक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'शक्तिवाद' विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय एवं समादर के पात्र हैं।

यदि नव्यन्याय को एक विशालकाय वटवृक्ष की उपमा दी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस वटवृक्ष की जड़ें मिथिला की भूमि में बद्धमूल हुईं; इसका दृढ़तर स्तम्भ 'तत्वचिन्तामणि' के रूप में सुदृढ़ हुआ; इसकी विशालकाय शाखायें नवद्वीप की पवित्र-भूमि में 'दीधिति' के रूप में प्रकटित हुईं और इसके सुन्दर फल 'जागदीशी' और 'गादाधरी' के रूप में आविर्भूत होकर आज भी विद्वन्मण्डली को अपने मधुर आस्वाद से आनन्दित कर रहे हैं। यदि रघुनाथ शिरोमणि तार्किकों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर नैयायिकों के सम्राट् हैं, जिनके मस्तक को मणि से जटित वह मुकुट सुशोभित कर रहा है।

(३) न्याय प्रमाणमीमांसा

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने सामने उपस्थित होने वाली समस्त वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान) समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है। ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा होता है। इसीलिए यह प्रकाश आत्माश्रय कहा गया है।[७]

ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) स्मृति और (२) अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान **'स्मृति'** कहलाता है। अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न भावनारूप संस्कार अनुभवकर्ता के हृदय में विद्यमान रहता है। समान वस्तु के दर्शन होने पर सुप्त संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ को पुनः लाकर उपस्थित कर देता है, इसे ही **'स्मृति'** कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान को **'अनुभव'** कहते हैं। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) यथार्थ तथा (२) अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान को **प्रमा** कहते हैं, तथा अयथार्थ ज्ञान को **अप्रमा**।

प्रमा

न्याय बाह्यार्थ की सत्यता स्वीकार करता है। बौद्धों के सिद्धान्तों की निःसारता दिखलाते समय भाष्यकार ने स्पष्ट करके दिखलाया है (न्या० भा० ४।२।२७) कि "यदि बुद्धि से पदार्थों का विवेचन किया जाता है, तो पदार्थों की यथार्थ अनुपलब्धि नहीं हो सकती। यदि वस्तु की अनुपलब्धि है, तो बुद्धि द्वारा उसका विवेचन सम्भव नहीं है। समग्र पदार्थों का बुद्धि के द्वारा विवेचन सिद्ध है, अतः हम नहीं कह सकते कि उनकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती।" किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है और ऐसे प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं (**यथार्थनुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्**–उदयन)। वस्तु के यथार्थ-रूप के विषय में भाष्यकार का कथन है–"सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृहमाणं यथाभूत-मविपरीतं तत्त्वं भवति" (न्या० भा० १।१।१)। 'यदि कोई वस्तु सद्रूप से ग्रहण की जाती हो, तो जिस रूप में वह हो उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है, विपरीत रूप में नहीं।' असद्रूप वस्तु के विषय में भी यही नियम है। अतः जिस वस्तु का जिस रूप से सत्ता है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना प्रमा है; अन्यथारूप से ग्रहण करना अप्रमा है।

प्रामाण्य के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं। न्याय कर्म-मीमांसा के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' का खण्डन करता है और 'परतः प्रमाण्यवाद' को अंगीकार करता है। 'स्वतः' का अर्थ है अपने-आप। 'परतः' का अर्थ है बाहर से, दूसरों के द्वारा। 'स्वतः प्रामाण्य' का अर्थ यह है कि ज्ञान होने के साथ ही साथ उसकी सचाई तथा प्रामाणिकता भी आप ही आप प्रगट होती है। हम घड़े को अपने सामने पड़ा हुआ पाते हैं। इस ज्ञान के साथ ही साथ हमें यह भी ज्ञान

होता है कि यह घटज्ञान सच्चा है, प्रामाणिक है। यह सिद्धान्त मीमांसकों का है। न्याय इसका खण्डन करता है, तथा परतः प्रामाण्य के सिद्धान्त को मानता है। न्याय का कहना है कि घट के ज्ञान होने पर उसे प्रमाणों से सिद्ध भी करना पड़ता है कि यह घड़ा ही है, कपड़ा नहीं। जब किसी ज्ञान को युक्तियों के द्वारा उसे सच्चा सिद्ध करना पड़ता है, तब उसे 'परतः प्रमाण' कहते हैं ('परतः' अर्थात् युक्तियों के सहारे प्रमाणता की सिद्धि मानना)। नैयायिकों का यही सिद्धान्त है। घड़े के द्वारा हम जल भरते हैं, तथा अपनी प्यास बुझाते हैं। किसी वस्तु को देखकर हम कहते हैं कि यह घड़ा है; परन्तु यह ज्ञान तब तक यथार्थ तथा प्रामाणिक नहीं हो सकता, जब तक हम उस वस्तु से जल ग्रहण नहीं करते। पानी लाने की क्षमता होने से ही हम उस पदार्थ को 'घड़ा' कहते हैं। इस प्रकार घड़े का ज्ञान युक्तियों के सहारे सिद्ध होने पर ही सच्चा कहा जा सकता है। इसे ही कहते हैं—**परतः प्रामाण्य**। न्याय का यही मत है। किसी वस्तु के ज्ञान के अनन्तर उसके लिए इच्छा तथा यत्न करना आवश्यक होता है। यदि यह प्रवृत्ति सफल होती है तभी वह ज्ञान **प्रमा** कहलाता है। अत एव ज्ञान को प्रमा होने के लिए 'समर्थ प्रवृत्ति' का उत्पादन होना चाहिए। न्याय की भाषा में इसे कहते हैं—'समर्थ-प्रवृत्ति-जनकता' और यही ज्ञान के प्रमा होने में कारण होता है। स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक हैं और परतः प्रामाण्यवादी नैयायिक।

नैयायिकों का कहना है कि अगर ज्ञान का प्रामाण्य 'स्वतः' (अपने आप) गृहीत हो अर्थात् ज्ञान की सामग्री के अतिरिक्त उसके प्रामाण्य को समझाने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न हो, तो 'इदं ज्ञानं प्रमाणं न वा' = यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? इस प्रकार का संशय ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान के उत्पन्न करने के लिए जो सामग्री एकत्र की जायगी उसी से उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जायगा। प्रामाण्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होने के लिए कोई स्थान ही नहीं होगा, परन्तु व्यवहार में हम देखते हैं कि यहाँ संशय उत्पन्न होता है। अतः नैयायिक प्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। ज्ञान की प्रामाणिकता अनुमान प्रवृत्ति की चरितार्थता से उपलब्ध होती है। 'जानाति इच्छति यतते' ज्ञान के अनन्तर इच्छा का उदय होता है और इच्छा के बाद यत्न का। यदि यत्न की सफलता हुई, तब तो ज्ञान यथार्थ है, अन्यथा नहीं। 'तत्त्वचिन्तामणि' के मत से अनुमान के द्वारा ही ज्ञान

का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। अतः न्याय की दृष्टि से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों 'परतः' सिद्ध हैं।

भ्रान्ति के विषय में नैयायिकों ने बड़ी विवेचना की है। न्याय के अनुसार भ्रम विषयीमूलक है, विषयमूलक नहीं। तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों का त्यों बना रहता है। उद्योतकर ने (न्या० सू० १।१।४ वार्तिक में) मृगमरीचिका की शास्त्रीय व्याख्या कर दिखलाया है कि सूर्य की किरणों का सद्भाव ठीक है, स्पन्दन व्यापार भी यथार्थ है; अतः अर्थ का व्यभिचार नहीं होता, प्रत्युत ज्ञान का ही व्यभिचार होता है। सूर्य-रश्मियों में उदक की कल्पना को समझाने के लिए बौद्धों की असत्-ख्याति या आत्मख्याति उपयुक्त नहीं है। इन्द्रिय-दोष के कारण मरीचि में जल के धर्मों का स्मरण होता है। जल के धर्म के मानसिक उदय होते ही जहाँ-जहाँ जल की पूर्वानुभूति हुई है, वहाँ-वहाँ के जल का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है। इस अलौकिक प्रत्यक्ष से देखे हुए उदक के गुणों का आरोप समीपवर्ती मरीचि में कर दिया जाता है। यही है नैयायिकों का सिद्धान्त **'अन्यथा-ख्याति'** अर्थात् दूसरे गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना।

अन्यथाख्याति

प्रमा चार प्रकार की होती है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, (४) शब्द। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग से उत्पन्न अनुभव **'प्रत्यक्ष'**, अनुभव से साध्य का अनुभव **'अनुमिति'**, सादृश्य-ज्ञान के द्वारा उत्पन्न अनुभव **'उपमिति'** तथा शब्द की सहायता से उत्पन्न अनुभव **'शब्द'** कहलाता है। **अप्रमा** तीन प्रकार की होती है—(१) संशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्म से विशिष्ट ज्ञान को **'संशय'** कहते हैं। स्थाणुत्व-विशिष्ट स्थाणु को देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष', ऐसा संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होना संशय कहलाता है। **'विपर्यय'** मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। जैसे शुक्ति में रजत-ज्ञान। अविज्ञात स्वरूप वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए उपपादक प्रमाण का सहकारी जो ऊह (सम्भावना) है उसी को **'तर्क'** कहते हैं। इन चार प्रकार की प्रमाओं से सिद्ध करने के लिए चार प्रकार के प्रमाण होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(क) प्रत्यक्ष

यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं—'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव की उत्पत्ति होती है

उसे **'प्रमाण'** कहते हैं। प्रमा चार प्रकार की है और तदनुसार प्रमाणों की भी संख्या चार ही है। प्रमाण साधन है और प्रमा उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के कारण को अनुमान; उपमिति प्रमा के साधन को उपमान तथा शाब्द प्रमा के कारण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं। 'सन्निकर्ष' का अर्थ है—सम्बन्ध। नेत्र का घट के साथ सम्बन्ध होने पर घड़े का ज्ञान होता है, यही प्रत्यक्ष कहलाता है। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिये तीन सम्बन्ध की आवश्यकता होती है। आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होना आवश्यक होता है। आत्ममनःसंयोग ज्ञानमात्र के लिए आवश्यक होता है। घट के प्रत्यक्ष पर ध्यान दीजिए। प्रथम तो घड़े के साथ चक्षु का संयोग होता है। यहाँ घड़ा है विषय तथा है चक्षु इन्द्रिय तदन्तर इन्द्रिय का मन के साथ योग होता है, अर्थात् चक्षु इन्द्रिय यहाँ घट का सम्बन्ध मन के साथ करा देती है। इतने पर भी घड़े का ज्ञान नहीं होता जब तक मन आत्मा के साथ संयुक्त न हो। आत्मा का ध्यान दूसरी ओर होता है तो मन के साथ योग न होने से घट का प्रत्यक्ष होता ही नहीं। अतः अन्तिम दशा में मन तथा आत्मा का संयोग नितान्त अनिवार्य होता है। इस प्रकार तीन सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह तो हुई प्रत्यक्ष की बात। अन्य ज्ञानों के लिए केवल आत्मा तथा मन के संयोग की ही आवश्यकत रहती है।

प्रत्यक्ष के भेद

प्रत्यक्ष साधारणतया दो प्रकार का होता है—(१) **निर्विकल्पक,** (२) **सविकल्पक**। दूर पर विद्यमान होने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहिले पहल होता है, तब उसके विषय में हमारा ज्ञान सामान्य कोटि का ही होता है। हमें यही पता चलता है कि कुछ है, पर क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? किन-किन गुणों की सत्ता उसमें पाई जाती है? इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता है। उस समय न तो हम उसका नाम जानते हैं, न जाति; न गुण को जानते हैं और न किसी क्रिया को। हमारा ज्ञान इतना ही होता है कि कुछ है। इसी नामजात्यादि की कल्पना से विहीन प्रत्यक्ष ज्ञान को **'निर्विकल्प'** कहते हैं। अनन्तर जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो नाम-जात्यादियोजना से विशिष्ट यह ज्ञान **'सविकल्प'** के नाम से पुकारा जाता है। जैसे 'श्यामा नामक यह काली गाय घास चर रही

है' यह ज्ञान, जिसमें श्यामा नाम है, काली गुण है, चरती है क्रिया और गाय जाति का बोधक है।

प्रत्यक्ष की यह द्विविध कल्पना वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्यटीका' (पृ० १३३) में उपलब्ध होती है। उन्होंने न्यायसूत्रस्थ (१।१।४) प्रत्यक्ष लक्षण में आने वाले 'अव्यपदेश्य' तथा 'व्यवसायात्मक' पदों को क्रमशः इस द्विविध कल्पना का मूल बतलाया है, पर इस विषय में भाष्य और वार्तिक में कोई विवरण नहीं मिलता। कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' में प्रत्यक्ष के ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष के खण्डन के अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। अतः वाचस्पति मिश्र इस विषय में कुमारिल के ऋणी जान पड़ते हैं। मनोविज्ञान वस्तु-ग्रहण के अवसर पर सेन्सेशन (संवेदन) तथा परसेप्सन (प्रत्यक्ष) में जो अन्तर बतलाता है वही अन्तर 'निर्विकल्प' तथा 'सविकल्प' प्रत्यक्ष में भी विद्यमान है। दोनों प्रकार नैयायिकों के समान कुमारिल को भी सम्मत हैं, परन्तु शाब्दिक तथा बौद्ध मत भिन्न है।[1] वैयाकरण लोग निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते, उधर बौद्ध लोग निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानकर सविकल्पक को न प्रमाण मानते हैं और न प्रत्यक्ष।

प्रत्यक्षप्रमाण के दो अन्य भेद भी होते हैं—(१) लौकिक, (२) अलौकिक। लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—(क) बाह्य (बहिरिन्द्रियों के द्वारा साध्य) और (ख) आन्तर (केवल मन के द्वारा साध्य)। बाह्य प्रत्यक्ष भी पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साध्य होने से पाँच प्रकार का है—(१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) स्पार्शन, (४) रासन तथा (५) घ्राणज। मानस प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सब मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का होता है।

सन्निकर्ष—लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—(१) संयोग, (२) संयुक्त-समवाय, (३) संयुक्त-समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत-समवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव। चक्षु से घट के प्रत्यक्ष होने पर संयोग, घट के रूप (कृष्ण, पीत, रक्त आदि वर्ण) के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवाय, घटरूपत्व के प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष होते हैं। श्रोत्र आकाशरूप ही है; अतः शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय-सन्निकर्ष होगा, क्योंकि गुणगुणी का वास्तव में सम्बन्ध-समवाय होता है। शब्दत्व का

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य मानमेयोदय, पृ० १७-१८।

प्रत्यक्ष समवेत-समवाय से तथा अभाव का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है।

उदाहरण के लिए घट के प्रत्यक्ष पर दृष्टिपात कीजिए। हमारे सामने नीला घड़ा पड़ा हुआ है। हमारी आँखें ज्यों ही उसके ऊपर गिरती हैं, घड़े का ज्ञान हमें तुरन्त हो जाता है। यह ज्ञान संयोग-सन्निकर्ष के द्वारा होता है, क्योंकि घट तथा नेत्र का सम्बन्ध संयोग के द्वारा होता है। तदनन्तर घड़े के नीलरंग का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष होता है संयुक्त-समवाय के द्वारा; क्योंकि नेत्र से संयोग होता है घड़े से, जिसमें रूप समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान होता है। तदनन्तर नीलरूपत्व का प्रत्यक्ष होता है 'संयुक्त समवेत समवाय' सन्निकर्ष से; क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप रहता है समवाय सम्बन्ध से और रूप में रूपत्व रहता है दूसरे समवाय सम्बन्ध से। शब्द जब कान से प्रत्यक्ष होता है, तब केवल समवाय सम्बन्ध रहता है। क्योंकि श्रवण आकाश ही माना जाता है। जिसमें शब्द की स्थिति समवाय के द्वारा ही होगी। शब्द गुण तथा श्रवण गुणी होता है और गुणगुणी का सम्बन्ध समवाय ही होता है। शब्द के अनन्तर शब्द में रहनेवाली जाति (शब्दत्व) का प्रत्यक्ष होगा 'समवेतसमवाय' से, क्योंकि श्रवण से सम्बद्ध शब्द में शब्दत्व जाति होने के कारण समवाय-सम्बन्ध से ही रहता है। जब कहीं अभाव का प्रत्यक्ष होता है, तब 'विशेषण विशेष्यभाव' सन्निकर्ष रहता है, जैसे घट से रहित भूतल का प्रत्यक्ष। यहाँ नेत्र से भूतल का प्रत्यक्ष होता है, जिसमें घटाभाव विशेषण रहता है। अतः यहाँ घटाभाव विशेषण तथा भूतल विशेष्य है। इसलिए अभाव के समस्त स्थानों पर यही सन्निकर्ष होता है। संक्षेप में यहाँ सन्निकर्ष के ये ही प्रमुख दृष्टान्त हैं।

जब पाकशाला में अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध निश्चित होता है, तब विशेष धूम का ही सम्बन्ध ज्ञान होता है। धूम वह्नि-व्यभिचारी है या नहीं? इस सन्देह का निराकरण क्यों कर हो सकता है? सकल

अलौकिक सन्निकर्ष

धूमों का चाक्षुष ज्ञान तो हो नहीं सकता; अतः 'धूमत्व' सकल धूमों में तथा दृश्यमान धूम में भी विद्यमान रहता है, जिसके द्वारा इसका प्रत्यक्ष माना जाता है। (१) इस सन्निकर्ष का नाम है—**सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति**। पाश्चात्त्य नैयायिक 'इन्डक्टिभ लीप' के नाम से जिसे पुकारते हैं उसका काम भारतीय नैयायिक सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा निष्पन्न करते हैं। (२) दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष **ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्ति** कहलाता है। सामने रखे गये पुष्प के रमणीय रूप के ज्ञान

के साथ साथ उसके सुगन्ध का भी ज्ञान मुझे होता है। चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ गुलाब की भीनी गन्ध का भी अनुभव होता है। जो लोग गन्ध का अनुभव अनुमानजन्य मानते हैं, उनके लिए तो यह प्रश्न नहीं उठता, परन्तु प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए यह समस्या अवश्य है कि दूर पर रहने वाले फूल से घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध तो होता नहीं, परन्तु गन्ध का ज्ञान होता है। अतः यहाँ अलौकिक सन्निकर्ष माना जाता है। पुष्प के ज्ञान के साथ ही उसके गन्ध का ज्ञान भी सम्बद्ध है। अतः इस ज्ञान को ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से उत्पन्न मानते हैं। (३) तृतीय अलौकिक ज्ञान **'योगज'** कहलाता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (दीवाल आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट काल (तथा देश उभय रूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, परन्तु ऐसे वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है। अतः इनके लिए ध्यान की सहायता अपेक्षित है। इसे योगजसन्निकर्ष-जन्य कहते हैं। योगियों का प्रत्यक्ष इसी कोटि का है[१०]।

(ख) अनुमान

किसी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाले वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना **अनुमान** कहलाता है। पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूम-रेखा को देखकर पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कि यह पर्वत वह्निमान् है, अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष से अनुमान के भेद-साधकों का उद्योतकर ने वर्णन किया है—(१) प्रत्यक्ष मुख्यतया एक ही प्रकार का होता है, पर अनुमान विविध प्रकार का होता है। (२) प्रत्यक्ष वर्तमान काल में द्रष्टा के सामने विद्यमान पदार्थ के विषय में हो सकता है, परन्तु अनुमान भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल से सम्बद्ध वस्तु के विषय में होता है। (३) व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिए आवश्यक साधन है, पर प्रत्यक्ष को ऐसे किसी साधन पर अवलम्बित होने की आवश्यकता नहीं होती (न्याय-वार्तिक १।१।४)।

पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात् (यह पर्वत धूम से युक्त होने के कारण वह्निमान् है)—इस अनुमान-वाक्य में पर्वत के विषय में अग्नि का रहना धूम हेतु से अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। अतः पर्वत 'पक्ष', वह्निमान् 'साध्य' तथा धूम 'हेतु' कहलाता है। पक्ष, साध्य तथा हेतु पाश्चात्त्य न्याय-वाक्य के माइनर टर्म, मेजर टर्म तथा मिडिल टर्म के पर्यायवाची हैं। अन्नंभट्ट ने उसे पक्ष बतलाया है, जिसमें साध्य की स्थिति सन्दिग्ध है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)।

यदि साध्य की सत्ता का ज्ञान पूर्व से ही हमें प्राप्त हो, तो उसका अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, पर नव्य नैयायिकों की दृष्टि में यह लक्षण ठीक नहीं है। उनकी राय में वस्तु का पूर्वज्ञान अनुमान का बाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तु को सिद्ध करने की अभिलाषा (सिसाधयिषा) अनुमान करनेवाले में विद्यमान हो। अतः सिसाधयिषा की सत्ता पक्षता का प्रधान लक्षण है[११]। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसे **'साध्य'** तथा जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे **'हेतु'** कहते हैं। साध्य का दूसरा नाम है लिंगी और व्यापक, तथा हेतु का साधन, लिंग तथा व्याप्य है।

गीली लकड़ी से जहाँ आग उत्पन्न होती है, वहाँ तो धुआँ दिखलाई पड़ता है, परन्तु गीली लकड़ी के न होने पर धुआँ दिखलाई नहीं पड़ता। जैसे दहकते हुए अंगारे में आग तो है, परन्तु धूम नहीं है। इस प्रकार धूम के रहने का स्थान कम है और अग्नि का उससे कहीं अधिक। इसलिए धूम है **'व्याप्य'** और अग्नि है **'व्यापक'**। अनुमान के लिए 'व्याप्य' (धूम) की सत्ता आवश्यक होती है, अर्थात् व्याप्य (धूम) की स्थिति को देखकर व्यापक (अग्नि) का अनुमान तो ठीक होता है परन्तु इसका उलटा कभी ठीक नहीं होता। अर्थात् 'व्यापक' (अग्नि) को देखकर 'व्याप्य' (धूम) का अनुमान कभी ठीक नहीं होता। दहकते हुए लोहे (अयोगोलक) को देखिए। वहाँ आग तो है, परन्तु धूआँ नहीं है। अतः आग के सहारे धूम का ज्ञान कहीं भी अनुमान से सिद्ध नहीं होता है। धूम की सत्ता के सहारे अग्नि का ही ज्ञान ठीक माना जाता है। 'हेतु' को कम स्थानों में रहना अनिवार्य होता है और 'साध्य' को अधिक स्थानों में रहना उचित होता है। अनुमान की प्रक्रिया के लिए यह नितान्त आवश्यक होता है, भारतीय न्यायदर्शन में तथा पश्चिमी लाजिक में भी।

न्याय सूत्रों (१।१।५) में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है—**पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट**। इन अनुमान-प्रकारों के लक्षण के विषय में न्यायसूत्र के टीकाकारों में गहरा मतभेद है।

अनुमान के भेद

'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं। अतः यह अनुमान-भेद मीमांसकों की कल्पना प्रतीत होता है, नैयायिकों ने इसे ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थ में परिवर्तन भी किया है। मीमांसा में 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का अंग के लिए किया जाता है, पर नैयायिकों ने प्रधान तथा अंग के सम्बन्ध को कारण-कार्य-भाव के ऊपर अवलम्बित ठहराया है।

भाष्यकार के मतानुसार जब कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है तब 'पूर्ववत्' और कार्य से कारण के अनुमान करने पर 'शेषवत्' होता है। आकाश में काले-काले मेघ-मण्डल को देखकर वृष्टि होने का अनुमान करना पूर्ववत् का उदाहरण है। नदी में होने वाली बाढ़ को देख कर वर्षा का अनुमान करना कि कहीं ऊपर वृष्टि हुई है, शेषवत् कहलाता है। इनकी एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है—(१) अन्वय मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान पूर्ववत् तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होने वाला अनुमान शेषवत् कहलाता है। धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान पहले अनुमान का उदाहरण है। (२) **शेष** का अर्थ होता है अवशिष्ट होने वाला; अतः पारिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है। शब्द के स्वरूप का निर्धारण इसी अनुमान के द्वारा किया जाता है। न्याय के छः भाव पदार्थों में शब्द गुण ही होता है। यह शेषवत् अनुमान से सिद्ध होता है। शब्द अनित्य है और इसलिए वह सामान्य, विशेष तथा समवाय जैसे नित्य पदार्थों से अवश्यमेव भिन्न तथा पृथक् होता है। वह द्रव्य, गुण तथा कर्म के भीतर ही माना जा सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त तीन पदार्थों के हटाने पर ये ही तीन बचते हैं। इन तीनों में भी विचार कीजिये। शब्द द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्रव्य (आकाश) में रहता है। वह कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह दूसरे शब्द के उत्पन्न होने में कारण होता है। इस प्रकार सबके अन्त में बाकी बच जाता है गुण और इस रीति से शब्द 'गुण' ही सिद्ध होता है।

(३) **सामान्यतो दृष्ट** (सामान्यतः = सामान्यस्य, दृष्टम् = दर्शनम् ; सामान्य मात्र का दर्शन) वहाँ होता है जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न होकर उसके सामान्य रूप का ही हमें परिचय प्राप्त है; यथा इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान। कार्य को देख कर कारण का अनुमान तर्कानुकूल है। लेखन कार्य को देख कर लेखनी का अनुमान करना उचित ही है। इसी दृष्टान्त के आधार पर वस्तु के ग्रहणरूप फल के लिए तत्साधन इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में रूप का ग्रहण कथमपि नहीं हो सकता। यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ इन्द्रियविशेष की सत्ता न देख कर तत्सामान्य करणत्व का ही अवलोकन हमारे लिए शक्य है। न्यायसूत्र में गौतमाभिमत ये ही तीन अनुमान हैं।

(ख) अनुमान के अन्य दो भेद होते हैं—(१) **स्वार्थानुमान** और (२) **परार्थानुमान**। अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है, तब वह

स्वार्थानुमान होता है; पर यदि उसका प्रयोजन दूसरा कोई व्यक्ति हो, तो वह होगा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान के लिए वाक्य-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, पर जब दूसरे व्यक्ति को किसी अनुमिति का ज्ञान कराना प्रधान उद्देश्य रहता है, तब परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें पाँच वाक्यों का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है।

'न्याय' अथवा पञ्चावयव वाक्य

परार्थानुमान पाँच वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिनके नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन हैं। इन पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है।

(१) देवदत्त मरणशील है (प्रतिज्ञा)।
(२) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)।
(३) जितने मनुष्य हैं वे सब मरणशील हैं, जैसे राम, श्याम, मोहन, सोहन आदि (उदाहरण)।
(४) देवदत्त भी ऐसा ही एक मनुष्य है (उपनय)।
(५) अत एव देवदत्त मरणशील है (निगमन)।

'प्रतिज्ञा' पहला वाक्य है, जो सिद्ध किये जाने वाली वस्तु का निर्देश करता है। **'हेतु'** दूसरा वाक्य है, जो अनुमान को सिद्ध करने वाले कारण का निर्देश करता है। तीसरा वाक्य **'उदाहरण'** कहलाता है, जिसमें उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य नियम का उल्लेख किया जाता है। चौथा वाक्य **'उपनय'** कहलाता है, जिसमें व्याप्ति-विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है और वह **'निगमन'** कहलाता है।

अनुमान प्रयोग में वाक्यों की संख्या के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मत-भेद पाया जाता है। वेदान्ती और मीमांसक लोग तीन ही वाक्यों को अनुमान के लिए पर्याप्त मानते हैं = आदिम तीन वाक्य अथवा अन्तिम तीन वाक्य (वे० प०, पृ० ९२)। प्राचीनकाल में वाक्यों की संख्या दस मानी जाती थी। वात्स्यायन ने पूर्वोक्त पाँच वाक्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच वाक्यों को भी मानने वाले नैयायिकों का उल्लेख किया है (न्या० भा० १।१।३२)। वे वाक्य ये हैं—(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन,

(५) संशयव्युदास। भाष्यकार के मन्तव्यानुसार इनकी नितान्त आवश्यकता अनुमान के लिए न होने से इनका उल्लेख नहीं किया जाता। ये सिद्धि के लिए सहायकमात्र हैं, अतः इनका वर्णन 'न्याय' में नहीं किया जाता।

अब इसकी विशेषता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यह पञ्चावयव वाक्य मनोवैज्ञानिक आधार पर अवलम्बित है। पाश्चात्य न्याय में डिडक्शन और इन्डक्शन भेद कर तर्क दो प्रकार का माना जाता है, पर भारतीय न्याय में इन दोनों का श्लाघनीय सम्मेलन किया गया मिलता है। व्याप्य (हेतु) और व्यापक (साध्य) के नियत सम्बन्ध पर ही अनुमान की पूरी इमारत खड़ी रहती है। इसी व्याप्ति की सूचना उदाहरण-वाक्य की विशेषता है। चतुर्थ वाक्य उपनय या परामर्श वाक्य की अपनी मुख्य विशिष्टता है। विना परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान की ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उस व्याप्ति के पक्ष (पर्वत) में रहने का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। अतः व्याप्त हेतु का पक्ष धर्म होने (व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान) को **'परामर्श'** माना जाता है। केवल धूमवान् होने से पर्वत की अग्निमत्ता अनुमित नहीं हो सकती, जब तक धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो और इस प्रकार वह्नि-व्याप्य धूम का ज्ञान पर्वत में न हो। निगमन हेतु द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई थी, वह हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है, वही निगमन वाक्य प्रदर्शित करता है।

(ग) अनुमान का एक तीसरे प्रकार से भी विभाजन होता है। अनुमान तीन प्रकार का होता है—(क) केवलान्वयी; (ख) केवलव्यतिरेकी तथा (ग) अन्वयव्यतिरेकी। यह विभाजन अधिक तर्कानुकूल माना जाता है, क्योंकि यह अनुमान की आधाररूप व्याप्ति को प्राप्त करने के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है।

(i) **केवलान्वयी** अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु साध्य के साथ सर्वदा सत्तात्मकरूप से सम्बद्ध रहता है। यहाँ हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति का ज्ञान अन्वयमुखेन ही होता है। यहाँ कोई भी प्रतिषेध का दृष्टान्त होता ही नहीं। इसीलिए इस अनुमान के नाम में 'केवल' शब्द रखा गया है।

उदाहरण—

समस्त ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं (प्रतिज्ञा)।
घट एक ज्ञेय पदार्थ है (हेतु)।
अत एव घट अभिधेय है (निगमन)।

'ज्ञेय' का अर्थ है ज्ञान का विषय होना, अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम जान सकते हैं। 'अभिधेय' का अर्थ है अभिधा संज्ञा का विषय होना, अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम नाम दे सकते हैं। यहाँ प्रथम वाक्य व्यापक सत्तात्मक सिद्धान्त है, जिसमें 'अभिधेय' नामक विधेय समस्त 'ज्ञेय' पदार्थों के विषय में कथित किया गया है। सच तो यह है कि उद्देश्य के विषय में हम विधेय का कथमपि निषेध कर ही नहीं सकते और यह नहीं कह सकते कि यह ज्ञेय पदार्थ अभिधेय नहीं है, क्योंकि निषेध करने के समय हमें कहना ही पड़ेगा कि यह 'अनभिधेय' है और ऐसा करने में हमने उसे नाम दे ही दिया। फलतः ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ 'ज्ञेय' वस्तु 'अभिधेय' न हो। अतः यहाँ केवल अन्वयमुखेन व्याप्ति है। यहाँ साध्यवाक्य के समान पक्षवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा सिद्धान्त वाक्य भी दोनों समभावेन व्यापक सत्तात्मक वाक्य हैं, जिनका निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिए यह अनुमान पश्चिमी तर्कशास्त्र के 'बरबरा' नामक न्याय-वाक्य के भीतर गतार्थ होगा।

(ii) **केवल व्यतिरेकी** अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु साध्य के साथ केवल निषेधात्मक रूप से ही सम्बद्ध रहता है। यह उस व्याप्ति के ऊपर आधारित रहता है, जो साध्य के अभाव तथा हेतु के अभाव के बीच होती है। यहाँ व्याप्ति केवल व्यतिरेकमुखेन होती है, क्योंकि यहाँ पक्ष को छोड़कर ऐसा कोई सत्तात्मक उदाहरण ही नहीं रहता जहाँ व्याप्ति की स्थिति बतलाई जा सके। उदाहरण से उसकी परीक्षा कीजिए—

इतर पदार्थों से भिन्न न होने वाला गन्ध नहीं रखता (प्रतिज्ञा)।
पृथ्वीगन्ध रखती है (हेतु)।
अत एव पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है (निगमन)।

यहाँ साध्यवाक्य व्यापक प्रतिषेध-वाक्य है, जहाँ हेतु या विधेय 'गन्ध' का सम्बन्ध 'इतर पदार्थ से न भिन्न पदार्थ' के साथ निषिद्ध किया जाता है। बात यह है कि गन्ध का निवास केवल पृथ्वी में ही रहता है, जो यहाँ पक्ष है। अत एव पृथ्वी को छोड़कर हम गन्ध की स्थिति का उदाहरण कोई दे ही नहीं सकते। हेतु तथा साध्य का सम्बन्ध हम प्रतिषेध द्वारा व्यतिरेकमुखेन ही कर सकते हैं। दृष्टान्त के अभाव में अन्वयमुखेन सम्बन्ध किसी प्रकार भी दोनों में स्थापित नहीं किया जा सकता। इस अनुमान का यही वैशिष्ट्य है। यह वस्तुस्थिति पर आश्रित रहने वाला अनुमान है। अतः पश्चिम के प्रचलित न्याय-दर्शन में इसका

निर्देश नहीं मिलता, परन्तु आधुनिक विद्वान् वहाँ भी ऐसे निषेधात्मक तर्क पर आश्रित अनुमान की सत्यता को अब मानने लगे हैं।

(iii) **अन्वय-व्यतिरेकी** अनुमान में हेतु साध्य के साथ दोनों प्रकारों से सम्बद्ध रहता है—अन्वय के द्वारा तथा व्यतिरेक के द्वारा। यहाँ व्याप्ति का ज्ञान हमें इन दोनों विशिष्ट प्रकारों से होता है। व्याप्ति हेतु तथा साध्य के बीच में होती है और साथ ही साथ वह साध्य के अभाव और हेतु के अभाव के बीच भी होती है। व्यापक वाक्य तब सत्तात्मक होता है, जब व्याप्ति अन्वय के द्वारा सिद्ध होती है और वह निषेधात्मक तब होता है जब व्याप्ति व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होती है। अन्वय तथा व्यतिरेक में अन्तर यह होता है कि अन्वय-व्याप्ति में होने वाला उद्देश्य तथा विधेय व्यतिरेक व्याप्ति में बदल जाता है, अर्थात् अन्वय वाक्य का उद्देश्य दूसरे वाक्य में विधेय बन जाता है और पूर्व विधेय यहाँ उद्देश्य बन जाता है। उदाहरणों से परीक्षा कीजिए—

अन्वयवाक्य—जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि रहती है=**धूम वह्नि** से व्याप्य है।

व्यतिरेकवाक्य—वह्न्यभाव धूमाभाव से व्याप्य है।

इसलिए अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान इन दोनों वाक्यों के ऊपर रहता है। उदाहरणों से देखिए—

(क) धूमवान् पदार्थ वह्निमान् होते हैं (प्रतिज्ञा)।

यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)।

अत एव यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

(ख) कोई भी वह्न्यभाववान् पदार्थ धूमवान् नहीं होता (प्रतिज्ञा)।

यह पर्वत धूमवान् है (हेतु)।

फलतः यह पर्वत वह्निमान् है (निगमन)।

यहाँ एक ही तथ्य दो प्रकार की व्याप्तियों के आधार पर अनुमित होता है। प्रथम दशा में वह व्याप्ति अन्वयमुखेन है और दूसरी दशा में वह व्यतिरेकमुखेन है। दोनों व्याप्तियों का आधार इस अनुमान की विशिष्टता है।

व्याप्ति

अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने विशेषतया नैयायिकों ने व्याप्ति की आलोचना करने में इतनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय दिया है कि वह दार्शनिक जगत् में एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्यन्याय के ग्रन्थों में की गई है। हेतु (धूम) तथा साध्य (वह्नि) के नियत साहचर्य-सम्बन्ध को **'व्याप्ति'** कहते हैं। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हमें उनके सदा नियम से एकत्र रहने की सूचना न मिले। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस साहचर्य को हम नियत रूप से पाते हैं, अतः धूम तथा वह्नि की व्याप्ति न्यायसंगत प्रतीत होती है। इसीलिए व्याप्ति को प्राचीन ग्रन्थों में **'अविनाभाव'** के नाम से पुकारते थे। अविनाभाव जो वस्तु जिसके विना विद्यमान न रह सके उनका सम्बन्ध है। व्याप्ति धूम तथा वह्नि के साथ सम्पन्न होती है, परन्तु वह्नि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती; क्योंकि वह्नि के सब स्थलों में धूम सदा विद्यमान नहीं रहता। वहाँ आग तो रहती है, परन्तु धूम नहीं होता। उदाहरणार्थ लोहे के जलते हुए गोले में अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं दीख पड़ता। अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध तभी सिद्ध हो सकता है। जब गीली लकड़ी का उपयोग जलाने के लिए किया जाय। यदि गीली लकड़ी को हम जलाने के लिए काम में लाते हैं, तो वहाँ धुआँ जरूर उठता है। यदि लकड़ी सूखी है तो आग रहने पर भी धुआँ नहीं रहेगा। यही तो वस्तु-स्थिति है। इसलिए अग्नि के साथ धूम का साहचर्य रहने के लिए गीली लकड़ी (आर्द्र इन्धन) का प्रयोग एक बहुत ही जरूरी शर्त है। इस आर्द्र इन्धन के संयोग को न्याय में **'उपाधि'** कहते हैं। व्याप्ति के लिए उपाधि का न होना (अभाव) बहुत ही आवश्यक है। अतः व्याप्ति हेतु (धूम) तथा साध्य (अग्नि) के बीच सदा एक रूप से रहने वाला (नियत) सम्बन्ध ही नहीं होता; प्रत्युत उसे उपाधि से हीन होना भी चाहिए। इसलिए **व्याप्ति** का उचित लक्षण है—हेतु और साध्य के बीच नियत तथा उपाधिरहित सम्बन्ध। उपाधि के सहित व्याप्ति से यथार्थ अनुमान कभी नहीं हो सकता; प्रत्युत भ्रान्त ही अनुमान होता है, जो असिद्ध हेत्वाभास का एक विशेष प्रकार होता है (व्याप्यत्वासिद्ध)।

अनुमान की मूलभित्ति व्याप्ति

अब हमारे सामने एक बड़ा ही विचारणीय प्रश्न है व्याप्ति के यथार्थ होने के विषय में। व्याप्ति को हम ठीक क्यों कर मान सकते हैं? देखते तो हम हैं केवल कतिपय सीमित स्थानों को, जहाँ धूम तथा अग्नि एक साथ रहते हैं, परन्तु हम व्याप्ति करते हैं सब स्थानों के लिए। देखते हैं कि राम, श्याम, मोहन आदि कतिपय मनुष्य मरते हैं। इतना ही हमारे अनुभव में आता है, परन्तु हम व्याप्ति बनाते हैं कि 'सब मनुष्य मरणधर्मा हैं'। ऐसी व्याप्ति के यथार्थ होने के लिए हमारे पास साधन ही क्या है? इसे हम क्योंकर ठीक, शुद्ध तथा सच्चा मानें? यदि व्याप्ति यथार्थ नहीं होती, तो उसके आधार पर टिकने वाला अनुमान बालू की भीत के समान एकदम गिर कर नष्ट हो जाता। अतः व्याप्ति की प्रामाणिकता को खोज निकालना एक आवश्यक समस्या है।

व्याप्ति-परीक्षा

इस विषय में बौद्ध मत[12] तथा वेदान्त मत[13] अलग अलग हैं। न्याय इस विषय में वेदान्त मत के अनुकूल है। वेदान्त के समान न्याय भी मानता है कि जहाँ दो वस्तुएँ सदा एक साथ रहती हैं (सहचार) और इस नियम का उल्लंघन कहीं भी नहीं दीखता, वहीं यथार्थ व्याप्ति होती है। इस प्रकार अनुभव की एकरूपता—अर्थात् सदा एक ही प्रकार का होना—व्याप्ति को सत्य सिद्ध करती है, परन्तु न्यायशास्त्र में कतिपय अन्य साधन भी माने गये हैं इस परीक्षण के लिए। वे हैं—(१) अन्वय, (२) व्यतिरेक, (३) व्यभिचाराग्रह, (४) उपाधिनिरास, (५) तर्क तथा (६) सामान्य लक्षण। व्याप्ति की सिद्धि के लिए पहिली आवश्यक वस्तु है—**अन्वय**, अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु का नियमतः रहना। धूम के रहने पर अग्नि का रहना **'अन्वय'** का उदाहरण है। दूसरा साधन है **व्यतिरेक**—एक वस्तु के न रहने पर दूसरी वस्तु का न रहना **'व्यतिरेक'** कहलाता है। अग्नि का जहाँ अभाव है वहाँ धूम का भी अभाव है। जलाशय में, कूप में तथा नदी में अग्नि कभी नहीं दीखता, फलतः वहाँ धूम का भी दर्शन नहीं होता—यह होगा **'व्यतिरेक'** का दृष्टान्त, और पाकशाला में अग्नि जलती है वहाँ धूम भी विद्यमान रहता है—यह होगा **'अन्वय'** का उदाहरण। अन्वय तथा व्यतिरेक का रहना तो व्याप्ति के लिए मुख्य साधन है, परन्तु इतने से ही यथार्थ व्याप्ति का पता नहीं चलता। उसके लिए इतर साधनों का रहना भी नितान्त आवश्यक है।

जहाँ आग नहीं रहती वहाँ धुआँ भी कभी दिखलाई नहीं पड़ता। इसके विपरीत कोई दृष्टान्त नहीं होना चाहिए कि आग तो दीखती है, परन्तु धुआँ

नहीं होता। ऐसे व्यभिचार का न होना भी जरूरी होता है। ऐसे नियम को **'व्यभिचाराग्रह'** कहेंगे। इतना होने पर 'उपाधि' को दूर करना भी बहुत ही जरूरी रहता है। कहा गया है कि 'उपाधि' के रहने पर कोई भी व्याप्ति ठीक नहीं हो सकती। अत एव उपाधि का हटाना आवश्यक होता है (उपाधिनिरास)। 'तर्क' की भी अनुकूलता होनी चाहिए। धूम तथा वह्नि के साहचर्य के लिए 'तर्क' की अनुकूलता है, अर्थात् पर्वत में यदि अग्नि न होता, तो वहाँ धूम भी नहीं होता, परन्तु धूम को तो हम अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखते हैं। अतः तर्क दोनों के साहचर्य को बतलाता है। अन्तिम साधन है **सामान्य-लक्षण।** हमें विश्व के समस्त मानवों के स्वभाव को देखने का अवसर अवश्य नहीं मिलता, तथापि हम 'मानवता' तथा 'मरणशीलता' के परस्पर सम्बन्ध को सामान्य-लक्षण से जानते हैं कि जहाँ भी मानवता रहेगी वहाँ मरणशीलता का रहना भी नितान्त आवश्यक होता है, अर्थात् ये दोनों सदा एकत्र एक साथ रहने वाले धर्म हैं। अत एव कतिपय मनुष्यों को देख कर भी इन समस्त मानवों के विषय में नियम बनाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार इन छहों साधनों के रहने के कारण ही हम किसी भी व्याप्ति को यथार्थ तथा सच्चा मानने के लिए उद्यत हो सकते हैं। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के ऊपर न्याय का यही उत्तर है[1]।

पाश्चात्त्य अनुमानवाक्य से 'न्याय' की तुलना

पाश्चात्त्य जगत् में न्याय की रूपरेखा ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (अरिस्टाटल) ने निश्चित की थी। कतिपय परिवर्तनों के साथ उनकी उद्भावित शैली तथा सिद्धान्तों का अनुगमन आज भी पश्चिमी तर्क करता है। उनके अनुमान वाक्य (सिलाजिज़्म) के साथ 'न्याय' की तुलना अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पाश्चात्त्य अनुमान में आकारगत (फार्मल) सत्यता की ही उपलब्धि होती है, तात्त्विक सत्यता की आवश्यकता नहीं मानी जाती, परन्तु भारतीय अनुमान में दोनों प्रकार की सत्यताओं का होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमी तर्कवाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) निरपेक्ष वाक्य (केटेगारिकल), (२) काल्पनिक (हाइपोथेटिकल), (३) वैकल्पिक (डिसजन्क्टिव), परन्तु भारतीय तार्किक वाक्य केवल प्रथम प्रकार का ही होता है। पश्चिमी न्याय में केवल तीन वाक्यों से अनुमान की पूरी प्रक्रिया निष्पन्न होती

---

१. द्रष्टव्य 'चिन्तामणि' का व्याप्ति-ग्रहोपाय प्रकरण तथा मुक्तावली कारिका १३७।

है—(१) साध्यवाक्य (मेजर प्रेमिस), (२) पक्षवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा (३) फलवाक्य (कंक्ल्यूजन), परन्तु भारतीय न्यायशास्त्र में पाँच वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्ण-व्यापी (यूनिवरसल) और कभी अंशव्यापी (पर्टिकूलर) होकर विविध रूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय-वाक्य पूर्ण-व्यापी भावात्मक एक ही प्रकार का होता है। परन्तु सबसे महान् अन्तर भारतीय न्याय में 'परामर्श' (उपनय) की स्थिति से है। पश्चिमी न्याय में प्रथम दोनों वाक्यों का समन्वय करने वाला कोई वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्याय में हेतुवाक्य और उदाहरण का एकीकरण उपनय में किया गया है, जो अनुमान का फल उत्पन्न करने में नितान्त आवश्यक है। वास्तव में परामर्शज्ञान से ही अनुमिति का उदय होता है। यहाँ हेतु के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से समस्त दोष (हेत्वाभास) हेतु के आभास पर अवलम्बित रहते हैं, परन्तु पश्चिमी न्याय में पक्षाभास (एलिसिट माइनर) तथा साध्याभास (एलिसिट मेजर) नामक दोषों की भी सत्ता स्वीकृत की गई है। परार्थानुमान और स्वार्थानुमान प्रकार भी पश्चिमी जगत् में उपलब्ध नहीं होते। मोटे तौर से दोनों में ये स्फुट प्रतीयमान भेद हैं।

हेत्वाभास

हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है। अतः हेतु की निर्दोषता के विषय में नैयायिकों का विशेष आग्रह रहता है। हेतु में पाँच गुणों के होने पर वह सत्-हेतु कहा जाता है—(१) **पक्षे सत्ता** (हेतु का पक्ष में रहना), (२) **सपक्षे सत्ता** (सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना), (३) **विपक्षाद् व्यावृत्तिः** (पक्ष से विपरीत दृष्टान्तों में यथा कूप, जलाशय आदि में हेतु का अभाव), (४) **असत्प्रतिपक्षत्वम्** (साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव), (५) **अबाधितविषयत्व** (प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना)। अनुमान की सत्यता हेतु के इन गुणों पर अवलम्बित रहती है। यदि इन गुणों में से किसी में त्रुटि लक्षित होती है, तब सत् हेतु न होकर हेतु का आभासमात्र रहता है। (हेतु + आभास) अर्थात् आपाततः हेतु में निर्दुष्टता लक्षित होती है, पर वास्तव में वह दोष से संवलित रहता है। इसे ही **हेत्वाभास** कहते हैं। बौद्ध न्याय में इनके अतिरिक्त पक्ष और दृष्टान्त के दोषों का भी विस्तृत विवेचन किया गया मिलता है।

नैयायिकों के अनुसार **हेत्वाभास** पाँच प्रकार के होते हैं और इन पाँचों प्रकार में अनुमान में दिया गया हेतु केवल देखने में ही (आपाततः) हेतु के

समान प्रतीत होता है, परन्तु उसमें सच्चे हेतु के लक्षण अथवा चिह्न विद्यमान नहीं रहते। वह सच्चे हेतु के रूप में केवल आभासित होता है, परन्तु वस्तुतः वह सच्चा नहीं होता। अनुमान की जितनी भ्रान्तियाँ हैं वे सब अन्तिम दशा में हेतु की बुराई के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए नैयायिकों ने समस्त अनुमान-भ्रान्तियों को हेतु का आभास मानकर ही सिद्ध किया है। हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है—(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) सत् प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध, (५) बाधित।

(१) **सव्यभिचार** हेत्वाभास का एक उदाहरण देखिए—

समस्त द्विपद जीव तर्कबुद्धि से युक्त होते हैं (प्रतिज्ञा)।
हंस द्विपदधारी जीव है (हेतु)।
अत एव हंस तर्कबुद्धि से युक्त (निगमन)।

इस अनुमान का फल निश्चित रूप से गलत है, परन्तु इसका कारण क्या है? कारण यही है कि यहाँ हेतु तथा साध्य का सम्बन्ध एकान्ततः ठीक नहीं है। द्विपदधारी दोनों प्रकार के होते हैं। कुछ द्विपदधारी जीव तर्कबुद्धि से युक्त होते हैं, जैसे मनुष्य; परन्तु कुछ द्विपदधारी ठीक इसके विपरीत हैं, अर्थात् वे तर्कबुद्धि युक्त नहीं हैं, जैसे कौवा। ऐसी दशा में यहाँ हेतु (द्विपदधारी) साध्य (तर्कबुद्धि युक्त) को सिद्ध करने में प्रमाण नहीं माना जा सकता। 'सव्यभिचार' का अर्थ है 'व्यभिचार' से युक्त। व्यभिचार का अर्थ है कि हेतु साध्य से भिन्न पदार्थों में भी रहने वाला है। सव्यभिचार हेतु से हम कोई एक परिणाम नहीं निकाल सकते प्रत्युत वह अनेक विरोधी परिणामों को उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि वह हेतु के लक्षण से च्युत रहता है। शुद्ध हेतु के लिए आवश्यक होता है कि साध्य उन सब स्थलों पर विद्यमान रहता है जहाँ हेतु वर्तमान रहता है, जैसे धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध। इसके प्रतिकूल सव्यभिचार हेतु साध्य की स्थिति वाले स्थानों पर वर्तमान रहता है और साथ ही साथ साध्य के अभाव वाले स्थानों पर भी रहता है इसीलिए वह **अनैकान्तिक** भी कहलाता है अर्थात् वह एक अन्त—परिणाम—को सिद्ध न करके दूसरे अन्त को भी सिद्ध करने में समर्थ होता है। ऐसे हेतु से हम साध्य को सिद्ध करते हैं और साथ ही साथ उसके विपरीत साध्य को भी सिद्ध कर सकते हैं। यदि हम कहें कि 'यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह ज्ञेय (ज्ञान का विषय) है' तो यह अनुमान ठीक नहीं होगा; क्योंकि 'ज्ञेय' हेतु वह्नि से युक्त स्थानों में—रसोई घर में—रहता है और साथ ही साथ वह वह्नि से रहित स्थानों में—तालाब तथा

झील में—भी रहता है। उसी हेतु से हम पर्वत का वह्नि विरहित होना भी सिद्ध कर सकते हैं। अत एव साध्य के अभाव को सिद्ध करने के कारण यह **'सव्यभिचार हेत्वाभास'** कहलाता है।

(२) द्वितीय अनुमान-भ्रान्ति का नाम है—**विरुद्ध,** क्योंकि यह साध्य से विरुद्ध वस्तु को ही सिद्ध करने में समर्थ होता है। एक उदाहरण के द्वारा इसके रूप को समझना चाहिए। यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि यह उत्पन्न किया जाता है (कृतक) है' तो यहाँ हेतु विरुद्ध हुआ। यह हेतु (कृतक) साध्य (नित्य) को न सिद्ध कर ठीक इसके विपरीत (अनित्य) को सिद्ध करता है, क्योंकि नियम तो यह है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह निश्चित रूप से अनित्य होती है, जैसे घड़ा। घड़े को कुम्भकार बनाता है, फलतः वह सदा नहीं टिकता; वह अनित्य होता है। सव्यभिचार तथा विरुद्ध में परस्पर अन्तर यही है कि (क) सव्यभिचार हेतु निश्चित किये गये सिद्धान्त को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता तो (ख) विरुद्ध हेतु साध्य को असिद्ध करता है और उसके ठीक उलटे साध्य को ही सिद्ध कर देता है। यही दोनों के भीतर वर्तमान अन्तर है।

(३) तीसरे प्रकार का हेत्वाभास **'सत् प्रतिपक्ष'** कहलाता है। 'प्रतिपक्ष' का अर्थ होता है शत्रु या विरोधी। 'सत्' का अर्थ है विद्यमान। जहाँ साध्य से विपरीत तथ्य को सिद्ध करने वाला हेतु वर्तमान रहता है वहीं, 'सत्-प्रतिपक्ष' होता है। किसी हेतु के द्वारा किसी साध्य का निश्चय किया जाता है। यदि वहाँ अन्य हेतु के द्वारा साध्य से ठीक विपरीत तथ्य का भी अनुमान किया जा सके, तो वह पहला हेतु 'सत्-प्रतिपक्ष' कहलाता है, क्योंकि उसका विरोधी अन्य हेतु वर्तमान रहता है। यदि हम अनुमान करें कि 'शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रव्य है' (सुनने योग्य है) तो हम अन्य हेतु से ठीक विपरीत साध्य का भी तो अनुमान कर सकते हैं कि 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न किया जाता है, जैसे पट'। प्रथम अनुमान में साध्य है 'नित्यता' तथा हेतु 'श्रव्यता' और दूसरे अनुमान में साध्य है 'अनित्यता' और हेतु है 'कृतकता' (उत्पन्न होना)। फलतः हमने अन्य हेतु के द्वारा साध्य (नित्यता) से ठीक विपरीत वस्तु 'अनित्यता' का भी अनुमान किया। इसलिए प्रथम हेतु अपना विरोधी रखने के कारण 'सत्-प्रतिपक्ष' कहलायेगा। 'सत्प्रतिपक्ष' तथा 'विरुद्ध' हेतु में स्पष्ट अन्तर वर्तमान है कि पहले में साध्य से विरोधी वस्तु की सिद्धि दूसरे ही हेतु के द्वारा की जाती है, जो दिये गये हेतु से भिन्न होता है, परन्तु विरुद्ध हेतु

वाले स्थलों में स्वयं हेतु ही साध्य के अभाव को सिद्ध करता है। अत एव जहाँ 'विरुद्ध' में हेतु आप ही आप विरोधी साध्य को सिद्ध करता है, वहाँ 'सत्-प्रतिपक्ष' में उस कार्य के लिए दूसरे हेतु की आवश्यकता होती है।

(४) चौथे प्रकार के हेत्वाभास को **'असिद्ध'** या 'साध्यसम' कहते हैं। यह हेतु हेतुविषयक एक मूलतथ्य का ही विरोधी है। हेतु को वस्तुविशेष में, जहाँ अनुमान किया जाता है, विद्यमान रहना आवश्यक होता है। यदि पर्वत में धूम (हेतु) वर्तमान ही न रहे, तो अग्नि का अनुमान ही क्यों कर किया जा सकता है; परन्तु यह हेतु इस तथ्य से हीन होता है। जिस प्रकार पक्ष में साध्य को सिद्ध करना पड़ता है, उसी प्रकार हेतु को भी सिद्ध करना पड़ता है, अर्थात् वह निश्चित रूप से वहाँ विद्यमान रहता ही नहीं। इसीलिए वह **साध्यसम** (अर्थात् साध्य के समान सिद्ध किया जाने वाला) कहलाता है। पक्ष में न होने से वह **'असिद्ध'** भी कहलाता है। पक्ष में हेतु की स्थिति कल्पना से ही सिद्ध कर ली गई है। वह वस्तुतः वहाँ विद्यमान ही नहीं होता। यदि हम अनुमान करें कि 'यह आकाश-कमल सुगन्धित है, कमल होने के कारण, साधारण कमल के समान' तो यह गलत ही है, क्योंकि इस फूल में कमलत्व का अभाव ही है। जगत् में आकाश-कमल तो होता ही नहीं। ऐसी दशा में पुष्प में आकाश-कमलत्व का हेतु स्वयं असिद्ध है। यदि हेतु स्वयं असिद्ध है, तो वह भला किसी साध्य को सिद्ध कर सकता है? इसी लिए ऐसे स्थलों में **'असिद्ध'** हेत्वाभास विद्यमान रहता है और अनुमान को सदा अयथार्थ बनाये रहता है।

(५) अन्तिम प्रकार **बाधित** कहलाता है। यह उन स्थानों पर होता है जहाँ साध्य का अभाव अनुमान से भिन्न प्रमाणों के द्वारा सिद्ध रहता है। 'अग्नि शीतल है, क्योंकि वह घट के समान द्रव्य है'—यह अनुमान इसी कारण से गलत है, क्योंकि अग्नि की उष्णता का ज्ञान हमें यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। आग में हाथ रखते ही वह उसे जलाने लगता है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा अग्नि की शीतलता के अभाव का, नहीं नहीं उष्णता का, ज्ञान हमें पहिले ही विद्यमान है। फलतः अग्नि में शीतलता की सिद्धि करने वाला 'द्रव्य' हेतु यहाँ बाधित है। बाधित पूर्व वर्णित 'सत्प्रतिपक्ष' के समान प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। 'सत्प्रतिपक्ष' में एक अनुमान का खण्डन दूसरे अनुमान के द्वारा किया जाता है, परन्तु बाधित में एक अनुमान का

खण्डन प्रत्यक्ष के द्वारा अथवा अनुमान-भिन्न प्रमाण के द्वारा किया जाता है। अनुमान का विरोध या खण्डन दोनों में किया जाता है, परन्तु पहले में अनुमान के द्वारा ही और दूसरे में अनुमान से भिन्न प्रमाण के द्वारा यह कार्य किया जाता है। यही दोनों का अन्तर है।

इन हेत्वाभासों में दो के तीन-तीन अवान्तर भेद होते हैं। प्रथम हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है—(क) **साधारण,** जिसमें हेतु साध्य में तथा साध्य के अभाव में भी विद्यमान रहता है। (ख) **असाधारण,** जिसमें केवल पक्ष में ही हेतु रहता है। वह विपक्ष से विपक्ष से तो व्यावृत्त (पृथक्) रहता है, पर साथ ही साथ सपक्ष से भी पृथक् रहता है। वह केवल पक्ष में ही निवास करता है। (ग) **अनुपसंहारी,** जिसके लिए न तो अन्वय दृष्टान्त होता है और न व्यतिरेक दृष्टान्त होता है। फलतः उसके लिए कोई सपक्ष नहीं होता। चौथा हेत्वाभाव **असिद्ध** भी तीन प्रकार का होता है—(क) **आश्रयासिद्ध** = हेतु के रहने का स्थान (पक्ष) ही एकदम असिद्ध होता है। (ख) **स्वरूपासिद्ध** = हेतु का रूप ही सिद्ध नहीं होता, अर्थात् वह हेतु होता ही नहीं। (ग) **व्याप्यत्वासिद्ध,** जहाँ व्याप्ति किसी उपाधि से युक्त होती है, अर्थात् हेतु और साध्य की व्याप्ति की सिद्धि में कोई न कोई शर्त लगा रहता है, जिसके पूरा होने पर ही वह व्याप्ति वहाँ जमती है, दूसरे ढंग से नहीं। परन्तु व्याप्ति का सम्बन्ध बिना किसी शर्त के सिद्ध होना चाहिए। वह यहाँ नहीं होता और इसलिए यहाँ हेत्वाभास होता है।

विशेष ध्यान की बात यह है कि इन दोषों में पूर्व वर्णित सत् हेतु के चिह्नों की सर्वथा कमी रहती है। चिह्नों के होने पर तो अनुमान ठीक ही जमता। सत् हेतु के पाँच गुण होते हैं, जिनमें कहीं तो एक का अभाव होता है और कहीं अनेक गुणों का। साधारण (अनैकान्तिक) में तृतीय गुण (विपक्ष से व्यावृत्ति) का अभाव रहता है, असाधारण तथा अनुपसंहारी में द्वितीय गुण (सपक्ष में स्थिति) का उलंघन रहता है। विरुद्ध हेत्वाभास में प्रथम तीनों गुणों का अभाव रहता है। 'सत्प्रतिपक्ष' में चतुर्थ गुण का तथा बाधित में पाँचवें गुण (अबाधित विषयत्व) का अभाव नितान्त स्पष्ट है। 'असिद्ध' के तीनों प्रकारों में भी यही दशा होती है। आश्रयासिद्ध (आकाश-कमल में सुगन्ध का अनुमान में तो पक्ष होता है नहीं, हेतु के पक्ष में रहने की तो बात ही न्यारी है। स्वरूपासिद्ध (शब्द गुण है चाक्षुष होने से—अनुमान) में पक्ष (शब्द) तो अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु हेतु (चाक्षुष) की स्थिति वहाँ नहीं होती।

अतः यहाँ पहिले ही गुण (पक्षे सत्ता) का अभाव विद्यमान है। 'व्याप्यत्वासिद्ध' में ठीक व्याप्ति ही नहीं जमती। तब भला अनुमान क्योंकर सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार स्पष्ट है कि सत् हेतु के गुणों के न रहने पर ही हेत्वाभास या अनुमान-भ्रान्ति का उदय होता है। 'सत्-प्रतिपक्ष' को '**प्रकरणसम**' असिद्ध को '**साध्यसम**' तथा बाधित को '**कालातीत**' के नाम से भी अनेक न्याय-ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है।

(ग) उपमान

उपमान नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। पहिले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान होता है, उसे '**उपमान**' कहते हैं। 'गो के सदृश गवय (नील गाय) होता है' इस वाक्य के सुनने के बाद जंगल में जाने वाला पुरुष जब गो की समानता वाले पशु को देखकर उसे 'गवय' पद का वाच्य समझता है, तब इस ज्ञान का अनुभव उसे 'उपमान' के द्वारा होता है। अतः उपमान में दो वस्तुओं का सादृश्य-ज्ञान कारण है, तथा 'गवय गो के समान होता है' इस वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। सादृश्य कई प्रकार का हो सकता है—'एकान्त सादृश्य' एक गाय का दूसरी गाय के साथ, 'कतिपयांश में सादृश्य' गाय का सादृश्य भैंस के साथ तथा 'आंशिक' सादृश्य मेरु पर्वत तथा तिल का। सत्तांश में सादृश्य दोनों की सत्ता है। इसको लेकर उनमें अंशतः समानता है, परन्तु भाष्यकार ने इन सादृश्यों का उपमान के लिए खण्डन किया है और प्रसिद्ध सादृश्य को ही ठीक ठहराया है। समानता के अंगों की संख्या उपमान में महत्त्व-शालिनी नहीं है; प्रत्युत समानता की ख्याति तथा महत्ता। अतः प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ संज्ञा तथा संज्ञी का, नाम नामी का सम्बन्ध-स्थापन किया जाता है उसे **उपमान** कहते हैं।

उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने में दार्शनिकों ने बड़ी विप्रतिपत्ति खड़ी की है। चार्वाक उपमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते। दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं[1]। वैशेषिक लोग इसे अनुमान के भीतर बतलाते हैं, 'गो सदृश होने से यह पशु गवय है' यह ज्ञान हेतु के ऊपर अवलम्बित होने से अनु-मान का एक प्रकारमात्र है[2]। सांख्य[3] उपमान में शब्द तथा प्रत्यक्ष की आंशिक

(१) न्यायवार्त्तिक १-१-६। (२) द्रष्टव्य उपस्कार वै० सू० ९।२।५ सूत्र पर। (३) द्रष्टव्य तत्त्वकौमुदी, कारिका ५।

स्थिति मानता है। गवय में गो-सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, तथा गो-सादृश्यवान् पशु के गवय होने में उपदेश का वाक्य प्रमाणभूत है। भासर्वज्ञ ने नैयायिक होने पर भी उपमान को शब्द के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। जैन दर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञामात्र मानता है[1]। मीमांसा[2] तथा वेदान्त[3] उपमान को स्वतन्त्र मानते हैं अवश्य, पर उनकी कल्पना नैयायिक कल्पना से नितान्त भिन्न पड़ती है। इन विप्रतिपत्तियों का मार्मिक खण्डन न्याय ग्रन्थों में किया गया है। वास्तव में उपमान अंशतः अन्य प्रमाणों के ऊपर अवलम्बित होने पर भी अन्ततः एक स्वतन्त्र प्रमाण है। उपमान सीधा साधा न होकर एक मिश्रित व्यापार है। 'गवय गोसमान पशु होता है' इस अंश में शब्द की, गवय में गो सादृश्य के अनुभव में प्रत्यक्ष की, 'यही गवय है' इस अंश में पूर्व वाक्य की स्मृति तथा अनुमान की सत्ता भले ही सिद्ध मानी जाय, परन्तु 'गवयपद का वाच्य यही गवय पशु है' इस अंश में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है ही, क्योंकि यह अंश किसी अन्य प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

(घ) शब्द

शब्द अन्तिम प्रमाण है। **आप्तोपदेशः शब्दः** (न्या० सू० १।१।६)। किसी आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं। **'आप्त'** वह कहलाता है जो वस्तु को यथार्थ रूप से जानता है, तथा हितोपदेष्टा होने के कारण जिसके वाक्यों को हम प्रमाण मान सकते हैं। लौकिक तथा वैदिक रूप से शब्द दो प्रकार के हैं। लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य को कहते हैं। वैदिकशब्द श्रुति के वाक्य को कहते हैं। पद के समूह को वाक्य कहते हैं। पद शक्ति से सम्पन्न रहता है। नैयायिक लोग दो प्रकार की शक्ति मानते हैं—अभिधा तथा लक्षणा। पद-शक्ति के विषय में बड़ा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक गण ईश्वर की इच्छा को संकेत मानते हैं। 'यह शब्द इस अर्थ को बोध करे' इसी ईश्वरेच्छा पर शब्द-संकेत निर्भर रहता है, पर नव्य नैयायिक पुरुष की इच्छा को भी संकेत का कारण मानते हैं। संकेतग्रह के विषय में भी दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। न्याय जाति, व्यक्ति तथा आकृत—इन तीनों के ऊपर संकेत स्वीकार करता है। वाक्यार्थबोध के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक है[15]।

---

(१) प्रमेयकमल-मार्तण्ड, पृ० ९७-१००। (२) शास्त्रदीपिका, पृ० ७४-७६। (३) वेदान्त-परिभाषा, परिच्छेद ३।

वेद के विषय में नैयायिकों तथा मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है, पर दोनों के विचार एक दूसरे से अत्यन्त विभिन्न पड़ते हैं। ईश्वर की सत्ता न मानने वाली मीमांसा को वेद के विषय में ईश्वर को कर्ता नहीं मानते। अतः पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उद्भूत न होने से वेद **'अपौरुषेय'** है, परन्तु न्याय जगत्कर्तृरूप से ईश्वर को मानता है। अतः वह वेद को ईश्वर के द्वारा विरचित होने से **'पौरुषेय'** मानता है। मीमांसक वेद को नित्य मानते हैं, परन्तु नैयायिक अनित्य। जब वेद कार्य हुआ, तब वह नित्य कैसे हो सकता है? परन्तु उसकी अनित्यता जगत् के पदार्थों की अनित्यता के समान नहीं है।

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थकारों ने वेद में अनेक दोषों की उद्भावना की है, पर इनका खण्डन न्याय तथा मीमांसा ने बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है। वेद-प्रमाणण्य न मानने पर भी जैन तथा बौद्ध दर्शन शब्द-प्रमाण को मानते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण दार्शनिकों को वेदवचन प्रमाणभूत हैं, उसी प्रकार बौद्धों को बुद्धवचन (पालि त्रिपिटक) तथा जैनों को जैनागम (अर्धमागधी में लिखित 'अंग') माननीय हैं। अतः शब्द इन दोनों के लिए भी ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है।

कार्य-कारण का सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय हमने ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। असाधारण कारण को **'करण'** कहते है—वह विशिष्ट वस्तु, जो किसी कार्य के उत्पादन में विशेष रूप से कारण हो **'करण'** कहलाती है। यहाँ **'कारण'** का विचार अप्रासंगिक न होगा। कार्य के नियत रूप से पूर्व में होने वाली वस्तु 'कारण' कहलाती है। नियत पूर्ववर्ती कहने से तात्पर्य यह है कि उस कार्य के वास्ते बिना किसी व्यवच्छेद के उस वस्तु को पूर्ववर्ती होना ही चाहिए। यदि यह पूर्ववर्तिता कभी है और कभी नहीं है, तो उसे कारण नहीं माना जा सकता। कारण को नितान्त उपयोगी होना भी उतना ही आवश्यक है।

'कारण' के लिए यह जरूरी है कि वह कार्य से पहिले विद्यमान हो—पूर्ववर्ती हो, परन्तु यह पूर्ववर्ती होना नियत होना चाहिए। यह न होना चाहिए कि कहीं तो वह पूर्ववर्ती हो, परन्तु कहीं वह पूर्ववर्ती न हो। नियत पूर्ववर्ती होने के अतिरिक्त कारण में एक अन्य गुण भी होना चाहिए—नितान्त उपयोगिता, अर्थात् वह कार्य के सम्पादन में नितान्त उपयोगी हो। उसके अभाव में वह कार्य कभी तैयार ही नहीं हो सकता, जैसे कपड़े के लिए तन्तु (डोरा)। डोरा से ही

तो मिलकर कपड़ा बनता है। डोरा न हो तो कपड़ा बन ही कैसे सकता है। पट बनने के सब स्थलों में तन्तु विद्यमान रहता ही है। अत एव नियत पूर्ववर्ती तथा नितान्त उपयोगी होने के कारण 'तन्तु' पट का कारण है।

कार्य के प्रति कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जो नियत पूर्ववर्ती तो अवश्य हैं, परन्तु वे नितान्त उपयोगी नहीं हैं। ऐसे अनावश्यक वस्तुओं को न्यायशास्त्र में 'अन्यथासिद्ध' (एकदम व्यर्थ) कहते हैं, 'अन्यथासिद्ध' संख्या में पाँच होते हैं, जो कार्य से नियत पूर्ववर्ती तो हैं, परन्तु आवश्यक नहीं हैं। घड़े को कुम्भकार दण्ड की सहायता से बनाता है। अत एव घड़े के लिए दण्ड तथा कुम्भकार दोनों कारण होते हैं, परन्तु यहाँ कुछ वस्तुएँ पहिले से ही सम्बद्ध रहती हैं, जो घट निर्माण के लिए आवश्यक नहीं होतीं। दण्ड के साथ रहता है दण्डत्व तथा दण्ड का रूप। आकाश सबका पूर्ववर्ती है। कुम्भकार का पिता कुम्भकार से ही पूर्ववर्ती होता है। अपनी पीठपर मिट्टी को लाने वाला गदहा भी तो घट के होने से पहिले है, परन्तु ये पाँचों वस्तु–दण्डत्व, दण्डरूप, आकाश, कुम्भकार–पिता तथा गर्दभ–नियत रूप से पूर्ववर्ती होने पर भी घट के लिए नितान्त आवश्यक नहीं हैं। अत एव ये 'अन्यथासिद्ध' कहलाते हैं और घट के लिए कारण नहीं माने जा सकते। गदहे की पीठपर अधिकतर कोहार मिट्टी लाते हैं, परन्तु अपने माथे पर भी ढोकर ला सकते हैं। फलतः गर्दभ घट की उत्पत्ति के लिए कारण नहीं माना जा सकता। इसलिए कारण का लक्षण होगा वह वस्तु जो कार्य के नियत रूप से पूर्ववर्ती होने के साथ ही नितान्त आवश्यक होती है (अनन्यथा-सिद्ध)[२५]। न्याय के मत में कार्य कारणों से एकदम भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ होता है। मिट्टी से घड़ा का जो निर्माण होता है वह एक नवीन वस्तु की सृष्टि होती है। इसलिए न्याय कार्य की 'उत्पत्ति' (नवीन सृष्टि) मानता है, सांख्यों के समान 'परिणाम' नहीं।

कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण तथा निमित्तकारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे **समवायी कारण** (उपादानकारण) कहते हैं, जैसे घड़े के लिए मिट्टी। समवायिकारणता द्रव्य की होती है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है वह **असमवायी** कहलाता है। तन्तु-संयोग पट का असमवायी कारण है, क्योंकि पटरूपी कार्य के साथ तन्तु-संयोग तन्तुरूप एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से निवास करता है। कारण पट के साथ तन्तुरूप एक ही तन्तु में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, अतः

तन्तुरूप पटरूप का असमवायी कारण है। असमवायी कारण नैयायिकों की अपनी खास सूझ है, जिसे अन्य दार्शनिकों ने खण्डन करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं। गुण तथा क्रिया ही असमवायी कारण हो सकते हैं। इन दोनों से भिन्न कारण को **'निमित्तकारण'** कहते हैं, जैसे घड़े का बनाने वाला कुलाल तथा उसके औजार। इन विविध कारणों की परस्पर सहकारिता से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इन तीनों में से कार्योत्पत्ति के लिए जो असाधारण, विशिष्ट या नितान्त साधक है उसे **'करण'** कहते हैं।

(४) न्याय-तत्त्वसमीक्षा

न्यायसूत्र (१।१।९) में प्रमेय के द्वादश भेद स्वीकृत किये गये हैं— (१) आत्मा—सब वस्तुओं का देखने वाला, भोग करने वाला, जाननेवाला; (२) शरीर—भोगों का आयतन या आधार; (३) इन्द्रिय—जिनके द्वारा आत्मा बाह्य वस्तुओं का भोग करता है—भोगों के साधन; (४) अर्थ-भोग किए जाने वाले वस्तु समूह; (५) बुद्धि—भोग, ज्ञान; (६) मन—सुख-दुःख आदि आन्तर भोगों का साधनभूत इन्द्रिय; (७) प्रवृत्ति—मन, वचन तथा शरीर का व्यापार; (८) दोष—जिसके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है; (९) प्रेत्यभाव-पुनर्जन्म; (१०) फल—सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव; (११) दुःख—इच्छाविघातजन्य क्लेश या पीड़ा; (१२) अपवर्ग—दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति। इन्हीं पदार्थों का ज्ञान मुक्ति के लिए सहायक है। अतः इन वस्तुओं को **'प्रमेय'** कहते हैं। आत्मा का नैयायिक रूप वैशेषिकों को भी मान्य है। अतः इसका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

प्रमेय

न्याय में ईश्वर मीमांसा

न्यायदर्शन में ईश्वर का सिद्धान्त बड़ा ही महत्त्व रखता है। 'ईश्वर' न्याय-दर्शन का एक मौलिक तत्त्व है, जिसके आधार पर उसके आचार तथा धर्म का विशाल दुर्ग खड़ा है। ईश्वर के विना अनुग्रह के जीव न तो प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान पा सकता है और न इस जगत् के दुःखों से ही छुटकारा पा कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अत एव यह जानना बहुत ही जरूरी है कि ईश्वर कैसा है, तथा उसकी सत्ता के लिए कौन से प्रमाण हैं?

ईश्वर का रूप

ईश्वर का स्वरूप विवेचन न्यादर्शन में बड़ी सुन्दरता से किया गया है। ईश्वर इस जगत् की रचना, पालन तथा संहार करने वाला है। वह असत्

पदार्थों से तो विश्व की रचना नहीं करता; प्रत्युत अणु से जो सूक्ष्मतम रूप में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। जगत् में व्यवस्था का आधायक वह स्वयं है। इस प्रकार ईश्वर इस विश्व का निमित्तकारण ही है, उपादानकारण नहीं। वेदान्त से यह मत भिन्न पड़ता है। वेदान्त ईश्वर को दोनों ही कारण एक साथ मानता है—निमित्तकारण भी और उपादानकारण भी। ईश्वर की इच्छा बड़ी प्रबल होती है। वह इच्छा के बल पर इस विश्व की रक्षा करता है, परन्तु जब वह देखता है कि इसमें पाप का आधिक्य तथा पुण्य का अभाव हो गया है, तब वह इसका संहार भी कर डालता है। विश्व के बनाने में उसका एक नैतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के अभाव में वह प्रलय में इसे डाल देता है। ईश्वर जीवों के कर्मफलों का दाता भी है और इसलिए वह नैतिक अध्यक्ष तथा शासक है। कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि मनुष्य भी, अपने काम करने में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है। मनुष्य अपेक्षाकृत ही स्वतन्त्र है, अर्थात् वह परमात्मा के आदेश तथा संरक्षण में अपने कार्यों का सम्पादन करता है। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् पिता अपने अनेक पुत्रों को उनकी योग्यता, प्रवृत्ति तथा रुचि के अनुसार उनके योग्य भिन्न भिन्न कार्यों में लगाता है, ईश्वर ठीक उसी प्रकार जीवों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार नाना कार्यों में लगाता है। मनुष्य कर्म के सम्पादन में निमित्तकारण होता है और ईश्वर उनका प्रयोजक कर्ता होता है, जो उसे कार्यों में लगाता है तथा करने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार ईश्वर प्राणिमात्र का नैतिक शासक है; हमारे कर्मों के फलों का न्यायतः प्रदाता है, तथा हमारे सुखों और दुःखों का नियामक है। उसके आदेश तथा नियन्त्रण में रहकर ही जीव अपने कार्यों का सम्पादन करता है, तथा अपने जीवन के उच्च उद्देश्यों का लाभ करता है।

ईश्वर-सिद्धि के प्रमाण

ईश्वर की सिद्धि के लिए नैयायिकों ने बड़े ही प्रबल तथा गम्भीर प्रमाणों को खोज निकाला है। पश्चिमी तत्त्वज्ञों ने इस विषय में जिन प्रमाणों को रखा है, वे सब न्याय-ग्रन्थों में बहुलता से मिलते हैं। पहला प्रमाण है कार्य-कारण के सम्बन्ध को लेकर। विश्व के जितने पदार्थ हैं वे सब कार्य हैं, अर्थात् उत्पन्न हुए हैं। इसमें हेतु दो हैं। एक तो वे अवयवों या अंशों से युक्त हैं (सावयव)। समग्र पदार्थ—मनुष्य तथा पशु, घट तथा पट, पशु तथा पक्षी—अवयवों से सम्पन्न हैं, तथा साथ ही साथ अवान्तर परिमाण से युक्त हैं, उनका परिमाण सीमित

कार्यतः

है। सूर्य तथा चन्द्रमा, नदी तथा समुद्र, पर्वत तथा वृक्ष—जगत् के ये समग्र द्रव्य कार्य हैं, क्योंकि उनके अवयव होते हैं, तथा ये सीमित परिमाण से युक्त हैं। इस कार्य का कोई कर्ता भी होना ही चाहिए। यही तो हमारा दैनन्दिन अनुभव है। घड़े का कर्ता कुम्हार है और पहिये का बनाने वाला बढ़ई। इसी प्रकार इस विश्व के कार्यरूप पदार्थों का कर्ता कोई न कोई अवश्य होगा। और वह चेतन सर्वशक्तिशाली ईश्वर ही है। विश्व का अन्तिम उपादान तो परमाणु होता है, जो स्वयं जड़ होता है। यह जड़ उपादान इतने सुव्यवस्थित तथा नियम से परिचालित विश्व की उत्पत्ति में कभी समर्थ नहीं हो सकता, यदि वह किसी चेतन अध्यक्ष की संरक्षकता में नहीं रहता। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा व्यापक है। यह चेतन पदार्थ अणुओं की पूर्ण जानकारी रखेगा, क्योंकि उन्हीं के द्वारा जगत् की रचना करना है (ज्ञान)। वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा रखता है (चिकीर्षा), तथा साथ ही साथ उसी उद्देश्य की पूर्ति करने की इच्छा से भी वह सम्पन्न है (कृति)। वह सर्वज्ञ अवश्य होगा, क्योंकि सर्वज्ञ व्यक्ति ही परमाणु जैसे अनन्त तथा सूक्ष्मतम पदार्थों के जानने योग्य होता है। इस प्रकार विश्वरूपी कार्य से हम कर्ता ईश्वर की सत्ता का अनुमान करते हैं।

अदृष्टतः

संसार के प्राणियों के भाग्य में कितना अन्तर दीखता है। कोई तो राजसी ठाट-बाट से पूरे वैभव में अपना दिन बिताता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति रोटी-रोटी के लिए तरसता रहता है। इसका कारण क्या है? इसका कारण है हमारा कर्म ही। अपने भाग्य के हमही उत्तर-दायी हैं। जैसा कर्म वैसा फल। बबूल के बोने से क्या कभी मीठे आम चखने को मिल सकते हैं? मीठे आम को खाने के अभिलाषी व्यक्ति को मीठा आम ही बोना पड़ता है। अतः निश्चित है कि कर्मों का फल फलता है और उसी के कारण प्राणियों की स्थिति में इतना अन्तर विद्यमान है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि कर्म करते तो हैं आज और उसका फल होता है बहुत दिनों के अनन्तर—वर्षों के बाद और कभी-कभी तो यह विलम्ब और भी अधिक होता है। ऐसी स्थिति में कर्म तथा कर्मफल का सम्बन्ध कैसे स्थिर किया जाय? इसके लिए नैयायिक लोग पुण्य तथा पाप की कल्पना मानते हैं। अच्छे कामों के करने से एक प्रकार की शोभन योग्यता उत्पन्न होती है, जिसे **'पुण्य'** कहते हैं; बुरे कामों के करने से अशोभन योग्यता होती है, जिसे **'पाप'** कहते हैं। पुण्य तथा पाप को ही **'अदृष्ट'** कहते हैं और इसी अदृष्ट के द्वारा कर्म के फल का उदय

होता है। परन्तु अदृष्ट स्वयं जड़ पदार्थ है, उसमें फल देने की योग्यता कहाँ है? इसीलिए उसे प्रेरित तथा नियमित करने के लिए एक परम-ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता होती है। जिस चेतन की अध्यक्षता में जड़ अदृष्ट अपना काम करे वह परम ज्ञानी चेतन व्यक्ति ईश्वर ही है। ईश्वर अदृष्ट का नियन्ता है, तथा उसके अनुसार हमारे सुख-दुःख का, उन्नति-ह्रास का, हर्ष-विषाद का वह सम्पादक है। इस प्रकार कर्मफल के दाता होने से तथा अदृष्ट के नियन्ता होने से ईश्वर की सिद्धि होती है। यह उसकी सत्ता का दूसरा प्रमाण है।

हमारे धर्म में वेद की प्रामाणिकता सर्वतोमुखी है। धर्म वही है जो वेद कहता है और अधर्म वही है जिसका वेद निषेध करता है। वेद को मानने वाला आस्तिक है और नास्तिक वही है जो वेद का निन्दक होता है—**नास्तिको वेदनिन्दकः**। प्रश्न है कि वेद की इतनी मान्यता क्यों? उसके तथ्यों में इतना आदर क्यों? उसके वचनों में इतना विश्वास क्यों? सबसे बड़ा भारतीय तार्किक भी उसी समय अपना मुँह बन्द कर लेता है, जब उसे सुझाया जाता है कि उसका तर्क वेद से विरुद्ध है और उसके कथन का विरोध वेद में है। ऐसा क्यों होता है? वेद की प्रामाणिकता का आधार क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—ईश्वर। सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा विरचित होने से ही वेद की प्रामाणिकता है। वेद किसी मानव की कृति नहीं है। मानव की रचना दोषपूर्ण होती है और हो सकती है, परन्तु ईश्वर की कृति में यह दोष कहाँ? ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा व्यापक ठहरा। उसकी रचना होने के कारण ही वेद की प्रामाणिकता में हमारी इतनी श्रद्धा और विश्वास है। वेद का रचयिता वही व्यक्ति हो सकता है जिसे भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म तथा स्थूल, इन्द्रिय-गोचर तथा अतीन्द्रिय समस्त पदार्थों का ज्ञान हो, वह व्यक्ति ईश्वर है (द्रष्टव्य न्यायभाष्य २।१।६८)।

वेद की प्रामाणिकता से

ईश्वर की सिद्धि का एक चौथा भी प्रमाण है श्रुति का। श्रुति या वेद कहता है कि ईश्वर है और इसलिए उसे मानना पड़ेगा। श्वेताश्वतर उपनिषत् (६।११) कहता है कि एक देव सब प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सबकी अन्तरात्मा है, तथा नियामक और रक्षक है। गीता (९।१७) में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही विश्व की गति हूँ, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, माता-पिता सब मैं ही हूँ। ऐसे स्पष्ट उल्लेखों से हमें ईश्वर को मानना पड़ता है। ईश्वर की सिद्धि तथा प्रमाण का

श्रुति से

एक ही आधार है और वह है अपना अनुभव (स्वानुभूति)। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है कि स्वानुभूति, अपने आत्मा का अनुभव ही ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण है (स्वानुभूत्येकमान)। जब तक हम अपने आप के द्वारा उसकी उपलब्धि नहीं करते, नहीं जानते, तब तक ईश्वर को जान ही नहीं सकते। उसकी सिद्धि के लिए तर्क व्यर्थ है, क्योंकि उसके खण्डन के लिए उससे भी बढ़कर तर्क रखे जा सकते हैं। न बुद्धि की अवधि है और न तर्कों की सीमा। आज ईश्वर-सिद्धि के लिए अकाट्य प्रमाण मानते हैं, कल उसे ही कोई विचक्षण तार्किक अपनी बुद्धि से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर सकता है। तर्क की प्रतिष्ठा नहीं—अन्तिम स्थिति नहीं। ऐसी दशा में हमें प्रत्यक्ष के द्वारा ही ईश्वर को जानना चाहिए, अनुमान के द्वारा नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष के लिए चाहिए योग के द्वारा निदिध्यासन, चित्त की विशिष्ट शुद्धि तथा निश्चल ध्यान। साधारण व्यक्तियों के सामर्थ्य से यह बाहर की बात है। ऐसी स्थिति में हमें चाहिए कि वेद का अनुशीलन करें, क्योंकि वेद तो ज्ञानी ऋषि-मुनियों के द्वारा अनुभूत तथ्यों की राशि है। उन्होंने योग-बल से उन तथ्यों का दर्शन किया था जो वेद के भीतर निहित हैं। श्रुति ही ऋषियों के प्रत्यक्ष अनुभव को धारण करती है। इसलिए हमें उचित है कि इन प्रत्यक्ष अनुभूति के प्रदर्शक मन्त्रों तथा वचनों में अपनी श्रद्धा रखें और उसी पर चलकर ईश्वर का प्रत्यक्ष करें, तथा उसे अपनी अनुभूति का विषय बनावें। इस प्रकार वेद के वचनों से ईश्वर की सिद्धि मानना नितान्त उचित है।[१६]

यहाँ तृतीय तथा चतुर्थ प्रमाणों में कोई परस्पर विरोध नहीं है। ईश्वर होने से वेद की प्रामाणिकता तथा वेद के वचनों से ईश्वर सिद्धि—ये दोनों भिन्न तथ्य हैं। इनमें कोई विरोध नहीं है। दो बातें हैं—स्थिति का क्रम तथा ज्ञान का क्रम। स्थिति के क्रम में ईश्वर प्रथम है और वही वेद की रचना करता है, तथा उसे प्रामाणिक बनाता है। ज्ञान के क्रम में वेद प्रथम है और उसी के ज्ञान से हम ईश्वर को जानते हैं। वेद के ज्ञान के लिए हम ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, क्योंकि वह तो ज्ञानी गुरुओं की कृपा से भी जाना जा सकता है। फलतः इन द्विविध प्रमाणों में कोई भी विरोध नहीं है।

(५) न्याय आचार-मीमांसा

न्याय दर्शन में आचार की भी मीमांसा अपनी दृष्टि से की गई है। न्याय का लक्ष्य यही है कि प्राणी इस दुःखबहुल संसार से सदा के लिए मुक्ति पा ले।

यह सम्भव है ज्ञान के ही द्वारा, परन्तु ज्ञान की सहायता करने के लिए मनुष्य को उन उपायों का भी आश्रय लेना चाहिए जिनका वर्णन योग सूत्रों में किया गया है। यम, नियम, ध्यान आदि का आश्रय लेना कल्याणप्रद होता है, तथा इनसे ज्ञान का उदय तुरन्त हो जाता है। जगत् के व्यवहार का भी विवेचन हम न्याय में अच्छे ढंग से किया गया पाते हैं।

वचन, मन तथा शरीर के आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं (न्या०सू० १।१।१७)। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—पापिका तथा पुण्या। कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से ये दोनों तीन प्रकार के होते हैं। पूर्वोक्त दोषों के वश में होकर प्राणी शरीर से अहिंसास्तेयादि कर्मों को करता है, वचन से मिथ्या और कठोर वाक्यों का उच्चारण करता है, मन से परद्रोह, नास्तिक्य आदि करता है। यह पापात्मिका प्रवृत्ति अधर्म उत्पन्न करती है। शरीर से दान, परित्राणादि का; वचन से सत्य, हितादि का; मन से दया, श्रद्धादि का आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म की उत्पत्ति करती है।[१]

मुक्ति

सूत्रकार के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को **'अपवर्ग'** कहते हैं (**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः**—१।१।२२)। 'अत्यन्त' का अभिप्राय है सदा के लिए अर्थात् जो जन्म ग्रहण किया गया है उसका नाश तो होना ही चाहिए; आगे जन्म भी नहीं होना चाहिए। तभी दुःखनाश अत्यन्त कहलाता है। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए, परन्तु भविष्य जन्म का न होना भी उतना ही आवश्यक है। इन दोनों की सिद्धि होने पर आत्मा का दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति सम्पन्न होती है। जब तक वासनादि आत्मगुणों का नाश नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का नाश हो जाता है। धर्म तथा अधर्म के कारण ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः ये दोनों संसाररूपी प्रासाद के स्तम्भरूप हैं। इन गुणों के उच्छेद होने से शरीरादि कार्यों का अभाव हो जाता है। भोगों के साधन होने से शरीर भोग का आयतन है। उस शरीर के अभाव में आत्मा का इच्छा, द्वेष आदि गुणों के साथ कथमपि सम्बन्ध नहीं रहता। अतः न्याय मुक्तावस्था में आत्मा के विशेष गुणों का अत्यन्ताभाव अंगीकार करता है। मुक्त आत्मा के स्वरूप का सुन्दर परिचय

---

१. द्रष्टव्य न्यायभाष्य १।१।२; न्यायमञ्जरी न्या० सू० १।१।१७।

न्यायमञ्जरी में दिया गया है—मुक्त दशा में आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहती है। 'ऊर्मि' का अर्थ क्लेश विशेष है। भूख-प्यास प्राण के, लोभ-मोह चित्त के, जाड़ा-गर्मी शरीर के क्लेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेती है और दुःख क्लेशादि सांसारिक बन्धनों से वह विमुक्त हो जाती है।[१८]

मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आनन्द की प्राप्ति नहीं होती।

मुक्ति के दो रूप

उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है—(१) अपरनिःश्रेयस तथा (२) परनिःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपरनिःश्रेयस कह सकते हैं, परनिःश्रेयस विदेहमुक्ति है। वाचस्पति ने तात्पर्य-टीका (पृ० ८०-८१) में इन दोनों के अन्तर का विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ हैं—श्रवण, मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वक्षिकी का उपयोग संशयादितत्त्व तथा प्रमाणतत्त्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान आत्म-साक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। विना योगज-ध्यान के आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी उपभोग से जब क्षीण कर देते हैं, तभी परनिःश्रेयस का उदय होता है।[१९]

मुक्त आत्मा का रूप

सुख के साथ राग का सम्पर्क लगा ही रहता है। राग से सुख उत्पन्न होता है। जब तक सुख है राग भी रहता है और यह राग ही बन्धन का कारण होता है। ऐसी दशा में सुख मानने से बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता। न्याय का कहना है कि ब्रह्म को आनन्दस्वरूप बतलाने से यह नहीं समझना चाहिए कि उप-निषद् ब्रह्म में आनन्द की सत्ता बतलाती है। उसका अर्थ यही है कि उसमें दुःख का केवल नाश रहता है। लोकव्यवहार में भी यही तो अनुभव होता है। ज्वरी होने पर हम दुःख का अनुभव करते हैं और ज्वर के नाश हो जाने पर हम अपने को सुखी मानते हैं। यहाँ सुख की भावना केवल ज्वर के नाश में

ही होती है। अर्थात् यहाँ किसी सत्तात्मक वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती; प्रत्युत केवल निषेध की ही भावना सत्ता के रूप में गृहीत की जाती है। फलतः मोक्षदशा में 'सुख' नहीं रहता। न सुख रहता है, न दुखः। उस समय आत्मा अपने विशुद्ध रूप में ही स्थित हो जाती है। चैतन्य का भी वहाँ सर्वथा अभाव रहता है। ज्ञान, इच्छा तथा यत्न का उदय भी तभी उत्पन्न होता है आत्मा में, जब वह शरीर को धारण करता है। मुक्त दशा में शरीर नहीं रहता। फलतः उस समय में **'चैतन्य'** भी नहीं रहता। चैतन्य आत्मा का आकस्मिक गुण है, जो उसमें शरीर होने पर उत्पन्न होता है। जब तक शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है, तब तक उसमें चैतन्य बना रहता है। ज्ञान, इच्छा तथा कृति की क्रियायें देहधारी आत्मा ही किया करती है। देहविहीन होते ही इनका सर्वथा लोप हो जाता है। मुक्त दशा में आत्मा का यह रूप न्याय की भावना को प्रकट करता है।

मुक्ति मार्ग

अब मुक्ति के साधनों पर विचार करना आवश्यक है। गौतम ने (१।१।२) सूत्र में मोक्ष मार्ग के स्वरूप का परिचय दिया है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोषों का उदय होता है, उनसे शुभा या अशुभा प्रवृत्ति का उदय होता है, जिससे शरीर धारण करना पड़ता है। जन्म होने से दुःखों की उत्पत्ति होती है। मिथ्याज्ञान आदि के सदा प्रवर्तमान होने से संसार है। मिथ्याज्ञान का नाश होता है तत्त्वज्ञान से। अतः आत्मस्वरूप विषयक तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। जयन्तभट्ट ने ज्ञान की उपयोगिता पर जोर दिया है, परन्तु तत्त्वज्ञान से आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए ध्यान धारणादि योगप्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन भी श्रेयस्कर है। गौतम ने (न्या० सू० ४।२।४६) सूत्र में प्राणायाम आदि उपायों के आश्रय लेने की बात कही है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति तो तत्त्वों के ज्ञान से ही होती है, योग का अभ्यास उसका सहायकमात्र होता है।

(६) समीक्षा

न्यायदर्शन की भारतीय दर्शन साहित्य को सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या तथा विवेचना कर न्याय ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, उनका उपयोग अन्य दर्शन भी कुछ परिवर्तनों के साथ अपने विवरणों में निश्चय रूप से करते हैं। हेत्वाभासों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत कर न्याय ने अनुमान को दोषनिर्मुक्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस पर कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का यह आक्षेप है कि गौतम मुनि को

अपने दर्शन में अपवर्ग के साधक तत्त्वज्ञान का वर्णन करना उचित था, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने छल, वितण्डा, जाति आदि का वर्णन करके पर-मर्म के भेदन में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ बिताया।[१] परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, इनका उपयोग पर-मर्म के भेदन में ही नहीं किया जाता है। सूत्रकार ने स्वयं तत्त्वाध्यवसाय के रक्षणार्थ जल्पवितण्डा को उसी प्रकार उपयोगी माना है, जिस प्रकार कण्टक-शाखा का आवरण बीज के अंकुरों की रक्षा करता है (न्या० सू० ४।२।५०)। अतः छल आदि का उपयोग विनाशात्मक न होकर रचनात्मक है। इनके अभाव में सूक्ष्ममति नास्तिकों की आपात-रमणीय युक्तियों से प्रतारित होकर साधारण मनुष्य न जाने कब का उन्मार्ग का पथिक बन गया होता? अतः इनके वर्णन करने में गौतम की निसर्ग निर्मल करुणावृत्ति झलकती हुई दीख पड़ती है[२०]।

परन्तु न्यायदर्शन की तर्कपद्धति जितनी सन्तोषजनक है, उतना उसका तत्त्वज्ञान सन्तोषजनक नहीं है। न्याय ने इस जगत् को ज्ञान से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु बतलाया है, तथा उसमें अनेक नित्य पदार्थों की कल्पना की है। आत्मा के अतिरिक्त परमाणु, मन, आकाश, काल तथा दिक् सब नित्य माने जाते हैं। इस दृष्टि से जगत् की व्याख्या करने में अनेक त्रुटियाँ परिलक्षित होती हैं। न्याय व्याख्या में इतने नित्य पदार्थों के अस्तित्व मानने के लिए कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ की सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी से प्रदर्शित किया जाय, तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय। इस सिद्धान्त के अनङ्गीकार करने से न्याय में अनेक दोष दृष्टिगत होते हैं।

ईश्वर को निमित्तकारण रूप से जगत् का स्रष्टा बतलाकर न्यायदर्शन ने उसमें मानवीय भावों की कमजोरियों को उपस्थित कर दिया है। नैयायिक ईश्वर को लौकिक कर्ता के अनुरूप कल्पित किया है। जिस प्रकार बढ़ई अपने हथियारों से काठ को काट-पीट कर कुरसी, टेबुल आदि बनाया करता है और जिस प्रकार दूकान में बैठा हुआ लोहार लोहे से तरह-तरह के सामान बनाया करता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् की सृष्टि किया करता है। वह इस सृष्टि-कार्य के लिए उपादानकारणों के ऊपर अवलम्बित रहता है। उपादानों की सत्ता पर अवलम्बित रहनेवाला ईश्वर किस प्रकार सर्वशक्तिमान् तथा परमस्वतन्त्र

१. द्रष्टव्य अन्ययोग-व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक १०।

माना जा सकता है ? वेदान्त ने ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों एक साथ मानकर इस अनुपपत्ति को दूर कर दिया है, परन्तु न्याय में इस दोष का निरास कथमपि नहीं किया जा सकता।

न्याय ने आत्मा के स्वरूप की स्वतन्त्रता दिखला कर तथा उसे शरीर और इन्द्रियों से पृथक् स्थायी नित्य पदार्थ प्रमाणित कर चार्वाक तथा बौद्ध के सिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन किया है, तथा आत्मा की स्वतन्त्रता भली प्रकार प्रदर्शित की है, परन्तु मुक्त आत्मा की जो कल्पना की है, वह दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द को मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति की जो दिल्लगी उड़ाई है, वह पण्डितसमाज में अपनी रोचकता के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उनका कथन है, जिस सूत्रकार ने सचेत पुरुषों के लिए ज्ञानसुखादि से विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है, उनका गोतम अभिधान शब्दतः ही यथार्थ नहीं है; अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः—गोतम) पक्का बैल है[२१]। वैष्णव दार्शनिकों ने भी इसीलिए नैयायिकों के ऊपर फबतियाँ सुनाई हैं। मुक्तावस्था में आनन्दधाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावन में सरस बिहार करने की व्यवस्था बतलाने वाले वैष्णव लोग इस नीरस मुक्ति की कल्पना से घबरा उठते हैं और भक्तों के भावुक हृदय पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुञ्जों में शृगाल बन कर जीवन बिताना हमें मन्जूर है, परन्तु हम लोग वैशेषिक मुक्ति को पाने के लिए कथमपि इच्छुक नहीं हैं[२२]। यह आक्षेप केवल नैयायिकों के ही ऊपर नहीं है। अन्य दार्शनिकों के मत से भी मुक्ति में दुःखभाव ही रहता है, सुख नहीं। सांख्य आदि समस्त दार्शनिकों के प्रति भी यही आक्षेप है। नैयायिक विशेष विद्वान् होने से इस मण्डली का प्रतिनिधित्व करता है।

———

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक दर्शन

पण्डित-मण्डली में एक कहावत प्रसिद्ध है कि "काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्"–अर्थात् कणाद दर्शन तथा पाणिनीय व्याकरण सब शास्त्रों में उपकारक होते हैं। शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनीय व्याकरण के ही समान पदार्थों के स्वरूप निर्णय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य दर्शन है। अन्तिम दोनों नाम इसके आद्य प्रवर्तक उलूक ऋषि तथा महर्षि कणाद के नाम पर दिये गये हैं, पर 'वैशेषिक' नाम का रहस्य क्या है? इसके रहस्य को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से बतलाया है। चीनदेशीय दार्शनिक चिस्तान (५४९–६२२ ई०) तथा क्वहेइची (६२३–६८२ ई०) के द्वारा संगृहीत एक प्राचीन परम्परा के अनुसार कणाद सूत्रों का 'वैशेषिक' नामकरण अन्य दर्शनों से—विशेषतः सांख्य दर्शन से, विशिष्ट अर्थात् अधिक युक्तियुक्त होने के कारण किया गया था,[1] पर भारतीय विद्वन्मण्डली के अनुसार 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन की **'वैशेषिक'** संज्ञा प्राप्त हुई है।

नामकरण

वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति कब हुई? बौद्ध ग्रन्थों में (मिलिन्दप्रश्न, लंकावतारसूत्र, ललितविस्तर आदि) वैशेषिक दर्शन का नामोल्लेख पाया जाता है; इन ग्रन्थों में न्याय सिद्धान्तों को भी वैशेषिक नाम से ही स्मरण किया गया है। सांख्य तथा वैशेषिक मतों को बुद्ध से पूर्वकालीन मानने में बौद्ध सम्प्रदाय की एकवाक्यता दीख पड़ती है। जैनों की तत्त्व-समीक्षा सम्भवतः वैशेषिक पदार्थों की कल्पना पर आश्रित है। अतः वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दोनों से प्राचीनतर प्रतीत होता है।

(१) वैशेषिक दर्शन के आचार्य

इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। त्रिकाण्डशेष कोष में इनका दूसरा

---

1. द्रष्टव्य डा० उई (Dr. Ui) वैशेषिक फिलासफी, पृ० ३–७।

नाम 'काश्यप' मिलता है, तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें कश्यप मुनि का पुत्र बतलाया है। अतः इनका गोत्र नाम 'काश्यप' होने में सन्देह नहीं है। श्री हर्ष ने नैषध (२२।३६) में कणाद दर्शन को औलूक की संज्ञा दी है। वायुपुराण में कणाद प्रभास-निवासी सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार बतलाये गये हैं[1]। अतः कणाद मुनि काश्यपगोत्री, सोमशर्मा के शिष्य तथा उलूक नामधारी थे।

कणाद

वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है और वे १० अध्यायों में विभक्त हैं, प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण और विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथमाह्निक में परमाणु-वाद का तथा द्वितीयाह्निक में अनित्यद्रव्य-विभाग का, पञ्चम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेद प्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, ७ वें तथा ८ वें अध्याय में कतिपय गुणों का, ९ वें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का, १० वें में सुख दुःख-विभेद तथा त्रिविध कारणों का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्रों से तुलना करने पर वैशेषिक सूत्र प्राचीन ठहरते हैं। इनका रचनाकाल तृतीय शतक विक्रम-पूर्व है[2]।

रावण-भाष्य

वैशेषिक सूत्रों पर यही सबसे पुराना भाष्य था, जिसका पता ग्रन्थों के निर्देशों से ही चलता है। ग्रन्थ स्वयं अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किरणा-वली में उदयनाचार्य ने प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह को लघु बतलाया है, तथा भाष्य को विस्तृत। पद्मनाभ मिश्र के 'किरणावली-भास्कर' के अनुसार भाष्य कोई विशिष्ट ग्रन्थ है। २–२–२१ ब्र० सू० शांकरभाष्य में दो द्व्यणुक के मिलकर चतुरणुक बनने की बात लिखी है (द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते)। 'प्रकटार्थ-विवरण' (जिसका निर्देश रत्नप्रभा में है) के अनुसार यह प्राचीन मत रावणभाष्य में प्रतिपादित है (रावण-प्रणीते भाष्ये दृष्यते इति चिरन्तनवैशेषिक-दृष्ट्येदं भाष्यमित्याहुः—रत्नप्रभा) रावणभाष्य में प्रतिपादित यह मत प्राचीन है, तथा प्रशस्तपाद के सम्प्रदाय से नितान्त भिन्न है। अनर्घराघव (पञ्चम अंक,

---

१. न्यायकन्दली—म० म० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी की प्रस्तावना, पृ० ७–१०।

२. द्रष्टव्य बोडस—तर्कसंग्रह की प्रस्तावना, पृ० ४०। कुप्पुस्वामी प्राइमर आफ इण्डियन लाजिक—प्रस्तावना, पृ० ३०।

विष्कम्भक) में रावण अपने को 'वैशेषिककटन्दी पण्डितः' कहता है। रुचिपति उपाध्याय ने 'कटन्दी' को रावणभाष्य का नाम बतलाया है। इसके स्थान पर 'कन्दली' पाठ भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि अष्टम शतक में रावण के वैशेषिक पण्डित होने तथा भाष्य लिखने की बात इतनी प्रसिद्ध थी कि उसका श्रेय रामायण के प्रतिनायक को दिया गया। बहुत सम्भव है कि नास्तिक मत की बातें होने के कारण 'रावणभाष्य' लुप्त हो गया हो। वैशेषिकों का 'अर्धवैनाशिक' (आधा बौद्ध) नाम इसी भाष्य के सिद्धान्तों के कारण पड़ा था[1]; ऐसी कल्पना की जा सकती है।

भरद्वाजवृत्ति नितान्त प्राचीन होती है। पं० जयनारायण ने विवृत्ति रचकर तथा महामहोपाध्याय पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने भाष्य का निर्माण कर इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ के समझने में हमारा बड़ा उपकार किया है।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारण रीति से इसे भाष्य कहते हैं, पर यह सूत्रस्थ पदों के उल्लेखपूर्वक उक्तानुक्तचिन्तासमन्वित प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो ग्रन्थकार ने केवल वैशेषिक सिद्धान्तों के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचार को प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित किया है। सूत्र के बाद इस दर्शन के इतिहास में सर्वमान्य ग्रन्थ यही 'प्रशस्तपादभाष्य' है। इसमें विशेषतः परमाणुवाद, जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण तथा गुणों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। वसुबन्धु के द्वारा इनके सिद्धान्तों के खण्डन किए जाने और न्यायभाष्य में इनके सिद्धान्तों के उपयोग किये जाने से इन्हें वात्स्यायन और वसुबन्धु से प्राचीन द्वितीय शतक में होना न्यायसंगत प्रतीत होता है[2]। प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर 'चन्द्र' नामक किसी आचार्य ने 'दशपदार्थी शास्त्र' की रचना की, जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय तथा विशेष इन षट् पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष तथा अभाव से चार नवीन पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। चन्द्र सप्तम शताब्दी से पहले के ही होंगे, क्योंकि इसका अनुवाद ६४८ ई० में चीनीभाषा में किया गया उपलब्ध होता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् डा० उई ने किया है।

'प्रशस्तपादभाष्य' पर अनेक आचार्यों की टीकायें उपलब्ध होती हैं—

(१) **व्योमशिवाचार्य**—इनके नाम से पता चलता है कि ये सम्भवतः दक्षिण के शैवाचार्य थे। इनकी विरचित 'व्योमवती' प्रशस्तपादभाष्य की

---

१. Journal of Oriental Research Vol. III pp 1–5।

२. आचार्य ध्रुव—न्यायप्रवेश की प्रस्तावना, पृ० १८।

सबसे प्राचीन टीका है। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कह कर तथा राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में भाष्य के टीकाकारों में इन्हीं का नाम सबसे पहले उल्लिखित किया है। ये श्रीहर्षवर्धन के समकालिक सिद्ध होते हैं। श्रीधर, शिवादित्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणद्वय मानने के पक्ष में हैं, परन्तु व्योमशिवाचार्य शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं[1]।

(२) **उदयनाचार्य**—उदयनाचार्य ने भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिए एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या 'किरणावली' लिखी। माधव के कथनानुसार तम के आरोपित नील रूप मानने का सिद्धान्त श्रीधर के नाम से सम्बद्ध है, पर नामोल्लेख विना किये ही उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है (किरणा० पृ० ११२)। उधर श्रीधर ने भी 'न्यायकन्दली' में उदयन के किरणावली के वाक्यों को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है, तथा उनके सिद्धान्तों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीधर ने न्यायकन्दली सर्वप्रथम लिखी। अनन्तर 'किरणावली' की रचना उदयन ने की, परन्तु श्रीधर ने ग्रन्थ के पुनः संशोधन के अवसर पर उदयन के मत की समीक्षा भी की। किरणावली की टीकाओं में वरदराज (११ शतक), वादीन्द्र (१३ वीं शती का पूर्व भाग; रससार), वर्धमानोपाध्याय (१३ शतक—किरणावली-प्रकाश), पद्मनाभ मिश्र (१६ शतक, किरणावली-भास्कर) की टीकायें सुप्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

(३) **श्रीधराचार्य**—इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का अब्बोका देवी। गौड़ देश के भूरिसृष्टि नामक गाँव के निवासी होने से ये वङ्गदेशीय प्रतीत होते हैं। इन्होंने भाष्य के ऊपर 'न्यायकन्दली' नामक महत्त्वपूर्ण टीका ९१३ शक (९९१ ई०) में लिखी[2]। शास्त्रीय ज्ञान इनका जितना ही विस्तृत था, इनकी प्रज्ञा उतनी ही तलस्पर्शिनी थी। न्यायकन्दली वैशेषिक

---

१. **मणिभद्र ने हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय की टीका में इनके मत का उल्लेख किया है—यद्यपि औलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षया अत्र उभे एव निगदिते।**

(पृ० ६३, चौखंभा संस्करण)।

२. **त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।**
श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्रीश्रीधरेणेयम्।

सिद्धान्तों के लिए एक प्रमाणभूत ग्रन्थ मानी जाती है। इनके 'अन्धकार' विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक मान्य दार्शनिकों ने की है। कन्दली की टीकाओं में पद्मनाभ मिश्र का 'न्यायकन्दलीसार' तथा जैन विद्वान् राजशेखर की 'न्यायकन्दली-पञ्जिका' प्रसिद्ध है।

(४) **श्रीवत्स**—कृत 'न्यायलीलावती' चौथी टीका है। वल्लभ की न्याय-लीलावती टीकात्मक न होने पर भी यदि कथमपि टीका मान भी ली जाय, तथापि यह श्रीवत्सकृत नहीं है।।

(५) **वल्लभाचार्य**—इनकी 'न्यायलीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आगार है और इसकी प्रसिद्धि 'किरणावली' के समान ही है। किरणावली के समान ही अनेक टीका ग्रन्थों से मण्डित होने का गौरव भी इस ग्रन्थ को प्राप्त है। आचार्य वल्लभ के जन्म प्रदेश का पता नहीं चलता, पर वादीन्द्रके द्वारा 'रससार' (१२२५ ई०) में उल्लिखित होने से इनका समय १२ वीं शताब्दी का अन्तभाग माना जा सकता है। इस ग्रन्थ की सात टीकाओं का पता चलता है जिसमें वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावती-प्रकाश' तथा पक्षधर मिश्र का 'न्यायलीलावती-विवेक' दूसरों से प्राचीन है।

(६) **पद्मनाभ मिश्र**—इनका दूसरा नाम प्रद्योतन मिश्र था। इनके टीकाग्रन्थ का नाम 'सेतु' है, जो द्रव्यग्रन्थ तक ही उपलब्ध होता है। पद्मनाभ मिश्र वैशेषिक दर्शन के विद्वान् थे, मिथिला निवासी थे तथा १६ शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे।

(७) **शङ्कर मिश्र**—इनके ग्रन्थ का नाम 'कणादरहस्य' है जो टीका न होकर वास्तव में वैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

(८) **जगदीश भट्टाचार्य**—प्रशस्तपाद की एक टीका जगदीश भट्टाचार्य निर्मित **'सूक्ति'** भी है। द्रव्यग्रन्थ तक यह टीका उपलब्ध हुई है। **मल्लिनाथसूरि**—इनका 'भाष्यनिकष' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

शिवादित्य मिश्र (१० म शतक)—इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **सप्तपदार्थी** है, जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का नैयायिक सिद्धान्तों के साथ मनोरम समन्वय किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना १२वीं शताब्दी से पहले हुई, क्योंकि श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इनके प्रमालक्षण का खण्डन किया है। इन्होंने उदयन की किरणावली का पर्याप्त उपयोग सप्तपदार्थी में किया है, उदाहरणार्थ जाति तथा

तम का लक्षण। इन्होंने अभाव का सप्तम पदार्थ के रूप में वर्णन किया है। सप्त-पदार्थी के अतिरिक्त 'लक्षणमाला' इनका एक अन्य वैशेषिक विषयक ग्रन्थ है।

शङ्कर मिश्र (१५ शतक)—ये दरभंगा के पास 'सरिसव' गाँव के रहने वाले थे, जहाँ इनके द्वारा स्थापित सिद्धेश्वरी का मन्दिर आज भी विद्यमान है। इनके पिता मीमांसा, व्याकरणादि अनेक शास्त्रों में निष्णात, 'अयाची' मिश्र के नाम से लब्धप्रतिष्ठ **भवनाथ मिश्र** थे, तथा माता का नाम **भवानी** था। इनके पितृव्य जीवनाथ मिश्र भी बड़े भारी पण्डित थे। अपने समय के एक असाधारण प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक माने जाते थे। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) उपस्कार—(कणादसूत्रों की टीका), (२) कणादरहस्य—(प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या कहे जाने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ), (३) आमोद—(न्यायकुसुमाञ्जलि की व्याख्या), (४) कल्पलता—(आत्मतत्त्वविवेक की टीका), (५) आनन्दवर्धन—(श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य की टीका), (६) कण्ठाभरण—(न्यायलीलावती की व्याख्या), (७) मयूख—(चिन्तामणि की टीका; उपस्कार तथा वादिविनोद में उल्लिखित), (८) वादिविनोद—(वादविषयक मौलिक ग्रन्थ), (९) भेदरत्नप्रकाश—(न्याय वैशेषिक के द्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादक तथा श्रीहर्ष के खण्डन ग्रन्थ का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ)।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन (१७ शतक)—ये बंगाल में नव्यन्याय के संस्थापक तथा रघुनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वासुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पति के पौत्र थे। इनके पिता काशीनाथ विद्यानिवास एक लब्धकीर्ति दार्शनिक थे, जो अकबर के अर्थसचिव टोडरमल के यहाँ श्राद्ध के उपलक्ष में संघटित सभा में नवद्वीप की पण्डितमण्डली के प्रतिनिधि थे। इनके न्याय वैशेषिक-विषयक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(क) **भाषापरिच्छेद**—१६८ कारिकाओं में वैशेषिक सिद्धान्तों का सुचारु वर्णन किया गया है। अपने प्रिय शिष्य राजीव के उपकारार्थ ग्रन्थकार ने ही इस पर न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली टीका बनाई। विषय-प्रतिपादन की शैली इतनी मनोरम है कि यह तर्कसंग्रह के अनन्तर सबसे अधिक लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ है। इसके ऊपर बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र महादेव भट्ट भारद्वाज ने 'मुक्तावलीप्रकाश' नामक टीका लिखना आरम्भ किया, जिसे उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने पूरा किया।

'दिनकरी' के नाम से विख्यात इस व्याख्या पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरी तरंगिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ग्रन्थ की रचना की है।

(ख) न्यायसूत्रवृत्ति—इसमें न्याय-सूत्रों की सरल व्याख्या शिरोमणि के व्याख्यान के अनुसार की गई है। वृद्धावस्था में वृन्दावन में निवास करते समय विश्वनाथ ने इस वृत्ति का निर्माण १५५३ शक (१६३१ ई०) में किया।

अन्नंभट्ट (१७ शताब्दी का उत्तरार्द्ध)—इनका सुप्रसिद्ध 'तर्कसंग्रह' लोकप्रियता में अद्वितीय है। यह तार्किक तत्त्वों की जानकारी के लिए सबसे पहला, सरल तथा बोधगम्य ग्रन्थ है। अन्नंभट्ट तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। काशी आकर इन्होंने विद्यासम्पादन किया था। इस घटना की सूचना 'काशीगमनमात्रेण नान्नंभट्टायते द्विजः' जैसी प्रसिद्ध लोकोक्ति हमें मिलती है। इनकी ख्याति तर्कसंग्रह तथा उसकी टीका दीपिका के कारण है, परन्तु इन्होंने अन्य शास्त्रों पर भी प्रामाणिक टीकायें लिखी हैं—(१) राणकोज्जीवनी (न्यायसुधा की बृहत्कायटीका—मीमांसा), (२) ब्रह्मसूत्र-व्याख्या (वेदान्त), (३) अष्टाध्यायी टीका, (४) उद्योतन (कैयटप्रदीप का व्याख्यान; व्याकरण), (५) सिद्धाञ्जन (जयदेव के 'मण्यालोक' की टीका; न्याय)। तर्कसंग्रह के ऊपर २५ व्याख्या ग्रन्थों की तथा दीपिका के ऊपर १० व्याख्यानों—प्रकाशित तथा अप्रकाशित—की उपलब्धि से ग्रन्थ के महत्त्व का पता चलता है। इन टीकाओं में गोवर्धन मिश्र की न्यायबोधिनी, श्री कृष्णधूर्जटि दीक्षित का सिद्धान्तचन्द्रोदय, चन्द्रजसिंह का पदकृत्य, नीलकण्ठभट्ट की नील-कण्ठी तथा तदात्मज लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विद्वत्ता-मण्डित हैं।

(२) वैशेषिक तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् की वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं। 'पदार्थ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पदस्य अर्थः = पदार्थः। 'अर्थ' से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं (ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः)। अतः पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु, नाम धारण करनेवाली चीज। प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ का लक्षण है। अतः ज्ञेयत्व (ज्ञान-विषय होने की योग्यता रखना) तथा अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है[२]।

सूत्रों में ६ पदार्थों के ही नाम उपलब्ध होते हैं। कणाद ने अभाव का भी वर्णन किया है अवश्य, पर सत्तात्मक पदार्थों का वर्गीकरण अभीष्ट होने से उन्होंने अभाव को पदार्थ नहीं स्वीकार किया। अभाव को पदार्थों की गणना में पीछे रखा गया है। चन्द्र नामक किसी प्राचीन वैशेषिक आचार्य ने षड् भाव पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-विशेष तथा अभाव पदार्थों की नवीन कल्पना कर पदार्थों की संख्या दस बतलाई है। इनमें अभाव की गणना पदार्थों में पीछे स्वीकृत की गई है। सामान्य-विशेष में नवीनत्व की सम्भावना नहीं थी। शक्ति के पदार्थत्व की कल्पना मीमांसकों ने मानी है। रोकने वाली वस्तु की उपस्थिति में किसी वस्तु की शक्ति का सर्वथा तिरोभाव दृष्टिगोचर होता है, पर उसके अभाव में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। मणिविशेष को पास में रखने पर अग्नि की दाहिका शक्ति का तिरोभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है, तथा उसकी अनुपस्थिति में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। इस लोकव्यवहार के दृष्टान्त पर 'शक्ति' को मीमांसक गण एक नवीन पदार्थ मानते हैं, पर वैशेषिकों को यह अभीष्ट नहीं है। वे लोग कारण-सामग्री की समग्रता में प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण ठहराते हैं, अतः शक्ति को पृथक् पदार्थ मानना उचित नहीं है[1]। इसी प्रकार 'सादृश्य' का भी खण्डन किया गया है।

पदार्थ विभाग

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) भाव पदार्थ, (२) अभाव पदार्थ। भाव पदार्थों के छः भेद माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव चार प्रकार का माना जाता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इन पदार्थों का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(१) द्रव्य

कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को **'द्रव्य'** कहते हैं। द्रव्य ही किसी भी कार्य का उपादानकारण होता है। उसी से नई वस्तुएँ बनाई तथा गढ़ी जाती हैं। साथ ही साथ उसमें गुण तथा क्रिया भी रहती है।

वैशेषिकों के मतानुसार द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। लोक-प्रत्यक्ष के आधार पर तम में नीलरूप तथा अपसरणरूपी कर्म की सत्ता मान कर तम को भाट्ट मीमांसक द्रव्य अथवा

१. मानमेयोदय पृ० २५८-२६२। **शक्तिर्द्रव्यादिस्वरूपमेव—सप्तपदार्थी, पृ० १७ तथा मुक्तावली कारिका २।**

गुण मानते हैं। पर वैशेषिक आचार्यों ने इसका खण्डन किया है। आलोक (प्रकाश) की सहायता से चक्षु रूपसम्पन्न द्रव्यों का ग्राहक माना जाता है, पर अन्धकार के ज्ञान में प्रकाश की सहायता तनिक भी अपेक्षित नहीं होती। जब हम दीपक को अन्धकारमय प्रदेश में लाते हैं, तब अन्धकार भाग खड़ा होता है। यह भागने की क्रिया प्रकाश के आगमन पर अवलम्बित है। अतः नील-रूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होने से तम को द्रव्य नहीं सिद्ध करते। अतः तम तेजःसामान्य का अभावमात्र है[3]।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश इन पाँचों को **'महाभूत'** कहते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण गंध है। अन्य द्रव्यों में होने वाले कतिपय इतर गुण भी पृथ्वी में पाये जाते हैं, जैसे—रूप, रस, स्पर्श, संख्या आदि। पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य तथा अनित्य। समस्त पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति अत्यन्त सूक्ष्म, अविभाज्यरूप परमाणुओं से होती है। अतः कारणभूत परमाणु में रहने वाली पृथ्वी नित्य है, पर कार्यरूप से विद्यमान पृथ्वी अनित्य है। अनित्य पृथ्वी तीन रूपों को धारण करती है—शरीर, इन्द्रिय और विषय। शीत स्पर्श से विशिष्ट द्रव्य को **'जल'** तथा उष्णस्पर्श से विशिष्ट द्रव्य को **'तेज'** कहते हैं। नित्यानित्य भेद से पृथ्वी के समान ये भी दो प्रकार के होते हैं। शरीर, इन्द्रिय और विषयजन्य भेद इनमें भी उसी प्रकार रहता है।

वायु—रूप से रहित तथा स्पर्श से युक्त द्रव्य को 'वायु' कहते हैं। रूप-रहित होने से वह प्रथम तीन द्रव्यों से भिन्न हो जाता है, तथा स्पर्शविशिष्ट होने से वह आकाशादि अन्तिम पाँच द्रव्यों से पृथक् ठहरता है। वायु प्रत्यक्ष होता है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में गहरा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक वायु को चाक्षुष प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान से सिद्ध मानते हैं[4], पर नव्य नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन नैयायिकगण उद्भूत रूप को प्रत्यक्ष के लिए प्रधान साधन बतलाते हैं[5]। इसका कारण यह है कि उनकी सम्मति में **'प्रत्यक्ष'** शब्द चाक्षुष प्रत्यक्ष के सीमित अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। इस कल्पना के कारण रूपरहित वायु का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होना सुतरां असिद्ध है, पर नव्य नैयायिक इस बहिर्द्रव्य-प्रत्यक्ष को चाक्षुष-प्रत्यक्ष के ऊपर ही अवलम्बित होने की कल्पना को कथमपि स्वीकार नहीं करते। उनकी सम्मति में बाह्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूप के समान ही उद्भूत स्पर्श भी कारण है[6]। वायु में अनुष्णाशीत उद्भूत स्पर्श रहता है। अत एव वायु का भी प्रत्यक्ष होता है।

आकाश शब्दगुण का आश्रय है। शब्द का साक्षात्कार होता है, परन्तु आकाश का नहीं। किसी द्रव्य के बाहरी प्रत्यक्ष के लिए दो गुणों का होना नितान्त आवश्यक होता है। उसमें महत् परिमाण रहना चाहिए, साथ ही उद्भूतरूप भी होना चाहिए। आकाश न सीमित पदार्थ है और न वह किसी रूप को रखता है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्युत शब्दगुण को धारण करने से उसका अनुमान ही होता है। शब्द एक ही माना गया है और यही शब्द आकाश का चिह्न होता है। इससे आकाश भी एक है। इसका परिमाण 'परम महत्' है, अर्थात् सबसे बड़ा परिमाण। आकाश की उत्पत्ति या नाश कभी नहीं देखा जाता, इसी से वह नित्य है। शब्द की ग्राहक इन्द्रिय (कान) भी आकाश होती है, अर्थात् कान के भीतर जो आकाश रहता है उसी के द्वारा शब्द का ज्ञान हमें होता है। वैशेषिकों के मत में आकाश अनुमान से ही जाना जाता है, परन्तु भाट्ट मीमांसकों के मत में आकाश का प्रत्यक्ष भी होता है। (द्रष्टव्य मानमेयोदय, अड्यार संस्करण, पृष्ठ १८८)।

आकाश

भूत, वर्तमान, भविष्य का असाधारण कारण 'काल' ही है। द्रव्यों के विषय में ये ज्ञान हमें होते हैं—'यह घटना उस घटना से पहिले हुई या साथ ही साथ हुई या देर से हुई या जल्दी ही हुई' इस ज्ञान का असाधारण कारण **काल** माना जाता है। उसी तरह आगे-पीछे, यहाँ-वहाँ, पास दूर, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि लोकव्यवहार की कल्पना 'दिक्' के आधार पर आश्रित रहती है। काल तथा दिक् दोनों ही आकाश के समान विभु (व्यापक) होते हैं। दोनों अमूर्त हैं और इसीलिए इनका प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल लोक-व्यवहार की सिद्धि से उनकी सत्ता का अनुमान किया जाता है। दोनों वस्तुतः एक हैं, परन्तु उपाधि के कारण वे अनेक माने जाते हैं। उपाधि के कारण ही एक ही अखण्ड काल के लव, निमेष, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि रूप में खण्डित भेद मिलते हैं। दिक् की भी यही दशा है। सूर्य की गति के कारण दिक् के दश भेद होते हैं—पूरब-पश्चिम आदि। आकाश तथा दिक् दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। इसका कारण है—दोनों के रूपों में भेद। आकाश केवल शब्द का समवायी कारण होता है, परन्तु दिक् किसी भी वस्तु का समवायी कारण न होकर सब कार्यों का निमित्तकारण होता है। आकाश का उसके शब्दगुण के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान भी माना जा सकता है, परन्तु दिक् का उसके कार्यों के द्वारा केवल की अनुमान ही होता है। यही दोनों में अन्तर है।

काल तथा दिक्

प्रत्येक शरीर में आत्मा निवास करता है और वह स्वयं नित्य है। आत्मा सिद्धि में अनेक प्रमाण दिये जाते हैं—

आत्मा की सिद्धि

(क) हित पदार्थ के पाने का और अहित पदार्थ के छोड़ने का व्यापार मनुष्य के शरीर में हमेशा पाया जाता है। इससे शरीर के भीतर किसी चेतन पदार्थ की सत्ता का संकेत मिलता है। जैसे रथ के व्यापार से रथ के भीतर सारथीरूप चेतन पदार्थ का अनुमान होता है, वैसे ही शरीर के व्यापार से जिस चेतन पदार्थ का अनुमान किया जाता है, वही **आत्मा** है (व्यापार)।

(ख) श्वास-प्रश्वास से शरीर फूलता है, तथा संकुचित होता है। यह किसी चेतन पदार्थ के द्वारा ही किया जाता है। जैसे लोहार की भाथी का फूलना और संकुचित होना भाथी फूँकने वाले प्राणी के व्यापार से होता है (प्राणापान)।

(ग) कूएँ में मोट का गिरना तथा उठना मोट खींचने वाले के व्यापार से होता है। ठीक इसी प्रकार आँख के पलक का गिरना तथा उठना चेतन व्यक्ति का ही व्यापार है।

(घ) शरीर में घाव लगता है और दवा करने पर फिर भर जाता है। यह शरीर में स्थित आत्मा के द्वारा हो सकता है, जैसे घर में रहने वाला घर की मरम्मत करता है (जीवन)।

(ङ) मन को प्रेरित करने वाला भी आत्मा ही है। जैसे बालक अपनी इच्छा से गोली या गेंद इधर-उधर फेंकता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन को अपनी इच्छा के अनुसार इधर-उधर दौड़ाया करता है (मनोगति)।

(च) मीठे आम को देखकर मुँह में पानी भर आता है। इसका कारण क्या है ? किसी रूपविशेष के साथ रसविशेष का अनुभव पहिले हो चुका है और उसी की स्मृति वर्तमान दशा में हो रही है। अनुभव तथा स्मृति का आश्रय एक ही होना चाहिए। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता एक ही चेतन है और वही आत्मा है।

(छ) सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न गुण हैं, अतः इनका कोई आश्रय द्रव्य होना ही चाहिए। जड़ होने से शरीर वह आश्रय नहीं हो सकता, चेतन आत्मा ही इसका आश्रय होता है[1]।

आत्मा एक है या अनेक ? इस प्रश्न के उत्तर में कणाद आत्मा को अनेक बतलाते हैं। इसका प्रधान कारण है—**व्यवस्था**। यह देखने में आता है कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी; कोई धनाढ्य है, तो कोई निर्धन। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा रहता है। आत्मा एक नहीं है; अनेक है। एक शरीर में एक ही आत्मा रहता है। बालकपन, जवानी, बुढ़ापा आदि अवस्थाओं के होने से शरीर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह रहता तो है एक ही। इस अवस्था-भेद के कारण एक ही शरीर में अनेक आत्मा हम नहीं मान सकते; क्यों ? कारण क्या है ? इसका समाधान यह है कि शरीर की भिन्न-भिन्न अवस्थायें एक काल में न होकर भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं, परन्तु सुखी और दुःखी जीव एक ही काल में पाये जाते हैं। देवदत्त सुखी है, तो यज्ञदत्त दुःखी है। विरुद्ध धर्मों की सत्ता एक ही काल में बनी रहती है, जिससे आत्मा का अनेकत्व सूचित होता है।

आत्मा नित्य द्रव्य है, जिसमें बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार आदि गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर एक स्वतन्त्र सत्ता को धारण करने वाला द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है। कभी हम एक वस्तु को अपनी आँखों से देखते हैं, तथा रुचिकर होने पर उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखों से देखते हैं उसे ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा इन्द्रियरूप ही होता, तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) कैसे सिद्ध की जाती (न्या० सू० ३।१।१८३) ? दाहिने हाथ से छूए गये पदार्थ को बाएँ हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकता का खण्डन नहीं होता (न्या० सू० ३।१।७)। एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियों पर पड़ा करता है। वृक्ष में लटकते हुए पके आमों को देखती है

आत्मा के इन्द्रिय होने का खण्डन

---

१. आत्मा के इन नाना चिह्नों का निर्देश महर्षि कणाद ने इस सूत्र में एकत्र किया है—'प्राणापान[1]निमेषोन्मेष[2]जीवन[3]मनोगति[4]इन्द्रियान्तर[5]-विकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना[6]श्चात्मनो लिङ्गानि' (वैशेषिकसूत्र ३।२।४)। विशेष के लिए देखिए इसका प्रशस्तपादभाष्य।

आँख, पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर; क्योंकि जीभ से पानी टपकने लगता है। यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। पानी टपकने का कारण यही हो सकता है कि पके आम को देखने वाले व्यक्ति को पूर्व काल में आस्वादित आम के स्वाद का स्मरण हो आता है (न्या० सू० ३।१।१०)। अतः फलों के द्रष्टा तथा स्वाद के स्मरण-कर्ता को एक होना न्याय संगत है। पर इन्द्रिय में चैतन्य मानने से इस घटना की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य दृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं करता। इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने पर उनके उपघात होने पर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती। अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरण रूप से ही एक में विद्यमान रहते हैं। जो अनुभव का कर्ता है, स्मरण का भी कर्ता वही हो सकता है। ऐसी वस्तुस्थिति में चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण नहीं होना चाहिए, पर लोकानुभव इससे नितान्त विपरीत है। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना निन्तात असिद्ध है[1]। कर्ता तथा कारण की भिन्नता अमुभवसिद्ध है। लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का कर्ता (लेखक) दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। इसी प्रकार अनुभव के कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रियाँ) की भिन्नता ही सिद्ध है, अभिन्नता नहीं।

मन आत्मा नहीं

नित्य मन को भी आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति ही है। अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्त्व कारण माना जाता है। ऐसी दशा में मन को ही यदि आत्मा मान लिया जायगा, तो उसमें विद्यमान सुख दुःख, इच्छा आदि भी अप्रत्यक्ष होने लगेंगे। अनुभव से विरुद्ध होने के कारण इसे सिद्धान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा मन—इन तीनों से पृथक् चैतन्याधिष्ठित द्रव्य की ही **आत्मा** संज्ञा है।

आत्मा के शरीर होने का खण्डन

आत्मा को शरीररूप मनाने वाले चार्वाक लोकानुभव को निश्चित रूप से समझा नहीं सकते। सद्योजात शिशु के कार्यकलाप पर दृष्टि डालिए। उत्पन्न होने के कतिपय दिनों के अनन्तर शिशु बिछौने पर लेटा हुआ हँसने लगता है। हँसना प्रसन्नता के कारण ही होता है, पर उसके कतिपय दिनों के जीवन में हर्षोत्पादक घटना का अभाव होता है।

---

१. तथात्वे चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः—(मुक्तावली, का० ४८)।

अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओं को संस्कार के वश से स्मरण किया करता है और स्मरण के बल पर वह हँसता है। यही व्याख्या तर्कसंगत प्रतीत होती है, पर यह व्याख्या आत्मा के शरीर रूप होने पर निष्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव के कर्ता शरीर के नाश होने पर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है[७]। बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति भी आत्मा को शरीर-रूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। प्रवृत्ति में इष्टसाधनताज्ञान कारण होता है। वह अनुभव के अभाव में इस जन्म का न होकर जन्मान्तरीय ही होता है[८]। मनुष्यों की अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। क्यों? पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के कारण। ऐसी अवस्था में पूर्व जन्म में कर्म करने वाले तथा इस जन्म में तदनुरूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भी पृथक् है, तथा नित्य है।

वेदान्त आत्मा को एक मानता है, पर न्याय लोकव्यवहार के अनुरोध पर आत्मा को अनेक मानता है। इच्छा, सुख, प्रवृत्ति तथा ज्ञान आदि की विभिन्नता के कारण आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है[९]।

मन

मन अन्तिम द्रव्य है जिसकी सहायता से आत्मा सुख दुःख का अनुभव करता है। मन का अस्तित्व मानने के लिए मुख्यतया दो प्रमाण हैं—(क) हमारा यह अनुभव है कि आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय इन तीनों के रहने पर भी कभी तो ज्ञान होता है और कभी ज्ञान नहीं होता। जब हम अन्यमनस्क होते हैं, तब वस्तु हमारे नेत्र के सामने से होकर निकल जाती है, परन्तु उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता है। इसका कारण क्या है? प्रत्यक्ष के लिए आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय ही पर्याप्त साधन नहीं हैं, बल्कि मन की भी सहायता सदा अपेक्षित रहती है। प्रत्यक्ष के अवसर पर विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से। जब तक ये तीनों सम्बन्ध प्रस्तुत नहीं होते, किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। जब आत्मा के साथ मन सम्बद्ध है, तब तो वस्तु का (जैसे पुष्पवाटिका में गुलाब का) ज्ञान हमें होता है, परन्तु यदि हमारा मन दूसरी ओर लगा है तो सुन्दर गुलाब हमारे सामने पड़ा ही रह जाता है; उसका ज्ञान हमें तनिक भी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन होने से मन की सत्ता सिद्ध होती है।

(ख) प्रत्येक पदार्थ के ग्रहण के लिए किसी न किसी इन्द्रिय की सहायता अपेक्षित रहती है। रूप की उपलब्धि नेत्र से तथा रस का ज्ञान हमें रसना से होता है। बाहरी विषयों के ज्ञान के लिए तो बाहरी इन्द्रियाँ (नेत्र आदि) होती हैं। उसी प्रकार सुख-दुःख जैसे भीतरी पदार्थ के ज्ञान के लिए भी किसी इन्द्रिय की आवश्यकता रहती है। वह भीतरी इन्द्रिय होनी चाहिए। उसकी उपलब्धि का साधन मन है। मन ही एकमात्र अन्तरिन्द्रिय है। इस प्रकार मन की सत्ता सिद्ध होती है।

मन प्रति शरीर में भिन्न होने तथा अनेक क्रियाकारिता रखने से मूर्त तथा अणु परिणाम माना जाता है। लोकानुभव मन के अणुत्व सिद्ध करने में प्रधान साधन हैं। पुष्पवाटिका में बैठने वाला पुरुष नेत्रों से फूलों की शोभा देखता है, कान से ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनता है, तथा अपने हाथों से सामने पड़े टेबुल की चिकनाहट को स्पर्श द्वारा जानता है। इस प्रकार तीन इन्द्रियों के द्वारा तीन विषयों का ज्ञान उसे एक साथ हो रहा है, पर वे एक काल में न होकर क्रमानुसार एक के बाद एक होते हैं। ज्ञान युगपत् (एक साथ) नहीं होता, वह क्रमशः होता है। ज्ञान की यह क्रमपूर्वक उत्पत्ति मन के अणुत्व की सिद्धि करने में पर्याप्त साधन मानी जाती है। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक काल में इन तीनों इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता, तथा इन तीनों विभिन्न विषयों का तीनों इन्द्रियों के द्वारा एक ही काल में हमें अनुभव प्राप्त होता, पर लोक में ऐसे अनुभव का अभाव है। अतः मन में विभुत्व नहीं। जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होगा, उस क्षण में उसके द्वारा उसके विषय का ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा। इसलिए मन अणु है, विभु नहीं।

(२) गुण

गुण वह पदार्थ है जो किसी द्रव्य में रहता है, परन्तु स्वयं उसमें कोई गुण नहीं रहता। द्रव्य का ही गुण हो सकता है, गुण का गुण नहीं हो सकता; क्योंकि वह 'अगुणवान्' होता है। द्रव्य स्वतः विद्यमान रहता है और वस्तुओं का समवायी कारण होता है, गुण अपनी सत्ता के लिए किसी द्रव्य पर आश्रित रहता है तथा किसी भी पदार्थ का वह समवायी कारण नहीं होता। सब गुण द्रव्य में ही रहते हैं, जिससे स्पष्ट है कि गुण की स्थिति नहीं होती। जैसा लाल रंग किसी द्रव्य से सम्बन्ध रखता है किसी दूसरे रंग से कभी नहीं। गुण कर्म से भी भिन्न होता है। कर्म होता है संयोग और वियोग का कारण, परन्तु गुण में यह बात नहीं होती।

न उसे संयोग से, न वियोग से किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार गुण के तीन लक्षण हैं—द्रव्य में आश्रित होना, गुण रहित होना (निर्गुणत्व) तथा क्रिया से हीन होना (निष्क्रियत्व)[१]।

महर्षि कणाद के अनुसार गुणों की संख्या १७ है (वैशे० सूत्र १।१।६), परन्तु भाष्यकार ने ७ गुणों को और जोड़ कर गुणों की संख्या २४ निर्धारित की है। गुणों के नाम हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, शब्द, धर्म तथा अधर्म। इनमें कई गुणों के अनेक अवान्तर भेद भी होते हैं। गुणों में दो प्रकार होते हैं—वैशेषिक गुण तथा सामान्य गुण। संख्या, परिमाण आदि तो सामान्य गुण कहलाते हैं; बुद्धि, सुख, दुःख आदि विशेष स्थलों में रहने के कारण वैशेषिक नाम से विख्यात हैं।

मान के व्यवहार के कारण को **'परिमाण'** कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, ह्रस्व, तथा दीर्घ। परमाणुओं में रहने वाला परिमाण 'पारिमाण्डल्य' कहलाता है और नित्य होता है—आकाश का परिमाण (परम महत्त्व) भी नित्य होता हैं। ये दोनों परमाणु तो नित्य होते हैं। इनके बीच में रहने वाले अन्य परिमाण अनित्य होते हैं। किसी वस्तु के परिमाण की उत्पत्ति तीन प्रकारों से होती है—(१) संख्या के द्वारा, जैसे द्व्यणुक तथा त्र्यणुक में; (२) परिमाण के द्वारा—अवयवों के परिमाण से अवयवी का परिमाण बनता है; (३) प्रचय के द्वारा—अवयवों के शैथिल्य अथवा फैलाव से परिमाण बढ़ता है, जैसे रूई के गोले में।

संयोग

पहिले से अलग अलग रहने वाले पदार्थों की जो प्राप्ति होती है उसे ही **संयोग** कहते हैं। यह संयोग तीन प्रकार का होता है—(१) जब एक पदार्थ की गति से संयोग होता है (जैसे पक्षी का उड़ कर पर्वत की चोटी पर बैठना); (२) दोनों पदार्थों की गति से संयोग होता है (जैसे दो गेंद दो भिन्न-भिन्न दिशाओं से आकर एक साथ मिलते हैं और टक्कर खाते हैं), (३) संयोगज संयोग—एक संयोग से दूसरा संयोग उत्पन्न होता है। मैं अपने कलम से टेबुल के

१ गुण के लक्षण के लिए देखिए—वैशे० सूत्र १।१।१६; प्रशस्तपादभाष्य पृ० ३८ तथा मुक्तावली कारिका ८६।

ऊपर कागज पर लिख रहा हूँ। यहाँ कागज तथा हाथ का संयोग है। वह कागज टेबुल पर रखा है, इस प्रकार मेरे हाथ का टेबुल के साथ भी संयोग हो जाता है।

विभाग भी ठीक इसी प्रकार तीन तरह का होता है—(१) एक पक्ष की क्रिया से, (२) दोनों पक्षों की क्रिया से, तथा (३) विभाग से अन्य विभाग उत्पन्न होता है।

संस्कार के तीन प्रभेद होते हैं—(क) भावना—पहिले अनुभूत विषय की स्मृति या पहचान संस्कार के द्वारा होती है। इसे ही भावना कहते हैं। आत्मा में रहने से यह आत्मा का गुण है। (ख) वेग—मूर्तिमान् पदार्थों में विशेष कारण से वेग उत्पन्न होता है। (ग) स्थिति-स्थापक—लचीलापन। रबर के एक सीधे टुकड़े को हम अपने हाथ से नवा डालते हैं, परन्तु हाथों के हटाते ही वह ज्यों का त्यों पुरानी दशा में आ जाता है। इसी गुण को स्थिति-स्थापक (स्थिति में रखने वाला गुण) कहते हैं।

धर्म आत्मा का गुण है, जिसके द्वारा कर्ता को सुख, प्रिय वस्तु तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वही गुण 'धर्म' है। यह अतीन्द्रिय है, अर्थात् इसका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। अन्तःकरण की शुद्धता तथा पवित्र संस्कारों के द्वारा यह उत्पन्न होता है, तथा अन्तिम सुख भोग लेने पर यह समाप्त हो जाता है। अधर्म धर्म का विरोधी गुण है, जो कर्ता का अहित तथा दुःख की प्राप्ति कराने वाला होता है।

(३) कर्म

गुण के समान ही कर्म भी द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है[1]। द्रव्य कर्म का आश्रय हो सकता है पर कर्म द्रव्य का आश्रित धर्म-विशेष है। कर्म गुण से भिन्न है। गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, पर कर्म अभी साध्यावस्था में है। उसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय नहीं हो सका है। यह वस्तुओं के संयोग तथा विभाग का स्वतन्त्र कारण है। कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है। अल्प परिमाण वाले द्रव्य ही 'मूर्त' माने जाते हैं। उन्हीं की मूर्ति की सम्भावना है, पर व्यापी विभु द्रव्य मूर्त नहीं हो सकते। इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन इन्हीं मूर्त द्रव्यपञ्चक में कर्म की वृत्ति रहती है। विभु द्रव्य—जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में कर्म की कथमपि सम्भावना नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य वै० सू० १।१।१७; प्र० पा० भा०, पृ० १४७; भाषापरिच्छेद का० ५, ६; तर्कसंग्रह, पृ० ५।

कर्म पाँच प्रकार का माना जाता है—(१) उत्क्षेपण, (ऊपर फेंकना) (२) अपक्षेण (नीचे फेंकना), (३) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना)—अवयवों में सान्निध्य नष्ट होकर विप्रकृष्टता आना, (५) गमन।

स्वयं एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला पदार्थ **सामान्य** या जाति कहलाता है। जैसे गोत्व तथा मनुष्यत्व। यहाँ गो तथा मनुष्य अनेक हैं, परन्तु उनमें रहने वाली जाति एक है, तथा नित्य है। सामान्य अपने विषय के सब वस्तुओं में रहता है। समस्त गो व्यक्तियों में गोत्व रहता है। व्यक्ति भिन्न होते हैं, परन्तु उनमें रहने वाला सामान्य अभिन्न अर्थात् एक रूप होता है। वह अनेक-वृत्ति होता है, तथा एक ही वर्ग में अनेक व्यक्तियों के अन्तर्गत होने का सामान्य ही कारण होता है। नाना आकार-प्रकार वाले मनुष्यों को एक मनुष्य वर्ग में समावेश करने का यही कारण है कि उन सब में मनुष्यत्व जाति निवास करती है। प्रशस्तपाद के शब्दों में सामान्य इसीलिए 'अनुवृत्ति प्रत्यय कारण' कहलाता है।

(४) सामान्य

सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत—समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है। मनुष्य उत्पन्न हों या मर जायँ, आवें या चले जायँ, पर मनुष्यत्वरूप सामान्य सदा विद्यमान रहता है। अतः इसकी नित्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। सामान्य की दूसरी संज्ञा '**जाति**' भी है। व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार का माना जाता है[१]—'पर सामान्य'—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति; 'अपर सामान्य'—सब से कम व्यक्तियों में रहने वाली जाति तथा 'परापर सामान्य'—जो दोनों के बीच में रहने वाला होता है। पर सामान्य का दूसरा नाम '**सत्ता**' है, क्योंकि इसके भीतर समस्त सामान्यों का अन्तर्भाव हो जाता है; घटत्व घटमात्र में रहने के कारण अपर सामान्य का उदाहरण है; द्रव्यत्व परापर सामान्य है, क्योंकि द्रव्यत्व, कर्मत्व तथा गुणत्व में विद्यमान सत्ता की अपेक्षा द्रव्य मात्र में सीमित होने से यह छोटा (अपर) है। परन्तु घटत्व की अपेक्षा वह कहीं बड़ा है। अतः इन दोनों के बीच में रहने से यह मध्यवर्ती सामान्य का दृष्टान्त माना जाता है[१०]।

---

१. वै० सू० १।२।४—११; प्र० पा० भा०, पृष्ठ ४; मुक्ता० का० ८—९।

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत पड़ती है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के एक श्रेणिबद्ध होने का कारण यदि सामान्य है, तो ठीक इसके उलटे एक श्रेणी के समान गुण वाले व्यक्तियों के पारस्परिक भेद को सिद्ध करने वाला पदार्थ 'विशेष' ही है[1]। पृथ्वी का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों कर है ? एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न या एक मन दूसरे मन से भिन्न किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है ? इस पार्थक्य की कल्पना के लिए इन द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष नित्य द्रव्यों—जैसे पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा तथा मन में निवास करता है। विशेष की सत्ता न मानने पर सब आत्मा के एक ही समान होने से उनमें विशिष्टता न होगी।

(५) विशेष

दो वस्तुओं की पृथक्ता कैसे सिद्ध की जा सकती है ? एक ही समान एक ही रूपरंग वाले दो घड़े हमारे सामने पड़े हैं। इन दोनों में भिन्नता इसलिए है कि एक घड़े का आधा भाग दूसरे घड़े के आधे भाग से भिन्न है। इस प्रकार दोनों के टुकड़े करते जाइए। ये टुकड़े आपस में भिन्न होते जायँगे। विश्लेषण करते-करते हम 'परमाणु' पर जा पहुँचते हैं। परमाणु तो घड़ों का एक ही प्रकार का होता है। ऐसी दशा में क तथा ख घड़ों के परमाणुओं को एक समान होने के कारण दोनों में भेद क्योंकर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—'विशेष' के कारण। परमाणुओं में विशेष नामक पदार्थ रहता है जो उनके व्यक्तित्व का सूचक होता है, अर्थात् एक परमाणु में विशेष रहता है, जो उसे समान परमाणु से अलग बनाता है। इस प्रकार **'विशेष'** का निवास सावयव पदार्थ पर न होकर निरवयव (अर्थात् अवयव से हीन) पदार्थ पर होता है। वह नित्य पदार्थों के ऊपर रहता है।

नित्य द्रव्यों में रहने के कारण वह स्वयं नित्य है, तथा द्रव्यों की अनन्तता के कारण वह स्वयं अनन्त होता है। विशेष नित्य द्रव्यों में हमेशा विद्यमान रहता है। न उसका उत्पादन होता है, न उसका विनाश। घट आदि कार्य भले ही उत्पन्न तथा विनष्ट होते रहें, उनका मूल भूत कारण 'परमाणु' कभी नष्ट नहीं होता। इन्हीं परमाणुओं में विशेष सदा रहता है। परमाणु में व्यक्तित्व सदा रहता है।

---

१. द्रष्टव्य वै० सू० १।२।६; प्र० पा० भा०, पृ० १६८–१००; न्या० क०, पृ० ३२३–३२४; मुक्ता० का० १०।

यदि यह व्यक्तित्व उसमें नहीं रहता, तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु से कोई भेद ही नहीं होता। दोनों एक ही प्रकार के होते। 'विशेष' वह है जो अपने आश्रय को, व्यक्ति को विशिष्ट रूप देता है (स्वाश्रय-विशेषक)। एक विशेष का दूसरे विशेष से भेद स्वयं विशेष के द्वारा ही होता है। इसी लिए विशेष को 'स्वतो व्यावर्तक' (= आप ही आप विभेद करने वाला) कहते हैं।

मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में 'विशेष' नामक पदार्थ नहीं माना जाता। कणाद ने ही सर्वप्रथम 'विशेष' को स्वीकार किया और इसी लिए यह दर्शन 'वैशेषिक' के नाम से अभिहित किया जाता है। वैशेषिकसूत्र (१२ सू०) में इसका सामान्य निर्देश है। प्रशस्तपाद ने इसका विशेष विवरण अपने भाष्य में दिया है।

सृष्टि काल में कार्य-वस्तुओं में भेद की उपपत्ति के लिए अणुओं में 'पाकज विशेष' माना जाता है, जो अदृष्ट के समान प्रलय में भी नष्ट नहीं होता[1]। नैयायिक आचार्य यह 'पाकज' विशेष नहीं मानते (न्यायभाष्य, पृ० ३५२)।

(६) समवाय

समवाय[2] भाव पदार्थों में अन्तिम पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तु के साथ विना किसी सम्बन्ध के नहीं रह सकती। मुख्यतया सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संयोग यथा समवाय। संयोग सम्बन्ध उन वस्तुओं में होता है जो संयोग के विना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती हैं। यह सम्बन्ध अनित्य होता है; पर समवाय सम्बन्ध इससे नितान्त भिन्न है। वह वस्तुद्वय में रहने वाला नित्य सम्बन्ध है। अंग-अंगी में, गुण गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्तियों में तथा विशेष नित्य द्रव्यों में यह निवास करता है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयवभूत तन्तुओं में रहता है, लालिमा गुलाब के फूल में, लेखन क्रिया लेखक में, मनुष्यत्व मनुष्य नामधारी व्यक्तियों में तथा 'विशेष' आत्मा तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में निवास करता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध समवाय के द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय की विशेषता है इसकी नित्यता। संयोग तो अनित्य सम्बन्ध है, पर समवाय की दशा ऐसी नहीं है। ऊपर जिन वस्तु युगलों का वर्णन किया गया है, उनकी पारस्परिक स्थिति के

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलिबोधनी, पृ० ३२।

२. द्रष्टव्य वै० सू० १।१।३; प्र० पा० भा०, पृ० १७१–१७५; न्यायकलिका, पृ० ३२५–३२८; मुक्तावली का० ११।

निर्वाह करने के लिए समवाय सम्बन्ध मानना पड़ता है। अतः इन परस्पर नित्य सम्बद्ध (अयुतसिद्ध) वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है। जब तक उक्त पदार्थों की सत्ता बनी हुई है, तब तक इस सम्बन्ध की सत्ता मानी ही जायेगी।

जो पदार्थ अलग रह सकते हैं, अर्थात् जिनकी सत्ता सदा पृथक् रूप से सिद्ध रहती है, उसे **'युतसिद्ध'** कहते हैं और ऐसी वस्तुओं में रहने वाले सम्बन्ध को **'संयोग'** कहते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो कभी जोड़े नहीं गये, अर्थात् जो सर्वदा संलग्न रहते हैं। ऐसे पदार्थों को **'अयुतसिद्ध'** कहते हैं। ऐसे द्रव्यों का सम्बन्ध **समवाय** कहलाता है। इस सम्बन्ध का निवास इन वस्तुओं में होता है—

(क) अवयव तथा अवयवी में—जैसे वस्त्र तथा तन्तु का सम्बन्ध। वस्त्र है अवयवी तथा तन्तु है अवयव। इन दोनों के सम्बन्ध को 'समवाय' कहते हैं। वस्त्र तन्तुओं को छोड़कर कभी रह नहीं सकता। न अतीत में पृथक् था, न आज है और न भविष्य में रहेगा। वस्त्र तन्तुओं में समवेत सदा रहता है।

(ख) गुण और गुणी में—जैसे जल तथा शैत्य में। शैत्य ठंढापन गुण है और जल उसका आश्रय द्रव्य है, जिसमें वह रहता है (गुणी)। यह गुण जल में हमेशा वर्तमान रहता है। कभी भी शैत्य गुण जल को छोड़ कर नहीं रह सकता। अतः इन दोनों में समवाय सम्बन्ध विद्यमान है।

(ग) क्रिया तथा क्रियावान् में—जैसे गति तथा वायु में। गति क्रिया है तथा उसका आश्रय है वायु, जो इस क्रिया से युक्त है (क्रियावान्)। क्रिया अपने आधारभूत द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकती; प्रत्युत वह द्रव्य में सदा आधेय रूप से विद्यमान रहती है। जिस गुण द्रव्य में समवेत (समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) रहता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने आधार वाले द्रव्य में समवेत रहता है।

(घ) जाति तथा व्यक्ति में—गो व्यक्ति तथा 'गोत्व' में। जाति सदा व्यक्ति में रहती है और इस रहने का सम्बन्ध भी कोई चाहिए। यही सम्बन्ध समवाय है।

(ङ) विशेष तथा नित्य द्रव्य में—ऊपर कहा गया है कि विशेष नित्य द्रव्यों में, जैसे परमाणु, आत्मा आदि में रहता है, वह जिस सम्बन्ध से रहता है वही समवाय है। अतः वायु के परमाणु में वायुत्व विशेष समवेत रहता है।

समवाय संयोग से सदा भिन्न होता है। दोनों में महान् अन्तर है (१) संयोग से युक्त पदार्थ पहिले पृथक् पृथक् रहते हैं, परन्तु समवेत पदार्थ कभी पृथक्-पृथक् नहीं रहते। (२) संयोग विभाग के द्वारा नाश को प्राप्त होता है, किन्तु समवाय कभी नष्ट होने वाला नहीं होता। (३) संयोग दो स्वतन्त्र वस्तुओं में होता है, परन्तु समवाय आधार तथा आधेय वस्तुओं (परतन्त्र) में ही होता है। (४) संयोग मिलने वाले पदार्थों में से कभी एक की क्रिया से और कभी दोनों की क्रिया से उत्पन्न होता है, परन्तु समवाय के लिए क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। (५) संयुक्त वस्तुयें अलग-अलग करने पर भी अपनी सत्ता बनाये रखती हैं, परन्तु समवेत पदार्थ को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। गो गोत्व से कभी अलग नहीं किया जा सकता; जब तक वह रहता है, सदा गोत्व के साथ मिला ही रहता है।

सारांश यह है कि संयोग बाहरी तथा आकस्मिक सम्बन्ध होता है, परन्तु समवाय भीतरी तथा स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार नाना दृष्टियों में संयोग से भिन्न होने वाला **'समवाय'** एक विशेष सम्बन्ध है; इस बात की अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकती। 'समवाय' की कल्पना न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के लिए नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसी के आधार पर इसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध अवलम्बित रहता है। इसी से इसकी विशिष्ट उपयोगिता है।[११]

(७) अभाव

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध है, अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। अन्योन्याभाव का अर्थ होता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है, अर्थात् दोनों में पारस्परिक भेद है। संसर्गाभाव तीन प्रकार का माना जाता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है। अतः इन दोनों भेदों को मिलाने से अभाव चार प्रकार का होता है। संसर्गाभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—'क ख में नहीं है', अन्योन्याभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—'क ख नहीं है'।

उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव—पहले होने वाला अभाव कहते हैं। उत्पत्ति के पीछे कारण में कार्य के होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। अतः प्रध्वंसाभाव सादि होते हुए अनन्त माना जाता है। दो वस्तुओं का संसर्ग वर्तमान, भूत तथा भविष्य तीनों काल में विद्यमान न रहने पर अत्यन्ताभाव होता है। कोई भी वस्तु किसी अधिकरण में संसर्ग-

विशेष ही विद्यमान रह सकती है, जैसे भूतल पर घट की स्थिति संयोग सम्बन्ध से ही मानी जा सकती है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। अतः भूतल पर घट के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी 'भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव है' यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है। उसी प्रकार सुरभि सुमन में गन्ध की सत्ता समवाय सम्बन्ध से है, संयोग सम्बन्ध से नहीं। अतः 'इस फूल में संयोग सम्बन्ध से गन्ध का अत्यन्ताभाव है' इस कथन में पुष्प में सुगन्ध के अनुभव होने पर भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। इसे ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। जिसका अभाव रहता है, उसे न्याय की दार्शनिक भाषा में **'प्रतियोगी'** कहते हैं। इस अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है, अर्थात् किशी संसर्ग विशेष का अवलम्बन करके ही किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है। प्रागभाव की तरह यह न तो उत्पत्ति से सम्बद्ध है और न प्रध्वंसाभाव की तरह उत्पत्ति के नाश से। अतः अनादि भी है तथा अनन्त भी है। एक वस्तु की दूसरी वस्तु से भेद होने पर अन्योन्याभाव होता है, जिस प्रकार 'घट पट नहीं है'। इस कथन से घट से पट की भिन्नता के समान पट से घट की भी भिन्नता स्वीकृत की जाती है। घट पट नहीं है और न पट ही घट है—इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है।[१२]

परमाणुभाव

अन्य दार्शनिकों की तरह वैशेषिकों ने भी जगत् के उपादान के विषय में विशेष विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धान्त के अनुयायी दर्शनों ने परमाणु को जगत् का उपादान बतलाया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी मूलभूत पदार्थ से इस नानात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। पर परमाणु के साथ जगत् का सम्बन्ध एक प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता, प्रत्युत वास्तववाद के समर्थक दर्शनों में इस विषय में गहरा मतभेद है। कार्य को नवीन उत्पन्न द्रव्य अथवा कारण का परिणाम न मान कर कारणों का केवल संघातमात्र मानने वाले बौद्धों के मत में यह जड़ प्रपञ्च कर्म नियमित क्षणिक तथा परमाणु-पुञ्जरूप—परमाणु से सर्वथा अभिन्न है (अर्थात् कार्य-कारण का परिणाम न होकर तदभिन्न है)। जैनियों के मत में यह जगत्-कर्म नियमित, स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम (किसी अंश में भिन्न और किसी अंश में अभिन्न = भिन्नाभिन्न) है। प्रभाकर के मत में जगत्-कर्म नियमित तथा परमाणु का कार्य भिन्न है, पर

जगत् का कारण

न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार यह जगत् परमाणु का कार्य (भिन्न) होते हुए कर्म नियमित न होकर कर्म की सहकारिता से ईश्वर नियमित है।

अनुभव साक्षी है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष वाले समस्त पदार्थ अवयवविशिष्ट होते हैं। प्रत्यक्षानुभूत घट के अवयव कपाल, तथा पट के अवयव तन्तु हैं। इन अवयवों के भी अवयवों की तथा उनके भी अवयवों की कल्पना की जा सकती है, पर एक स्थल पर इन अवयव-धाराओं को विराम देना ही होगा। यदि अवयवधारा का अवसान न मान कर अनन्त अवयवपरम्परा स्वीकार की जायगी, तो पर्वत तथा राई दोनों के परमाणुओं में तुल्यता होने लगेगी; क्योंकि जिस प्रकार अवयव-परम्परा का अन्त न मानने से पर्वत के अनन्त अवयव होंगे, उसी प्रकार राई के भी अनन्त अवयव होंगे, जिनमें नियामक न होने से दोनों बराबर होने लगेंगे। इस दोष से बचने के लिए अवयवधारा का कहीं न कहीं विराम मानना ही पड़ेगा। जिन अवयवों पर उसका विराम स्वीकार किया जायगा, वे स्वयं अवयवरहित होंगे, तथा स्वयं उपादान होने से नित्य द्रव्य माने जायेंगे। इस प्रकार के सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य को **'परमाणु'** कहते हैं। ये परमाणु चार प्रकार के हैं—पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय।

उत्पत्ति-क्रम

इन परमाणुओं से जगदुत्पत्ति के प्रकार का वर्णन प्रशस्तपाद ने अपने (पृ० १९–२२) भाष्य में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। अणुपरिमाण-विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से 'द्व्यणुक' की उत्पत्ति होती है, जो अणुपरमाणु–विशिष्ट होने से स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्व्यणुकों के संयोग से **त्र्यणुक (त्रसरेणु** या **त्रुटि**) की उत्पत्ति होती है। वस्तुस्थिति यह है कि परमाणु नित्य है। दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। द्व्यणुक भी अणुपरिमाण वाला है, किन्तु कार्य होने से वह अनित्य है। तीन द्व्यणुकों से जिस त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है वह महत्परिमाण वाला होता है। अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। फलतः परमाणु और द्व्यणुक अतीन्द्रिय हैं और त्रसरेणु से लेकर आगे के सभी कार्य-द्रव्य इन्द्रिय गोचर होते हैं। घर में छत के छेद से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्रगोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। इनका छठाँ भाग 'परमाणु' कहलाता है[1]। त्र्यणुक का महत्त्व

---

१. जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

द्व्यणुकों की संख्या के कारण उत्पन्न माना जाता है, न कि उनके अणु-परमाणु से चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर जगत् की सृष्टि होती है। प्रत्येक द्रव्य की सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण माना जाता है।

वैशेषिक मत में परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निष्पन्दरूप से निवास करते हैं; उनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है? प्राचीन वैशेषिक लोग प्राणियों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट को इसका कारण बतलाते हैं। **अदृष्ट** की दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है। अयस्कान्तमणि की ओर सूई की स्वाभाविक गति[1], वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना[2], अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की पहिली गति (स्पन्दनात्मक क्रिया)—अदृष्ट के द्वारा जन्य बतलाई जाती है, पर पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि-क्रिया मानी है[3]। अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता कारण मानी गई है। महेश्वर को जगत् के संहार करने की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्टों का शक्ति-प्रतिबन्ध उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् अदृष्टों की शक्ति रुद्ध हो जाती है। अतः उसका सद्यः फल प्रलय की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जब प्राणियों के कर्म फलोन्मुख होते हैं और अदृष्ट कार्य करता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा तथा परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है; उसके कारण परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।[13]

वैशेषिकों की यह परमाणु-कल्पना स्वप्रतिभोत्पादित सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक डिमाक्रिटस के परमाणुवाद से यह सिद्धान्त नितान्त भिन्न है। ग्रीसदेशीय विवेचना के अनुसार परमाणु स्वयं गुणरहित होते हैं, पर उनमें तौल, स्थान, तथा क्रम का अन्तर होता है, किन्तु कणाद के अनुसार परमाणु में विशेष गुण होता है। डिमाक्रिटस तथा एपिकुरुस ने परमाणुओं को स्वतः गमनशील तथा आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला बतलाया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए पारस्परिक संघर्ष से स्वतः जगत् की सृष्टि करते हैं, क्योंकि ईश्वर के बहिष्कार कर देने से

---

१. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्—(वै० सू० ५।१।१५)।
२. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्—(वै० सू० ।५।२।७)।
३. प्र० पा० भा०, पृ० २०; न्या० क०, पृ० ५२–९३।

उनका कोई भी सचेतन नियामक विद्यमान नहीं रहता, परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त इससे नितान्त भिन्न ठहरता है। यहाँ परमाणु स्वभावतः निष्पन्दावस्था में रहते हैं; उनमें स्पन्द का आविर्भाव अदृष्ट के सहकार और ईश्वर की इच्छा से होता है। वे पृथिव्यादि भूतचतुष्टय की ही उत्पत्ति कर सकते हैं; आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य है, तथा उनके समान ही साथ साथ स्थिति धारण करता है। दोनों में तात्त्विक विभेद यह है कि ग्रीक सिद्धान्त भौतिकवाद का समर्थक है, पर भारतीय सिद्धान्त आध्यात्मिकवाद का पोषक है। ऐसी दशा में डाक्टर कीथ[1] की भारतीय परमाणुवाद के सिद्धान्त पर ग्रीक प्रभाव की कल्पना सर्वथा निर्मूल है।

(४) वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा प्रशस्तपादभाष्य में विशेषरूपेण की गई है। ज्ञान सामान्यतः दो प्रकार का होता है—(१) विद्या तथा (२) अविद्या। ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। अविद्या के चार प्रकार हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। अनेक प्रसिद्ध विशेषवाले दो पदार्थों में सादृश्य मात्र के दर्शन से और दोनों के विशेषों के स्मरण न करने से उभयावलम्बी विमर्ष को **'संशय'** कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—अन्तः (भीतरी) और बाह्य (बाहरी)। विपर्यय का अर्थ है—अवस्तु में वस्तु का ज्ञान (अतस्मिन् तदिति प्रत्ययः) अर्थात् भ्रम। अनध्यवसाय से तात्पर्य 'अनिश्चय' से है। 'यह क्या है'? यह आलोचनमात्र ज्ञान। 'कटहल' को देख कर किसी मनुष्य का निश्चय पर न पहुँचना **अनध्यवसाय** है। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। प्रशस्तपाद के मत से स्वप्न के तीन कारण होते हैं—संस्कारपाटव, धातुदोष तथा अदृष्ट। कामी या क्रुद्ध पुरुष जिस विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है उसकी चिन्ता-सन्तति स्वप्न में प्रत्यक्ष रूप से दीख पड़ती है। वात-प्रकृति या वातदूषित व्यक्ति आकाश में गमन, पित्त-प्रकृति व्यक्ति अग्निप्रवेश और स्वर्णपर्वत, कफप्रकृति सरित्, समुद्र का स्वप्न देखता है। अदृष्ट से विचित्र स्वप्नों का उदय प्रसिद्ध ही है। विद्या चार प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्ष। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना नैयायिकों के समान है। वैशेषिक लोग उपमान और शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मान कर द्विविध प्रमाण के पक्षपाती हैं। स्मृति प्रसिद्ध है। ऋषियों का अतिन्द्रिय विषयों का प्रतिभाजन्य यथार्थ निरूपणात्मक ज्ञान **'आर्ष'** कहलाता है। प्राचीन काल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्ध दर्शन के साथ

---

१. द्रष्टव्य कीथः—इण्डियन लाजिक एण्ड ऐटमिजम, पृ० १७–१८।

विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है। शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने से ही ये 'अर्ध वैनाशिक' (आधे बौद्ध) के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

(५) वैशेषिक कर्तव्यमीमांसा

वैशेषिक दर्शन के प्रथमसूत्र से ही पता चलता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है। धर्म का लक्षण है—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः** (वै० सू० १।१।२)। किरणावली और उपस्कार के व्याख्यानुसार अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का मोक्ष है। धर्म वही है जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो या तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। प्रशस्तपाद के अनुसार कर्ता का मोक्ष साधक, अतीन्द्रिय, शुद्ध संकल्प से उत्पन्न, स्वकीय वर्ण तथा आश्रम में नियत कर्मों के साधन से उत्पन्न होने वाला पुरुष का गुण **'धर्म'** कहलाता है। धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्मों में धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणि-हितसाधन, सत्य वचन, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अनुपधा (भाव शुद्धि), अक्रोध, स्नान, पवित्र द्रव्य सेवन, विशिष्ट देवता की भक्ति, उपवास और अप्रमाद की गणना है। विशेष धर्म चारों वर्ण तथा चारों आश्रम के कर्तव्य रूप हैं, जिनका निरूपण स्मृति ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है—(मनु० २–६)। इन कर्मों का आचरण कामना के साथ किये जाने पर तत्तत्फलों की उत्पत्ति होती है, परन्तु प्रयोजन के विना अर्थात् निष्काम बुद्धि से इनका विधान भाव-प्रसाद (चित्त शुद्धि) के द्वारा धर्म की उत्पत्ति करता है। अतः निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि परम्परया कराता है। धर्म की इस उपादेयता को न जान कर महर्षि कणाद पर यह लांछन लगाना एकदम झूठा है कि उन्होंने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की, परन्तु किया छः पदार्थों का वर्णन। सागर जाने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह हिमालय जाने के समान हुआ।

मोक्ष की अभिव्यक्ति का प्रकार यह है कि निष्काम कर्म के सम्पादन से सत्त्व शुद्धि होती है; सत्त्व शुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है। वह मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस तरह मोक्ष के उदय के प्रति तत्त्व-ज्ञान साक्षात् कारण (सन्निपत्योपकारक) है, परन्तु निष्काम कर्म परम्परया (आरादुपकारक) कारण है[1]।

---

1. द्रष्टव्य प्रशस्तपाद भा०, पृ० १३९; किरणावलीभास्कर, पृ० २१।

वैशेषिक की आचारमीमांसा न्याय की उस मीमांसा के समान ही है। मोक्ष की कल्पना तथा उसकी प्राप्ति का उपाय भी वैसा ही है। कणाद के अनुसार मोक्ष की परिभाषा भी नैयायिक कल्पना के अनुरूप ही होती है। जब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्म-चक्र की गति का अपने ही आप अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है और जन्म-मरण की परम्परा भी उसी के साथ बन्द हो जाती है, साथ ही सब दुःखों का नाश हो जाता है—यही मुक्ति है[1]। जब तक कर्म का कोई हिस्सा बाकी रहता है, तब तक उसके फल भोगने के लिए जन्म धारण करना ही पड़ता है। जब संचित कर्म तथा प्रारब्ध कर्म का फल समाप्त हो जाता है और नये कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, तब पुनर्जन्म नहीं होता; आत्मा दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

मोक्ष

इस मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के द्वारा ही होती है। तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह के न होने पर वस्तु में राग या आसक्ति नहीं रहती, जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर सके। इस विषय में वैराग्य होने से कर्म के करने में प्रवृत्ति नहीं होती। आसक्ति ही तो प्रवृत्ति का कारण होती है। जब आसक्ति ही नहीं रहती, तब प्रवृत्ति स्वतः बन्द हो जाती है। शरीर, वचन तथा मन के द्वारा मनुष्य तब कोई कर्म ही नहीं करता, जिसका फल भोगने के लिए जन्म लेने की जरूरत पड़े। पूर्व कर्म का नाश हो जाता है विपाक होने से और नये कर्म का उदय प्रवृत्ति के अभाव में होता ही नहीं। अत एव शरीरपात होने पर जीव को पुनः नये जन्म लेने की आवश्यकता ही नहीं रहती। फलतः उस समय सब प्रकार के दुःखों का नाश हो जाने से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

मोक्ष का साधन

प्रथमतः मनुष्य में तत्त्वों के जानने के लिए श्रद्धा होनी चाहिए। विना श्रद्धा के जिज्ञासा नहीं होती और जिज्ञासा के विना तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इस प्रकार कुलीनता, श्रद्धा तथा जिज्ञासुता—ये सब ज्ञान के आवश्यक साधन हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार—इन चारों प्रकारों से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है। तत्त्वज्ञान क्या है ? वस्तु का जो यथार्थ रूप हो उसे उसी प्रकार से अनुभव करना ही **तत्त्वज्ञान** है। वस्तु के यथार्थ रूप का ज्ञान होना आत्मा का साक्षात्कार करना है। उस साक्षात्कार के हो जाने पर जीव

---

१. द्रष्टव्य वैशेषिकसूत्र ५।२।१८।

भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। शरीर के रहने पर आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक गुण (औपाधिक गुण) रहते हैं, जो शरीर के नाश होते ही शान्त हो जाते हैं, तब आत्मा अपने वास्तव विशुद्धरूप में स्थित हो जाता है। अत एव तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का परम साधन है।

वैशेषिक मत ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का पक्षपाती नहीं; अपितु ज्ञानवाद का ही है। निष्काम कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायक मात्र है। निवृत्तिरूप धर्म से प्रसूत, द्रव्यादि षट् पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से उत्पन्न तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है (वै० सू० १।१।४)। अतः निवृत्तिरूप धर्म या निष्काम कर्म का आचरण करना इस संसार से निवृत्ति पाने वाले प्राणी का कर्तव्य होना चाहिये। योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं[1]। प्रवृत्ति की न्यायसम्मत व्याख्या वैशेषिकों को भी सम्मत है। आज मोक्ष की कल्पना में प्रचलित नैयायिकों तथा वैशेषिकों में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता, परन्तु कभी दोनों मतों में अन्तर अवश्य था। भासर्वज्ञ[2] तथा सर्वसिद्धान्त-संग्रह[3] के मतानुसार आनन्दरूपा मुक्ति के मानने वाले एकदेशी नैयायिक अवश्य थे, परन्तु वैशेषिकों ने सर्वदा दुःखात्यन्तनिवृत्ति और आत्मविशेष-गुणोच्छेदरूपा ही मुक्ति अंगीकृत किया है[4]। अर्थात् मुक्ति में दुःखों का आत्यन्तिक नाश हो जाता है, आनन्द का उदय नहीं होता; और आत्मा अपने विशेष गुणों से विहीन हो जाता है।

(५) समीक्षा

तत्त्वज्ञान से आत्मा के यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, परन्तु आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के लिए आत्मेतर द्रव्यों की जानकारी आवश्यक है। द्रव्यों के आश्रित धर्म गुण और कर्म हैं। तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा और आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से ही हो सकती है। द्रव्य, गुण, कर्म के समान धर्मों के योग का नाम **'सामान्य'** है **(सामान्यं साधर्म्ययोगः)**। समान धर्म कहीं व्यवस्थित रहता है (यथा

---

१. उपस्कारसूत्र ६।२।१६।

२. न्यायसार, पृ० ४०–४१।

३. नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते ६।४१।

४. दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः (प्र० पा० भा०, पृ० १४४)।

गोत्वादि) और कहीं अव्यवस्थित रहता है (यथा आरोह, परिणाह, विस्तार आदि) यदि केवल सामान्य धर्म का आश्रय लिया जाता है, तो तत्त्वार्थ बुद्धि का उदय न होकर मिथ्या बुद्धि होती है। स्थाणु में पुरुषत्व की बुद्धि सामान्य धर्म के ही ऊपर निर्भर है। अतः वैधर्म्य का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। वैधर्म्य-ज्ञान का पता विशेष से चलता है। सामान्य और विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए नित्य सम्बन्ध की कल्पना भी न्याय्य है। यह नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। भाव पदार्थों के समान अभाव भी उतना ही वास्तव, यथार्थ और महत्त्वशाली है। अतः आत्मा के साधर्म्य के द्वारा यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के लिए सात पदार्थों की वैशेषिक कल्पना नितान्त संगत और औचित्य-पूर्ण है (चन्द्रकान्त—वैशेषिक भाष्य १।१।४)।

पदार्थ-समीक्षा

वैशेषिक पदार्थमीमांसा की समीक्षा करने पर पहली बात जो आलोचकों के आक्षेप का विषय है वह पदार्थों की नियमित षट् संख्या है। पदार्थों की षट् संख्या का नियामक क्या है ? क्या इतने से अधिक या कम पदार्थों की कल्पना मान्य नहीं हो सकती ? स्वतन्त्र पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षी नहीं होता, परन्तु स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी गुण और कर्म की द्रव्याश्रितता अभीष्ट है। यदि गुण कर्म द्रव्याधीन रहते हैं, तो क्या उनकी स्वतन्त्र पदार्थ की कल्पना में इससे धक्का नहीं पहुँचता ? अतः छः या सात पदार्थों की कल्पना में कोई भी नियामक हेतु प्रतीत नहीं होता। 'सामान्य' तथा 'विशेष' की कल्पना अनेक दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। जैन दार्शनिक मल्लिषेण का कहना है कि सब पदार्थों का यह स्वभाव है कि वे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति स्वतः उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न होने वाला घट उस आकार वाले समस्त द्रव्यों की घटप्रतीति उत्पन्न करता है और सजातीय विजातीय द्रव्यों से अपने स्वरूप को स्वयमेव अलग करता है। ऐसी वस्तुस्थिति में इन दो नवीन पदार्थों की अनावश्यक कल्पना क्योंकर सुसंगत मानी जाय ? (स्याद्वादमञ्जरी श्लोक ४)।

जाति-समीक्षा

'सामान्य' दार्शनिकों के मतभेद का एक प्रधान विषय है। बौद्धों की सम्मति में जाति की कल्पना नाममात्र की है, वास्तव कल्पना नहीं; जगत् में व्यक्ति (स्वलक्षण) की ही सत्ता है, जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत होता है। कणाद (वै० सू० १।२।३) जाति की केवल मानस सत्ता मानते हैं,

परन्तु उनके पीछे के वैशेषिक, नैयायिक, भाट्ट तथा प्राभाकार मीमांसक जाति की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् स्वतन्त्ररूपेण मानते हैं। इन वास्तववादी दार्शनिकों में भी जाति-व्यक्ति के सम्बन्ध को लेकर मतभेद दृष्टिगोचर होता है। नैयायिक और प्राभाकार जाति-व्यक्ति का सम्बन्ध 'समवाय' मानते हैं, परन्तु कुमारिल जाति का व्यक्ति से भिन्न अर्थात् अभिन्न मानते हैं। रामानुज व्यक्ति को सत् तथा तद्व्यतिरिक्त जाति को असत् मानते हैं, परन्तु वे संस्थानजन्य सुसादृश्य को वास्तव मानने के पक्ष में हैं। शांकरवेदान्त सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता (वे० प०, पृ० ११)। इस प्रकार दार्शनिकों की 'जाति' के विषय में स्वसिद्धान्तानुसारी भिन्न-भिन्न कल्पनायें हैं, परन्तु न्याय और बौद्ध दर्शन का जाति के विषय में विरुद्ध मत है; न्याय जाति को मानता है, बौद्ध दर्शन इसका प्रबल खण्डन कर अस्वीकार करता है[१५]।

परमाणुकारणवाद-समीक्षा

वैशेषिक सम्मत परमाणु-कारणवाद तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। सृष्टिकाल में पृथग्भूत परमाणुओं में संयोग उत्पन्न होने पर द्व्यणुकादिक्रम से सृष्टि मानी गई है। संयोग कर्म से होता है। अब प्रश्न यह है कि कर्म किस कारण होता है? दृष्ट कारणों में प्रयत्न या अभिघात माना जा सकता है, परन्तु उस समय शरीर उत्पन्न न होने से आत्ममनः-संयोग से उत्पन्न प्रयत्न का उदय स्वीकृत नहीं हो सकता। अभिघात की कल्पना भी इसी प्रकार असंगत है। अदृष्ट को कर्म का कारण मान सकते हैं, परन्तु अचेतन होने के कारण वह कर्मोत्पादन में किस प्रकार समर्थ हो सकता है? अतः किसी नियत कर्म के अभाव में अणुओं में प्रथम कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, न कर्मजन्य संयोग, न संयोग जन्य द्व्यणुकादि की सृष्टि। प्रलय काल में इसी प्रकार वियोगोत्पादक कर्म के अभाव में जगत् का प्रलय असम्भव है। परमाणुओं को प्रवृत्ति-स्वभाव मानने में नित्य प्रवृत्ति होगी, प्रलय का अभाव होने लगेगा; इसी प्रकार निवृत्तिस्वभाव मानने पर नित्य निवृत्ति के कारण में सृष्टि का अभाव होने लगेगा। उभय-स्वभाव मानने पर परस्पर विरोध होगा और अनुभव-स्वभाव मानने पर भी दोष वही रहेगा। अतः परमाणुओं में न तो स्वतः प्रवृत्ति की ओर झुकाव है, न स्वतः निवृत्ति की ओर; प्रत्युत उनमें आद्य संयोग की उत्पत्ति के लिये किसी चेतन नियामक पदार्थ को मानना ही ठीक होगा। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त कि रूपादिमान् चतुर्विध परमाणु रूपादिमान् चतुर्विध कार्यों के उत्पादक तथा नित्य हैं, ठीक नहीं प्रतीत होता; रूपादिमान् होने से परमाणुओं को अनित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि लोक का यह नियम है

कि रूपादिमान् वस्तु स्वकारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य होती है। अतः परमाणुओं को भी स्वकारणापेक्षया स्थूल तथा अनित्य मानना ही न्यायसंगत है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त को हानि पहुँचती है। अतः परमाणुकारणवाद का कथमपि समर्थन नहीं किया जा सकता[1]। समवाय की कल्पना भी प्रमाणप्रतिपन्न नहीं प्रतीत होती। यदि अणुओं से अत्यन्त भिन्न द्व्यणुकों के साथ सम्बन्ध मानने के लिए समवाय स्वीकृत किया जाता है, तो अत्यन्त भेद की समता के आधार पर समवायी पदार्थों से अत्यन्त भिन्न समवाय के साथ सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे अवनस्था दोष उपस्थित हो जायगा[2]। इन्हीं कारणों से वैशेषिकों के सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सर्वमान्य नहीं हैं, परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान के समान वैशेषिक की भौतिक जगत् की समीक्षा लौकिक दृष्टि से नितान्त उपादेय और ग्राह्य है। तत्त्व-प्रासाद की आरम्भ की इन सीढ़ियों के द्वारा ही हम ऊपर चढ़ सकते और अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सकते हैं।



१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र २।२।११–१७ पर शाङ्करभाष्य।

२. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र २।२।१३– पर शाङ्करभाष्य; स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ४०–४१।

नवम परिच्छेद्

सांख्य दर्शन

'सांख्य' भारतीय दर्शनों में अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके प्रवर्तक 'कपिल' माने जाते हैं। इस नाम की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इसी दर्शन ने सर्वप्रथम तत्त्वों का परिगणन या गिनती किया, जिनका ज्ञान हमें मोक्ष की ओर ले जाता है। गिनती को कहते हैं 'संख्या' तथा संख्या की प्रधानता रहने से इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा। परन्तु इससे भी सुन्दरतम व्याख्या दूसरी है। संख्या का अर्थ है—विवेक ज्ञान। प्रकृति तथा पुरुष के विषय में अज्ञान होने से यह संसार है और जब हम इन दोनों के 'विवेक को जान लेते हैं कि पुरुष (जीव) प्रकृति (भूत) से भिन्न है तथा स्वतन्त्र है, तब हमें मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी विवेक-ज्ञान की प्रधानता होने से इस दर्शन का नाम **सांख्य** पड़ा[1]। न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा इसकी दृष्टि भिन्न है। न्याय-वैशेषिक बहुत्ववादी दर्शन हैं, क्योंकि इनके अनुसार परमाणु, आत्मा, मन, काल, दिक् आदि अनेक नित्य मौलिक तथ्य हैं। सांख्य द्वैतवादी दर्शन है, क्योंकि यह दो ही तत्त्वों को मौलिक मानता है। एक है प्रकृति तथा दूसरा है पुरुष। सांख्य का प्रभाव प्राचीन काल की विचारधारा पर खूब ही पड़ा था और इसलिए इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल प्रथम दार्शनिक (आदि विद्वान्) की उपाधि से मण्डित किये जाते हैं[2]।

(१) प्रसिद्ध सांख्याचार्य

कपिल—सांख्य दर्शन के रचयिता का नाम 'कपिल मुनि' है। उपनिषदों में संकेतित सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले इन्होंने किया था। उपनिषत्कालीन सांख्य वेदान्त के साथ मिश्रित था। उसे पृथक् कर स्वतन्त्र दर्शन के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसी कारण कपिल 'आदि विद्वान्' की महत्त्वशालिनी उपाधि से विभूषित किये गए हैं। भागवत (१।८।११) के समय में ही सांख्य 'कालार्कभक्षित' हो चुका था। अतः इसके पुनरुद्धार के लिए कपिल ने तत्त्व-समूह का सम्यक् निर्णय किया। आचार्य

पंचशिख ने अपने एक सूत्र[1] में कपिल को निर्माणकाय धारण कर आसुरि को सांख्य तन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है। इस प्रकार कपिल अपने समय के सुप्रसिद्ध अग्रगण्य दार्शनिक प्रतीत होते हैं[2]।

कपिल की दो रचनाओं का पता चलता है—तत्त्वसमास[3] तथा सांख्यसूत्र। तत्त्वसमास केवल २२ छोटे सूत्रों का समुच्चयमात्र है। सांख्यसूत्र में ६ अध्याय हैं और सूत्र संख्या ५३७ है। प्रथम अध्याय में विषय का प्रतिपादन, दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में सांख्यतत्त्वों के सुगम बोध के लिए अनेक रोचक आख्यायिका, पंचम में परपक्ष का निरास, षष्ठ में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है। तत्त्वसमास को अनेक विद्वान् सांख्य शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाते हैं।

(क) **तत्त्वसमास**—समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० कीथ ने इसकी रचना १३८० ई० के अनन्तर मानी है, क्योंकि इसी समय लिखे गए सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है। दासगुप्त तथा गार्बे का भी यही मत है। मैक्समूलर अवश्य इसे अतिप्राचीन मौलिक ग्रन्थ मानते थे। बोधायन कवि कृत 'भगवदज्जुक' नाटक महेन्द्र विक्रम (७ शतक) के समय लिखा गया था। इसमें तत्त्वसमास के ८ सूत्र उद्धृत हैं (पृ० १—१५)। वहाँ इन सूत्रों को 'सांख्य-समय' कहा गया है। अतः इन सूत्रों की रचना सप्तम शताब्दी से अवश्य प्राचीन है।

---

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥ (११२५) व्यासभाष्य में उद्धृत।

२. कतिपय विद्वान् 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' श्वेता० ५।२ में कपिल के अभिधान का संकेत बताते हैं, परन्तु सन्दर्भानुसार इस शब्द की वैदान्तिक व्याख्या ही सत्य प्रतीत होती है। यह कपिलवर्ण व्यक्ति हिरण्यगर्भ से अभिन्न ही है। द्रष्टव्य श्वेता० ३।४, ४।१२, ६।१८।

३. तत्त्वसमास पर अनेक टीकायें 'सांख्यसंग्रह' में प्रकाशित हुई हैं, जिनमें शिवानन्दकृत 'सांख्यतत्त्वविवेचन', भावागणेश (१६ वीं शताब्दी) कृत 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन', सर्वोपकारिणीटीका, सांख्यसूत्र-विवरण आदि मुख्य हैं। सांख्यसूत्र पर 'अनिरुद्धवृत्ति' प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण मानी जाती है।

(ख) **सांख्यसूत्र** को अर्वाचीन मानना ठीक नहीं है। माधवाचार्य ने सर्व-दर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख अवश्य नहीं किया है; तथापि उन्हीं के समकालिक माधवमन्त्री ने सूतसंहिता की टीका में 'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था-मूलप्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १६१) को उद्धृत किया है। अतः इसमें ;तनिक भी सन्देह नहीं कि ये सूत्र १४ शतक से प्राचीन हैं।

आसुरि—कपिल के साक्षात् शिष्य थे। इनके सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरी में (१५ वें श्लोक) आसुरि का एक श्लोक उद्धृत किया गया है।

पञ्चशिख—'षष्टितन्त्र' के निर्माता आसुरि के शिष्य पञ्चशिख सांख्य दर्शन को सुसम्बद्ध तथा प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम आचार्य हैं। इसके कतिपय सिद्धान्त-विषय सूत्र प्रमाण के लिए व्यासभाष्य में उद्धृत किये गए हैं। वाचस्पति मिश्र ने 'राजवार्तिक' नामक ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर साठ प्रधान विषय की व्याख्या होने के कारण ग्रन्थ के 'षष्टितन्त्र' नामकरण को सार्थक बतलाया है (तत्त्वकौमुदी का० ३७)। अहिर्बुध्न्यसंहिता (१२।१८-३०) के अनुसार साठ परिच्छेद थे। चीनी ग्रन्थों के अनुसार इस षष्टिसहस्रश्लोकात्मक षष्टितन्त्र की रचना पञ्चशिख ने की थी। पञ्चशिख के सिद्धान्तों का परिचय महाभारत (शान्ति पर्व, अ० ३०२-३०८) से भी मिल सकता है।[३]

ईश्वरकृष्ण—इनकी सांख्यकारिका सांख्य का लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने शारीरकभाष्य में सांख्य मत के उपन्यास करने के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके इन्हीं की कारिकाओं से उद्धरण दिया है। इस घटना से भी इसकी प्रामाणिकता तथा प्राचीनता की पुष्टि हो सकती है। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ के द्वारा छठीं शताब्दी में किया गया मिलता है। चीनी भाषा में इसे 'हिरण्यसप्तति' या सुवर्ण सप्तति कहते हैं। जापानी विद्वान् डा० तकाकुसू ने ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी की एकता मानी है, परन्तु समय और सिद्धान्त में नितान्त पार्थक्य होने से उभय आचार्यों की अभिन्नता कथमपि मानी नहीं जा सकती। ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव काल चतुर्थ शतक में साधारणतया बतलाया जाता है, परन्तु वस्तुतः ये इससे कहीं अधिक प्राचीन हैं। जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१०० ई०) 'काविलं', 'सट्ठितन्तं', 'माठरं' के साथ 'कणगसत्तरी' का भी उल्लेख करता है। सन्दर्भानुसार 'कणगसत्तरी' सांख्यग्रन्थ प्रतीत होता है। सांख्यकारिका के चीनदेशीय नाम 'सुवर्णसप्तति' से हम परिचित हैं। अतः यह 'कणगसत्तरी' निश्चयरूप से 'सांख्य-

कारिका' का ही नामान्तर है। इस उल्लेख से ईश्वरकृष्ण का समय ईसा की प्रथम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

कारिका की अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकायें उपलब्ध होती हैं, जिनमें 'माठरवृत्ति' सब से प्राचीन प्रतीत होती है। (१) आचार्य **माठर** कनिष्क के समसामयिक माने जाते हैं। अतः इनका समय अनुयोगद्वार के निर्देश के आधार पर भी प्रथम शतक माना जाता है। (२) 'गौडपादभाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। वृत्ति और भाष्य में अनेक स्थलों पर भाव और भाषागत विचित्र समानतायें हैं; अभीतक निश्चय नहीं हो सका है कि चीनी भाषा में अनूदित टीका का मूल वृत्ति है या भाष्य। **गौड़पाद** का समय सप्तम शतक के आसपास है। ये माण्डूक्यकारिका के रचयिता गौड़पाद से भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। (३) '**युक्तिदीपिका**' हाल में 'कलकत्ता संस्कृत सीरिज' (सं० २३) में प्रकाशित हुई है। यह अद्भुत पुस्तक है, जो प्राचीन सांख्याचार्य के सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। सांख्य के इतिहास की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है। वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया गया है। शबर-स्वामी का उल्लेख अवश्य है, परन्तु कुमारिल और प्रभाकर का नहीं है। ग्रन्थकार के नाम का पता नहीं चलता, परन्तु वह वाचस्पति मिश्र से प्राचीन अथवा समसामयिक अवश्य हैं। (४) **वाचस्पति** मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' सांख्यसिद्धान्तों के प्रकाशनार्थ वस्तुतः कौमुदी है। (५) शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध, परन्तु **शंकराचार्य** विरचित 'जयमङ्गल' सांख्यतत्त्व जिज्ञासुओं का मंगल साधन करनेवाली अल्पाक्षरा उपयोगिनी टीका है, जिसकी रचना १४ शतक के आसपास की गई है। (६) नारायण तीर्थ (१७वीं शताब्दी) की 'चन्द्रिका' लघुकाय होने पर भी गम्भीरार्थ-प्रतिपादिनी है। (७) **नरसिंह** स्वामी का अभीतक अप्रकाशित 'सांख्यतरु-वसन्त' सांख्य और वेदान्त में मूलतः भेद नहीं मानता।

विन्ध्यवासी—सांख्याचार्य विन्ध्यवासी के विलक्षण सिद्धान्तों का पर्याप्त उल्लेख दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु इनकी रचना की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। आचार्य विन्ध्यवासी का व्यक्तिगत नाम '**रुद्रिल**' था, परन्तु विन्ध्य के जंगलों में रहने से इनकी विन्ध्यवासी नाम से ख्याति हो गई थी। तत्त्वसंग्रह (पृ० २२) में उल्लिखित एक कटाक्षपूर्ण श्लोक वधुबन्धु की

परमार्थ-सप्तति का प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें परिणामवाद को अंगीकार करने वाले सांख्याचार्य विन्ध्यवासी की बड़ी मीठी चुटकी ली गई है। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम 'वार्षगण्य' बतलाया है। शान्तरक्षित ने ईश्वरकृष्ण का उल्लेख विन्ध्यवासी से अलग ही किया है। अतः सिद्धान्त तथा व्यक्तित्व की भिन्नता के हेतु दोनों की अभिन्नता मानी नहीं जा सकती[४]।

विज्ञानभिक्षु—विज्ञानभिक्षु एक प्रकार से सांख्य के अन्तिम आचार्य हैं। १६वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में ही विद्यमान थे। भिक्षु नाम धारण करने पर भी न तो ये बौद्ध थे और न दशनामी सन्यासियों में अन्तर्भुक्त थे। यदि ऐसा होता तो ये शंकराचार्य के मत की खरी आलोचना से अवश्य विरत होते। ये बड़े स्वतन्त्र विचार के सांख्याचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् तथा पुराणों के युग के अनन्तर वियुक्त होने वाले सांख्य और वेदान्त में हृदयंगम सामञ्जस्य दर्शाया है। इन्होंने तीन दर्शनों के ऊपर भाष्यग्रन्थ लिखे हैं—(१) सांख्यप्रवचनभाष्य—(सांख्यसूत्रों पर), (२) योगवार्तिक—(व्यासभाष्य पर), (३) विज्ञानामृतभाष्य—(ब्रह्मसूत्र पर)। इनके अतिरिक्त 'सांख्यसार' तथा 'योगसार' में इन दर्शनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त प्रतिपादन सरल ढंग से किया गया है। इनके तीन विशिष्ट शिष्यों के नामोल्लेख मिलते हैं, जिनमें **भावागणेश** सांख्य के विशेषज्ञ थे, जैसा कि उनके तत्त्वसंग्रह के विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन) से पता चलता है। सांख्य-तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन दुर्बल हो चला था। इसीलिए इन्होंने सांख्य को 'कालार्कभक्षित' कहा है, परन्तु इस तन्त्र की प्रणाली को पुनः जाग्रत करने तथा पुनरुज्जीवित करने में जितना श्लाघनीय उद्योग विज्ञानभिक्षु ने किया, वैसा किसी ने नहीं किया। सांख्य-योग को पुनः प्रतिष्ठित करने का सुयश विज्ञानभिक्षु को ही प्राप्त है।

(३) सांख्य तत्त्व-मीमांसा

सांख्य दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। उसके अनुसार २५ तत्त्व होते हैं जिसके जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो; दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इन पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जाता है—(१) कोई तत्त्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (प्रकृति)। (२) कुछ तत्त्व कार्य ही होते हैं—किसी से उत्पन्न होते हैं पर स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (विकृति)। (३) कुछ तत्त्व

कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं, तथा अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी होते हैं (प्रकृति-विकृति)। (४) कोई तत्त्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य रहता है; न वह कार्य ही होता है, न कारण ही (न प्रकृति न विकृति)। सांख्य-सम्मत २५ तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति।
विकृति	१६	ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र)। कर्मेन्द्रिय (वाक् , पाणि, पाद, पायु, उपस्थ)। मन, और महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)।
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र (शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र)।
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

सत्कार्यवाद

कार्य कारण के विषय में सांख्यों का एक विशिष्ट मत है जो **सत्कार्यवाद** के नाम से विख्यात है। मार्मिक प्रश्न यह है कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है या नहीं? अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से घड़ा बनाता है, तब क्या उत्पन्न होने से पहिले घड़ा मिट्टी में विद्यमान था या नहीं? न्याय-वैशेषिक का उत्तर है—नहीं। घड़ा मिट्टी में विद्यमान् नहीं था (असत् कार्य), बल्कि सामग्री की सहायता से घड़े की उत्पत्ति होती है अथवा घड़ा एकदम नवीन वस्तु होता है। यदि वह पूर्व से ही विद्यमान होता, तो घड़े की उत्पत्ति का क्या अर्थ होता? घड़े को बनाने के लिए कुम्हार की मेहनत तथा चाक घुमाने की क्या जरूरत होती? यदि कार्य कारण में पूर्व से वर्तमान है, तो कार्य तथा कारण में भेद भी क्यों कर किया जा सकता है? मिट्टी तथा घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? मिट्टी का लोंदा घड़े का काम क्यों नहीं करता? घड़े में तो हम जल रख सकते हैं, तो क्या यही कार्य हम मिट्टी के लोंदे से भी कर सकते हैं? व्यवहार इन प्रश्नों का

उत्तर नकारात्मक ही देता है। यदि कहा जाय कि कार्य तथा कारण में आकारगत भेद है, अर्थात् मिट्टी तथा घड़े के आकार में फर्क है, तब तो मानना ही पड़ेगा कि कार्य में ऐसी एक नई चीज पैदा हो गई जो मूल कारण में नहीं थी। इस प्रकार बाध्य होकर मानना पड़ता है कि कार्य उत्पत्ति से पहिले अपने कारण में वर्तमान नहीं था। नैयायिकों का यह सिद्धान्त **असत्कार्यवाद** के नाम से प्रख्यात है।

सांख्य का सिद्धान्त इस विषय में भिन्न है। उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा कार्य है, अर्थात् कार्य जब तक प्रकट नहीं होता तब तक वह वस्तु कारण है, किन्तु जब वह प्रकट हो जाता है तब कार्य कहलाता है। इस प्रकार कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है। इस सिद्धान्त को **सत्कार्यवाद** के नाम से पुकारते हैं। इसकी पुष्टि में सांख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं[1]:—

(१) अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। नील वस्तु सहस्रों शिल्पियों के उद्योग करने पर भी कथमपि पीत रंग की नहीं बनाई जा सकती। (२) किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है; दही चाहने वाला दूध को ही ग्रहण करता है; तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता। क्या कारण है कि तेली तेल के लिए सरसों या तिलों को ही कोल्हू में पेरता है, क्यों नहीं वह मिट्टी या कंकड़ को कोल्हू में डालकर तेल निकालता? उत्तर यह है कि तेल (कार्य) सरसों या तिल (कारण) में पहले से ही विद्यमान है। इसीलिए इस कार्य के वास्ते उसी विशेष उपादान (सामग्री) को हम ग्रहण करते हैं। इतना ही नहीं, अगर पूर्व स्थिति को नहीं मानते तो सबसे सब चीजें पैदा हो जातीं। मिट्टी से कपड़ा भी बनता और कम्बल भी तैयार होता, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता। सब कारणों

---

१. **असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।**
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥
(सां० का० ९)

से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं दिखलाई पड़ती। (३) जुलाहा कपड़ा तैयार करने के लिये जो तन्तुओं को ही लेता है, इसका कारण उसे ज्ञात है। वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को पैदा करने की शक्ति है। कारण जिस शक्ति से युक्त है उस शब्द पदार्थ को वह पैदा करता है, अन्य को नहीं। इसीलिए तेलहन से तेल निकलता है, तथा मिट्टी से घड़ा बनता है, दूसरी कोई चीज नहीं। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। यह भी कार्य-कारण के पूर्वस्थित सम्बन्ध का नियामक है। (४) शक्त (शक्ति-सम्पन्न) कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान है। (५) कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम हैं—व्यक्त दशा का नाम कार्य है और अव्यक्त दशा का प्रचलित अभिधान कारण है। संसार का प्रतिदिन अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कारणव्यापार से पहले भी कारण में कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्ता के व्यापार से वस्तु का आविर्भावमात्र होता है—अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

सत्कार्यवाद के दो रूप

सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं—(१) **परिणामवाद** और (२) **विवर्तवाद**। परिणाम वहाँ होता है जहाँ कारण से उत्पन्न कार्य वास्तव होता है, जैसे दूध से दही की उत्पत्ति। यहाँ दही वस्तुतः सच्ची चीज है। वह आकार में, रूप में तथा फल में भिन्न होता है। दही जमा हुआ होता है तथा स्वाद में मीठापन लिए होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है। अतः कार्यों को वास्तव, सच्चे रूपसे बतलाने वाला सिद्धान्त **परिणाम** कहलाता है और सांख्यों का यही मत है। विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का मत है। उसका कहना है कि जो कार्य दिखलायी पड़ता है वह वास्तव न होकर केवल आभासमात्र है; कार्य की केवल प्रतीति होती है, उसकी वस्तुस्थिति नहीं रहती। अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हम डरकर भागते हैं कि यह साँप है। यहाँ रज्जु में सर्प उत्पन्न होता है, परन्तु यह कल्पना मात्र है, सच्ची घटना नहीं; क्योंकि दीपक लाने पर रज्जु के रूप को ही हम देखते है, साँप को नहीं। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म से ही यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् असत्य है, कोरी कल्पना है, स्वप्न के समान अलीक है; ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। जगत् की केवल प्रतीति

होती है, वह सच्चा नहीं होता। इस सिद्धान्त का नाम है—**विवर्तवाद** (अर्थात् कारण से कार्य का असत्य रूपान्तर)।

सांख्य का वास्तववाद

सांख्यदर्शन द्वैतमत का प्रतिपादक है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष द्विविध मूल तत्त्व हैं, जिनके परस्पर सम्बन्धसे इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जडात्मिका तथा एक है, परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक है। ब्रह्म जगत् की सत्ता को मौलिक व्यापार से स्वतन्त्र होकर पृथक्‌रूप से सिद्ध मानने के कारण सांख्य भी न्याय-वैशेषिक के समान वास्तववादी है, परन्तु पुरुषबहुत्व के सिद्धान्त को क्षणभर दूर रखकर कहा जा सकता है कि जहाँ इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अनेक स्वतन्त्र नित्य पदार्थों की कल्पना करने से न्यायवैशेषिक अनेकत्ववादी है, वहाँ प्रकृतिपुरुष द्विविधतत्त्व को ही इस जगत् की व्याख्या के लिए पर्याप्त मानने से सांख्या द्वैतवाद का प्रतिपादक है। ये दोनों मौलिक तत्त्व प्रकृति और पुरुष हैं।

इस जगत् के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्यरूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्त्व से अवश्य ही हुई होगी। इसी मूलतत्त्व का अन्वेषण तथा तात्त्विक विवेचन प्रत्येक दर्शन का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है। बौद्ध, जैन, न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा इस मूलतत्त्व को अत्यन्त सूक्ष्म 'परमाणु' बतलाते हैं। परन्तु सांख्य को इसमें बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है; भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जा सके, परन्तु उनसे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः स्थूल और सूक्ष्म सकल कार्य की—जगत् की उत्पादिका 'प्रकृति' मानी गई है।

प्रकृति की सिद्धि

इस प्रकृति की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं—(१) जगत् के समस्त पदार्थ सीमित—परिमित, परतन्त्र हैं। अतः इनका मूल कारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिए। (२) संसार के पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख तथा मोह उत्पन्न करने वाला है। अतः एक ऐसा मूल कारण अवश्य होना चाहिए जिसमें इन विशेषताओं का सद्भाव हो। (३) प्रत्येक कार्य कारण में अव्यक्तरूप से निहित रहता है। यह विशाल जगत् कार्यों का एक समूह है, जो किसी न किसी कारण जगत् में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है। वह मूल अव्यक्त या प्रकृति है।

(४) यह नियम सर्वत्र जागरूक है कि कार्य किसी कारण से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी कारण में लीन हो जाते हैं। सृष्टि-व्यापार के देखने से प्रकृति को मानना पड़ता है। प्रत्येक कार्य अपने कारण से उत्पन्न होता है। वह कारण भी अपने से सूक्ष्मतर कारण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार ऊपर की ओर जाते जाते जहाँ यह कारण की शृंखला समाप्त होती है वही सूक्ष्मतम तत्त्व प्रकृति है, जो सबका मूल कारण है, तथा जहाँ से यह विश्व उदय लेता है। प्रलय दशा में ठीक इसके विपरीत क्रिया होती है, अर्थात् स्थूल कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है और यह कारण भी अपने से सूक्ष्मतर कारण में लय पाता है। इस प्रकार यह परम्परा जाते जाते जहाँ समाप्त होती है वही सूक्ष्मतम अव्यक्त तत्त्व है। इस तरह इस विश्व के आविर्भाव (उदय) का कारण तथा तिरोधान (प्रलय) का कारण विचारने से जो अन्तिम तत्त्व अनुमित होता है वही प्रकृति है।

प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है, अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। इसीलिए जगत् के पदार्थों में ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द, किसी के हृदय में दुःख और किसी तीसरे व्यक्ति के चित्त में मोह पैदा करती है। प्रकृति सांख्य में मूल तत्त्व है। वह नित्य है। संसार को वह उत्पन्न करती है, परन्तु वह स्वयं किसी से उत्पन्न नही होती (अहेतुमत्)। वह व्यापक, एक, किसी पर आश्रित न होने वाली होती है। उसमें अवयव नहीं होता। जगत् के पदार्थों में अवयवों की सत्ता होती है और इसी से वे आपस में मिश्रण तथा संयोग को पाते हैं। पृथ्वी आदि पदार्थ आपस में मिलते हैं। प्रकृति का बुद्धि आदि के साथ जो सम्बन्ध है वह संयोग नहीं, तादात्म्य होता है। प्रकृति स्वतन्त्र होती है। वह अपने क्षेत्र में किसी के ऊपर अपने व्यापार के लिए आश्रित नहीं होती। प्रकृति अपने भीतर से समस्त संसार उत्पन्न करती है और प्रलय दशा में फिर उसे अपने भीतर निविष्ट कर लेती है। प्रकृति जडात्मिका होती है। सांख्यों के अनुसार इसमें जगत् के दो ही तत्त्व मौलिक होते हैं—एक जड़रूप और दूसरा चेतन रूप। जड़रूप तत्त्व ही प्रकृति है और चेतन तत्त्व पुरुष है। इस प्रकार अपरमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक मूलकारण को मानना पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर नितान्त युक्तियुक्त है[1]। इसे ही अव्यक्तरूप होने से 'अव्यक्त', प्रधान कारण हने

प्रकृति का रूप

---

१. द्रष्टव्य—सांख्यकारिका १५–१६; सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचनभाष्य १।११०,१।१२२–१३७।

से 'प्रधान', सबकी जननी होने से 'प्रकृति' आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें हैं। यह स्वयं अजन्मा है—कारण होते हुए भी स्वयं किसी का कार्य नहीं है। यदि इस तत्त्व के कारण की कल्पना की जाय, तो अनवस्था दोष गले पतित हो जाता है। अतः इस दोष के निरास के लिए प्रकृति को ही जगत् का आदि कारण मानना नितान्त उचित है।[५]

गुण

प्रकृति जिन द्रव्यों का समूहरूप स्वयं होती है वे संख्या में तीन होते हैं—सत्त्व, रज तथा तम। इन तीनों का सामान्य नाम है—गुण। वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध आदि द्रव्य में रहने वाले पदार्थों को गुण शब्द से पुकारते हैं, परन्तु सांख्य के ये तीनों गुण इस रीति से गुण नहीं हैं, बल्कि वे द्रव्य हैं। गुण का अर्थ होता है—रस्सी या डोरी। अतः सत्त्व आदि गुण पुरुष को बाँधने वाले होते हैं। अतः रज्जु के समान इनकी क्रिया होने से ये **'गुण'** कहलाते हैं (विज्ञान भिक्षु)।[६] ये प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं, तथा पुरुष को अपने स्वार्थ की सिद्धि करने में सहायक या उपकारक होते हैं। इस विचार से भी इनकी संज्ञा 'गुण' है (वाचस्पति मिश्र)[१]। इनमें संयोग-वियोग होता रहता है और गुरुत्व, लघुत्व आदि धर्मों से ये युक्त भी रहते हैं। इसीलिए क्रिया तथा धर्म से युक्त होने के कारण ये वस्तुतः 'द्रव्य' ही होते हैं।

गुण सिद्धि का प्रमाण

गुणों को मानने के लिए प्रमाण भी यथेष्ट हैं। जगत् के पदार्थों पर दृष्टि डालिए। प्रत्येक में ये तीनों गुण विद्यमान पाये जाते हैं। पेड़ से एक मीठा आम गिरता है जिसे पाने के लिए दो लड़के दौड़ पड़ते हैं। आम पाने वाले को तो आनन्द होता है, परन्तु न पाने वाले को दुःख होता है और इसे देखने वाले एक तीसरे लड़के को केवल उदासीनता होती है। एक ही आम ने तीन व्यक्तियों में तीन प्रकार की प्रतिक्रिया की। इसी प्रकार संगीत सबको आनन्दित नहीं करती। रसिक को आनन्द, बीमार को कष्ट तथा तीसरे को न आनन्द और न कष्ट देती है। एक ही संगीत से यह तीनों प्रकार का कार्य सम्पन्न हुआ। एक ही युवती अपने स्वामी को सुखी बनाती है, अपनी सपत्नियों को दुःखित करती है, तथा दूसरे पुरुष में वही मोह उत्पन्न करती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों गुण सदा सर्वदा विद्यमान रहते हैं। सांख्य के अनुसार जो

१. तत्त्वकौमुदी, कारिका १२।

धर्म कार्य में पाये जाते हैं वे ही कारण में भी विद्यमान रहते हैं। इसीलिए जगत् की मूल कारण प्रकृति में भी ये गुण वर्तमान हैं। गुणों की सत्ता मानने का यही कारण है। प्रकृति सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति में ये विद्यमान रहते हैं और इसीलिए प्रकृति से उत्पन्न होने वाले प्रत्येक पदार्थ में उनका वर्तमान होना न्यायसंगत है।

सत्त्व गुण लघु (हलका), प्रकाशक तथा इष्ट (आनन्द रूप) होता है। यह गुण जहाँ भी रहता है वहाँ इसी प्रकार से रहता है। हलकी चीज ऊपर को उठती है। आग की ज्वाला तथा भाप की गति ऊपर को होती है। यह सत्त्व गुण के ही कारण होता है। ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है और इन्द्रियाँ अपने रूपादि विषयों को ग्रहण करती हैं—सत्त्व के ही कारण। इसी प्रकार सब प्रकार के आनन्द, हर्ष, सुख, संतोष आदि मन में सत्त्व भावना होने से ही उत्पन्न होते हैं।

सत्त्व का स्वरूप

रजोगुण स्वयं चञ्चल होता है तथा दूसरों को भी चञ्चल बनाता है। वह क्रिया का प्रवर्तक होता है। वायु की चञ्चलता तथा गति-शीलता रज के ही कारण है। रज के ही होने से इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर दौड़ती हैं, तथा मन चञ्चल हो उठता है; सत्त्व तथा तम दोनों निष्क्रिय ही होते हैं। उनमें गति प्रदान करने का काम रजोगुण ही करता है। यही उन्हें निष्क्रिय दशा से हटा कर अपने कार्य करने के लिए उत्साहित करता है (उपष्टम्भक)। यह दुःखात्मक होता, इसीलिए रजोगुण की प्रधानता होने पर वस्तु नितान्त दुःख ही पैदा करती है।

रजोगुण का स्वरूप

तमोगुण गुरु (भारी) तथा रोकने वाला होता है। यह गुण सत्त्वगुण का विरोधी गुण होता है। यह रजोगुण की प्रवृत्ति को रोकता है। इसके अभाव में रजोगुण सदा चलायमान रहता है और आगे बढ़ता ही जाता है। यही उसे रोकता है। यह जडता तथा निष्क्रियता का प्रतीक है। यह मोह या अज्ञान पैदा करता है। इसी के कारण तेज की कमी होने से अन्धकार तथा बुद्धि की कमी होने पर मूर्खत्व उत्पन्न होता है। गति को रोककर यह प्रमाद, आलस्य, निद्रा तथा तन्द्रा को पैदा करता है। इन तीनों गुणों का रंग तीन तरह का होता है। सत्त्व होता है उजला, रज होता है लाल और तम होता है काला।

तमोगुण का रूप

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने पर भी मिल कर एक ही कार्य या फल का सम्पादन करते हैं। इनकी क्रिया के लिए दीपक का उदाहरण ठीक घटता है।

तीनों गुणों का सम्बन्ध

तेल, बत्ती तथा आग आपस में विरोधी होने पर भी एक साथ मिलकर सहयोग से दीपक के जलने में कारण होते हैं। बत्ती तथा तेल दोनों आग के विरोधी होते हैं अवश्य, परन्तु ये यहाँ आग से मिलकर रूप को प्रकाशित करते हैं। वात, पित्त तथा कफ आपस में एक दूसरे के विरोधी होते हैं, परन्तु ये तीनों मिलकर शरीर को धारण किये रहते हैं। यही दशा इन गुणों की भी है। परस्पर विरुद्ध होने पर भी सहयोग से पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। ये तीनों एक साथ रहते हैं और कभी ऐसा नहीं होता कि ये वियुक्त हो जायँ (मिथुन-वृत्ति), परन्तु एक दूसरे का अभिभव किया करते हैं, अर्थात् तीनों एक ही रूप में नहीं रहते। सत्त्व अपना कार्य रज तथा तम को दबाकर करता है; रज भी सत्त्व तथा तम को दबाता है, तमोगुण भी सत्त्व तथा रज को दबाकर अपना काम करता है (अभिभव)। जो प्रबल होता है वह अन्य दो गुणों को दबाकर अपनी क्रिया करता है। वे एक दूसरे का आश्रय भी लेते हैं। सत्त्व प्रवृत्ति तथा नियम का आश्रय लेकर रज एवं तम का प्रकाश के द्वारा उपकार करता है। इसी प्रकार रज प्रकाश तथा नियम को आश्रित कर प्रवृत्ति से लाभ पहुँचाता है और तम प्रकाश तथा प्रवृत्ति को आश्रित कर अपने नियमन या रोकने का काम करता है (आश्रय-वृत्ति)।

इन तीनों गुणों का स्वभाव ही होता है कि वे सदा परिवर्तन, परिणाम या विकार उत्पन्न करते रहते हैं। वे सतत परिणामशाली होते हैं। वे एक क्षण के लिए भी परिणाम से हीन अविकृत नहीं रह सकते। विकार उनमें सदा होता ही रहता है। यह विकार दो प्रकार का होता है—प्रलयकाल का तथा सृष्टि-काल का। प्रलयकाल में एक गुण अन्य गुणों से अपने को अलग कर अपने ही रूप में परिणत होता है, अर्थात् सत्त्व सत्त्वरूप में, रज रज-रूप में तथा तम तमोरूप में परिणत होता है। उस समय ये तीनों अपने सम रूप में रहते हैं। उस समय इनसे कोई कार्य नहीं होता। कार्य होने के लिए इनका परस्पर मिलन तथा विषमता होना आवश्यक होता है। जब तक एक गुण प्रबल नहीं होता और दूसरे गुणों को नहीं दबाता, तब तक सृष्टि का कार्य हो नहीं सकता। इसलिए प्रलय दशा में जो परिणाम गुणों में होता है वह **'सरूप-परिणाम'** (समान रूपसे परिणत होना) होता है और उस समय तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है, यही **'प्रकृति'** कहलाती है। दूसरा परिणाम तब होता है

जब एक गुण प्रबल होकर अन्य दो गुणों को अपने वश में कर लेता है; तभी सृष्टि आरम्भ होती है और कार्य उत्पन्न होने लगते हैं। इसका नाम है—**विरूपपरिणाम।** इस प्रकार दोनों दशाओं में गुणों से गुणान्तर हुआ करता है[०]।

पुरुष या आत्मा

सांख्य दो मूलतत्त्व को मानता है—एक है प्रकृति और दूसरा है पुरुष या आत्मा। पुरुष की सत्ता स्वयंसिद्ध है। 'मैं हूँ', 'यह मेरी लेखनी है'—प्रतिदिन के इस अनुभव में 'मैं' और 'मेरी' आत्मा का ही परिचय देता है। कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता कि 'मैं नहीं हूँ', क्योंकि इस अस्वीकार या निषेध करने में भी तो चेतन आत्मा की आवश्यकता रहती है। फलतः आत्मा या पुरुष स्वयंसिद्ध है। वह स्वयं प्रकाश्य है और उसे प्रकाशित करने या बतलाने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती।

सांख्य के अनुसार पुरुष का रूप एक ओर तो प्रकृति से भिन्न पड़ता है और दूसरी ओर व्यक्त पदार्थों से भी। पुरुष शरीर, इन्द्रिय तथा मन से भिन्न एवं स्वतन्त्र होता है। आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है, जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में होता है। वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। वह चैतन्य का आधाररूप द्रव्य नहीं है, बल्कि स्वयं चैतन्य रूप ही है। चैतन्य उसका गुण नहीं, प्रत्युत स्वभाव है। सांख्य मत इस विषय में वेदान्त से भिन्न पड़ता है। वेदान्त आत्मा को आनन्दमय मानता है, परन्तु सांख्य ऐसा नहीं मानता, बल्कि केवल चैतन्यमय ही स्वीकार करता है। सुख या आनन्द तो प्रकृति का गुण होता है, परन्तु यह पुरुष प्रकृति से भिन्न तत्त्व है। इसलिए यह आनन्दमय नहीं हो सकता। आत्मा प्रकृति के घेरे से बाहर होता है और शुद्ध चैतन्यमय होता है, वह निष्क्रिय तथा उदासीन होता है। जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति होती है, पुरुष तो उसकी यह लीला देखता हुआ सर्वथा साक्षी ही बना रहता है। वह उदासीन है—सुख तथा दुःख के द्वारा कथमपि स्पृष्ट नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, तथा वह अपनी दशा से कदापि विचलित नहीं होता। इसलिए वह अधिकारी तथा कूटस्थ, नित्य तथा व्यापक होता है। शरीर, मन तथा इन्द्रियों को ही आत्मा मान लेना सरासर भूल है और अज्ञान के कारण जब वह भूल कर बैठता है तब उसे मालूम पड़ता है कि मैं ही सुख तथा दुःख को भोगता हूँ। वह वस्तुतः असंग है। प्रकृति की परिधि के बाहर होने से वह

न सुख भोगता है न दुःख। वह तो एक निरीह तथा अविकारी सत्ता है। उसमें किसी भाँति का परिणाम उत्पन्न नहीं होता। सच तो यह है कि इस आत्मा (चितिशक्ति) को छोड़ कर संसार में सब भाव प्रतिक्षण में परिमाणशाली हैं। वही केवल ऐसा है जो इस परिणाम के चक्कर के बाहर है। अतः आत्मा की कूटस्थता स्वतः सिद्ध है[1]।

पुरुष की सिद्धि

सांख्य-पुरुष की कल्पना युक्तियों के दृढ़ आधार पर खड़ी की गई है। (१) जगत् के समस्त पदार्थ संघातमय हैं। घर ईंटा, पत्थर, चूना आदि वस्तुओं का समुदाय है। वस्त्र अनेक तन्तुओं का समूह है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्य के उपयोग (परार्थ) के लिये हुआ करती हैं। अतः प्रकृति से उद्भूत यह संघातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्य के लिये स्थित है। वह है कौन ? इस जगत् से नितान्त विलक्षण 'पुरुष'। (२) त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण भी किसी एक असंघात पदार्थ की कल्पना न्याय-युक्त है। (३) जड़ पदार्थ में चेतन के रहे विना प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकता है, जब उसका नियन्ता चेतन सारथि होता है। इसी प्रकार सुख-दुःख मोहात्मक जगत् किसी चेतन पदार्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त है। (४) संसार के समस्त विषय भोग हैं। अतः इनका भोक्ता, भोग करने वाला भी कोई न कोई अवश्य ही होगा, जो गुणों में इनसे नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा। भोग्य विषयों का भोक्ता ही पुरुष है। (५) इस जगत् में कम से कम कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो दुःखों से व्यथित होकर मुक्ति पाने के लिए वास्तव में प्रयत्नशील हैं। भौतिक जगत् के किसी भी वस्तु के लिए इस प्रकार मुक्ति के लिए प्रयत्न करना सम्भव नहीं, क्योंकि स्वभावतः त्रिगुणमय होने के कारण वह दुःख का साधन होता है, दुःख की निवृत्ति का नहीं। मुक्ति के लिए प्रयत्न करना इसी बात की गवाही देता है कि कोई पदार्थ अवश्य ऐसा है जो क्लेशों से निवृत्ति पा सकता है। वही पदार्थ पुरुष है।

---

१. पुरुष के रूप तथा सिद्धि के लिये देखिए—कारिका तथा कौमुदीकारिका १७—२०; सांख्यप्रवचन-भाष्य तथा सांख्यवृत्ति १६६, १।१३८—१६४, ५।६१—६८।

वेदान्त का तो यही मत है कि इस जगत् में आत्मा एक ही होता है, परन्तु सांख्य इसे नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् आत्मा है। पुरुष की अनेकता सिद्ध करने वाली युक्तियाँ ये हैं—(क) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जन्म-मरण में, ज्ञान तथा क्रिया में बड़ा ही अन्तर होता है। यदि एक ही आत्मा होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सब पुरुषों का जन्म हो जाता, एक पुरुष के मरते सब पुरुष मर जाते, एक के अन्धा और बहरा होते ही जगत् के सब पुरुष अंधे और बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता। इसलिए मानना ही पड़ता है कि पुरुष अनेक हैं। (२) जीवों में एक ही समय में एक प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। कोई पुरुष रोता है, तो दूसरा हँसता है; कोई छात्र दिन को मैदान में खेलता है, दूसरा छात्र उसी समय कमरे में बैठकर अपना पाठ याद करता है। एककालीन क्रिया में इस प्रकार अन्तर यही सूचित करता है कि आत्मायें अनेक हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार एक ही समय में भिन्न-भिन्न क्रियायें करते रहते हैं। (३) जगत् में आत्मा में बड़ी भिन्नता दीखती है। मनुष्य पशुओं से तो बढ़ कर है, परन्तु देवों से घट कर। मनुष्यों में एक ही स्वभाव लक्षित नहीं होता। किसी मनुष्य को हम मननशील पाते हैं; तो कोई सदा अपने आपको किसी न किसी क्रिया में लगाये रहता है। कोई छात्र ज्ञान पाने के लिए उत्सुक रहता है, कोई सदा इधर-उधर दौड़-धूप में भागा फिरता है, कोई आलस का रूप बन कर अपने कमरे के बाहर भी कदम नहीं रखता। यह भेद क्यों? स्वभाव में इतनी भिन्नता क्यों? यदि एक ही आत्मा होता तो संसार में एक ही प्रकार के प्राण होते, परन्तु ऐसा है नहीं। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत से हैं, एक नहीं। ये पुरुष ज्ञाता-रूप होते हैं। प्रकृति तथा पुरुष में सदा भेद रहता है। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन। प्रकृति सक्रिय है और विश्व की सृष्टि आदि क्रिया करती है, पुरुष निष्क्रिय और उदासीन रहता है और वह साक्षी मात्र होता है। प्रकृति भोग्य है, पुरुष भोक्ता है। प्रकृति प्रमेय है, पुरुष प्रमाता है।[८] (कारिका तथा कौमुदी कारिका १८)

पुरुष की अनेकता

विश्व का विकास

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि उत्पन्न होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार केवल उससे

सृष्टिक्रम

उत्पन्न नहीं हो सकता, न स्वभावतः निष्क्रिय पुरुष से ही। इसलिए प्रकृति-पुरुष दोनों का संयोग इस सृष्टि-कार्य में जरूरी है। चेतन की अध्यक्षता में ही जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु सांख्य में सब से विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति पुरुष का संयोग कैसे है ? इस विषय में सांख्य अन्धे और लंगड़े की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करता है। अन्धे में चलने की शक्ति है, परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लंगड़ा मार्गदर्शक होते हुए भी चलने में असमर्थ है। परन्तु पारस्परिक संयोग से जिस प्रकार ये दोनों अपनी स्वार्थसिद्धि में सफल होते हैं, उसी भाँति जडात्मिका परन्तु सक्रिय प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्यसाधक है। प्रकृति भोग्या है; अतः भोक्ता के अभाव में प्रकृति का स्वरूप-सिद्धि नहीं हो सकती; भोक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक—ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता है (कैवल्यार्थ)[१]।

गुणक्षोभ

प्रलय दशा में प्रकृति साम्यावस्था में रहती है। उसके तीनों गुण समभाव से रहते हैं, पुरुष के साथ संयोग होते ही इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, एक हलचल सी मच जाती है और प्रत्येक गुण अपने से भिन्न गुणों को दबाने तथा अपने वश में करने के लिए उतावला हो जाता है। वह चाहता है कि हम ही प्रबल हो जायँ और अन्य गुणों पर अपना सिक्का जमा दें। ऐसा होने पर गुणों का पृथक्करण होता है और ये भिन्न-भिन्न अनुपातों में आपस में मिल खड़े होते हैं और तभी सृष्टि का कार्य आरम्भ होता है।

महत्-तत्त्व

इस प्रकार सृष्ट होने वाला प्रथम पदार्थ है 'महत्-तत्त्व', जो जगत् की उत्पत्ति में बीजरूप से रहता है। वह संसार के विकास में विशेष महत्त्वशाली कारण होने से 'महत्' विशेषण से युक्त होता है। आभ्यन्तरिक दृष्टि में इसे ही **'बुद्धि'** कहते हैं, जो प्रत्येक जीव में रहती है। बुद्धि का विशेष कार्य है—निश्चय तथा अध्यवसाय। बुद्धि अपने को और विषयों को भी प्रकाशित करती है। यही उसका अपना धर्म होता है। सत्त्व गुण की अधिकता से बुद्धि में धर्म, ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य इन चार गुणों का उदय होता है, परन्तु तमोगुण की वृद्धि होने पर उसमें इसके

विपरीत गुण अधर्म, अज्ञान, आसक्ति (अवैराग्य) तथा अशक्ति (अनैश्वर्य) उत्पन्न हो जाते हैं। बुद्धि प्रकृति का कार्य होने से स्वयं जड़ है, परन्तु वह पुरुष के अधिक सन्निकट में आने वाली वस्तु है। इसलिए पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है, जिससे वह चेतन के समान प्रतीत होने लगती है। जगत् का नियम है कि प्रत्येक पुरुष अपने अधिकार को विचार कर 'यह कार्य मेरा कर्तव्य है, इसे मुझे करना है' यह निश्चय करता है। यह निश्चय (या अध्यवसाय) बुद्धि के ही द्वारा होता है। इन्द्रियों तथा मन का व्यापार बुद्धि के लिए होता है और बुद्धि का व्यापार पुरुष के लिए होता है। सुख तथा दुःख का अनुभव प्रथमतः बुद्धि में ही होता है और पीछे वह बुद्धि उसे पुरुष को अर्पित करती है और तभी पुरुष भोक्ता बनकर इन भोगों को भोगता है। इसके अतिरिक्त बुद्धि प्रकृति तथा पुरुष के अन्तर को भी बतलाती है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न, पृथक् तथा स्वतन्त्र समझ लेता है, इस प्रकार बुद्धि की सहायता से अपने यथार्थ रूप का विवेचन करता है।

अहंकार

महत्तत्त्व के बाद दूसरा परिणाम है—**अहंकार**। 'मैं' और 'मेरा' ऐसा अभिमान करना ही अहंकार का रूप है। इसी अहंकार के सामने पुरुष नाना प्रकार के भ्रमों में पड़ता है और अपने विषय में भ्रान्त धारणा बनाता है कि मैं ही भोक्ता, मैं ही कर्ता और मैं ही स्वामी हूँ। इन्द्रिय तथा मन का यह काम है कि वे अपने द्वारा अनुभूत तथा चिन्तित विषय 'अहंकार' के सामने प्रस्तुत करते हैं। तब अहंकार उन प्रस्तुत किये गये विषयों के विषय में सोचता है—'इनके करने में मेरा अधिकार है', 'वे सब विषय मेरे ही लिए हैं', 'इनका अधिकारी मेरे अतिरिक्त जगत् में कोई भी नहीं है', 'इन कार्यों के सम्पादन करने में मैं समर्थ हूँ' 'इस लिए मैं हूँ'। यह जो नाना प्रकार से अभिमान होता है यही तो अहंकार है। जब तक यह भावना नहीं जगती, तब तक काम में प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है? किसी भी कार्य के करने से पहिले कर्ता के मन में यह संकल्प उठता है कि मैं इस कार्य को करूँ, और तब वह उस काम के करने में लग जाता है। यह 'अहं' की भावना जगत् के समग्र व्यवहारों के मूल में रहती है।

अहंकार के गुणों की विषमता के कारण तीन रूप होते हैं—(क) सात्त्विक (**वैकृत**) जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है। (ख) **तैजस** रजोगुण की

प्रबलता रहती है। (ग) तामस या **भूतादि** जिसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। तैजस अहंकार अन्य अहंकारों का प्रवर्तक होता है और उसी की सहायता से अन्य दोनों परिणाम के लिये अग्रसर होते हैं। सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं ११ इंद्रियाँ (५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + १ मन) तथा तामस अहंकार से तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। वह उत्पत्ति का क्रम कारिका तथा वाचस्पति मिश्र के अनुसार है,[1] परन्तु विज्ञानभिक्षु का मत इससे भिन्न है।[2] मन ही सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ होने से सत्त्व की अधिकता रखता है। अत एव विज्ञानभिक्षु के मत में सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है मन, राजस से दश इन्द्रियाँ तथा तामस से पञ्च तन्मात्र। वेदान्त का सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के मत से मेल खाता है।

इन्द्रियाँ—ज्ञान की साधक इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) नेत्रेन्द्रिय (आँख), (२) श्रवणेन्द्रिय (कान), (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक), (४) रसनेन्द्रिय (जीभ) तथा (५) त्वगिन्द्रिय (चमड़ा)। ये इन्द्रियाँ क्रम से इन पाँच विषयों को ग्रहण करती हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा स्पर्श। कर्मेन्द्रियाँ इन अंगों में स्थित रहती हैं—मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेन्द्रिय; जो क्रम से इन पाँच कार्यों को करती हैं—वाक् (बोलना), ग्रहण (किसी वस्तु को पकड़ना), चलना, मल बाहर निकालना तथा सन्तान उत्पन्न करना। इन्द्रियाँ भीतरी शक्तियाँ हैं। इनका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल अनुमान के द्वारा ही इनका ज्ञान होता है। जिन अंगों में इनका निवास रहता है उनके द्वारा इनकी अभिव्यक्ति केवल होती है। अंग ही इन्द्रियाँ नहीं हैं, बल्कि उन अंगों में स्थिर होकर ये इन्द्रियाँ अपना अलग अलग काम निष्पन्न करती हैं।

मन

सांख्य के अनुसार मन ग्यारहवाँ इन्द्रिय है। वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी, अर्थात् उभयात्मक है, क्योंकि वह दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। मन के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही नेत्रेन्द्रिय अपने रूप को देखती है, तथा पाद इन्द्रिय चलनरूपी व्यापार को करती है। मन का रूप संकल्पात्मक है, अर्थात् इन्द्रियाँ केवल निर्विकल्पक ज्ञान को प्रकट

---

१. सांख्यकारिका, कारिका २५ तथा कौमुदी।

२. सांख्यप्रवचन-भाष्य २।१८।

करती हैं कि 'यह कुछ है'। इस ज्ञान को मन सविकल्पक बनाता है। मन ही बतलाता है कि सामने हिलने-डुलने वाली सफेद रंग की चीज गाय है, घोड़ा नहीं। 'संकल्प' का अर्थ है सम्यक् (ठीक-ठीक) कल्पना करना और यही मन का स्वरूप है। पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये दस इन्द्रियाँ बाह्य (बाहरी ज्ञान का साधन) कहलाती हैं। मन, अहंकार तथा बुद्धि ये तीन अन्तःकरण (भीतरी ज्ञान का साधन) कहलाते हैं। इन दोनों को मिलाकर 'त्रयोदश करण' होते हैं, इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती हैं। मन उस ज्ञान को संकल्पात्मक बनाता है, अर्थात् मन बतलाता है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। अहंकार उसके ऊपर अपना व्यापार करता है। वह बतलाता है कि वह वस्तु उसके ही लिए होती है और इसीलिए वह उसके करने में प्रवृत्त होता है। बुद्धि का काम निश्चय करना होता है। इस प्रकार निश्चित की गई वस्तु पुरुष के सामने प्रस्तुत की जाती है। तब उसे उस वस्तु का ज्ञान होता है। इन करणों में बाह्य करण का सम्बन्ध वर्तमान काल से होता है, परन्तु अन्तःकरण का सम्बन्ध भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों से होता है[1]।

तन्मात्र—तामस अहंकार से पाँच तन्मात्रों का उदय होता है। 'तन्मात्र' का अर्थ है—सूक्ष्म तत्त्व। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के 'तन्मात्र' का उदय अहंकार के ही तामस रूप से होता है। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। इस लिए उनका अनुमान ही होता है, सामान्य प्रत्यक्ष नहीं। योगियों के द्वारा उनका प्रत्यक्ष हो सकता है, उसका निराकरण नहीं किया जाता। तन्मात्रों के योग से पाँचों स्थूल महाभूतों का विकास होता है। (१) शब्द तन्मात्र से शब्द गुण वाले आकाश का विकास होता है। (२) शब्द-तन्मात्र के साथ स्पर्श तन्मात्र के योग से वायु उत्पन्न होता है (जिसका गुण है शब्द तथा स्पर्श)। (३) रूप-तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-तन्मात्रों के सहयोग से तेज का उदय होता है (जिसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण विद्यमान रहते हैं)। (४) रस-तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप-तन्मात्रों के सहयोग से जल उत्पन्न होता है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुण विद्यमान रहते हैं)। (५) गन्ध तन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रों के सहयोग से मिल कर पृथिवी का जन्म होता है (जिसके शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुण होते हैं)। इन पाँच महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच क्रमशः विशिष्ट विषय होते हैं, पर साथ ही साथ पूर्व भूतों के गुण भी इनमें समाविष्ट रहते हैं[2]।

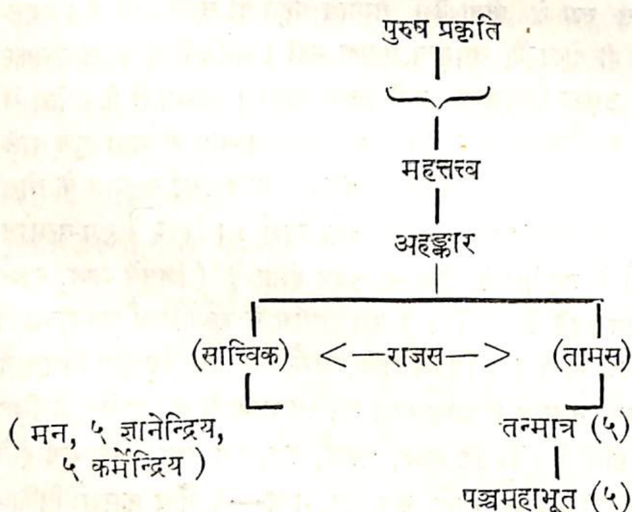
---

१. सांख्यकारिका तथा कौमुदी, कारिका ३२-३३।

२. देखिये कारिका तथा कौमुदी, का० २२।

सांख्यमत में ऊपर निर्दिष्ट विकास के दो क्रम होते हैं—(१) **प्रत्ययसर्ग** (बुद्धिसर्ग या भावसर्ग), (२) **तन्मात्रसर्ग** (भौतिक सर्ग या लिङ्गसर्ग)। प्रत्ययसर्ग से तात्पर्य है बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रियों के विकास से तथा तन्मात्र-सर्ग से अभिप्राय है उस विकासक्रम से जो तन्मात्र से आरम्भ होकर आगे बढ़ता है। स्पष्टतः पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूत तथा कार्य द्रव्यों का आविर्भाव दूसरे सर्ग में होता है। इस प्रकार प्रथम सर्ग केवल मानस वृत्तियों के उदय से सम्बद्ध होने के कारण भावसर्ग या बुद्धिसर्ग कहलाता है। 'तन्मात्र' से ही भौतिक सृष्टि का आरम्भ होता है। पहिले उत्पन्न होता है अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक तत्त्व, जो केवल विशुद्धरूप में स्थित होने के कारण 'तन्मात्र' (उतना ही केवल, शुद्ध) कहलाता है और फिर उसके अनन्तर स्थूल महाभूतों का तथा उससे स्थूलतम द्रव्यों का आविर्भाव होने लगता है। इन दोनों में तन्मात्र **'अविशेष'** कहलाता है, क्योंकि वह सूक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष होने के कारण विशेष प्रत्यक्षधर्मों से हीन होता है। भौतिक पदार्थ शान्त (सुखद), घोर (दुःखद) तथा मूढ़ (मोह उत्पादक) होने के कारण **'विशेष'** कहलाते हैं[१०]।

सांख्यों का विकासक्रम—



(४) सांख्य ज्ञानमीमांसा

संसार के पदार्थों का ज्ञान हमें अपनी इन्द्रियों के सहारे होता है। तभी हम किसी पदार्थ के रूप, रंग तथा उसके आचरण को जानते हैं। प्रश्न यह

प्रमा

है कि यह ज्ञान रहता है किसमें ? अनुभव का कर्ता कौन होता है ? नेत्र के द्वारा घट का प्रत्यक्ष ज्ञान कौन करता है ? पुरुष या बुद्धि ? हम कह सकते हैं कि पुरुष अनुभव करता है, परन्तु यह वस्तुतः ठीक नहीं; पुरुष प्रकृति से उत्पन्न समस्त भौतिक पदार्थों से बाहर रहता है। तब उसमें उन पदार्थों का अनुभव क्योंकर हो सकता है ? यदि बुद्धि में ज्ञान माना जाय, तो भी उचित नहीं प्रतीत होता; बुद्धि प्रकृति का ही परिणाम होती है और इस प्रकार जड़ होने के कारण उसमें ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। इसलिए न तो अकेले पुरुष में ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न बुद्धि में, बल्कि दोनों के सम्मेलन से ही अनुभव व्यापार समझाया जा सकता है। जब आत्मा का चैतन्य बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। चैतन्य केवल पुरुष का ही धर्म है, बुद्धि तो सांख्य के अनुसार जड़ पदार्थ होती है। आत्मा को स्वतः विषयों का साक्षात्कार नहीं होता। आत्मा सर्वव्यापक है वह किसी स्थान-विशेष में सीमित नहीं हो सकता। ऐसी दशा में आत्मा को सब वस्तुओं का ज्ञान सदा होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि आत्मा को बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के सहारे ही पदार्थों का ज्ञान होता है। बुद्धि का यह स्वभाव होता है कि मन तथा इन्द्रियाँ जिन विषयों को उसके सामने प्रस्तुत करती हैं, बुद्धि उसी आकार में परिणत हो जाती है, उसी आकार को बुद्धि धारण कर लेती है। और जब बुद्धि के ऊपर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमें उन विषयों का ज्ञान होता है। इस प्रकार किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान को '**प्रमा**' कहते हैं।

जब ज्ञानेन्द्रिय बाह्य जगत् के पदार्थों को बुद्धि के सामने लाकर उपस्थित करती है, तब बुद्धि उन पदार्थों का आकार धारण कर लेती है। सांख्य का सिद्धान्त है कि बुद्धि में न तो बाहरी विषयों का आरोप होता है न वे उसमें पाये जाते हैं, प्रत्युत बुद्धि ही पदार्थों के संसर्ग में आने पर उनका आकार धारण कर लेती है (तदाकाराकारित)। इस आकार के ग्रहण करने से बुद्धि में जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसी को '**वृत्ति**' कहते हैं। इतने पर भी ज्ञान का अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। पुरुष के चैतन्य का प्रकाश पड़ते ही बुद्धि-स्थित पदार्थ उद्भासित हो उठते हैं और तब हमें उनका ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ पुरुष जब संयुक्त हो जाता है, तब उसमें यह अनुभव होने लगता है कि 'मैं चेतन करता हूँ' या 'मैं चेतन देखता हूँ'। यह अनुभव[११] बुद्धि तथा पुरुष के संभोग का परिणाम है।

बिना दोनों के संयोग के यह कार्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि निष्क्रिय पुरुष कार्य का संपादन नहीं कर सकता और न कार्य करने वाली बुद्धि में विचार की शक्ति होती है।

यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति तीन वस्तुओं के ऊपर निर्भर रहती है—(१) **प्रमाता**—जानने वाला, (२) **प्रमेय**—जानी गई वस्तु तथा (३) **प्रमाण**—वह साधक जिसके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रमाता प्रमेय तथा प्रमाण

प्रमाता होता है शुद्ध चेतन पुरुष। बुद्धि में जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह **'प्रमाण'** तथा उसके द्वारा जिस वस्तु का ज्ञान पुरुष को होता है वह होता है—**'प्रमेय'**। हम दिखला चुके हैं कि विषय के आकार को धारण करने वाली बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ना ही 'प्रमा' या 'ज्ञान' कहलाता है। अन्यथा जड़ बुद्धि में विषय को जानने की योग्यता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ?

प्रथमतः पदार्थों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों में उन पदार्थों के विषय में परिचयमात्र (आलोचन) उत्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति को समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण करती हैं। मन उन पदार्थों के विषय में सम्यक् कल्पना करता है कि वे ये हैं, ये नहीं हैं। मन के द्वारा समर्पित पदार्थ पर अहंकार की वृत्ति आरम्भ होती है कि 'ये पदार्थ मेरे लिए हैं, अन्य किसी के लिए नहीं।' इसके अनन्तर निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति होती है। बुद्धि का काम इन पदार्थों के विषय में निश्चय करने का होता है। इसी बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य के आरोप होने पर ही उस दशा का उदय होता है जिसे हम 'ज्ञान की दशा' कहते हैं।[1] विषय के प्रति ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) का व्यापार कभी एक साथ (युगपत्) होता है, और कभी क्रमशः होता है। अंधेरी रात में बिजली की चमक से अपने सामने अकस्मात् व्याघ्र को देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है, उसके कार्य में सब कारणों का व्यापार नितान्त शीघ्रता से युगपत्—एक साथ ही—होता है। चक्षु से व्याघ्र का परिचय, मन के द्वारा संकल्प, अहंकार के द्वारा पृथक्करण तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक वस्तु से अपनी शरीर रक्षा के निमित्त भाग जाने की सलाह—ये समग्र व्यापार एक साथ ही होते हैं, परन्तु अन्यत्र घनघोर रात्रि में पेड़ों के झुरमुट में खड़े होने वाले व्यक्ति को

---

१. द्रष्टव्य सांख्यप्रवचनभाष्य १६७।

देखकर चोर समझ कर भाग जाने के निश्चय करने में पूर्वोक्त कारणों का व्यापार क्रमशः—एक के बाद एक—होता है।

प्रमाण

सांख्य के अनुसार प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान तथा (३) शब्द। अन्य प्रमाणों को हम इन्हीं के भीतर गतार्थ कर सकते हैं।

इन्द्रिय के साथ किसी विषय के संयोग होने पर जो उसका साक्षात् ज्ञान होता है उसे **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं। सांख्य के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार होती है। समझ लीजिए कि हमारे सामने एक वृक्ष खड़ा है। हमने ज्योंही उसे देखने का उद्योग किया, त्योंही हमारी नेत्रेन्द्रिय का संयोग उस वृक्ष के साथ हो जाता है। नेत्र इन्द्रिय इस विषय को मन के सामने प्रस्तुत करती है, तब मन अपना व्यापार उसके ऊपर करता है। संकल्प करना ही मन का व्यापार होता है। मन प्रस्तुत किये गये पदार्थ को ठीक रूप से कल्पना करता है कि यह वृक्ष ही है और कोई दूसरी चीज नहीं। तदनन्तर मन उस संकल्पित पदार्थ को बुद्धि के सामने प्रस्तुत करता है जिससे बुद्धि स्वयं वृक्ष का रूप धारण कर लेती है। अब इसके ऊपर पुरुष के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है जिससे बुद्धि की वृत्ति (वृक्षाकारवृत्ति) तुरन्त उद्भासित हो उठती है। तभी उस वृक्षका ज्ञान होता है कि यह सामने दीखने वाला पदार्थ वृक्ष है। कहा गया है कि बुद्धि प्रकृति का परिणाम होने से स्वयं जडात्मिका होती है और इसलिए उसमें ज्ञान का उदय नहीं होता, परन्तु उसके ऊपर पड़ता है पुरुष का प्रतिबिम्ब। पुरुष चेतनरूप होता है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब पड़ने से ही जड़ बुद्धि चेतन के समान प्रतीत होने लगती है और तभी वह विषय का ग्रहण करती है। पुरुष है दीपक-स्थानीय और बुद्धि होती है दर्पण-स्थानीय। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में दीपक का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे अन्यान्य वस्तुएँ आलोकित हो उठती हैं, उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तब बुद्धि की वृत्ति प्रकाशित हो जाती है, जिससे विषयों का ज्ञान हमें होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए सांख्य इसी प्रक्रिया को मानता है।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—आलोचन तथा सविकल्पक। जिस समय इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होता है, उस समय विषय का जो आलोचन होता है वही निर्विकल्पक कहलाता है। इस दशा में वह वस्तु केवल इन्द्रियों के

द्वारा ही गोचर होती है, वह मन द्वारा प्रस्तुत की गई नहीं होती। यह उस समय की दशा है जब मन की संकल्पात्मक क्रिया प्रस्तुत किये गये विषय पर नहीं होती। उस समय हमें वस्तु की केवल प्रतीति होती है कि यह कुछ है, परन्तु उसके प्रकार का ज्ञान नहीं होता कि वह गाय है या घोड़ा; नीला है या काला; चलता है या स्थिर है। वह ज्ञान शब्द के द्वारा भी इसीलिए प्रकट नहीं किया जा सकता, ठीक गूँगे के अनुभव की तरह। जिस प्रकार गूँगा अपने अनुभव को शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं करता, उसी प्रकार 'निर्विकल्पक' ज्ञान भी शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष मन की क्रिया होने के बाद की स्थिति में रहता है। इन्द्रियों के द्वारा लाये गये पदार्थ का मन विश्लेषण करता है कि 'यह पदार्थ अमुक है', 'इसमें यह विशेष गुण है' तथा 'इसमें यह विशिष्ट क्रिया रहती है'। इसका नाम होता है 'सविकल्पक प्रत्यक्ष'। यह प्रत्यक्ष उद्देश्य-विधेय युक्त वाक्य के द्वारा प्रकट किया जा सकता है कि 'यह वृक्ष है', 'यह पके हुए पीले फलों से लदा हुआ है' आदि।

सांख्य न्याय के निर्णीत अनुमान को सामान्यतः मानता है। न्यायदर्शन में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है। यह भेद सांख्य को भी स्वीकृत है।

अनुमान

अनुमान को सांख्य दो प्रकारों में विभक्त करता है—(१) **वीत** तथा (२) **अवीत**। जो अनुमान व्यापक विधि-वाक्य पर अवलम्बित होता है वह कहलाता है—**वीत**। वीत दो प्रकार का होता है—**'पूर्ववत्'** तथा **'सामान्यतो दृष्ट'**। पूर्ववत् अनुमान वह होता है जो दो पदार्थों के बीच निश्चित किये गये व्याप्ति-सम्बन्ध पर आश्रित रहता है, जैसे धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान। यहाँ धूम तथा वह्नि के निश्चित सम्बन्ध का ज्ञान हमें पाकशाला आदि स्थानों के माध्यम से पहिले से ही है। इसीलिए इनका नाम है—पूर्ववत्, अर्थात् पहिले अनुभूत सम्बन्ध पर आश्रित अनुमान। **सामान्यतो दृष्ट** अनुमान वहाँ होता है जहाँ हेतु तथा साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का दर्शन हमें नहीं होता, बल्कि हेतु की समानता उन पदार्थों से है जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है, जैसे इन्द्रियों के अस्तित्व का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष के द्वारा कभी नहीं हो सकता। नेत्रेन्द्रिय का ज्ञान हमें कैसे हो? आँख तो स्वयं अपने को देख नहीं सकती। फलतः उसकी सत्ता का ज्ञान हमें अनुमान के द्वारा ही होता है। किसी भी क्रिया के लिए करण की या साधन की आवश्यकता रहती है। साधन के बिना क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती।

वृक्ष के काटने का काम कुल्हाड़ी से होता है और लिखने का काम लेखनी से। यहाँ कुल्हाड़ी तथा लेखनी साधन हैं जिनकी सहायता से काटने तथा लिखने की क्रिया क्रमशः सम्पन्न होती है। इसी प्रकार देखना भी एक क्रिया है और उसके साधन होने से नेत्र इन्द्रिय की सत्ता का ज्ञान हमें होता है। यह अनुमान से भिन्न ही है। पहिले में धूम तथा अग्नि का निश्चित सम्बन्ध हमें ज्ञात है, परन्तु यहाँ इन्द्रिय तथा क्रिया का निश्चित सम्बन्ध कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होता। गोचर होता है लेखनी तथा लेखन क्रिया का नियत सम्बन्ध और इससे हमारा सिद्धान्त बनता है कि प्रत्येक क्रिया करण से युक्त होती है। इसी व्याप्ति पर इन्द्रिय के अस्तित्व का अनुमान टिका हुआ है। फलतः यहाँ सामान्य (करण) का ही दर्शन होता है। इसीलिए इसे 'सामान्यतो दृष्ट' कहते हैं।

अवीत अनुमान को ही न्यायदर्शन में **'शेषवत्'** कहा गया है। यह अनुमान वहाँ होता है जहाँ वस्तुओं के छाँटने पर एक वस्तु शेष रह जाती है, जैसे शब्द के गुण होने का अनुमान। कतिपय हेतुओं के द्वारा 'शब्द' अन्य छहों पदार्थों से हटाया जाता है और शेष होने के कारण वह गुण माना जाता है।[1]

शब्द

तीसरा प्रमाण है शब्द। आप्त वचन को शब्द कहते हैं। आप्त का अर्थ है सच्चा विश्वस्त पुरुष, उसके द्वारा कहे गये वचन प्रामाणिक होते हैं, तथा वे ही शब्द प्रमाण में आते हैं। शब्द किसी न किसी अर्थ को प्रकाशित करता है। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और वैदिक। पुरुषों के द्वारा व्यवहृत शब्द लौकिक कहलाते हैं। वे प्रमाण कोटि में नहीं आते, क्योंकि ये प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आश्रित होते हैं। वैदिक वाक्य ही प्रामाणिक होता है और उसे ही शब्द प्रमाण माना जाता है। वेद अपौरुषेय वाक्य है। बुद्धिपूर्वक समझ बूझकर किसी विशेष मनुष्य के द्वारा निर्मित वाक्य 'पौरुषेय कहलाते हैं, परन्तु वेद के विषय में ऐसी बात नहीं है। कुछ दर्शन ईश्वर को वेद का रचयिता मानते हैं, परन्तु सांख्य दर्शन के अनुसार ईश्वर तर्क से सिद्ध नहीं होता। जब ईश्वर का ही अस्तित्व संदिग्ध है, तब उसके द्वारा रचना ही क्योंकर हो सकती है? फलतः वेद ईश्वर की रचना न होने पर 'अपौरुषेय' है। वेद अपने अर्थ के प्रतिपादन में स्वतः प्रमाण है। लौकिक वाक्यों में जो दोष या भ्रान्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं वे श्रुति में नहीं रहतीं। वेद धर्म का साक्षात् अनुभव करने वाले ऋषियों के प्रातिभचक्षु से

---

१. तुलना कीजिए इसी ग्रन्थ के न्याय-प्रकरण से।

अनुभूत सत्य है और इसलिए सत्य तथा प्रामाणिक है। जो अलौकिक बातें प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होतीं, उनका ज्ञान हमें श्रुति ही कराती है। यही तो वेद का 'वेदत्व' है। वेद सब देश तथा सब काल में होने वाले सत्य हैं, तथा अपौरुषेय हैं। इसीलिए वेद के कथन के सामने प्रत्यक्ष तथा अनुमान को भी झुकना पड़ता है। वेद स्वतः प्रमाण हैं, तथापि ऐकान्तिक दृष्टि से नित्य नहीं हैं, क्योंकि वे ऋषियों के अनुभव से उत्पन्न होते हैं। इस विषय में न्याय-दर्शन का भी यही मत है।[१२]

(५) सांख्य कर्तव्यशास्त्र

हमारा जीवन ही सुख-दुःख से भरी हुई एक लम्बी परम्परा है। ऐसा कोई भी प्राणी न होगा जिसे दुःख न सताता हो और जिसे सुख क्षणिक आनन्द न देता हो। सुख से जो आनन्द हमें मिलता है वह स्थायी नहीं होता, केवल क्षणिक ही होता है। सुख भी दुःख से मिश्रित ही रहता है। ऐसी दशा में संसार में दुःखों की ही बहुलता है—क्लेशों की ही प्रचुरता है। किसी विशेष दशा में कोई जीव दुःखों से कुछ काल के लिए छुटकारा भले ही पा जाय, परन्तु बुढ़ापा तथा मृत्यु ऐसे अवश्यम्भावी क्लेश हैं जिनसे कभी हमें छुटकारा मिल ही नहीं सकता। दुःख तीन प्रकार के होते हैं—(१) **आध्यात्मिक** (२) **आधिभौतिक** और (३) **आधिदैविक**। 'आध्यात्मिक' का अर्थ है—आत्मा सम्बन्धी। 'आत्मा' का यहाँ अर्थ है—देह, शरीर। अत एव मन तथा शरीर से सम्बद्ध दुःख 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं। आधि (जैसे मानसिक चिन्ता, उद्वेग, क्रोध आदि) तथा व्याधि (जैसे शारीरिक रोग, चोट, आघात आदि) का सम्मिलित रूप आध्यात्मिक दुःख है। 'आधिभौतिक' दुःख बाहरी पदार्थों के कारण उत्पन्न होते हैं, जैसे साँप का काटना, बिच्छू का डंक मारना, लाठी की चोट आदि। 'आधिदैविक' दुख भूत प्रेत आदि के कारण उत्पन्न होने वाले क्लेशों का नाम है[१३]।

दुःख

इन दुःखों से बचने के लिए प्रत्येक प्राणी सचेष्ट होता है। मनुष्य के जितने उद्योग तथा जितने व्यापार होते हैं उन सबका यही उद्देश्य होता है कि वह आनन्द की प्राप्ति करे। जीवन का लक्ष्य ही आनन्द की उपलब्धि है और इसी सुख की खोज में हमारा जीवन व्यस्त रहता है, परन्तु जब तक यह नश्वर शरीर

---

१. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचन-भाष्य, सूत्र ५।४०—५१।

हमारे पास है और दुर्बल इन्द्रियाँ हैं, तब तक हमारा सुख अमिश्रित नहीं रह सकता। वह दुःख के साथ मिला ही रहता है। अत एव जीवन का लक्ष्य ऐकांतिक सुख नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह कथमपि साध्य नहीं हो सकता। जहाँ तक हो सके, दुःखों से हमें निवृत्त होना चाहिए। निवृत्ति सदा के लिए होनी चाहिए, अर्थात् जो दुःख उत्पन्न हैं उनका निराकरण तो होना ही चाहिए; भविष्य में दुःख उत्पन्न न हों, इसका भी ध्यान हमें रखना होगा। इसीलिए दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति मानव जीवन का लक्ष्य है।

दुःख का कारण है अज्ञान। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जानने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है और ज्यों-ज्यों हम उनके रूप को जानने लगते हैं त्यों-त्यों हमारे दुःख की निवृत्ति होती जाती है। इसलिए भारतीय दर्शन में तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष का अर्थात् दुःखनिवृत्ति का उदय माना जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार दो ही मूल तत्त्व हैं—पुरुष तथा प्रकृति। पुरुष शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है, जो देश, काल और कारण के बन्धनों से रहित होता है।

विवेक ज्ञान

वह निर्गुण और निष्क्रिय होता है। वह द्रष्टामात्र है। गुण तथा क्रिया का सम्बन्ध प्रकृति से है। जितने सुख-दुःख होते हैं वे सब मन के ही होते हैं, आत्मा के नहीं। इसलिए सुख-दुःख उसे व्याप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म आदि अहंकार के गुण हैं, जो सभी कार्यों के प्रवर्तक होते हैं। यही शुभ कर्म या अशुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करता है, परन्तु आत्मा अहंकार से परे होता है। आत्मा नित्य तथा एक रस होता है। परिवर्तनशील मनोविकार मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का केवल साक्षी मात्र है। आत्मा अमर है, उसकी न तो उत्पत्ति होती है, और न कभी विनाश होता है। यह तो उसकी वास्तव स्थिति है, परन्तु व्यावहारिक स्थिति इससे भिन्न होती है। सुख और दुःख वस्तुतः बुद्धि या मन के होते हैं। आत्मा इन सब से मुक्त होता है, परन्तु अज्ञान के कारण वह बुद्धि या मन से अपने को पृथक् नहीं समझता तथा उनके समस्त धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करता है। वह अपने को बुद्धि या मन से पृथक् नहीं समझता। सब दुखों का मूल कारण यही अज्ञान या अविवेक है। व्यवहार जंगत् में पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न नहीं मानता, परन्तु वह वस्तुतः प्रकृति से नितान्त भिन्न है। प्रकृति जड़ तत्त्व है, परन्तु पुरुष चेतन तत्त्व है। वह निःसंग है, परन्तु उसका स्वभाव होता है कि प्रकृति के समस्त धर्मों को वह अपना ही समझता है।

बुद्धि जो सुख या दुख भोगती है, उसे ही पुरुष अपने ऊपर ले लेता है और अपने को सुखी या दुःखी मानने लगता है। जिस प्रकार कोई स्वामी अपने सेवक के अपमान से अपने को अपमानित मानता है, तथा पिता अपने पुत्र के आदर पाने पर अपने को आदृत एवं सत्कारमण्डित मानता है, उसी प्रकार पुरुष प्रकृति के सुख से अपने को सुखी मानता है, तथा उसके दुःखों से अपने को दुःखी मानता है। इस आरोप का जब अन्त होता है, तभी पुरुष दुःखों से मुक्ति पाता है। इसी का शास्त्रीय नाम है—**विवेक-ख्याति,** अर्थात् विवेक ज्ञान; प्रकृति से पुरुष को अलग समझने का ज्ञान। सांख्य के अनुसार दुःख से बन्धन तथा दुःख से मोक्ष पाने का यही मार्ग है।

अपवर्ग

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृतिजन्य दुःख का पुरुष में जो प्रतिविम्ब पड़ता है, वही है पुरुष के लिए दुःख-भोग या संसार। अतः संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्यसूत्र (३।६५) के अनुसार अपवर्ग का स्वरूप है[१]—प्रकृति-पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना, अथवा पुरुष की ही प्रकृति से अलग स्थिति (कैवल्य)। बन्धमोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसलिए ईश्वरकृष्ण का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न संसार का। ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं। प्रकृति ही बन्धन, मोक्ष तथा संसार का अनुभव करती है। अतः पुरुष के जिस अपवर्ग की चर्चा की गई वह "प्रतिविम्बरूप मिथ्या दुःख का वियोगमात्र" है। पुरुष के मुक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यही है कि वह अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन से ऊपर है; प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होने वाला, अमरणधर्मा, अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है—यह जान लेना ही पुरुष का कैवल्य है। अतः व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्त्वज्ञान से विवेकसिद्धि होती है, जिसका फल निःशेष दुःख निवृत्ति है। इसी दशा में पुरुष की कृतकृत्यता है। उस दशा में प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति स्वतः तैयार हो जाती है। प्रत्येक पुरुष की अपवर्ग-सिद्धि के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यवहार है[१]। जब अपवर्ग की ही सिद्धि हो गई, तब प्रयोजन के अभाव में उसका विराम

---

१. **प्रतिपुरुषविमोक्षार्थः स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः—**

(सांख्यकारिका ५६)।

होना नितान्त स्वाभाविक है। पाचक की भोजन में तभी तक प्रवृत्ति रहती है, जब तक भोजन निष्पन्न नहीं हो जाता। भोजन के तैयार हो जाने पर उसका व्यापार स्वतः बन्द जाता है।[१]

प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रङ्गस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलाबाजी दिखाकर कृतकार्य होकर नर्तन व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति कोई दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित ही नहीं होती, अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता। उसका विराम आपसे आप सिद्ध हो जाता है। तत्त्वाभ्यास के परिणाम से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है, जो संशय तथा विपर्यय से हीन होने के कारण नितान्त विशुद्ध होता है। उस दशा में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि 'नास्मि' = मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है, मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ। 'नाहम्'–क्रिया के निषेध होने से मुझमें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है तथा 'न मे'–मैं असङ्ग हूँ, संगहीन होने से किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता, तथा कर्तृत्वहीनता का अनुभव प्रकृति की निवृत्ति होने पर पुरुष में स्वतः होने लगता है। ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म में कर सकता है।

जीवन्मुक्ति
विदेहमुक्ति

मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। जीवन्मुक्त व्यक्ति कर्मव्यापार से विरत नहीं होता, प्रत्युत उसी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु उस स्थिति में कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। वाचस्पति मिश्र का कथन बहुत ही सुन्दर है कि क्लेशरूपी सलिल से सिक्त बुद्धिभूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्वज्ञान रूपी गरमी के कारण क्लेशरूपी जल के सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्मबीज उत्पन्न हो सकते हैं[१]? अतः कुलाल के व्यापार की निवृत्ति के अनन्तर जिस प्रकार चक्र कुछ काल तक पूर्वाभ्यास के अनुसार अवश्य चलता रहता है, ठीक उसी भाँति प्रकृति की निवृत्ति होने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन

१. विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके—
(सांख्यसूत्र ३।६३)।

करता ही रहता है । शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है । इसी की शास्त्रीय संज्ञा 'विदेहमुक्ति' है ।[१] विज्ञान भिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं, क्योंकि जब तक पुरुष भोगायतन शरीर में निवास करता है, तब तक शरीरधर्म से उसका प्रभावित न होना असम्भव सा है। मुक्ति के प्रकार में मतभेद भले ही हो, पर मुक्तिस्वरूप के विषय में सांख्याचार्यों में ऐक्यमत्य है कि दुःखत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है। वेदान्त के समान उस समय आनन्द का अनुभव नहीं होता। सांख्य का सिद्धान्त है कि सुख, दुःख आपेक्षिक शब्द हैं। दुःख के अभाव होने पर सुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर के विषय में सांख्य के आचार्यों में भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं।[१६]

(६) समीक्षा

सांख्य की पदार्थमीमांसा वैशेषिकों की तत्त्वमीमांसा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है। वस्तुतः जगत् में चैतन्य, मन तथा भूत मानने से काम चल सकता है। सांख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुषरूप में स्वीकृत की है और मन तथा भूत का अन्तर्भाव प्रकृति के भीतर किया है, जिससे मानसिक दशाओं और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्य ने पुरुष और प्रकृति को ही मौलिक तत्त्व माना है। वैशेषिक द्रव्यों का समावेश इन्हीं दोनों में किया गया है। विभु अनन्त 'आत्मा' विभु बहु 'पुरुष' रूप में अंगीकृत किया गया है, परन्तु दोनों की कल्पना में अन्तर यह है कि आत्मा चैतन्य का आश्रय है और पुरुष चैतन्यरूप है। इतर आठ द्रव्य प्रकृति के अन्तर्गत माने गये हैं। मन का स्थान अन्तःकरण ने और परमाणु-चतुष्टय तथा आकाश का पञ्चतन्मात्र ने ग्रहण किया है। काल और दिक् को सांख्याचार्य स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते, प्रत्युत सत्यभूत बाह्यार्थ का व्यावहारिक सम्बन्ध मानते हैं। ये सम्बन्ध सम्बद्ध वस्तुओं से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार सांख्य ने वैशेषिक नव द्रव्यों की संख्या घटाकर दो मौलिक तत्त्वों में ही निविष्ट कर दिया है। सांख्ययोग बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सब प्रकार से मानता है। सूत्रकार ने बाह्यार्थ की सत्ता की यथार्थता प्रतिपादित की है। अनिरुद्ध ने इस सूत्र की वृत्ति में विज्ञानवाद का सप्रमाण खण्डन कर कपिल के मत को प्रमाणों से पुष्ट किया है। विज्ञानभिक्षु ने प्रत्यक्ष होने से बाह्यार्थ की सत्ता मानी है। योगसूत्रों (४।१४–१५) में भी पतञ्जलि ने बाह्यार्थ को

१—सांख्यकारिका ६८ तथा सांख्यसूत्र वृत्ति ३।७८-८४।

चित्तमय न मानकर वास्तव में सिद्ध किया है। इस प्रकार सांख्य-योग दोनों बाह्यार्थ को स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले वास्तववादी दर्शन हैं।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों[1] पर सांख्यसम्मत तत्त्वों का प्रत्याख्यान किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरकभाष्य (१।४।२८) में सांख्य को 'प्रधान मल्ल' बतलाया है, जिसको विना पछाड़े तत्त्वविचार के अखाड़े में वेदान्त की विजय हो नहीं सकती। सांख्य के सिद्धान्तों में सबसे आक्षेपयोग्य सिद्धान्त है—जड़ प्रकृति की कर्तृता तथा चेतन पुरुष की बहुलता। सांख्य जड़ प्रकृति को ही जगत् का कर्ता मानता है, परन्तु बादरायण की दृष्टि में प्रकृति की ही कल्पना श्रुतिसम्मत न होकर अनुमान की दुर्बल भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इसी विचार से सूत्रों में प्रकृति के लिए 'अनुमान' तथा 'आनुमानिक' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सांख्य प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य मानता है। वेदान्त इस सिद्धान्त को मानने के लिए उद्यत नहीं है। जो वस्तु सगुण होती है, वह अवश्य नाशवान् होती है। अतः सत्त्व, रज तथा तम गुणत्रयविशिष्ट प्रधान को पुरुष से स्वतन्त्र तथा नित्य स्वीकार करना नितान्त युक्तिहीन है। परन्तु वैमत्य का विषय प्रकृति में विना किसी चेतन की अध्यक्षता के स्वतः प्रवृत्ति का आविर्भाव है। गुणसाम्यरूप प्रकृति में विषमता-सूचक क्षोभ का सर्वप्रथम उदय क्यों कर होता है? लौकिक दृष्टान्त के सहारे इस प्रश्न का उत्तर समीचीन नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार यह ऋतुपरिवर्तन (वसन्त के बाद ग्रीष्म, तदनन्तर वर्षा आदि) स्वतः प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष की कैवल्यसिद्धि के लिए स्वतः प्रवृत्त होती है[2]। गाय के स्तन से बछड़े के लिए आप से आप बहने वाले दूध का भी दृष्टान्त इस स्वतः प्रवृत्ति का पोषक बतलाया गया है[3], परन्तु तर्कबुद्धि इन दृष्टान्तों की युक्तियुक्तता मानने के लिए उद्यत नहीं है। काल की क्रम-व्यवस्था चेतन सूर्य के कारण सुसम्पन्न है और बछड़े के पोषण के लिए दूध का निकलना चेतन धेनु की

१. विशेष द्रष्टव्य ईक्षत्यधिकरण (१।१।५–११), अनुमानिकाधिकरण (१।४।१–७) तथा रचनानुपपत्त्यधिकरण (२।२।१–१०)।

२. कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः—सां० सू० ३।६०।

३. अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य—सां० सू० ३।५९।
वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य तथा प्रवृत्तिरज्ञस्य—सां० का० ५७।

स्नेहेच्छा का परिणाम है। लोकोपकार के लिए अचेतन जल का स्वयं बहना भी संगत दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि जल के बहने में भी चेतन ईश्वर की शक्ति अदृश्य रूप से काम करती है। अतः चेतन की अध्यक्षता से रहित होने पर अचेतन प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति होना शास्त्र तथा तर्क दोनों से नितान्त प्रतिकूल है[1]।

पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त भी इसी प्रकार दोषयुक्त प्रतीत होता है। जनन, मरण, अवस्था, मानसिक दशा आदि कारणों से सांख्य पुरुषों को एक मानने के लिए तैयार नहीं है। शरीरिक तथा मानसिक दशाओं में प्रतिपुरुष में इतने विभेद हैं कि पुरुष-बहुत्व को प्रमाण कोटि में मानना ही पड़ता है। परन्तु इन स्थलों पर सांख्य देहधर्म की भिन्नता के कारण चैतन्यस्वरूप पुरुष की भिन्नता मानने के लिए तैयार है। अन्धत्व, काणत्व आदि तो देह के धर्म हैं। इनके कारण शुद्ध आत्मा में भिन्नता कैसे आ सकती है? चैतन्यरूप से सब पुरुष एक समान ही हैं। ऐसी दशा में पुरुष को चैतन्यरूप मानना तथा उसी क्षण में उसे विभिन्न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है? यह एक विचार का विषय है कि इस पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग कैसे होता है? इस प्रश्न का भी सांख्य-सम्मत उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है। इन समस्त विप्रतिपत्तियों के रहने पर भी सांख्य दर्शन की सूक्ष्म तर्कमूलक विवेचनपद्धति दार्शनिकों की विशेष प्रशंसा का भाजन है। सांख्य का तत्त्व-विश्लेषण बहुत ही दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। इसने तत्त्व-मीमांसा को उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से वेदान्त ने उसे ग्रहण किया, तथा सर्वतोभावेन पूर्ण कर दिया। इस सांख्य ज्ञान के आविर्भावक **महर्षि कपिल** की सूक्ष्म शास्त्रग्राहिणी विवेकबुद्धि की सब दर्शनों में इसीलिए प्रशंसा की जाती है और वे इसीलिए दर्शन-जगत् में 'आदि विद्वान्' के नाम से प्रख्यात हैं।[१७]



१. द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य २।२।१-१०।

दशम परिच्छेद

योग दर्शन

योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन और समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवाद को स्थान नहीं है। यह सर्वसम्मत अवि-संवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों को सर्वसन्तापहर भगवान् से मिलाने में योग भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है। प्राचीन ऋषियों के प्रातिभ ज्ञान की, अन्तर्दृष्टि की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। धर्मप्रचारकों और दार्शनिकों ने योग की प्रकृष्ट उपयोगिता मानी है, तथा उसका विवेचन अपनी दृष्टियों से किया है। अतः योग के अनेक प्रकार हैं। बुद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। 'अंगों' के अतिरिक्त उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में और हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' में स्वतन्त्र रूप से योग का विचार किया है। प्रस्थान भिन्न होने पर भी योग के ये विवेचन उपयोगी और उपादेय हैं। तन्त्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ के 'नाथ सम्प्रदाय' में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को 'योगी' सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। नाथपंथी सिद्ध 'हठयोग' के परमाचार्य थे। मन्त्रयोग, लययोग आदि योग प्रसिद्ध ही हैं, परन्तु इस परिच्छेद में योग का दार्शनिक विवेचन अभीष्ट होने से 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध पातञ्जल योग का ही वर्णन किया जायगा।

यह स्मरण रखना चाहिए की योग महर्षि पतञ्जलि से आरम्भ नहीं होता; यह बहुत ही प्राचीन अध्यात्म प्रक्रिया है। संहिताओं में[१], ब्राह्मणों में[२] तथा उपनिषदों[३] में इसका कहीं तो संकेत है और कहीं इसका सुन्दर विवेचन है। यह सांख्य के द्वारा स्वीकृत तत्त्वमीमांसा को अपनाता है, परन्तु ईश्वर की सत्ता मानकर उसे छब्बीसवें तत्त्व के रूप में मानता है। इसीलिये इसको 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं।

(१) योग के आचार्य

उपलब्ध योगसूत्रों के रचयिता का नाम महर्षि **पतञ्जलि** है। याज्ञवल्क्य स्मृति के कथनानुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं, पतञ्जलि ने योग का केवल अनुशासन किया, अर्थात् प्रतिपादित शास्त्र का उपदेशमात्र दिया। अतः वे योग

के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधकमात्र हैं। 'अनुशासन' का अर्थ है—उपदेश दिये गये सिद्धान्त का प्रतिपादन; पतञ्जलि ने यही किया है। भारतीय परम्परा के अनुसार योगसूत्र के रचयिता तथा व्याकरण महाभाष्य के निर्माता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति हैं[1]। स्फोटवाद का दोनों के द्वारा अंगीकार किया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तत्त्वमीमांसा के अनेक सिद्धान्तों में साम्य होने पर भी सांख्य और योग में एक महान् अन्तर है। सांख्य स्फोटवाद का खण्डन करता है, परन्तु योग मण्डन करता है। अन्य प्रमाणों के आधार पर दोनों पतञ्जलियों की अभिन्नता मान्य है[2]। अतः योगसूत्र की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खण्डन सूत्रों (४।१४,१५) में मिलने पर भी इस सिद्धान्त को धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है। 'विज्ञानवाद' का खण्डन नाम निर्देशपूर्वक नहीं है। अतः इसके खण्डन से योगसूत्र 'विज्ञानवाद' का पश्चाद्वर्ती नहीं माना जा सकता।

योगदर्शन में चार पद हैं, जिनकी सूत्र संख्या १९५ है। पहले (समाधि) पाद में वर्णन है समाधि के रूप तथा भेद, चित्त तथा उसकी वृत्ति आदि का; द्वितीय (साधन) पाद में क्रियायोग क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करने के साधन, हेयहेतु हान तथा हानोपाय, योग के अष्टांग आदि विषयों का, तृतीय (विभूति) पाद में धारणा, ध्यान और समाधि के अनन्तर योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली विभूतियों का और चतुर्थ (कैवल्य) पाद में समाधिसिद्धि, निर्माणचित्त, विज्ञानवाद-निराकरण, कैवल्य का निर्णय किया गया है। तृतीय पाद के अन्त में 'इति' शब्द के आने से तथा चतुर्थपाद में मतान्तर के खण्डन करने से अनेक विद्वानों का यह मत है कि पतञ्जलि ने प्रथम तीन पादों की ही रचना की थी। दार्शनिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए किसी पीछे के ग्रन्थकार ने (सम्भवतः भाष्यकार व्यास ने ही) चतुर्थ पाद की रचना की, पर अभी तक इस मत की युक्तियुक्तता सिद्ध नहीं हुई है।

पातञ्जल योगदर्शन के ऊपर **'व्यासभाष्य'** अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। योगसूत्रों के निगूढ़ रहस्यों के उद्घाटन करने में यह भाष्य नितान्त

१. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
(भोजवृत्ति)।

२. डा० दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० २२५–२३५।

कृतकार्य है। इसके रचयिता **'व्यास'** कौन थे? इसका यथार्थ रूप से प्रतिपादन नहीं हो सकता। इतना तो निश्चित है कि ये पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास से अवश्य भिन्न हैं, क्योंकि वेदव्यास का समय बहुत प्राचीन है, परन्तु व्यासभाष्य के रचयिता विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नहीं हैं[१]। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढ़ार्थ है। अतः उसके अर्थ को समझाने के लिए **वाचस्पति मिश्र** ने 'तत्त्ववैशारदी' और **विज्ञानभिक्षु** ने **'योगवार्त्तिक'** की रचना की। वाचस्पति की सर्वतोगामिनी विद्वत्ता के अनुरूप ही यह टीका नितान्त प्रमेयबहुला तथा गूढ़ार्थप्रकाशिनी है। तत्त्ववैशारदी की भी टीका राघवानन्द सरस्वती का 'पातंजल रहस्य' है। ये राघवानन्द विश्वेश्वरभगवत्पाद के शिष्य अद्वयभगवत्पाद के शिष्य थे। विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्त्तिक' भाष्य के विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपितु वह 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है। विज्ञानभिक्षु योग तथा सांख्य के सिद्धान्तों के मार्मिक व्याख्याता हैं। उनकी दृष्टि मौलिक है और इसीलिए उनके अनेक मत वाचस्पति मिश्र से भिन्न पड़ते हैं। भिक्षु ने 'योगसारसंग्रह' में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है। आजकल के प्रसिद्ध सांख्य-योगाचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्य ने भाष्य पर 'भास्वती' नामक टीका लिखी है।

योगसूत्रों की भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं जिनमें—(१) **भोजकृत** 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), (२) **भावागणेश** की 'वृत्ति', (३) **रामनन्द यति** की 'मणिप्रभा', (४) **अनन्त पण्डित** की 'योग चन्द्रिका', (५) **सदाशिवेन्द्र सरस्वती** का 'योगसुधाकर', (६) **नागोजी भट्ट** की 'लघ्वी' और 'बृहती' वृत्तियाँ नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में राजमर्तण्ड 'भोजवृत्ति' के नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। मणिप्रभा तथा योगसुधाकर योगनिष्ठ पुरुषों के द्वारा लिखी गई हैं। अतः सूत्र के अर्थ समझने में अत्यन्त उपादेय हैं। नागेश की बड़ी वृत्ति योगवार्त्तिक के आधार पर निर्मित हुई है। कहीं कहीं वार्त्तिक के अर्थ को इसने पल्लवित किया है और कहीं कहीं उसे संक्षिप्त कर प्रदर्शित किया है। इससे वार्त्तिक का अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है। पातंजल दर्शन के ऊपर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है।

सांख्य-योग के इतिहास में वाचस्पति का स्थान

सांख्य-योग के इतिहास में वाचस्पति मिश्र का नितान्त महनीय स्थान है। वाचस्पति मिश्र सचमुच बृहस्पति के अवतार थे। उन्होंने जिस विषय पर अपनी अलौकिक लेखनी चलाई, उसे अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा तथा आदरणीय वैदुषी से

आलोकित बना दिया। बुद्धि इतनी निर्मल थी, शास्त्र की गंभीरता में इतना अधिक प्रवेश था, विषय की प्रतिपादन शैली इतनी विशद थी कि उनके हाथ का लिखा हुआ कोई भी ग्रन्थ उस शास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला एक अद्भुत रत्न है। इस लेख में वाचस्पति के सांख्य तथा योग विषयक पाण्डित्य का एक सामान्य परिचय दिया जा रहा है। जिज्ञासुओं के लिये यह सामान्य संकेत भी कम महत्त्व का नहीं सिद्ध होगा।

वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका पर अपनी 'तत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या लिख कर शास्त्र को एकदम चमका दिया है। 'सांख्यकारिका' पर्याप्तरूपेण गम्भीरार्थ प्रतिपादक ग्रन्थ है और माठर तथा गौड़पाद ने अपनी व्याख्यायें लिखकर इस ग्रन्थ के गूढ़ अर्थ को प्रतिपादित करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। इन दोनों में से माठर की वृत्ति अपेक्षाकृत प्राचीन मानी जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैनियों के अनुयोगद्वारसूत्र (१७० ई०) में 'काविलं सट्ठितंतं' तथा 'कणगसत्तरी' (सांख्य-कारिका का प्राचीनतम अभिधान) के साथ ही साथ 'माठर' के नाम का भी निर्देश है। महाराज कनिष्क के समकालीन होने के कारण भी आचार्य माठर का काल विक्रम की प्रथम शती माना जाता है। मूल कारिकाओं का किसी वृत्ति विशेष के साथ चीनी भाषा में षष्ठ शतक में अनुवाद हुआ था। आज भी यह अनिर्णीत समस्या है कि यह कौन सी सांख्यवृत्ति थी? माठर की अथवा गौड़पाद की? जो कुछ भी हो, ऐसे महनीय व्याख्या-ग्रन्थों के रहने पर भी अपनी नवीन टीका का निर्माण तथा तद्द्वारा विषय को प्रस्फुटित करना साधारण वैदुषी का कार्य न था, परन्तु वाचस्पति ने वही अलोक-सामान्य कार्य किया। न्यायवार्त्तिक के ऊपर अपनी विशद व्याख्या 'न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' की रचना के अनन्तर ही वाचस्पति ने तत्त्वकौमुदी की रचना की, क्योंकि सांख्यकारिका की पञ्चम कारिका की टीका में अनुमान के विशद वर्णन के अनन्तर उन्होंने स्वयं लिखा है—

"सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्"—(पृ० २३, चौखम्बा संस्करण, काशी)

'तत्त्वकौमुदी की शैली बड़ी उदात्त, विशद तथा सुबोध है। वाचस्पति प्रथमतः कारिका के शब्दों का अक्षरार्थ बड़ी सुन्दरता तथा व्युत्पत्ति आदि के साथ करते हैं; जिस से मूल कारिका के समझने में तनिक भी त्रुटि न हो। अनन्तर वे कारिका के भावार्थ का पल्लवन करते हैं, तथा सुन्दर और उपयुक्त उदाहरण की सहायता से विषय का प्रतिपादन साङ्गोपाङ्ग रूप में करते हैं। उदाहरणों

के उपन्यास से गंभीर विषय का भी समझना सरल तथा सुबोध हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ गुणात्मक होता है, इसे समझाने के लिए मिश्र जी ने कामिनी का रोचक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है (कारिका १३)। प्रत्येक कारण अन्य कारणों के आनुकूल्य से ही अपने कार्य में प्रवृत्त होता है—इस तत्त्व को समझाने के लिये आयुधधारी पुरुषों का उदाहरण बड़ा ही सयुक्तिक है (कारिका ३१)। तात्पर्य यह है कि विषय को सुबोध तथा सरल बनाने के अभिप्राय से मिश्रजी ने अक्षरार्थ, भावार्थ तथा उदाहरण इन तीनों को एक साथ प्रस्तुत कर विषय को चमका दिया है।

इतना ही नहीं; यह ग्रन्थ तुलनात्मक शैली पर लिखा गया है। सांख्य मत का अभीष्ट भी प्रतिपादन सद्यः न देकर अन्य दर्शनों के तत्तत् मतों का उपन्यास तथा खण्डन के अनन्तर ही किया गया है, जिससे सांख्य के दृष्टिकोण का परिचय पाठक को भली-भाँति लग जाता है। सांख्यकारिका की आठवीं कारिका में सांख्याभिमत सत्कार्यवाद का सयुक्तिक उपन्यास है, परन्तु इसकी व्याख्या करते समय कारणतावाद से सम्बद्ध न्याय, बौद्ध तथा वेदान्त मतों के तत्तत् वादों और सिद्धान्तों का परिचय तथा खण्डन प्रस्तुत कर वाचस्पति मिश्र जिज्ञासुओं के सामने तुलनात्मक-व्याख्यापद्धति से विषय का विवेचन करते हैं। इसी प्रकार मन के संकल्पात्मक व्यापार के वर्णन के प्रसंग में ग्रन्थकार ने कुमारिल भट्ट के (श्लोकवार्त्तिक) के प्रत्यक्षसूत्र से भी कई कारिकायें उद्धृत कर विषय को समझाया है (कारिका २७)। यह तौलनिक पद्धति यथार्थ में वाचस्पति मिश्र की अपनी विशिष्ट शैली है। कारण यह है कि षड्दर्शन के इस प्रकाण्ड विद्वान् के अंगुलियों पर दार्शनिक तत्त्व नाचते रहते थे। फलतः सांख्य के मत को स्पष्ट करने के लिये अन्य मतों का उपन्यास उनके लिये बायें हाथ का खेल था।

'तत्त्वकौमुदी' तर्क तथा न्याय के तत्त्वों से परिपुष्ट की गयी है। मूल में अनुमान (कारिका ५) के प्रकरण में केवल सामान्य लक्षण तथा त्रैविध्य की चर्चा मात्र है, परन्तु इसकी व्याख्या में न्यायभाष्य के अभिमत सिद्धान्तों का विवरण ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार तथा वैशद्य के साथ किया है। 'तत्त्वकौमुदी' केवल व्याख्या-ग्रन्थ न होकर मूल के समान नवीन तथ्यों की प्रतिपादिका है। वाचस्पति मिश्र ने मूल कारिका में अनुल्लिखित नवीन तर्क तथा युक्तियों का भी यहाँ विवरण दिया है, जिससे सांख्य का यह सिद्धान्त पुंखानुपुंख रूप से पाठकों के सामने विराजने लगता है। एक उदाहरण से इसे समझिये—'कारण भावाच्च सत्कार्यम्' (कारिका ९) की पुष्टि में कार्य तथा कारण के अभेद

बोधक चार नवीन प्रमाणों का उपन्यास मिश्रजी ने किया है, जिसका संकेत तक भी मूल में नहीं पाया जाता (पृ० ४२, चौखम्बा काशी) । अन्य युक्तियों का भी वर्णन यहाँ किया गया है (पृ० ४५) ।

वाचस्पति मिश्र में पक्षपात का गन्ध भी नहीं है

प्रायः देखा जाता है कि ग्रन्थकार का कोई न कोई अपना अभीष्ट मत होता है, जिसका वह संकेत ही नहीं करता, प्रत्युत वह उसे सिद्ध करने का प्रयत्न भी अनेकशः किया करता है । ग्रन्थ के अनुशीलन से वाचस्पति के स्वाभीष्ट मत का पता लगाना एक टेढ़ी खीर है—नितान्त कठिन समस्या है । वे क्या थे, नैयायिक, सांख्यवादी या अद्वैती ? पता लगाना दुष्कर व्यापार है । 'तत्त्वकौमुदी' की समीक्षा बतलाती है कि वे इस व्याख्यान के अवसर पर पूर्णतः सांख्यवादी हैं ।

ईमानदार लेखक की यही तो विशेषता होती है कि वह व्याख्यात सिद्धान्तों से अपनी वैयक्तिकता को पृथक् नहीं रखता; वह अपने को उसमें घुला मिला देता है, विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य धारण कर लेता है । तभी उसके व्याख्यानों में प्रकृष्ट प्रभाव सिद्ध होता है । ऐसे व्याख्याकारों में वाचस्पति अग्रणी हैं । वे सांख्य की व्याख्या सांख्य के दृष्टि-बिन्दु से करते हैं । उस समय वे न नैयायिक हैं और न वेदान्ती; वे पूर्ण आस्थावान् श्रद्धालु सांख्यवादी हैं । एक दो उदाहरणों से इस कथन का परिष्कार किया जा सकता है ।

(क) आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु (कारिका ५)—व्याख्या में 'आप्तश्रुति' का अर्थ किया गया है—'आप्ता-प्राप्तायुक्तेति यावत् । आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्त-श्रुतिः' । इस व्याख्या का हेतु क्या है ? यह लक्षण 'आप्तोपदेशः शब्दः' गौतम सूत्र के समान ही प्रतीत होता है । 'आप्त' का लक्षण वात्स्यायन ने अपने भाष्य में यह किया है—'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयोक्ता उपदेष्टा । साक्षात्करणमर्थस्य आप्तिः सा । तया वर्तते इति आप्तः तस्योपदेशः शब्दः प्रमाणम्' ।

वाचस्पति वात्स्यायन की इस व्याख्या से पूर्ण परिचित हैं, फिर भी उन्होंने 'आप्त' का विलक्षण अर्थ क्यों किया ? इसका कारण है सांख्य का वेदविषयक विभिन्न सिद्धान्त । न्याय से विपरीत सांख्यमत में वेद अपौरुषेय है । न्याय वेद को पौरुषेय मानता है । इसलिए वह ईश्वर को आप्त कोटि में मानकर वेद की पौरुषेयता सिद्ध करता है । सांख्य अपौरुषेयवादी है । फलतः 'आप्त' शब्द की नवीन व्याख्या की आवश्यकता है ।

(ख) अन्य प्रमाणों का खण्डन

वाचस्पति उपमान को सांख्यदृष्टि से नया प्रमाण नहीं मानते। अनुमान के अन्तर्गत इसका अन्तर्भाव उन्होंने बड़े आग्रह से दिखलाया है। इसी प्रकार सांख्य-दृष्टि से अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक प्रमाण भी, जिन्हें भट्ट मीमांसक तथा तदनुसारी अद्वैती वेदान्ती प्रमाणकोटि में मानते हैं, अमान्य ठहराये गये हैं। वाचस्पति की यह महती विशिष्टता है कि वे जिस शास्त्र पर टीका लिखते हैं, वहाँ उसका दृष्टिकोण भी वे बड़े आग्रह के साथ पकड़ते हैं। तभी तो उनकी टीकाओं में तत्तत् दर्शनों के प्रमेयों का इतना रुचिर समुच्चय प्रस्तुत मिलता है। मत की पुष्टि के लिये वे पुराणों से यथासाध्य साहाय्य लेते हैं। 'देवी भागवत' के उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अन्तिम कारिका की टीका में इन्होंने किसी राजवार्त्तिक नामक ग्रन्थ से श्लोकत्रयी को उद्धृत किया है, जिसमें षष्टितन्त्र के सार विषयों का नामोल्लेख किया गया मिलता है।

(ग) सांख्य का औपनिषदिक प्रमाण

वाचस्पति ने तत्त्व-कौमुदी के मङ्गल श्लोक को उपनिषद् के मन्त्र के आधार पर निर्मित किया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

इस पद्य में लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण रंगवाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति का, उसकी प्रजासृष्टि के व्यापार का, उसे भजने वाले संसारी पुरुषों का तथा भुक्तभोगा प्रकृति के परित्याग करनेवाले मुक्त पुरुषों का पूर्ण संकेत पाया जाता है। ये चारों ही विशिष्टतायें सांख्य-दर्शन की निजी विभूतियाँ हैं। वाचस्पति ने इस मंगल श्लोक का निर्माण श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र के आधार पर किया है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इस ग्रन्थ की व्याख्या में, व्याख्याकारों में पर्याप्त मतभेद है। अद्वैतवादी टीकाकारों की दृष्टि में यहाँ 'अजा' से अभिप्राय त्रिगुणात्मिका माया से है, परन्तु सांख्यवादी व्याख्याकार यहाँ 'अजा' से अभिप्राय सांख्याभिमत प्रकृति मानते

हैं। वाचस्पति का भी झुकाव इसी अर्थ की ओर प्रतीत होता है। उपनिषद् में प्रकृतिपरक अर्थ की सद्भावना यह सिद्ध करती है कि सांख्य भी वेदान्त के समान ही उपनिषदों में संकेतित सिद्धान्त है। पूर्वोक्त मंगल श्लोक से वाचस्पति भी इसी मत के पोषक प्रतीत हो रहे हैं।

(घ) सांख्य की न्याय से पुष्टि

'तत्त्वकौमुदी' की रचना से पूर्व वाचस्पति न्यायदर्शन पर अपनी 'न्याय-तात्पर्यटीका' की रचना कर चुके थे। फलतः सांख्य की व्याख्या में उन्होंने आवश्यक तत्त्वों का विवरण न्यायदर्शन से दिया है। 'त्रिविधमनुमानम्' की व्याख्या इस तथ्य की प्रतिपादिका है। जहाँ अन्य टीकाकार केवल सामान्य बातों के वर्णन में ही निमग्न हैं। वहाँ वाचस्पति ने इसकी बड़ी ही पूर्ण व्याख्या की है। अनुमान के सामान्यरूप से दो भेद हैं—वीत तथा अवीत; जिसमें प्रथम दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् तथा सामान्यतो दृष्ट। अन्तिम केवल एक ही प्रकार का होता है—शेषवत्। इस प्रकार 'तत्त्वकौमुदी' का अनुशीलन हमारे सामने न्याय-शास्त्र के तत्त्वों का भी पूर्ण परिचायक है।

तत्त्ववैशारदी की समीक्षा

योगदर्शन की साहित्यिक सम्पत्ति बहुत ही स्वल्प है। योगशास्त्रों की रचना महर्षि पतञ्जलि का लोकोत्तर कार्य है। जिस पर 'व्यासभाष्य' नामक एक नितान्त प्रामाणिक और पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। व्यासभाष्य के निर्माता महर्षि व्यास-देव से कोई भिन्न ही व्यक्ति हैं। अल्पाक्षरों में निविष्ट होने के कारण योगसूत्र स्वयं एक दुरूह ग्रन्थ है, परन्तु उसकी व्याख्या में प्रवृत्त होने वाला व्यासभाष्य उससे कम दुरूह नहीं है; प्रत्युत नवीन तथ्यों के उपन्यास के कारण यह ग्रन्थ भाषा, भाव तथा शैली—तीनों दृष्टियों से नितान्त दुरूह, कठिन तथा रहस्यमय ग्रन्थ है। वाचस्पति मिश्र ने इसी व्यासभाष्य के ऊपर अपनी 'वैशारदी' टीका लिखकर योग के तत्त्वों को सुबोध और सरल बनाया है। लेखक का यह सुनिश्चित मत है कि यदि यह व्याख्या उपलब्ध नहीं होती तो न तो मूल सूत्रों का ही अर्थ निलता और न भाष्य का ही गंभीर तात्पर्य खुलता। दोनों के अर्थ तथा रहस्य को खोलने वाली एकमात्र कुञ्जी हमारे पास है—वाचस्पति मिश्र की यह 'तत्त्व-वैशारदी'—भाष्य-व्याख्या।

इस व्याख्या के कतिपय विशिष्टताओं का यहाँ संकेत मात्र किया जा रहा है।

(क) पारिभाषिक शब्दों का तात्पर्य-प्रदर्शन

योग सूत्र तथा व्यासभाष्य में पारिभाषिक शब्दों की बड़ी प्रचुरता पाई जाती है। इनके तात्पर्य को समझना नितान्त आवश्यक है। 'तत्त्ववैशारदी' में इसका विस्तृत परिष्कार किया गया है। उदाहरण के लिये देखिये १।१६ सूत्र के भाष्य में 'ज्ञान-प्रसाद' शब्द का अर्थ बतलाते हुए वाचस्पति का कथन बड़ा ही हृदयावर्जक है। जब सत्त्व में रजोगुण का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् वैराग्य तथा अभ्यास की विमल धाराओं से रज एवं तम के सर्वथा नाश होने पर सत्त्व ही जब एकमात्र स्थित रहता है, तब चित्त की दशा 'ज्ञान प्रसाद' कहलाती है (पृ० २०)। इसी प्रकार १।१७ में 'वितर्क' शब्द की व्याख्या में व्यासभाष्य में 'आभोग' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु इस पर्यायदान से विषय स्पष्ट नहीं होता। फलतः वाचस्पति मिश्र की समर्पक व्याख्या है—"स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः" (स्वरूप के साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा का ही नाम आभोग है)—पृ० २१।

योगसूत्र २।९ का एक प्रख्यात शब्द है 'स्वरसवाही' जो व्यासभाष्य में भी व्याख्या रहित ही छोड़ दिया गया है। वाचस्पति की टीका है—स्वरसेन स्वभावेन वासनारूपेणवहनशीलः, न पुनरागन्तुकः—अर्थात् स्वाभाविक, आगन्तुक नहीं।

(ख) सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण

व्यास-भाष्य में वैदिक मतों की अपेक्षा बौद्धों के मत की विस्तृत समीक्षा है। भाष्य में यह मत स्वल्प अक्षरों में ही उपन्यस्त है। इन स्थलों पर वाचस्पति ने मतों का प्रतिपादन बड़े ही विस्तार तथा सुबोध रीति से किया है। योगसूत्र ३।१३ के भाष्य में 'धर्म से अतिरिक्त धर्मी नहीं होता' इस बौद्ध मत का संकेत मात्र किया गया है, परन्तु तत्त्ववैशारदी में दृष्टान्त के सहारे इसको भली भाँति समझाया गया है। ३।४४ सूत्र तथा भाष्य में निबद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस सूत्र की तत्त्ववैशारदी से बड़े विस्तार के साथ किया गया है। स्थान स्थान पर पुराणों के तत्तत् उपयोगी श्लोकों का उद्धरण भी दिया गया है। कहीं कहीं प्राचीन कथाओं की ओर विषय की विशदता के लिये संकेत भी किया गया है। ३।३० सूत्र में यम के भेदों का वर्णन किया गया है। इसके भाष्य में पाँचों यमों के स्वरूप का वर्णन विस्तार के साथ है। दूसरे को बोध कराने के लिये प्रयुक्त वाणी में तीन दोषों का सद्भाव कभी कभी बना रहता है, जिनके नाम हैं—वञ्चन, भ्रान्ति-

प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिमिथ्यात्व। वाचस्पति ने इन तीनों को उदाहरणमुखेन बड़ी सफलता के साथ समझाया है। उदाहरण के अभाव में इनका यथार्थतः समझाना कठिन ही नहीं; अपितु असम्भव भी था। योगसूत्र के चतुर्थ पाद में बौद्धों के विभिन्न नाना मतों का खण्डन किया गया है। इनका विशद रूप से प्रतिपादन वाचस्पति ने अपनी व्याख्या में किया है।

विज्ञान भिक्षु ने भाष्य के ऊपर 'योगवार्त्तिक' नामक जो अपनी विस्तृत व्याख्या लिखी है उस में तत्त्ववैशारदी का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि अनेक स्थलों पर विज्ञान विक्षु वाचस्पति मिश्र से भिन्न मत रखते हैं।

इस संक्षिप्त आलोचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाचस्पति मिश्र सांख्य तथा योग शास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। क्योंकि इनकी इन शास्त्रों की व्याख्या बड़ी ही सुबोध सरल तथा प्रामाणिक है। इनकी सहायता मूल तत्त्वों की जानकारी के लिये हमें एक हजार वर्षों से अधिक समय से मिल रही है, और भविष्य में भी मिलती रहेगी।

(२) योग-मनोविज्ञान

'योग' शब्द समाध्यर्थक 'युज्' धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है। अतः योग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—समाधि है। पतञ्जलिकृत योग का लक्षण है—

चित्त

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना। चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से है। चित्त सत्त्वप्रधान प्रकृति-परिणाम है, अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है। चित्त प्राकृत होने से जड़ और प्रतिक्षण परिणामशाली है। वह सत्त्व, रज तथा तम की अधिकता के कारण क्रमशः तीन प्रकार का होता है—**प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील** तथा **स्थितिशील**। प्रख्या (ज्ञान) रूप चित्त सत्त्व, रज, और तम से संसृष्ट होने पर ऐश्वर्य और शब्दादि विषयों का प्रेमी बनता है। तम से युक्त होने पर यही चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य से व्याप्त हो जाता है। तम के आवरणों के नितान्त क्षीण हो जाने पर रज के अंशमात्र से संतुष्ट चित्त सर्वत्र प्रद्योतमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है। प्रथम अवस्था में चित्त ऐश्वर्य और विषयों को केवल चाहता ही रहता है, परन्तु वे उसे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वह रज और तम से संपृक्त रहता है; तथापि इस दशा में सात्त्विक गुण की अधिकता

से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। जब चित्त में रज का लेशमात्र भी मल नहीं रहता, तब सत्त्वप्रधान चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति-पुरुष की अन्यथाख्यति या विवेकज्ञान को प्राप्त कर लेता है और **धर्ममेघ** समाधि से समन्वित हो जाता है।

चित्त की भूमि

इस चित्त की ५ भूमियाँ या अवस्थायें होती हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ़, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध। क्षिप्त का अर्थ चञ्चल है। **क्षिप्त** दशा में चित्त रजोगुण की अधिकता के कारण अस्थिर और चञ्चल बना रहता है और बहिर्मुख होने से संसार के सुख-दुःखादि विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त रहता है। **मूढ़ चित्त** तमोगुण की अधिकता के कारण विवेकशून्य रहता है, कृत्याकृत्य का विवेचन नहीं करता और क्रोधादि के द्वारा विरुद्ध कार्यों में ही प्रवृत्त रहता है। 'मुझे क्या करना है और क्या नही करना है' इस विषय का वह कभी निर्णय नहीं कर सकता, क्योंकि वह अत्यन्त तामसिक होता है। **विक्षिप्त चित्त** सत्त्व की अधिकता से दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधन भूत शब्दादि विषयों में प्रवृत्त रहता है। राजस क्षिप्त चित्त की अपेक्षा यह सात्त्विक चित्त कभी कभी स्थिरता धारण करता है। **'विक्षिप्त'** दशा में चित्त में सत्त्व की अधिकता रहती है और इस प्रकार यह क्षिप्त दशा से नितान्त विशिष्ट होती है। रजोगुण की प्रबलता होने के कारण क्षिप्त दशा में चित्त कभी भी स्थिर नहीं होता, वह सदा चञ्चल बना रहता है, परन्तु विक्षिप्त दशा में वह सत्त्व की अधिकता के कारण कभी कभी स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। इस विशिष्टता को सूचित करने के लिए 'क्षिप्त' से पहिले 'वि' उपसर्ग जोड़ा गया है[५]। चित्त की अन्तिम दोनों दशाओं में सत्त्व की अधिकता बढ़ जाती है। इसलिए इन दशाओं में चित्त समाधि के लिए उपयोगी बन जाता है। इन दोनों प्रकार के चित्तों में पर्याप्त अन्तर है। **'एकाग्र'** का अर्थ है—एक ही विषय को चिन्तन करने वाला चित्त। **'निरुद्ध'** का अर्थ है—रुका हुआ चित्त, अर्थात् वह चित्त जिसकी सारी वृत्तियाँ रोकी गई या हटायी गयी हों। जब बाहरी वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकारवृत्ति धारण करता है, तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं, परन्तु सब वृत्तियों सौर संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की संज्ञा **'निरुद्ध'** है[६]। इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं, परन्तु अन्तिम दोनों भूमियों में योग का उदय होता है। इन भूमियों के अनुरूप चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं। क्षिप्त और मूढ़ भूमियों में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधिप्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता तथा निरुद्ध में

निरोधलक्षण परिणाम होते हैं। अतः समाधि के लिए अन्तिम दो दशाओं की नितान्त उपयोगिता है।

पुरुष निसर्गतः शुद्ध, चैतन्यरूप तथा शरीर-मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञान दशा में चित्त से सम्बद्ध रहता है। चित्त वास्तव में प्रकृति से उत्पन्न होने से अचेतन है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर वह चेतन के समान प्रतीत होता है। पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त उस वस्तु के रूप को ग्रहण कर लेता है। पुरुष को पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान चित्त के परिवर्तनों के कारण होता है, जिन्हें **'वृत्तियाँ'** कहते हैं। जिस प्रकार नदी की लहरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा स्थिर होने पर भी चलायमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार परिणामशील चित्त में प्रतिबिम्बित स्वतः अपरिणामशाली पुरुष परिवर्तनशील मालूम होता है।

चित्त की वृत्तियाँ

चित्त की वृत्तियाँ प्रधानतया पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। **प्रमाण** (सत्य ज्ञान) सांख्यों के समान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रकार का होता है। किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को **'विपर्यय'** कहते हैं, जिसके अन्तर्गत संशय भी माना जाता है। शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला परन्तु सत्य वस्तु से शून्य ज्ञान **'विकल्प'** है। जैसे 'घोड़े की सींग' को सुन कर इन शब्दों के अर्थ को तो हम समझ जाते हैं, परन्तु वास्तविकता से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि घोड़े को सींग होती ही नहीं। यह केवल शाब्दिक ज्ञान है, अर्थ से हीन होने से आर्थिक नहीं। 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में षष्ठी के प्रयोग से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में चैतन्यात्मक पुरुष चैतन्य से भिन्न नहीं है। अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्परूप है। तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति **'निद्रा'** है, जिसमें जाग्रत और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। जागने पर पुरुषों को यह भान होता है कि मैंने खूब अच्छी गहरी नींद ली, जिससे मेरा मन खूब प्रसन्न है, या मुझे अच्छी नींद नहीं आई, जिससे मेरा मन घूम रहा है। यह भान (प्रत्यवमर्श ज्ञान) होने पर ही हो सकता है। अतः निद्रा वृत्तिरूप है। अनुभव किये गये विषयों का बिना परिवर्तन के ठीक ठीक याद आना **'स्मृति'** कहलाती है। चित्त के समस्त व्यापारों या अवस्थाओं का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों के भीतर किया जा सकता है।

जब वृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त में क्षय प्राप्त कर लेती हैं, तब ये नितान्त क्षीण नहीं हो जातीं; प्रत्युत उनका सूक्ष्म रूप 'संस्कार' के रूप में रहता है।

ये संस्कार ही योग्य अवसर आने पर उद्बोधक हेतु के होने पर पुनः स्थूल रूप प्राप्त करते हैं और वृत्तियों का रूप धारण कर लेते हैं। अतः वृत्तियों से संस्कारों की और संस्कारों से वृत्तियों का उदय होता है।

संस्कार

इस प्रकार यह चक्र सतत क्रियाशील रहता है।[७] वृत्ति और संस्कार का परस्पर सम्बन्ध वृक्ष और जड़ों के उदाहरण से भलीभाँति दर्शाया जा सकता है। जड़ें पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप से विद्यमान रहती हैं और वृक्ष के नाश हो जाने पर अनुकूल परिस्थिति में बढ़ कर पेड़ को पैदा कर सकती हैं। उसी प्रकार वृत्ति तथा संस्कार का एक चक्र होता है। वृत्तियाँ जब क्षीण हो जाती हैं, तब वे संस्कार का रूप पा लेती हैं। वे नष्ट नहीं होतीं; प्रत्युत अवचेतन मानस में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में टिक जाती हैं। अनन्तर वे 'संस्कार' का रूप ग्रहण लेती हैं। इस प्रकार 'संस्कार' वृत्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। अनुकूल कारण के आने पर वे ही संस्कार चेतन मानस में उद्बुद्ध होकर प्रत्यक्षतः दिखलाई पड़ने लगते हैं और तब वे वृत्तियों का रूप धारण करते हैं। इस दशा में संस्कार वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं। वृत्ति से संस्कार का जन्म और संस्कार से वृत्ति का उदय—यह चक्र सदा चला करता है। इस विषय को समझाने के लिए ऊपर वृक्ष तथा जड़ का उदाहरण दिया गया है। वृक्ष ही क्षीण होकर पृथ्वी में घुसकर जड़ बन जाता है और जड़ें ही उपयुक्त सामग्री—जल तथा वायु पाने पर वृक्ष के रूप में पनप उठती हैं। फलतः वृत्ति है स्थूलरूप और संस्कार है सूक्ष्म रूप। वस्तु एक ही है, परन्तु रूप भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। अब चित्तवृत्ति के निरोध का क्या अर्थ है? साधारणतया प्रतीत होता है कि चित्त की वृत्तियों का जब निरोध (रोकना) होता है तब योग सिद्ध होता है, परन्तु इतने से ही 'योग' नहीं होता। पूरा योग तभी होता है जब वृत्तियों के साथ साथ उनके संस्कारों का भी निरोध हो जाय। स्थूल वृत्तियाँ तथा सूक्ष्म संस्कार—इन दोनों के निरोध होने पर ही योग की पूर्णता सिद्ध होती है। वृक्ष का पूरा सूखना क्या है? केवल बाहर दिखाई पड़ने वाले वृक्ष का ही नहीं, बल्कि उसके जड़ों के सूखने या नाश होने पर ही वृक्ष को हम पूर्णतः नष्ट हुआ समझ सकते हैं। इस उदाहरण से योग का सच्चा रूप समझ में आ सकता है। प्रज्ञा के आलोक से वृत्तियों के निरोध के साथ साथ संस्कार का निरोध भी होना आवश्यक है। तभी योग पूर्ण कहा जा सकता है।

योग के दो भेद होते हैं—(१) **सम्प्रज्ञात** तथा (२) **असम्प्रज्ञात**। इन भेदों का रहस्य जानने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर दृष्टिपात करना

योग के प्रकार

चाहिए। लकड़ी के टुकड़ों में जब आग लगा दी जाती है, तो वे टुकड़े जलने लगते हैं और सब टुकड़ों को जलाने वाली आग एक आकार में दिखलाई पड़ती है। टुकड़े पहले जलते हैं; अनन्तर आग स्वयं जलती रहती है, पर अन्त में दाह्य पदार्थ के अभाव में वह स्वयं बुझ जाती है, उसका जलना समाप्त हो जाता है। योगप्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति की ऐसी ही दशा होती है। चित्त में अनेक वृत्तियों का सद्भाव रहता है। जब किसी एक वस्तु के ध्यान में चित्त लगाया जाता है, तब अन्य वृत्तियाँ क्षीण होकर उसी वृत्ति को दृढ़ तथा प्रबल बनाती हैं। उस समय वही वृत्ति मुख्य रहती है, तथा ध्यान के प्रकर्ष से **'प्रज्ञा'** कहलाती है। समाधि दो वस्तुओं के घर्षण (रगड़) के समान है। उससे उत्पन्न प्रज्ञा घर्षण से (रगड़ने से) होने वाली आग के समान है। यह प्रज्ञाग्नि अन्य वृत्तियों का नाश कर देती है और कुछ काल तक स्वयं प्रद्योतित रहती है, परन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही आप उपशान्त हो जाती है। जिस समय चित्त अन्य वृत्तियों के उपक्षीण होने पर एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सतत ध्यान में लगा रहता है, उस समय संप्रज्ञात (सं+प्रज्ञा+त) समाधि होती है। इसका फल है—प्रज्ञा का उदय। यह प्रज्ञा सद्भूत (वास्तव, सत्य) अर्थ को प्रद्योतित करती है (सत्त्वदर्शन), समस्त क्लेशों का नाश करती है (अविद्याक्षय), कर्म बन्धनों को शिथिल बनाती है तथा निरोध को अभिमुख (आसन्न) करती है।[८]

इतर वृत्तियों के निरोध से उत्पन्न प्रज्ञा का भी निरोध आवश्यक है, क्योंकि प्रज्ञा कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो आखिर है तो वृत्ति ही। योग में चित्त की समग्र वृत्तियों का निरोध होना ही चाहिए। प्रज्ञा भी तो एक वृत्ति ही ठहरी। अतः जब इसका निरोध होता है, तभी पूर्ण योग की सिद्धि होती है।

समाधि के दो भेद

'एकाग्र' चित्त की वह अविचलित अक्षुब्ध अवस्था है जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक स्थिर रहता है। इस योग का नाम **सम्प्रज्ञात** या **सबीज समाधि** है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त के समाहित होने के लिए कोई न कोई बीज या आलम्बन बना रहता है; परन्तु निरुद्ध दशा में **असम्प्रज्ञात** समाधि का उदय होता है, जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध या बन्द हो जाती हैं। यहाँ किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता। अतः इसे **निर्जीव** या असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। ध्येय वस्तु का ज्ञान बने रहने के कारण पूर्व समाधि **सम्प्रज्ञात**

कहलाती है; ध्येय, ध्यान तथा ध्याता के एकाकार हो जाने से ध्येय वस्तु से ज्ञान के पृथक् न होने से दूसरी समाधि का नाम **'असम्प्रज्ञात'** है।

किसी भी ध्यान में तीन कोटियाँ होती हैं। **ध्याता**—ध्यान करने वाला व्यक्ति। **ध्येय**—ध्यान की वस्तु जिस पर ध्यान किया जाता है, तथा **ध्यान**—ध्यान करने की क्रिया। विना आलम्बन के कोई ध्यान आरम्भिक दशा में हो नहीं सकता। यह आलम्बन बहुत काल तक विद्यमान रहता है। इस दशा की समाधि का नाम है— सम्प्रज्ञात या सबीज समाधि। इसी का आश्रय प्रत्येक साधक को लेना पड़ता है। इस समाधि में पूर्व वर्णित प्रकारों में चित्त 'एकाग्र' की दशा में रहता है। इसके चिरकाल अभ्यास से साधक का चित्त सब वृत्तियों से निरुद्ध हो जाता है, अर्थात् वह पूर्व आलम्बन भी धीरे धीरे क्षीण हो जाता है और चित्त अपने विशुद्ध निरालम्ब दशा में उपनीत होता है। अब चित्त कहलाता है—**निरुद्ध** और समाधि का नाम है—असम्प्रज्ञात। ऊपर कहा गया है कि अन्तिम दोनों चित्त समाधि उपयोगी होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एकाग्र चित्त में सम्प्रज्ञात समाधि और निरुद्ध चित्त में 'असम्प्रज्ञात' समाधि का उदय होता है। यही दोनों में अन्तर होता है।

इन दोनों में सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की होती है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ग्राह्य विषय दो प्रकार का होता है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल आलम्बन में जो चित्त का आभोग है उसे **'वितर्क'** कहते हैं। 'आभोग' शब्द का अर्थ है—एक वस्तु का दूसरे वस्तु के ऊपर आरोपित होने पर उसके साथ देशसम्बन्धी एकता। चित्त पदार्थ के सान्निध्य में एकता होने से जो उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है वह आभोग है। (वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा—त० वै० १।१७) (क) अतः किसी महाभूत आदि अवयवी स्थूलवस्तु में शब्दार्थोल्लेखपूर्वक जो भावना की जाती है उसे **'सवितर्क'** समाधि कहते हैं। 'यह गौ है' यहाँ शब्द, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान तीनों एक साथ संवलित रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः वस्तु के जिस चिन्तन में तीनों उपस्थित रहते हैं वह सवितर्क समाधि होती है और जहाँ शब्दशून्य होने से केवल अर्थ की भावना की जाती है, उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं। (ख) सूक्ष्म आलम्बन में चित्त के आभोग को 'विचार' कहते हैं। अतः जहाँ तन्मात्र आदि सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण कर भावना की जाती है, वह होती है **सविचार** समाधि, परन्तु जहाँ देश, काल और धर्म के सम्बन्ध का परित्याग कर

सम्प्रज्ञात का भेद

केवल सूक्ष्म धर्म की ही भावना की जाती है, वह **निर्विचार** समाधि कहलाती है। ग्राह्यविषयक होने से इनका नाम 'ग्राह्यसमापत्ति' है। (ग) सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ सुखात्मक हैं। अतः साक्षात्कार के साधनभूत इन्द्रियों की भावना करने पर सानन्द समाधि का उदय होता है। यह सम्प्रज्ञात 'ग्रहणसमापत्ति' होता है। (घ) इन्द्रियाँ अस्मिता से उत्पन्न होती हैं। अतः कारण होने से अस्मिता (बुद्धि) इन्द्रियों से नितान्त सूक्ष्म है। चित्-प्रतिविम्बित बुद्धि 'अस्मिता' है। अतः इस बुद्धि की भावना करने पर 'सास्मिता समाधि' का जन्म होता है। बुद्धि में ग्रहीता पुरुष के अन्तर्भाव होने से यह सम्प्रज्ञात समाधि 'ग्रहीतृविषयक' मानी जाती है।

इस समाधि में साधक स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर विषयों का ध्यान करता है। साधना की यही प्रक्रिया है। आरम्भ करना चाहिए किसी स्थूल पदार्थ से और धीरे धीरे स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म पदार्थों पर ध्यान स्थिर करना चाहिए। स्थूल पदार्थ का चिन्तन कहलाता है—वितर्कानुगत समाधि तथा सूक्ष्म का ध्यान है—विचारानुगत समाधि। इन्द्रियाँ सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर होती हैं। अत एव उनका ध्यान करना सानन्द समाधि कहलाता है। इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण करने का द्वार होती हैं इसीलिए यह समाधि 'ग्रहणसमापत्ति' कहलाती है। सबके अन्त में होता है बुद्धि का ध्यान। यह सूक्ष्मतम होता है और इसी का नाम है—सास्मिता समाधि। इस समाधि के फलस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, अर्थात् साधक को यह विवेक ज्ञान हो जाता है कि आत्मा यथार्थ रूप से शरीर, मन तथा अहंकार सबों से भिन्न है।

असम्प्रज्ञात समाधि

इस समाधि की अन्तिम दशा में भी चित्त के लिए कोई न कोई आलम्बन बना ही रहता है, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो; परन्तु इसी प्रकार ध्यान करते-करते चित्त का सम्बन्ध सब विषयों से छूट जाता है। यही समाधि **असम्प्रज्ञात समाधि** कहलाती है[१०]। इस दशा में पहुँचने पर आत्मा अपने विशुद्ध चैतन्यरूप में प्रतिष्ठित होता है और वह सब वस्तुओं से पृथक् होकर अपने आप में स्थित हो जाता है, अर्थात् वह 'केवल' असंपृक्त रूप से विद्यमान होता है। इसी दशा का नाम है—**कैवल्य**। योग का यही ध्येय है। यह कब सम्भव है? इसके लिए केवल चित्त की वृत्तियों का ही निरोध आवश्यक नहीं होता, प्रत्युत उनके सूक्ष्म संस्कारों का भी निरोध आवश्यक होता है। 'निरोध' का अर्थ है—निःशेषरूप से रुद्ध हो जाना, सदा के लिए बन्द हो जाना।

इस दशा में समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है, परन्तु इसके लिए चाहिए दृढ़ साधना तथा पूर्ण अध्यवसाय। योग की साधना कोई बालक का खेल नहीं है कि वह अनायास प्राप्त हो सकती है, इसके लिए साधक को कठिन परिश्रम, दृढ़ निष्ठा और अटूट श्रद्धा रखनी पड़ती है। तब दीर्घकाल में यह दशा सिद्ध होती है और योगी असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति पर पहुँचता है।

चित्त अनेक क्लेशों का भाजन है, जिन्हें दूर करने से ही वह योग-मार्ग में अग्रसर हो सकता है। ये समग्र क्लेश विपर्यय-रूप हैं। अविद्या तो साक्षात् विपर्यय, मिथ्याज्ञान रूप ही है, परन्तु अन्य क्लेश भी अविद्यामूलक होने से मिथ्याज्ञान ही हैं। महत्तत्व और अहंकारादि परम्परा से परिणाम को स्थापित करते हैं, तथा आपस में अनुग्राहक बनकर कर्मों के फलों (जाति, आयु तथा भोग रूप) को निष्पन्न करते हैं। कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों से कर्मों का उदय होता है। अतः वे आपस में एक दूसरे के सहायक हैं।

क्लेश

क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। (१) अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म-बुद्धि रखना **अविद्या** कहलाती है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम वीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थों में सुखबुद्धि रखना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा मानना अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पदा अविद्या क्लेशसन्तान का बीज है, तथा विपाक के साथ कर्माशय की उत्पादिका है। (२) पुरुष (दृक्शक्ति) बुद्धि (दर्शनशक्ति) से नितान्त भिन्न है, परन्तु दोनों को एक मान बैठना 'अस्मिता' है। भोक्ता और भोग्य के इस प्रकार एकत्व की भावना होने पर ही भोग की कल्पना होती है।

पुरुष चेतन होने से द्रष्टा होता है। केवल वही द्रष्टा है, इसलिए वह दृक्शक्ति के नाम से अभिहित होता है। बुद्धि के द्वारा प्रपञ्च का भान होता है, इसलिए वह हुई दर्शन-शक्ति। दोनों एकदम भिन्न हैं, परन्तु मन, बुद्धि को आत्मा मान लेना 'अस्मिता' है। इसे क्लेश कहने का अभिप्राय यह है कि सुख तथा दुःख का अनुभव तो साक्षात् रूप से बुद्धि ही करती है, परन्तु पुरुष अपने आपको बुद्धि से एकाकार कर लेता है और उस समय वह भोक्ता बन जाता है। भोग वस्तुतः बुद्धि में होता है, परन्तु इसी अस्मिता के कारण पुरुष को भी भोग की उपलब्धि होती है। इसीलिए 'अस्मिता' की गणना क्लेशों में

की गई है। (३) सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे **'राग'** कहते हैं। (४) इससे विपरीत दुःख को जानने वाले पुरुष का दुःख की स्मृति के साथ दुःख साधनों में जो क्रोध या जिघांसा होती है, वह **'द्वेष'** है। (५) पामर जीव से लेकर विद्वानों तक जो मृत्यु का भय लगा रहता है, उसे **'अभिनिवेश'** कहते हैं। यह स्वभाव से ही वासनारूप से प्रवृत्त होता (स्वरसवाही) है, अतः यह स्वाभाविक होता है, आगन्तुक नहीं।

(३) योग कर्तव्यमीमांसा

विवेक की सिद्धि के लिए पातञ्जल दर्शन में योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। वह तो निर्विवाद है कि जब तक आत्मा का शरीर और मन के ऊपर पूरा अधिकार नहीं हो जाता, तब तक उसमें वह शांति या निश्चिन्तता नहीं आती जिससे वह प्रज्ञा की उपलब्धि कर सके। अतः शरीर, मन तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया गया है। इन योगांगों के नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

(१) **यम**—का अर्थ संयम होता है। इसके पाँच प्रकार होते हैं—(क) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों के ऊपर द्रोह न करना; (ख) सत्य—मन और वचन का यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा गया था, अनुमान किया हो उसी के समान मन तथा वचन का होना; (ग) अस्तेय—चोरी न करना अर्थात् दूसरों के द्रव्यों के लिए स्पृहा न रखना; (घ) ब्रह्मचर्य—गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम करना; (ङ) अपरिग्रह—विषयों के अर्जन, रक्षण आदि दोष होने से उन्हें स्वीकार न करना।

(२) **नियम** भी पाँच प्रकार के हैं— (क) शौच—आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि। आभ्यन्तर शौच चित्त के मलों का अच्छी तरह धो देना है; बाहरी शुद्धि मृत्तिका, जल से तथा पवित्र भोजन के करने से होती है। (ख) सन्तोष—सन्निहित साधनों से अधिक वस्तुओं के ग्रहण करने की इच्छा न होना; (ग) तप—सुख-दुःख, आतप-शीत, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों का सहन तथा चान्द्रायणादि कठिन व्रतों का पालन करना; (घ) स्वाध्याय—मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और प्रणव का जप; (ङ) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना।

(३) **आसन—स्थिरसुखमासनम्** ; स्थिर तथा सुख देने वाले जो बैठने के प्रकार हैं उन्हें आसन कहते हैं। ध्यान के लिए आवश्यक बात है कि साधक को ऐसा आसन ग्रहण करना चाहिये जिससे शरीर को सुख मिले, साथ ही मन की शान्ति बनी रहे। कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन 'हठयोगप्रदीपिका' आदि हठयोग के ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है। इन आसनों के अभ्यास करने से चित्त स्वाभाविक चञ्चलता का परित्याग कर एकाग्रता प्राप्त करता है। आसनजय करने से द्वन्द्वजन्य पीड़ा नहीं होती।

(४) **प्राणायाम**—आसनजय होने पर श्वास प्रश्वास के गतिविच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का लेना श्वास है और भीतरी वायु को बाहर निकाल देना प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास सदा ही चलता रहता है। बाहर से वायु नासिकारन्ध्र से भीतर जाता है और भीतरी वायु बाहर निकलता है। इन दोनों की गति को नष्ट कर देंने को प्राणायाम कहते हैं। पतञ्जलि ने चार प्रकार के प्राणायाम का वर्णन किया है—(क) **बाह्य**—कोष्ठ्य वायु को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक देना (रेचक प्राणायाम), (ख) **आभ्यन्तर** (भीतरी)—नासारन्ध्र से बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना (पूरक), (ग) **स्तम्भवृत्ति**—एक ही प्रयत्न से वहाँ श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाय (कुम्भक); इसमें न पूरक होता है न रेचक। व्यासभाष्य में इसके स्वरूप को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार गरम पत्थर के उपर रखा गया जल चारों तरफ से सिकुड़ने लगता है, उसी प्रकार इस कुम्भक में दोनों प्राण, अपान की गति एक साथ रुक जाती है। (घ) चतुर्थ प्राणायाम या **केवल कुम्भक**। प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों या दोषों का नाश हो जाता है तथा मन एकाग्र या स्थिर होने के योग्य बन जाता है। जबतक श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है, तबतक चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से ज्यों-ज्यों प्रागापान की गति का निरोध होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त में एकाग्रता आने लगती है।

(५) **प्रत्याहार**—जब विभिन्न इन्द्रियाँ अपने बाह्य विषयों से हट कर चित्त के समान निरुद्ध हो जाती हैं, तब इसे 'प्रत्याहार' कहते हैं (प्रति=प्रतिकूल; आहार=वृत्ति) अर्थात् बहिर्मुखवृत्ति इन्द्रियाँ बाहरी विषयों से हटकर अन्तर्मुखी (भीतर वृत्ति वाली) हो जाती हैं, तब उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता है। इसका

फल यह होता है कि इन्द्रियों के ऊपर पूरी वश्यता (अधिकार) स्थापित हो जाती है। साधारण स्थिति में इन्द्रियों की स्वेच्छाचारिता प्रबल रहती है, जहाँ चाहती हैं वहाँ वे मन को दौड़ाया करती हैं, परन्तु प्रत्याहार के अभ्यास से ये इन्द्रियाँ मन के कब्जे में आ जाती हैं; वह जैसा चाहता है वैसा इन्हें काम में लगाता है। अब तक प्रतिपादित पाँच अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—बहिरंग साधन कहे जाते हैं। अन्तिम तीन अन्तरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि—अंगों की विवेकख्याति के उत्पादन से जितनी उपयोगिता है उतनी प्रथम पाँचों की नहीं है।

(६) **धारणा—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा** (योगसूत्र ३।१)। किसी देश में (जैसे हृदय कमल में, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) या बाह्य पदार्थ में (जैसे इष्ट देवता की मूर्तियों आदि में चित्त को लगाना या सम्बद्ध कर देना 'धारणा' कहलाता है। पूर्व अंगों के जय से यह कार्य सुगमता से हो सकता है। प्राणायाम से पवन और प्रत्याहार से इन्द्रियों के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती। अतः वह एक स्थानपर सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

(७) **ध्यान—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्** (योगसूत्र ३।२)। उस देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे 'ध्यान' कहते हैं।

(८) **समाधि**—समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विक्षेपों को हटा कर चित्त का एकाग्र होना (**सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः**)। जहाँ पर **ध्यान** ध्येय-वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वह 'समाधि' कही जाती है। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्यान, ध्याता और ध्येय पदार्थ की एकता-सी हो जाती है। धारणादि अन्तिम तीनों अंगों का सामूहिक नाम **'संयम'** है। संयम के जीतने का फल है—विवेकख्याति का आलोक या प्रकाश। ज्ञान ज्योति का उदय ही इन अन्तरंग साधनों के जीतने का सद्यः परिणाम है। संयम की दृष्टि में यमादिपञ्चक बहिरंग है, परन्तु निर्बीज समाधि के लिए संयम भी बहिरंग ही है, अर्थात् परम्परया उपकारक है, साक्षात् नहीं।

कैवल्य प्रकृति

अब वर्णित विषयों के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करना चाहिए। प्रत्येक साधक को क्रियायोग तथा समाधियोग का अभ्यास करने से इष्ट सिद्धि होती है। क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है। क्रियायोग से तप (चान्द्रायण व्रत आदि) स्वाध्याय (मोक्षशास्त्रों का अनुशीलन तथा प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप) तथा ईश्वर-प्रणिधान (भक्ति-पूर्वक सब कर्मों के फलों का ईश्वर को समर्पण करना) समझे जाते हैं। क्रियायोग के अभ्यास का फल दो प्रकार का होता है—क्लेशतनूकरण और समाधिभावना। पञ्चप्रकार के क्लेश क्रियायोग के कारण क्षीण हो जाते हैं। क्रियायोग क्लेशों की क्षीणता का कारण होता है, परन्तु उनके दाह (एकदम जला देने) का कारण प्रसंख्यान (ज्ञान) होता है। समाधि की भावना भी इससे उत्पन्न होती है। अब योगांगों का अनुष्ठान आवश्यक होता है, यम, नियमादि अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष पूर्ण चैतन्य रूप का लाभ करता है। निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है। जब चित्त वृत्ति रहित हो जाता है, तब उसे उस दशा में प्रतिष्ठित होने के लिये साधक को लगातार यत्न करना चाहिए। इसी का नाम 'अभ्यास' है। अभ्यास को दृढ़ करने के लिए बहुत दिनों तक आग्रह-पूर्वक वैराग्य का अवलम्बन करना होता है।[११]

सिद्धियाँ

योग का अभ्यास करने से साधक की अवस्था में विशेष विशिष्टता लक्षित होती है और वह अधिक शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है। इनका ही नाम है—**सिद्धि**। सिद्धियाँ आठ प्रकार होती हैं—(१) अणिमा (अणु के समान छोटा या अदृश्य बन जाना), (२) लघिमा (हलका बनकर ऊपर उठ जाने की सिद्धि), (३) महिमा (पहाड़ के समान भारी बन जाने की सिद्धि), (४) प्राप्ति (कहीं से भी किसी चीज को प्राप्त करने की सिद्धि), (५) प्राकाम्य (इच्छा शक्ति का अबाधित होना, संकल्प की सिद्धि), (६) वशित्व (सब प्राणियों को अपने वश में कर लेने की योग्यता), (७) ईशित्व (सब पदार्थों पर अधिकार जमा लेने की सिद्धि), (८) यथाकामावसायिता (साधक के जो संकल्प होते हैं उनका पूर्ण होना)। योगदर्शन के अनुसार ये सिद्धियाँ योगी के मार्ग में स्वतः उपस्थित होती हैं और उसे लुभाती हैं। ये अन्तिम लक्ष्य के लिए विघ्नरूप होती हैं। इनके लोभ में फँसने वाला योगी कभी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। योगदर्शन का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मदर्शन। योगी को इसी

लक्ष्य की ओर सदा जागरूक रहना चाहिए; सिद्धियों के प्रति कभी ध्यान नहीं देना चाहिए। योगदर्शन की यही शिक्षा है[12]।

ईश्वर

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वशाली है। योगी को भी सांख्य के २५ तत्त्व अभीष्ट हैं; केवल ईश्वरतत्त्व अधिक है। इसीलिए योग 'सेश्वर सांख्य' कहलाता है। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार के सम्पर्क) से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है[13]। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन के भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना रहती है, परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है। अतः वह प्रकृतिलीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न होता है। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। नित्य होने से वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से अनवच्छिन्न है। वह गुरुओं का भी गुरु है—वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा ईश्वर ही है।

योगदर्शन के अनुसार ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी परमात्मा है। संसार के सब जीवों से भिन्न तथा श्रेष्ठ है। जीव नाना प्रकार के क्लेशों को भोगता है। पूर्व वर्णित पाँच प्रकार के क्लेश जीव को अपने वश में हमेशा रखते हैं। जीव नाना प्रकार के कर्मों को करता है और इन कर्मों के फलों को वह भोगता है। शोभन कर्मों के कारण वह सुख भोगता है और पाप कर्मों के करने से वह दुःख भोगता है। पूर्वजन्म में निहित संस्कारों (आशय) के द्वारा भी जीव प्रभावित होता है। पुरुष तीन प्रकार के होत हैं—(१) बद्ध पुरुष, (२) मुक्त पुरुष तथा (३) प्रकृतिलीन पुरुष। इनमें बद्ध पुरुषों के स्वभाव का जो वर्णन अभी किया गया है उससे स्पष्ट है कि ईश्वर ऐसे पुरुषों से भिन्न होता है। वह मुक्त पुरुषों से भी भिन्न ही होता है। मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में था, यद्यपि वह आज दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर चुका है। फलतः मुक्त पुरुष सर्वदा मुक्त नहीं कहा जा सकता। प्रकृतिलीन पुरुष की विशेषता यह है कि वह आगे चल कर अगले जन्म में बन्धन प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वर इन सबों से भिन्न है। वह ऐसा विशिष्ट पुरुष है जो क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मों का फल) तथा आशय (संस्कार)—इन चारों से अपरामृष्ट अर्थात् अप्रभावित रहता है। वह नित्य मुक्त होता है और इसलिए पूर्वकाल के बन्धन-प्राप्त मुक्त पुरुषों से सदा भिन्न होता है। वह सर्वदा बन्धनरहित है, सदा

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर रहता है। वह किसी प्रकार के क्लेश के वश में नहीं रहता। कर्म तथा उनके फल उसे स्पर्श नहीं करते। वह अखण्ड ज्ञान का भाण्डार है। ऐश्वर्य तथा ज्ञान की जो अन्तिम कोटि या पर्यवसान है वही ईश्वर है। अर्थात् उसके समान ऐश्वर्य से युक्त और ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति जगत् में कोई नहीं है। इसलिए ईश्वर जगत् के जीवों से सर्वथा पृथक् है।

ईश्वर की सिद्धि

योग के आचार्यों ने ईश्वर की सिद्धि तथा सत्ता मानने के लिये कतिपय स्वतन्त्र प्रमाणों को प्रस्तुत किया है—(१) ईश्वर की सिद्धि में शब्द सर्वातिशायी प्रमाण है। श्रुति एवं शास्त्र एक स्वर से ईश्वर की सत्ता मानते हैं तथा उसकी प्राप्ति को जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते है। (२) न्यून और अधिक मात्रा वाली वस्तुओं की अल्पतम कोटि के समान एक उच्चतम कोटि भी होती है। वस्तु का सब से छोटा रूप है परमाणु और सब से बड़ा है आकाश। इसी प्रकार ज्ञान की सब से बड़ी मात्रा जहाँ रहती है वही ईश्वर है। जगत् में ज्ञान की धारा के प्रवाहित होने का वह मूल स्रोत है। प्रश्न यह है कि इस जगत् में ज्ञान आया कहाँ से? कहा जा सकता है कि किसी गुरु से। लेकिन उसे कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ? अपने गुरु से। इस प्रकार गुरु की जो अन्तिम कोटि है वही ईश्वर है। किसी ऋषि या मुनि को हम इस कोटि में नहीं रख सकते, क्योंकि वे किसी विशेष काल में होने वाले जीव हैं, परन्तु ईश्वर काल से अनवच्छिन्न है, असीमित तथा नित्य है। फलतः ज्ञान की परम निधि होने की योग्यता जिस व्यक्ति में है वही ईश्वर है। (३) प्रकृति-पुरुष के संयोजक तथा वियोजक रूप से ईश्वर की सिद्धि होती है। जड़ प्रकृकि को सृष्टि के लिए पुरुष के साथ संयोग कौन कराता है? प्रलयकाल में इन दोनों का वियोग कौन करता है? वह सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर ही है जो प्रत्येक पुरुष के कर्मों को तथा अदृष्ट को जानता है और इसी के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष का संयोग घटित कराता है, जीवों की तथा जगत् की सृष्टि के लिए प्रकृति को प्रेरित करता है। साथ ही जीवों को अपने कर्मफलों को भोगने के लिए अग्रसर करता है। ऐसा कार्य करने वाला वही ईश्वर है। सांख्य के साथ अनेक सिद्धान्तों में साम्य रखने पर भी योग ईश्वर को मानता है और साधना तथा सिद्धान्त इन उभय दृष्टियों से अपने दर्शन में ईश्वर को उपयोगी बतलाता है।

ईश्वर की उपयोगिता

इस ईश्वर की उपयोगिता योगसाधन में निनान्त मौलिक है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि मानी जाती है[१५]। 'प्रणिधान' का अर्थ है—**प्रकर्षेण**

चित्तस्य निधानम् ; चित्त का अतिशयरूप से एकत्र लगाना अथवा कर्म के फलों का समर्पण करना। अतः अनुरागपूर्वक चित्त को ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। इस प्रणिधान से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तथा जो समाधि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा परिश्रम से साध्य होती है, सुगमता से उसका सम्पादन इस प्रणिधान से हो जाता है। अतः समाधि की सिद्धि का सरल साधन ईश्वरप्रणिधान है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से वह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर विघ्नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि करा देते हैं। इन सबसे बढ़कर योग में ईश्वर की एक विशिष्ट उपयोगिता यह है कि "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"—अर्थात् ईश्वर ही पूर्वकाल में होने वाले गुरुओं का भी गुरु माना गया है। अतः तारक ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर ही है। सांख्य मुक्त पुरुषों की परम्परा को ही ज्ञान का उपदेष्टा मानता है, परन्तु योग सब के प्राचीन मुक्त पुरुषों के गुरुरूप में ईश्वर को ही मानता है। अतः तारक ज्ञान का प्रदाता होने के कारण ईश्वर का योगदर्शन में मौलिक उपयोग है।

उपसंहार

योग का विषय इतना विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है कि उसका यथार्थ परिचय थोड़े में नहीं दिया जा सकता; तथापि अत्यन्त संक्षेप में पातञ्जलयोग का विवेचन ऊपर किया गया है। योग की उपयोगिता में किसी भी दार्शनिक की विमति नहीं है। योग भारतीयों की अपनी विशिष्ट सम्पत्ति है, जिसका इन्होंने विज्ञान की भाँति अनुशीलन किया है तथा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। वैदिक साहित्य में योगविद्या के महत्त्व का निदर्शन हमने आरम्भ में किया है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में अनेक योग मुद्रा वाली मूर्तियाँ मिली हैं। अतः योग की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है। काय और चित को मलों से निर्मुक्त कर पुरुष की आध्यात्मिक उन्नति में उपयोग करना 'योग' ने ही हमें सिखलाया है। योग व्यावहारिक ही है। इसकी तत्त्वमीमांसा सांख्य के समान है। अतः 'एतेन योगः प्रत्युक्तः (ब्रह्मसूत्र २।१।२)—इस सूत्र द्वारा बादरायण ने योग के सांख्यानुरूप सिद्धान्तों का खण्डन किया है; योगप्रक्रिया उन्हें भी नितान्त माननीय और मननीय है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि योग की ओर इधर आकृष्ट हुई है, जिससे इसका विपुल प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी होने लगा है।



एकादश परिच्छेद

मीमांसा दर्शन

'मीमांसा' शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निर्णय। वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। यज्ञ-यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है, तथा जगत्, जीव एवं ईश्वर के रूप तथा सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानकाण्ड का विषय है। इनमें दिखाई पड़ने वाले आपाततः विरोधों को दूर करने के प्रधान लक्ष्य से इस दर्शन की प्रवृत्ति होती है। कर्मकाण्ड की मीमांसा होने से इस दर्शन का पूरा नाम है—कर्म मीमांसा, परन्तु साधारण रीति से यह 'मीमांसा' शब्द से अभिहित किया जाता है। ज्ञान-काण्ड के यथार्थ निरूपण करने वाले दर्शन का नाम 'ज्ञान मीमांसा' है, जो साधरणतया 'वेदान्त' के नाम से अभिहित होता है। कर्मकाण्ड वेद का पूर्व खण्ड और ज्ञान-काण्ड उत्तर खण्ड है। इसीलिए यह दर्शन **'पूर्वमीमांसा'** तथा वेदान्त **'उत्तर-मीमांसा'** के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'मीमांसा' का तत्त्व बड़ा प्राचीन है। मन्त्रों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में ऐसे वर्णन मिलते हैं कि किसी संदिग्ध विषय पर ऋषियों ने अपनी युक्तियों के सहारे किसी निश्चित तथ्य का निर्णय किया। अतः कर्ममीमांसा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में ही सिद्ध हो गई थी।[1]

मीमांसा दर्शन के दो प्रधान विषय हैं—(क) कर्मकाण्ड की विधियों में जो परस्पर विरोध दिखलाई पड़ते हैं उनके परिहार के लिए व्याख्या-पद्धति का आविष्कार करना। (ख) कर्मकाण्ड के आधारभूत सिद्धान्तों को युक्ति एवं तर्क के द्वारा व्यवस्थित तथा प्रतिष्ठित करना। पहिले विषय का वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है। दूसरा विषय ही दार्शनिक विचार की कोटि में आता है। अत एव उसी का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

कर्मकाण्ड के सिद्धान्त

धर्म दर्शन के ऊपर प्रतिष्ठित रहता है। वैदिक कर्मकाण्ड अपनी सत्ता तथा स्थिति की पूर्णता के लिए कतिपय सिद्धान्तों को मान्यता देता है। आत्मा के अमरत्व की भावना ऐसी ही है। मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा विद्यमान रहता है, तथा अपने किये गये शुभ कर्मों का फल स्वर्ग में भोगता है। कर्मों के फलों

को सुरक्षित रखने वाली शक्ति में विश्वास दूसरा मान्य सिद्धान्त है। वेद में अटूट श्रद्धा कि वेद अभ्रान्त है और किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित न होने से अपौरुषेय है। जगत् की सत्यता में पूर्ण विश्वास और यह मानना कि हमारा जीवन स्वप्नवत् मायिक नहीं; प्रत्युत नितान्त सत्य तथा यथार्थ है—कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके ऊपर कर्मकाण्ड का पूरा प्रासाद खड़ा हुआ है। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। क्वचित् उपनिषदों में भी कर्मकाण्ड की निन्दा की गई है। मीमांसा दर्शन इन विरुद्ध सिद्धान्तों का खण्डन कर कर्मकाण्ड के मौलिक तथ्यों को प्रमाणों तथा तर्कों के द्वारा सिद्ध करता है। इस प्रकार वेद को विरोधियों के प्रबल प्रहारों से बचाने के लिए मीमांसा सदा कटिबद्ध रही है और अपने सिद्धान्तों की रक्षा तथा प्रामाणिकता सिद्ध करने में इसने अपने लिए प्रमाणशास्त्र का भी निर्णय किया है, जो न्याय के प्रमाणशास्त्र से अनेक बातों में विलक्षण तथा स्वतन्त्र है। इसके प्रतिष्ठापक तथा व्याख्याता आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा है, जिन्होंने इस विषय के तार्किक ग्रन्थों का निर्माण कर मीमांसा को अवैदिकों के प्रबल विरोधों से बचाया है।

(१) मीमांसा के मुख्य आचार्य

मीमांसा दर्शन का इतिहास बड़ा ही रोचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसके तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं। मीमांसा में कुमारिल भट्ट एक नवीन युग के उद्भावक माने जाते हैं। अतः उन्हीं को केन्द्र मानकर उनसे पहले समय को कुमारिल-पूर्व काल तथा पीछे के समय को कुमारिल-पश्चात् काल के नाम से पुकार सकते हैं।

जैमिनि (३०० वि० पू०)—महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं, पर इसके प्रथम प्रवर्तक नहीं। उन्होंने प्राचीन तथा समसामयिक इन आठ मीमांसक आचार्यों के नाम का उल्लेख किया है—आत्रय, आश्मरथ्य, कार्ष्णाजिनि, बादरि, ऐतिशायन, कामुकायन, लाबुकायन और आलेखन; पर इन आचार्यों के सूत्रों की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है[1]। जैमिनि ने १६ अध्यायों में मीमांसा दर्शन के मूलभूत सूत्रों की रचना की, जिसमें पहले के १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणी' के

---

१. इन आचार्यों के अतिरिक्त 'काशकृत्स्नि' नामक एक अन्य मीमांसा मत के आचार्य थे, जिनका निर्देश महाभाष्य में पतञ्जलि ने किया है—काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी—४।१।१४ सूत्र पर महाभाष्य।

नाम से और अन्तिम ४ अध्याय 'संकर्षणकाण्ड' या 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बहुत से आलोचक देवताकाण्ड को जैमिनि की रचना नहीं मानते। मीमांसादर्शन के सूत्रों की संख्या २६४४ तथा अधिकरणों की संख्या ९०९ है। ये सूत्र अन्य दर्शनों के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर हैं। इन द्वादश अध्यायों में धर्म के विषय में ही विचार किया गया है। प्रथम अध्याय का विषय है—धर्म-विषयक प्रमाण, दूसरे का भेद (एक धर्म से दूसरे धर्म का पार्थक्य), तीसरे का अङ्गत्व, चौथे का प्रयोज्यप्रयोजकभाव, पाँचवें का क्रम (अर्थात् कर्मों में आगे पीछे होने का निर्देश), छठे का अधिकार (यज्ञ करने वाले पुरुष की योग्यता), सातवें तथा आठवें का अतिदेश (एक कर्म की समानता पर अन्य कर्म का विनियोग), नौवें का ऊह, दसवें का बाध, ग्यारहवें का तन्त्र तथा अन्तिम बारहवें अध्याय का विषय प्रसङ्ग है। इस दर्शन की मूलभित्ति इन्हीं १२ अध्यायों पर अवलम्बित है। इनके ऊपर कालान्तर में अनेक वृत्ति, भाष्य तथा वार्तिकों की रचना की गई।

मीमांसा के सबसे प्राचीन वृत्तिकार आचार्य **उपवर्ष** हैं, जिनके सम्मान्य मत का उल्लेख शबरस्वामी ने मीमांसाभाष्य (१।१।५) में तथा शङ्कराचार्य ने शारीरिकभाष्य (३।३।५३) में किया है। कहा जाता है कि उन्होंने पूर्व तथा उत्तर दोनों मीमांसाओं के ऊपर वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इनका समय १०० ई०—२०० ई० तक माना जाता है। **भवदास** (लगभग १००—२०० ई०) की वृत्ति का उल्लेख कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक (प्रतिज्ञासूत्र श्लोक ६३) में मिलता है। प्रपञ्चहृदय (पृ० ३९) के कथनानुसार भवदास ने पूर्वमीमांसा के १६ अध्यायों पर वृत्ति लिखी थी। पर इन वृत्तिकारों की वृत्तियाँ अभी उपलब्ध नहीं हैं।

शबर स्वामी (२०० ई०)—ने समग्र बारहों अध्यायों पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य की रचना की है। पाण्डित्य से ओत-प्रोत इस ग्रन्थ की तुलना विषय की पुंखानुपुंख व्याख्या की रोचक शैली के कारण पातञ्जल महाभाष्य तथा शाङ्करभाष्य से की जा सकती है। ऐसी प्रसिद्धि है कि इनका नाम आदित्यसेन था, पर जैनों के उत्पीड़न से बचने के लिए इन्होंने अरण्यचारी शबर का वेष धारण किया था। इनके अनन्तर भर्तृमित्र ने सूत्रों पर वृत्ति लिखी, जिसका नाम उम्बेक की तात्पर्यटीका (पृ० ३) के प्रमाण पर 'तत्त्वशुद्धि' है। कुमारिल का कथन है कि इन्होंने आस्तिक मीमांसा को अपनी मनमानी व्याख्या से लोकायत (नास्तिक दर्शन) का रूप दे डाला था, जिसे दूर करने के लिए उन्होंने वार्तिक

की रचना की[२]। मीमांसा में तीन विशिष्ट मत उपलब्ध होते हैं—भाट्टमत, गुरुमत तथा मुरारिमत। इन तीनों के उद्भावक क्रमशः कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि मिश्र थे।

भाट्टमत के आचार्य

मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल युग (६०० ई०—९०० ई०) वास्तव में सुवर्ण युग के नाम से अभिहित होने योग्य है। आचार्य कुमारिल तथा उनके शिष्यों ने प्रामाणिक व्याख्या ग्रन्थों तथा निबन्धों की रचना से न केवल मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्कों से बचाया, प्रत्युत सिद्धान्तों की बोधगम्य विस्तृत व्याख्या करके इसे लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित किया। कुमारिल भट्ट के समान प्रखर तथा प्रकाण्ड विद्वान् दूसरा नहीं हुआ। आचार्य शङ्कर के साथ कुमारिल ने बौद्धों को परास्त करके वैदिक धर्म की मर्यादा-रक्षा की। इन्होंने समग्र शाबर भाष्य पर तीन पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति ग्रन्थ लिखे, जो मीमांसा के आधारस्तम्भ हैं—(१) कारिकाबद्ध विपुलकाय **'श्लोकवार्त्तिक'** प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद का व्याख्यान है। (२) **'तन्त्रवार्त्तिक'** पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक की गद्यमयी व्याख्या है, तथा (३) **'टुप्टीका'** अन्तिम नौ अध्यायों की संक्षिप्त टिप्पणी है। पाण्डित्य की दृष्टि से दोनों वार्त्तिक असाधारण हैं। बौद्धों के सिद्धान्तों का, विशेषतः दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय का, सुन्दर पाण्डित्यपूर्ण समीक्षण कर मीमांसा दर्शन के मान्य सिद्धान्तों की यथार्थता प्रदर्शित की गई है। कुमारिल द्वारा 'बृहट्टीका' और 'मध्यटीका' नामक ग्रन्थों की रचना प्रसिद्ध है, परन्तु ये ग्रन्थ अभी तक कहीं नहीं मिले हैं। इनका समय ७ म शतक का अन्त तथा ८ म का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

कुमारिल के प्रधान शिष्य प्रतिभामण्डित **मण्डन मिश्र** थे। शङ्कर-दिग्विजय के आधार पर प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य के द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये, तथा सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए। पर दोनों के सिद्धान्तगत भेद के कारण मण्डन तथा सुरेश्वर की एकता में विद्वानों को सन्देह है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) विधिविवेक (विध्यर्थ का विचार), (२) भावनाविवेक (आर्थी भावना की मीमांसा), (३) विभ्रमविवेक (पाँचो सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या), (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसासूत्रों का श्लोकबद्ध संक्षेप)। वाचस्पति ने प्रथम ग्रन्थ की टीका 'न्यायकणिका' तथा शब्दबोधविषयक 'तत्त्वबिन्दु' की रचना की है। उम्बेक कुमारिल के दूसरे शिष्य थे,

जो उत्तररामचरित आदि नाटकत्रयी के रचयिता भवभूति से अभिन्न माने जाते हैं। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की है—(क) भावनाविवेक की टीका तथा (ख) 'तात्पर्यटीका'—'श्लोकवार्त्तिक' की इस सर्वप्रथम टीका में अल्पाक्षरों में वार्त्तिक का रहस्योद्घाटन किया गया है। यह ग्रन्थ 'स्फोटवाद' तक ही है। शेष टीका की पूर्ति 'जयमिश्र' ने की है, जो कुमारिल के पुत्र बतलाये जाते हैं। उम्बेक श्लोकवार्त्तिक के मर्मज्ञ माने जाते हैं ('उम्बेकः कारिका वेत्ति'—गुणरत्न की तर्करहस्यदीपिका, पृ० २०)।

भाट्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये अनेक माननीय मीमांसकों ने जैमिनि के सूत्रों पर तथा कुमारिल के ग्रन्थों पर सुबोध टीकायें लिखीं। महाव्रत महोदधि के प्रतिस्पर्धी थे। कृष्णयति मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय (२।३) तथा भवनाथ ने नवविवेक में इनके मत का उल्लेख किया है। इन ग्रन्थकारों में तीन आचार्य अपनी ग्रन्थसम्पत्ति तथा विवेचनपद्धति के कारण मीमांसकमूर्धन्य हैं—(१) पार्थसारथि मिश्र (१२ शतक), (२) माधवाचार्य (१४ शतक), (३) खण्ड देव (१७ शतक)।

(१) **पार्थसारथि मिश्र** ने भाट्टमत के सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए चार ग्रन्थों की रचना की। जिनमें दो टीका-ग्रन्थ तथा दो प्रकरण ग्रन्थ हैं। (क) तर्करत्न—टुप्टीका की व्याख्या; (ख) न्यायरत्नाकर—श्लोकवार्त्तिक की टीका; (ग) न्यायरत्नमाला—जिसमें स्वतःप्रामाण्य, व्याप्ति आदि सात विषयों की स्वतन्त्ररूपेण विशद समीक्षा है। इस ग्रन्थ पर रामानुजाचार्य (१७ शतक) का 'नाणकरत्न' व्याख्यान बड़ोदा से अभी प्रकाशित हुआ है। (घ) शास्त्रदीपिका—इस प्रमेयबहुल प्रख्यात ग्रन्थरत्न की दो टीकायें प्रसिद्ध हैं—रामकृष्ण भट्ट की तर्कपाद पर (१) 'युक्तिस्नेहप्रपूरणी' और शेषांश पर सोमनाथ की (२) 'मयूखमालिका'। पार्थसारथि के पिता का नाम यज्ञात्मा था। ये मिथिला के निवासी माने जाते हैं। श्लोकवार्त्तिक पर 'काशिका' के कर्ता सुचरित मिश्र तथा तन्त्रवार्त्तिक की टीका 'न्यायसुधा' के निर्माता सोमेश्वर भट्ट इनके समकालीन थे।

(२) **माधवाचार्य**—विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक, वेदभाष्यकर्ता श्री सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता, माधव एक विशिष्ट विद्वान् थे। मीमांसा के अधिकरणों को ग्रहण कर इन्होंने नितान्त लोकप्रिय तथा उपयोगी 'न्यायमालाविस्तर' लिखा है। इनके समकालीन विशिष्टाद्वैताचार्य वेदान्तदेशिक ने 'मीमांसापादुका' (तर्कपाद की पद्यात्मिका टीका) लिखी है। इनकी 'सेश्वरमीमांसा' अपूर्व

पुस्तक है, जिसमें पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं का सामञ्जस्य दिखला कर एक नवीन मार्ग की उद्भावना की गई है।

(३) **खण्डदेव मिश्र**—इनका नाम भाट्टमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। भाट्टमत में 'नव्यमत' के उद्भावक ये ही हैं, जो 'नव्यन्याय' के समान दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। ये काशी के ही रहने वाले थे। अन्त समय में संन्यास लेने पर इनका नाम 'श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र' पड़ा था। १७१४ विक्रमी (१६५७ ई०) में देवर्षि ब्राह्मणों के विषय में जो व्यवस्थापत्र दिया गया था उसमें इनके हस्ताक्षर हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट इन्हीं के शिष्य थे। इसके आठ वर्ष बाद १७२२ विक्रमी में (शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार) इनकी मृत्यु हुई। इनके उच्चकोटि के पाण्डित्यमण्डित तीन ग्रन्थ हैं—(क) भाट्टकौस्तुभ (सूत्रों की विस्तृत टीका); (ख) भाट्टदीपिका—अधिकरणप्रस्थान पर निर्मित यह ग्रन्थ खण्डदेव का सर्वस्व है। इसकी तीन टीकायें मिलती हैं—(i) प्रभावली—साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट रचित; (ii) भाट्टचन्द्रिका (भास्करराय रचित), (iii) भाट्टचिन्तामणि [वाञ्छेश्वरयज्वा (१७८०–१८६० ई०) कृत], (ग) भाट्टरहस्य—शाब्द-बोधविषयक अपूर्व ग्रन्थ 'मञ्जूषा' तथा 'व्युत्पत्तिवाद' के समान है। खण्डदेव के विद्यागुरु विश्वेश्वर भट्ट (गागाभट्ट) ने 'भाट्टचिन्तामणि' में जैमिनीय सूत्रों पर टीका लिखी है, तथा इनके समकालिक सुप्रसिद्ध अप्पयदीक्षित ने सटीक विधि-रसायन, उपक्रमपराक्रम, वादनक्षत्रावली तथा चित्रकूट की रचना की है। लोक-प्रिय मीमांसान्यायप्रकाश (आपोदेवी) के कर्ता आपदेव तथा उसकी विस्तृत टीका 'भाट्टालंकार' के रचयिता उनके पुत्र विख्यात अनन्तदेव खण्डदेव के समकालीन थे।

इनके अतिरिक्त नारायणभट्ट (१६ शतक) का 'मानमेयोदय', लौगाक्षि भास्कर का 'अर्थसंग्रह', शंकरभट्ट का 'मीमांसा बालप्रकाश' और 'विधिरसायन-दूषण', अन्नं भट्ट की सुबोधिनी (तन्त्रवार्त्तिक की टीका) तथा राणकोज्जीवनी (न्यायसुधा की व्याख्या), रामेश्वरसूरि की द्वादशलक्षणी की सुबोध टीका 'सुबोधिनी', कृष्णयज्वा की 'मीमांसा-परिभाषा' आदि उपयोगी और लोक-प्रिय ग्रन्थ हैं।

गुरुमत के आचार्य

गुरुमत के संस्थापक प्रभाकर मिश्र थे। प्रसिद्धि है कि ये भट्ट कुमारिल के पट्टशिष्य थे, जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से मुग्ध होकर इन्हें 'गुरु'

की उपाधि दी। तब से इनका उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है, परन्तु इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से ये कुमारिल से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। अतः इनके समयनिरूपण में मतभेद है। भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रभाकर वह जाज्वल्यमान रत्न हैं जिनके व्याख्यानकौशल और बुद्धिवैभव की चमक ने विपश्चितों को चमत्कृत कर दिया है। अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठा के लिए इन्होंने शाबरभाष्य पर दो टीकायें निर्मित की हैं—(१) बृहती या निबन्धन, जो प्रकाशित हुई है; (२) लघ्वी या विवरण, जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रभाकर की व्याख्यायें उदारतापूर्ण हैं, जो किसी कारण सर्वसाधारण में मान्य न हो सकीं। अतः इस मत के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। ग्रन्थ भी अप्रकाशित ही हैं। गुरुमत की प्रतिष्ठा आचार्य **शालिकनाथ** ने की। इन्होंने तीन पञ्चिकाओं की रचना की—(१) ऋजुविमला पञ्चिका—बृहती की टीका; (२) दीपशिखा पञ्चिका—लघ्वी पर; (३) प्रकरणपञ्चिका—नितान्त मौलिक प्रकरण ग्रन्थ। ये सम्भवतः मिथिला या बंगाल के निवासी थे और उदयानाचार्य के पूर्ववर्ती थे। अतः इनका समय नवम शताब्दी के लगभग है। शालिकनाथ के सहाध्यायी महोदधि भी गुरुमत के प्रसिद्ध आचार्य थे, जिनका कृष्ण मिश्र तथा भवनाथ ने उल्लेख किया है।

भवनाथ (या भवदेव) ने शालिकनाथ के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरणार्थ 'नयविवेक' की रचना की, जो मीमांसा दर्शन के अधिकरणों की व्याख्या है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र के मत का भी उल्लेख किया है (नयविवेक, पृ० २७५), तथा इनके मत का निर्देश आनन्दबोधाचार्य (११ शतक) ने 'शब्दनिर्णय-दीपिका' में किया है। अतः भवनाथ को दोनों के बीच में दशम शतक में मानना न्यायसंगत है। नयविवेक की चार टीकायें उपलब्ध हैं—(क) रन्तिदेव का विवेक-तत्त्व; (ख) वरदराज—नयविवेक-दीपिका; (ग) शंकर मिश्र की—पञ्चिका; (घ) दामोदर का—नयविवेकालंकार।

नन्दीश्वर ने 'प्रभाकर विजय' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ का निर्माण किया है। इन्होंने शालिकनाथ तथा भवनाथ का (नाथद्वयात्तसारेऽस्मिन् शास्त्रे मम परिश्रमः—श्लोक ३) तथा पार्थसारथि का उल्लेख किया है और स्वयं श्रीभाष्य के वृत्तिकार सुदर्शनाचार्य द्वारा उल्लिखित हैं। अतः इनका समय १२००–१३०० के बीच में है। **रामानुजाचार्य** (१२ वीं शताब्दी) का 'तन्त्ररहस्य' लघुकाय होने पर भी बड़ा सुन्दर है। इसे प्रभाकर मत का प्राइमर (प्रवेशिका) कहना चाहिए। गुरुमत के ये ही सुप्रसिद्ध आचार्य और उनके प्रकाशित ग्रन्थ हैं।

मुरारि मिश्र—मीमांसा में तृतीय संप्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। उनका व्यक्तित्व और ग्रन्थ विस्मृति-गर्भ में अब तक लीन हैं। गंगेश उपाध्याय तथा उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है। मुरारि ने भवनाथ के मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय १२ शतक प्रतीत होता है। ये ही 'त्रिपादीनीतिनयन' और 'एकादशाध्यायाधिकरण' इनके अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं। इनके स्वतन्त्र मत का उल्लेख आगे किया जायगा। सम्भवतः इन्होंने समग्र द्वादशलक्षणी पर टीका लिखी थी।

(२) मीमांसा ज्ञानमीमांसा

अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं[३]। अज्ञात कहने से स्मृति और अनुवाद का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि इनका विषय ज्ञात पदार्थ को सत्य, वास्तविक होना चाहिए। अतः भ्रम तथा संशय ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं है। इस प्रमा के कारण को प्रमाण कहते हैं। जिस ज्ञान में अज्ञातपूर्व वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो तथा दोषरहित हो, वही **प्रमाण** है।[४] भाट्ट मत में प्रमाण छः प्रकार के हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि। अद्वैत वेदान्त को भी ये ही प्रमाण मान्य हैं, परन्तु प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना न्यायदर्शन के अनुसार ही है, परन्तु अवान्तर बातों में स्थल-स्थल पर पार्थक्य दीख पड़ता है। मीमांसा वास्तववादी है। उसकी दृष्टि में यह जगत् आभासमात्र न होकर वास्तविक है। मीमांसा को प्रत्यक्ष के दोनों भेद मान्य हैं। निर्विकल्प को वह 'आलोचन ज्ञान' कहती है।

प्रत्यक्ष और अनुमान

सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशिष्टताओं का पता चलता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी विद्यमान रहती हैं। निर्विकल्पक ज्ञान को वैयाकरण तथा सविकल्पक को बौद्ध नहीं मानते। न्यायसम्मत षड्विध सन्निकर्षों के स्थान में दो ही सन्निकर्ष होते हैं—संयोग और संयुक्ततादात्म्य। भाट्ट मत समवाय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में जाति, गुण और कर्म का द्रव्यों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अतः घटत्व, घटरूप तथा घटकर्म के अनुभव में 'संयुक्ततादात्म्य' सन्निकर्ष होता है। प्रभाकर संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय

तीन ही सन्निकर्ष मानते हैं। भाट्टमत की अनुमान प्रक्रिया नैयायिकों से कतिपय अंश में भिन्न है (विशेषतः हेत्वाभास के विषय में)। पञ्चावयव वाक्य के स्थान पर मीमांसा तथा वेदान्त तीन ही वाक्य मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त; अथवा दृष्टान्त, उपनय और निगमन[1]।

उपमान

मीमांसा के मत में उपमान एक स्वतन्त्र प्रमाण है। न्याय भी यही मानता है, परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में महान् अन्तर है। मीमांसा के अनुसार उपमान-जन्य ज्ञान तब होता है जब किसी पहिले देखी गई वस्तु के सदृश कोई पदार्थ देखने पर स्मृत पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान होता है। 'मानमेयोदय' के शब्दों में, दिखाई पड़ने वाली वस्तु के सादृश्य से स्मरण की गई वस्तु के सादृश्य का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उदाहरण से इसे समझिए। गाय को देखने वाला व्यक्ति जब जंगल में जाता है और उसी के समान नील गाय को देखता है, तब सादृश्य के कारण उसे गाय की स्मृति होती है और उसे यह ज्ञान होता है कि 'गाय नील गाय के समान है'। यही ज्ञान उपमिति कहलाता है।

यह ज्ञान एक स्वतन्त्र ज्ञान है जिसका अन्तर अन्य प्रमाणों से स्पष्टतया प्रतीत होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य को धारण करने वाली वस्तु (गाय) ही जब उस समय दृष्टिगोचर नहीं होती, तब प्रत्यक्ष ही क्यों कर हो सकता है ? जिस समय हमें गाय का ज्ञान पहिले हुआ, उस समय नील गाय के साथ उसका सादृश्य कथमपि ज्ञात नहीं था। फलतः अन्य वस्तु के साथ सादृश्य का अनुभव न होने से यह 'स्मृति' भी नहीं कहा जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण न तो यह अनुमान के अन्तर्गत आ सकता है और न शब्द के। इसीलिए उपमान सब प्रमाणों से अलग एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है।

उपमान न्यायमत में इससे नितान्त भिन्न होता है। किसी आप्त पुरुष के मुख से किसी व्यक्ति ने यह कथन सुना कि 'गवय गाय के समान होता है'। यह वाक्य सुनकर वह व्यक्ति जंगल में जाता है और गाय की समानता रखने वाले एक जन्तु को देखता है, तब आप्त वाक्य के श्रवण होने पर 'यही गवय नामक जन्तु है' यह ज्ञान होता है, यही न्यायमत में उपमान है। मीमांसा को इसमें विशेष अरुचि है। उसकी दृष्टि में इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना

---

१. मानमेयोदय, पृ० ६४; वेदान्त परिभाषा, पृ० ९२।

जा सकता, क्योंकि इसके अवयवों में अन्य प्रमाणों की सत्ता वर्तमान है। 'यह जन्तु गाय के समान है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। 'गाय के समान नील गाय है' यह ज्ञान आप्त वाक्य की स्मृति से उत्पन्न होता है। फलतः 'यह जन्तु नील गाय है'—यह ज्ञान अनुमान के द्वारा सिद्ध हो जाता है। इसके लिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है; नैयायिकों का यह प्रयास व्यर्थ है।

शब्द

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना 'शाब्दी' प्रमा कहलाता है। वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य की प्रमाणता तभी मानी जाती है, जब वह आप्त पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो। अपौरुषेय स्वयं श्रुति है। वाक्य दो प्रकार का और माना जाता है—किसी पदार्थ की सत्ता के प्रदर्शित करने वाले वाक्य को 'सिद्धार्थक वाक्य' कहते हैं, तथा किसी अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को 'विधायक वाक्य' कहते हैं, जो उपदेशक तथा अतिदेशक होने से द्विविध माना जाता है।

वेदों में दोनों प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। एक वाक्य वे हैं जो किसी वस्तु की सत्ता या स्थिति के बोधक होते हैं, जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। यह वाक्य ब्रह्म के स्वरूप का परिचायक है। अत एव यह 'सिद्धार्थक वाक्य' कहलावेगा। दूसरे प्रकार के वाक्य वे हैं जो किसी यज्ञ-याग, या विधि-अनुष्ठान का वर्णन करते हैं, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'—अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाला व्यक्ति यज्ञ करे। यह 'विधायक वाक्य' कहलाता है। मीमांसा का यह दृढ़ मत है कि वेद का तात्पर्य विधायक या विधि-वाक्यों में ही है, सिद्धार्थक वाक्यों में नहीं। दूसरे प्रकार के वाक्य भी अन्ततोगत्वा विधि की ओर ही श्रोताओं को प्रेरित करते हैं। इसी से उनका तात्पर्य होता है। ऊपर ब्रह्म-बोधक वाक्य का तात्पर्य ब्रह्म के स्वरूप को बतलाने में नहीं, प्रत्युत ऐसे स्वरूप वाले ब्रह्म के जानने में ही है। मीमांसा की दृष्टि में वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान को 'धर्म' कहते हैं और वेद से जो भी वस्तु प्रतिपादित होती है वह कर्मरूप ही होती है, ज्ञान रूप नहीं। ज्ञान का भी उपयोग इसी में है कि वह कर्म को प्रेरित करता है और उसे स्फूर्ति प्रदान करता है। फलतः हम मीमांसा शास्त्र को व्यवहारवाद (प्रैग्मेटिज़्म) का एक विशिष्ट रूप मान सकते हैं। क्योंकि यहाँ ज्ञान-बोधक वाक्यों का पर्यवसान विधि-वाक्यों में ही माना गया है।

मीमांसा-दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। धर्म के लिए प्रमाणभूत वेद हैं। अतः मीमांसा ने वेद के स्वरूप तथा प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए बड़ी सबल युक्तियाँ दी हैं। बौद्धों और नैयायिकों के मतों का खण्डन मीमांसा करती है। वेद नित्य हैं तथा पुरुषनिर्मित न होने से अपौरुषेय हैं।

वेद की अपौरुषेयता

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—**पौरुषेय** वाक्य, जिसका कर्ता कोई न कोई व्यक्ति ही होता है। **अपौरुषेय** वाक्य, जो किसी के द्वारा निर्मित नहीं होता, प्रत्युत स्वयं नित्य होता है। हमारे आपके वचन पौरुषेय वाक्य हैं, परन्तु वेद अपौरुषेय हैं। इसकी पोषक युक्तियाँ कुछ दी जाती हैं[1]।

(क) नैयायिक लोग वेद को ईश्वर की रचना मानते हैं और इसलिए वेद उनकी दृष्टि में 'पौरुषेय' ही होता है, परन्तु मीमांसा ईश्वर की सत्ता नहीं मानती, फलतः ईश्वर के अभाव में उसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता।

(ख) वेद में किसी कर्ता का नाम नहीं पाया जाता। कतिपय मन्त्रों के ऋषियों के नाम अवश्य पाये जाते हैं, परन्तु वे उन मन्त्रों के द्रष्टा, साक्षात्-कर्ता नहीं होते। 'ऋषि' शब्द का अर्थ है 'द्रष्टा' देखने वाला, कर्ता नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें 'अपौरुषेय' मानना ही न्यायसंगत होगा।

(ग) वेद की नित्यता का सबसे पक्का प्रमाण है शब्द की अनित्यता और दार्शनिक दृष्टि से मीमांसकों का यह **'शब्द-नित्यतावाद'** बड़े महत्त्व की कल्पना है।

वेदों की नित्यता का सर्वश्रेष्ठ साधक प्रमाण शब्दों की नित्यता है। कानों से सुनाई पड़ने वाली ध्वनि अनित्य है, वह केवल शब्द के स्वरूप की सूचिका है। शब्द स्वयं नित्य हैं। सबसे सबल तथा प्रसिद्ध युक्ति यह है कि उच्चारित ध्वनि ही यदि वास्तव में शब्द होती तो एक ही शब्द के दस बार उच्चारण करने पर दस शब्दों का अनुभव होता, पर अनुभव होता है एक ही शब्द का। फलतः उच्चारण शब्द को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत उसके रूप का आविर्भाव करता है। अतः उच्चारण के ऊपर अवलम्बित न होने से शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक तथा नित्य है[1]। वेद नित्य शब्दसमूहात्मक हैं, अतः वे भी नित्य हैं। मीमांसा स्फोटवाद को नहीं मानती है[1]।

---

१. द्रष्टव्य मीमांसासूत्र १।१।२७-३२ तथा उसका शाबरभाष्य।

लौकिक ज्ञान के लिए आप्त पुरुष का कथन प्रमाण माना जा सकता है, पर धर्म का प्रतिपादन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। अतः धर्म के लिए वेदों की ही प्रामाणिकता सबसे अधिक है। वेद के विषय-विभाग का विवेचन मीमांसकों ने बड़े विस्तार तथा छानबीन के साथ किया है[1]। वेद के ५ प्रकार के विषय हैं—(१) **विधि**, (२) **मन्त्र**, (३) **नामधेय** (४) **निषेध**, और (५) **अर्थवाद**। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इस प्रकार के प्रवर्तना-गर्भित वाक्यों को 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थस्मारकों को 'मन्त्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम की 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों के कथन को 'अर्थवाद' का नाम दिया गया है। इन पाँच विषयों के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधिवाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अंगभूत हैं, तथा पुरुषों को अनुष्ठान के लिए उत्सुक बनाकर विधिवाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। 'विधि' का विचार मीमांसा के लिए प्रधान विषय है। विधि चार प्रकार की होती है—कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली विधि **'उत्पत्ति-विधि'** है; अंग तथा प्रधान अनुष्ठानों की सम्बन्ध-बोधक विधि को **'विनियोग-विधि'**; कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व की विधि को **'अधिकार-विधि'** तथा प्रयोग की शीघ्रता की बोधक विधि को **'प्रयोग-विधि'** कहते हैं। विध्यर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट् प्रमाणों को मीमांसा स्वीकार करती है। उसके द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों का उपयोग हिन्दू स्मृतियों की व्याख्या करने में प्रधान रूप से किया जाता है।

वेद का विषय-विभाग

अर्थापत्ति पञ्चम प्रमाण है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की सिद्धि जिस अर्थ के अभाव में न होती हो, उसे अर्थापत्ति कहते हैं, अर्थात् किसी अर्थ की अर्थान्तर के विना अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वह अर्थापत्ति कहलाती है[7]। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति की दशा पर विचार कीजिए जो दिन में बिलकुल उपवास करता है, परन्तु फिर भी मोटा होता जा रहा है। यहाँ उपवास करना तथा मोटा होना—इन दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। अतः इस विरोध को दूर करने के लिए 'यह रात में अवश्य

अर्थापत्ति

१. देखिए अर्थसंग्रह, पृ० १० तथा मीमांसापरिभाषा, पृ० ३।

भोजन करता होगा' इस अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है; क्योंकि विना इसका आक्षेप किये पूर्वोक्त वाक्य की उक्ति सिद्ध नहीं हो सकती।

दृष्टि अर्थ की व्याख्या के लिए किसी अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना जिसके विना उस वस्तु की उपपत्ति ही नहीं हो सकती, **अर्थापत्ति** कहलाती है। अर्थापत्ति एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा उपलब्ध ज्ञान को न हम प्रत्यक्ष से, न शब्द से और न अनुमान से ही जान सकते हैं। मोटे होने वाले व्यक्ति को भोजन करते हमने नहीं देखा, अतः उसे प्रत्यक्ष हम नहीं कह सकते। उसके रात के समय भोजन करने की बात किसी आप्त पुरुष के बचनों के द्वारा हमें ज्ञात नहीं हुई। अतः शब्द भी यहाँ ठीक नहीं। अनुमान के लिए ठीक व्याप्ति ही नहीं जमती। इसलिए इससे उत्पन्न ज्ञान इन तीनों प्रमाणों के भीतर अन्तर्भूत नहीं हो सकता। अत एव मीमांसकों ने 'अर्थापत्ति' को स्वतन्त्र प्रमाण माना है।

दैनिक जीवन में इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है। वाक्यों के अर्थ समझने में भी 'अर्थापत्ति' सहायता करती है। जैसे किसी ने कहा 'काशी नगरी गंगा जी पर है', इस वाक्य का अर्थ ठीक नहीं जमता। इसलिए अर्थापत्ति के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि 'काशी नगरी गंगा जी के तट के ऊपर है।' यहाँ 'गंगा पर' का अर्थ होता है 'गंगा के तट पर' और यह अर्थापत्ति के द्वारा होता है। प्रतिदिन के जीवन में अर्थापत्ति हमारी विशेष सहायता करती है। हम अपने मित्र से मिलने के लिये शाम को उनके घर जाते हैं, सबेरे उनसे भेंट हो चुकी है, वे भले चंगे हैं; इसका ज्ञान हमें पहिले से है, परन्तु वे घर पर उस समय नहीं मिलते। फलतः हम अर्थापत्ति के द्वारा जानते हैं कि वे कहीं बाहर गये होंगे। अतः जीवित व्यक्ति का घर पर न मिलना तभी उत्पन्न हो सकता है जब उसके बाहर जाने की घटना की कल्पना की जाय। इसी प्रकार इसका बहुल उपयोग हमारे लिए है।

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं—(१) दृष्टार्थापत्ति–जहाँ देखी गई किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त। (२) श्रुतार्थापत्ति–जहाँ किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अन्य शब्द की कल्पना होती है, जैसे 'पिधेहि' (बन्द करो) पद को सुनते ही 'द्वारं' (द्वार को) पद की कल्पना की जाती है।

ये पाँचों प्रमाण भावपदार्थों की उपलब्धि के साधक हैं, पर अभाव की उपलब्धि के प्रमाण की भी आवश्यकता है। हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को

अनुपलब्धि

बतला सकती हैं, अभाव को नहीं। अतः अनुपलब्धि की स्वतन्त्र सत्ता है। यदि लेखनी होती तो अवश्य उपलब्ध होती, पर इस समय वह उपलब्ध नहीं हो रही है। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित कर रही है। साधारण अनुपलब्धि से किसी पदार्थ के अभाव का पता नहीं चलता, अन्यथा अन्धकार में अदृश्य तथा अनुपलभ्यमान वाटिका के वृक्षों का भी अभाव सिद्ध हो जायगा। अतः यहाँ 'योग्यानुपलब्धि' का ग्रहण करना चाहिए। किसी पदार्थ के उपलब्धि-ज्ञान के समग्र साधन उपस्थित हैं, पर फिर भी उस पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है। इससे उसका अभाव सिद्ध होता है।

अनुपलब्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि हम नेत्रों से घट को देख सकते हैं, घटाभाव को तो नहीं। घट के अभाव से हमारे नेत्र इन्द्रिय का कभी संयोग नहीं होता। इसलिए यह प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत अनुपलब्धि (अदर्शन) के द्वारा ही अभाव का ज्ञान हमें होता है। यह अनुमान भी नहीं है, अनुमान के लिए जिस उचित व्याप्ति की सत्ता होनी चाहिए वह यहाँ नहीं है। इसीलिए अनुपलब्धि को अनुमान से भिन्न मानना पड़ता है। आप्त वाक्य के न होने से यह शब्द भी नहीं है और सादृश्य ज्ञान न होने से उपमान भी नहीं है। फलतः यह है एक स्वतन्त्र प्रमाण। कुमारिलभट्ट के अनुयायी (भाट्ट मीमांसक) तथा अद्वैती वेदान्ती इसे प्रमाण मानते हैं, परन्तु प्रभाकर इसे नहीं मानते। उनका मत है कि अभाव जिस स्थान में रहता है तद्रूप ही होता है। घट का अभाव जिस स्थान पर, जिस अधिकरण में (जैसे घर में) रहेगा वह अधिकरणरूप ही होता है। अतः प्रभाकर की दृष्टि में अभाव की सिद्धि के लिए एक नवीन प्रमाण मानने की आवश्यकता तनिक भी नहीं है।

इन ६ प्रमाणों के द्वारा लौकिक तथा शास्त्रीय प्रमेयों की सत्ता सप्रमाण सिद्ध की जा सकती है[८]।

प्रमाण विचार

यह सर्वमान्य नियम है कि जब किसी ज्ञान के उदय के समय उसकी कारण-सामग्री निर्दोष हो, तब वह ज्ञान यथार्थ कहलाता है। दिन दोपहर के उजाले में हम अपने निर्विकार नेत्रों से देखते हैं कि टेबुल के ऊपर लाल रंग की कलम पड़ी है, तो यह यथार्थ ज्ञान कहलावेगा, क्योंकि इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाले कारणों में किसी प्रकार का दोष या त्रुटि नहीं है। दिन में पूरा प्रकाश है। नेत्रों में कोई

विकार नहीं है और न कहीं अन्धकार का घेरा है कि आँख काम न करती हो। फलतः यह ज्ञान यथार्थ है। तब हम लिखने के लिए कलम लेने के वास्ते अपना हाथ बढ़ाते हैं और हाथ में हमारे लिखने की सहायता देने वाली कलम आ जाती है। अतः पहिले था ज्ञान और अब हुई क्रिया। यहाँ ज्ञान तथा क्रिया में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। ज्ञान जो बतलाता है उसे क्रिया सत्य सिद्ध करती है। परन्तु यदि कारणसामग्री में दोष होता है, तब ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। पाण्डुरोग का रोगी शंख को भी पीला ही देखता है। यहाँ उसके नेत्र में विकार होने के कारण उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान यथार्थ नहीं माना जा सकता। इस वस्तुस्थिति से मीमांसक गण अपने सिद्धान्त पर पहुँचते हैं—(१) ज्ञान की प्रामाणिकता (ज्ञान की सत्यता) कहीं बाहर से नहीं आती, बल्कि वह ज्ञान की उत्पादक सामग्री के संग में स्वतः अपने आप ही उत्पन्न होती है। (२) ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान उसी समय होता है। उस ज्ञान की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। संस्कृत के शब्दों में हम इन दोनों तथ्यों को सुगमता से व्यक्त कर सकते हैं—(१) प्रमाणं स्वतः उत्पद्यते तथा (२) प्रमाणं स्वतः ज्ञायते (अर्थात् प्रमाण स्वतः उत्पन्न होता है और प्रमाण स्वतः जाना जाता है)।

इसी सिद्धान्त को **स्वतः प्रामाण्यवाद** के नाम से पुकारते हैं; मीमांसकों का यही विशिष्ट मत है।

मीमांसक की दृष्टि में सत्य स्वतः प्रकाश्य होता है। उसे सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। हमारी पहिली दृष्टि यह होती है कि ज्ञान बिलकुल सच्चा है, परन्तु आगे विचार करने पर यदि उसकी साधक प्रणाली में या साधक पदार्थों में त्रुटि लक्षित होती है तो हमें बाध्य होकर अपना पूर्व निश्चय बदलना पड़ता है और यह मानना पड़ता है कि यह ज्ञान प्रमाण-कोटि में नहीं आता; यह सत्य नहीं है, यह यथार्थ नहीं है। इस प्रकार ज्ञान का अप्रामाण्य (अप्रामाणिकता) अन्य प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है। अतः ज्ञान का **अप्रामाण्य परतः** होता है। संक्षेप में मीमांसकों का यह मत है—ज्ञान का **प्रामाण्य स्वतः** होता है, परन्तु ज्ञान का **अप्रामाण्य परतः** होता है।

न्याय की दृष्टि में प्रमाण्य परतः होता है। ज्ञान होने पर उसकी प्रामाणिकता हमें अन्य प्रमाणों से सिद्ध करनी पड़ती है। जब हम देखते हैं कि ज्ञान होने पर

न्याय मत का खण्डन

क्रिया की चरितार्थता होती है और हमारी प्रवृत्ति यथार्थ होती है, तब हम तर्क के द्वारा पूर्व ज्ञान को प्रमाण कोटि में मानते हैं और उसे ठीक जानते हैं। यही नैयायिकों का मत है कि प्रामाण्य परतः होता है।

इसमें सब से बड़ी त्रुटि यह है कि एक अनुमान को सिद्ध करने के लिए दूसरे अनुमान की आवश्यकता है और उस दूसरे के लिए तीसरे अनुमान की। इसी प्रकार हम बढ़ते चले जाते हैं, परन्तु इस अनुमान की प्रक्रिया का अन्त नहीं होता। इस प्रकार 'अनवस्था दोष' हमारे गले पतित हो जाता है। फलतः न्याय का सिद्धान्त मान्य नहीं। मीमांसकों का यही संक्षिप्त मत है।

भ्रमज्ञान

प्रभाकर मत

भ्रमज्ञान के विषय में मीमांसकों के विशिष्ट मत हैं। प्रभाकर के मत में समस्त ज्ञान यथार्थ ही होते हैं, परन्तु शुक्ति में रजत का, रस्सी में सर्प का भ्रम भी सर्वत्र परिचित है। इस विषय की मीमांसा प्रभाकर ने इस प्रकार की है— 'इदं रजतम्' ऐसी भ्रान्ति की उपलब्धि में केवल 'इदमंश' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चक्षु 'इदं' पदार्थ के अस्तित्व की ही सूचना देकर विरत हो जाती है। 'रजत' अंश प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि वहाँ वह पदार्थ विद्यमान नहीं है। अन्यत्र देखे गये 'रजत' का केवल स्मरणमात्र हो जाता है। दोनों अपने अपने स्थानों पर सत्यरूप हैं, पर स्मृति के दोष होने से उपलभ्यमान 'इदं' पदार्थ तथा स्मरण किया गया 'रजत' पदार्थ के आपस में भेद का ज्ञान न होने से ही यह भ्रम उत्पन्न होता है, तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के ही भाँति इनके विषय—रजत तथा शुक्ति—में विवेक ग्रहण न होने के कारण भ्रमज्ञान होता है। शुक्ति तथा रजत का ज्ञान, दोनों ही अपने अपने विषयों में यथार्थ हैं[१०]। परन्तु इस स्थान पर अनुभव होता है चमक का, और स्मरण होता है रजत का। इस गड़बड़ी के कारण ही यह भ्रान्ति है। प्रभाकर इसे 'विवेकाग्रह' (ज्ञान का अभाव) कहते हैं। इसी का नाम **'अख्याति'** भी है[११]।

कुमारिल मत

कुमारिल तथा मुरारि मिश्र नैयायिकों के मत को मानते हैं। शुक्तिविषयक ज्ञान शुक्तित्वप्रकारक होता है और रजत-विषयक ज्ञान रजतत्वप्रकारक होता है।

शुक्तित्व तथा रजतत्व दो धर्म हैं, जो शुक्ति और रजत में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं जिससे वे कथमपि पृथक् नहीं किये जा सकते; परन्तु शुक्ति में रजत-ज्ञान होने के अवसर पर शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान होता है, अर्थात् अन्य विषय (शुक्ति) में अन्य (रजतत्व) प्रकारक ज्ञान है।

भाट्टमत का तात्पर्य यह है कि जहाँ कोई ज्ञान होता है वहाँ उस ज्ञान की विशिष्टता का बोधक कोई न कोई धर्म भी रहता है। उसे **'प्रकारता'** के नाम से न्यायशास्त्र पुकारता है। जैसे हमें चाँदी का ज्ञान होता है तब रजत के ज्ञान में 'रजतत्व' 'प्रकारता' है, अर्थात् रजत का ज्ञान रजतत्व-प्रकारक होता है। यही वस्तु स्थिति है। ऐसा ज्ञान यथार्थ कहलाता है। अब भ्रम के स्थल पर विचार कीजिए। शुक्ति (सीपी) में हम चमक देखकर कह बैठते हैं कि 'यह सीपी चाँदी है'। यहाँ असली चीज तो है शुक्ति, परन्तु हमें ज्ञान होता है चाँदी का। यही यहाँ भ्रान्ति है। इसका कारण यह है कि यहाँ शुक्ति का ज्ञान 'शुक्तितत्वप्रकारक' न होकर 'रजतत्वप्रकारक' होता है। ज्ञान तो होता है शुक्ति का, परन्तु प्रकारता है 'रजतत्व' की। इस प्रकार यह ज्ञान भिन्न रूप से हो रहा है। जिस रूप में (जिस प्रकार के रूप में) उसे होना चाहिए वह न होकर अन्य प्रकार के रूप में हो रहा है। इसीलिए इसका नाम **अन्यथाख्याति** या **विपरीतख्याति** है, क्योंकि यहाँ अकार्य में कार्य का ज्ञान होने से यह ज्ञान वस्तुतः उलटा ही होता है।

दोनों मतों की तुलना करने पर दोनों के दृष्टिकोण में पार्थक्य स्पष्ट मालूम पड़ता है। प्रभाकर मीमांसक किसी ज्ञान में भ्रम की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते—भ्रम होता ही नहीं। स्मृति के प्रमोष के कारण (स्मरण-शक्ति में दोष होने के हेतु) यहाँ भेदज्ञान का अभाव रहता है (विवेकाग्रह)। फलतः सब भ्रान्ति के स्थान पर ज्ञान का अभाव मात्र रहता है, कोई भावात्मक वस्तु नहीं होती, जिसे हम 'भ्रम' नाम दे सकें, परन्तु कुमारिल भ्रम की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि भ्रम विषयों को लेकर नहीं होता, बल्कि उनके संसर्ग को लेकर ही होता है। 'यह रज्जु सर्प है'—यहाँ उद्देश्य तथा विधेय दोनों ही पृथक् रूप से सत् पदार्थ हैं, परन्तु इन दोनों का उद्देश्य—विधेय-सम्बन्ध जोड़ना ही असत् है। अतः भ्रम संसर्ग को लेकर है, पदार्थों को लेकर नहीं, जो वस्तुतः सत्य पदार्थ हैं। रज्जु भी ठीक है, साँप भी सत्य है, परन्तु यहाँ तक दोनों का सम्बन्ध ही असत्य है। यही भ्रम है। प्रभाकर का सिद्धान्त है **अख्याति** और कुमारिल का **विपरीताख्याति**, परन्तु दोनों की दृष्टि में सामान्य नियम यही है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है और इसी आधार पर हमारा

लोकव्यवहार चलता है। कभी-कभी इस नियम के अपवाद भी होते हैं और वहीं भ्रम उत्पन्न होने की गुंजाइश रहती है।

(३) मीमांसा की तत्त्वसमीक्षा

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा प्रपञ्च की नित्यता स्वीकार करती है, पर पदार्थों की कल्पना में प्रभाकर, कुमारिल और मुरारि में मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्रभाकर आठ पदार्थों की सत्ता मानते हैं[1]—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें द्रव्य, गुण तथा कर्म के स्वरूप का वर्णन वैशेषिकों के समान ही है। सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं मानी जाती; वह व्यक्तियों में ही रहता है। 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय है। यह जाति तथा व्यक्ति के बीच विद्यमान सम्बन्ध है। यह नित्य नहीं है, क्योंकि यह अनित्य पदार्थों में भी रहता है। केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मों में कार्यजनकता नहीं है, शक्ति से सम्पन्न होने पर ही इनसे कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना युक्तियुक्त मानी जाती है। न्यायदृष्टि में शक्ति प्रतिबन्धका-भाव रूप है और सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत हैं।

(क) पदार्थ

कुमारिल के अनुसार पदार्थों की संख्या केवल पाँच ही है। पदार्थों के दो विभाग हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। अभाव के वैशेषिकों के समान चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। भाव पदार्थों के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, तथा सामान्य। वैशेषिक मत में नव ही द्रव्य हैं, भाट्ट मत में अन्धकार और शब्द दो नये द्रव्य माने जाते हैं[2]—'नीलरंग का अन्धकार प्रकाश आने पर चलता है' इस व्यवहार के ऊपर अन्धकार में नील गुण तथा चलन कर्म को विद्यमान मानकर उसे द्रव्य माना गया है, पर प्रभाकर तथा वैशेषिक लोग इसे प्रकाश का अभाव मानते हैं और इसके गुण तथा कर्म को उपाधिजन्य मानते हैं, वास्तविक नहीं। मीमांसा में गुण आदि के विभाग का वर्णन न्याय-वैशेषिक के ही समान होता है।

मुरारि मिश्र की पदार्थ कल्पना दोनों से भिन्न है। ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपपत्ति के लिए अन्य भी चार पदार्थ हैं—(क) धर्मिविशेष—नियत आश्रय, जैसे घटत्व का आश्रय घट; (ख) धर्म-

---

१. द्रष्टव्य तन्त्ररहस्य, पृ० २०-२४।

२. मानमेयोदय (अड्यार सं०) पृ० १५९।

विशेष—नियत आधेय, जैसे घट का घटत्व; (ग) आधार-विशेष—अनियत आधार, जैसे 'इदानीं (इस समय का) घटः' 'तदानीं (उस समय के) घटः' में कालबोधक इदानीं तथा तदानीं पद घट के अनियत आधार हैं; (घ) प्रदेश-विशेष—दैशिक आधार, यथा 'गृहे घटः', 'भूतले घटः' में घट का गृह और भूतल देशसम्बन्धी अनियत आधार हैं[१२]।

(ख) जगत्

हमारी इन्द्रियाँ ही बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हैं। उनके द्वारा जगत् की जिस रूप से उपलब्धि होती है, उसी रूप में जगत् की सत्यता है[१३]। इस संसार में तीन प्रकार की वस्तु का ज्ञान हमें होता है—(१) शरीर, जिनमें रहकर आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है (भोगायतन); (२) इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का भोग किया करता है (भोगसाधन); (३) पदार्थ, जिनका भोग आत्मा किया करता है (भोगविषय)। इन तीन वस्तुओं से युक्त नानारूप यह संसार अनादि तथा अनन्त है। मीमांसा मूल जगत् की सृष्टि तथा प्रलय नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते हैं; जगत् की सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता। कुछ मीमांसक लोग अणुवाद को स्वीकार करते हैं[१४]। जगत् के सब पदार्थ अणु से उत्पन्न हुए हैं। कर्मों के फलोन्मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, तथा फल की समाप्ति होने पर उनका नाश हो जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुओं से मान कर परमाणुवाद को स्वीकार किया गया है, पर दोनों दर्शनों के परमाणुवाद में अनेक अंश में भेद दीख पड़ता है। न्याय परमाणुओं को हमारे लिए प्रत्यक्ष-सिद्ध न मानकर अनुमेय मानता है। सूर्य किरण के छिद्रगत होने पर जो सूक्ष्म द्रव्य दीख पड़ते हैं, वे त्रसरेणु कहलाते हैं और उनके छठे भाग को परमाणु माना जाता है, पर मीमांसकों को यह मत अभीष्ट नहीं है। हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, इनसे भी सूक्ष्म कणों की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। न्याय उसे योगिप्रत्यक्ष का विषय मानता है, पर मीमांसा योगजप्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष से विलक्षण नहीं मानती। अतः हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, यही मीमांसा के मत का निष्कर्ष है। जगत् का यही मीमांसा-सम्मत स्वरूप है[१५]।

इस प्रकार तत्त्वविचार की दृष्टि से मीमांसा दर्शन जगत् को सत्य मानता है और वेद के द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक अतीन्द्रिय विषयों

की भी सत्ता मानता है। अतः वह वस्तुवादी ही नहीं; प्रत्युत 'अनेक वस्तुवादी' (प्लुरलिस्टिक) दर्शन है।

(ग) शक्ति

मीमांसा कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में एक नवीन दृष्टि का परिचय देती है। उसका कहना है कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त 'शक्ति' भी माननी चाहिए। बीज से अंकुर होते हैं—यह सत्य बात है, परन्तु यदि किसी कारण से बीज की शक्ति नष्ट हो जाय (उन्हें भूँज देने से), तो लाख परिश्रम करने पर भी उनसे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकते। जब तक यह शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है तभी तक बीज से अंकुर हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए बीज से अतिरिक्त 'शक्ति' को भी कारण की सहायता देने वाला पदार्थ मानना ही चाहिए। इस प्रकार **शक्ति** एक विशिष्ट पदार्थ है।

परन्तु न्याय का मत इसके विरुद्ध है। उसका कहना यह है कि कार्य की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब उसे रोकने या रुकावट डालने वाली वस्तुएँ नहीं रहती। उपादान कारण के होने पर भी कार्य तब तक उत्पन्न नहीं होता जब तक उसमें रुकावट डालने वाली वस्तुओं का नाश नहीं हो जाता। ऊपर के उदाहरण में केवल बीज से ही अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्युत उसके रोकने का (जैसे भूज देने का) भी अभाव होना ही चाहिए। कारण सामग्री में केवल उपादान वस्तु ही कारण नहीं होती, बल्कि उसको रोकने वाली वस्तुओं का अभाव भी कारण होता है। न्याय की भाषा में 'प्रतिबन्धकाभाव' भी कारण है। इस प्रकार न्याय 'शक्ति' को 'प्रतिबन्धकाभाव' के रूप में ग्रहण करता है। मीमांसा का कहना है कि जो कुछ भी हो, उपादान कारण से अतिरिक्त कोई न कोई वस्तु अवश्यमेव विद्यमान रहती है। यह नैयायिकों को भी सम्मत है। अतः उसे अभाव न मानकर भाव पदार्थ ही मानना श्रेयस्कर होगा। इसलिए भावरूप 'शक्ति' की कल्पना युक्तियुक्त है।

'शक्ति' के मानने का मौलिक उपयोग मीमांसा मत में है। मीमांसा वैदिक काण्ड के अनुष्ठान का पक्षपाती है, परन्तु कर्म तथा कर्मफल में बहुत ही अधिक व्यवधान होता है। आज तो यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है और उसका स्वर्ग-रूपी फल बहुत वर्षों के अनन्तर होता है। इस व्यवधान की व्याख्या करने के लिए मीमांसा **'अपूर्व'** नामक पदार्थ मानती है। 'अपूर्व' का अर्थ है कर्मों के शुभ या अशुभ फल—पुण्य तथा पाप। कर्म के अनुष्ठान से यही अदृष्ट उत्पन्न हो जाता है और यही 'अपूर्व' कर्म के फलों को कालान्तर में उत्पन्न करने का

साधन बनता है। इस प्रकार आज किये गये कर्म तथा कालान्तर में उत्पन्न होने वाले फल—इन दोनों के बीच में 'अपूर्व' वर्तमान रहता है, जो एक ओर कर्म से उत्पन्न होता है और दूसरी ओर कर्मफल का निष्पादक होता है। यह 'अपूर्व' भी 'शक्ति' जैसे स्वतन्त्र द्रव्य का ही कर्मकाण्ड के क्षेत्र में एक श्लाघनीय प्रतीक है। फलतः 'शक्ति' की कल्पना मीमांसा का एक मौलिक तत्त्व है।

आत्मा कर्ता तथा भोक्ता दोनों है। वह व्यापक और प्रति-शरीर में भिन्न है। ज्ञान, सुख, दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं।

(घ) आत्मा

आत्मा ज्ञानसुखादिरूप नहीं है। न्याय-वैशेषिक मत के विपरीत भाट्ट मीमांसक आत्मा में क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं—स्पन्द तथा परिणाम। इनमें आत्मा में स्पन्द (स्थान-परिवर्तन) नहीं होता, पर परिणाम (रूप-परिवर्तन) होता है[१६]। कुमारिल परिणामी वस्तु की भी नित्यता मानते हैं। उनके मत से परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है। आत्मा में चित् तथा अचित् दो अंश होते हैं। इसमें चिदंश से आत्मा प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करने वाला है, पर अचिदंश से वह परिणाम को प्राप्त करता है। सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि, जिन्हें न्यायवैशेषिक आत्मा का विशेष गुण बतलाते हैं, भाट्टमत में आत्मा के अचिदंश के परिणाम—रूप हैं[१७]। वेदान्तियों के मत से विपरीत, कुमारिल आत्मा को चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते; प्रत्युत चैतन्यविशिष्ट मानते हैं। अनुकूल परिस्थिति में (शरीर तथा विषय से संयोग होने पर) आत्मा में चैतन्य का उदय होता है, स्वप्नावस्था में विषय से सम्पर्क न होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। आत्मा इस प्रकार जड़ तथा बोधात्मक दोनों प्रकार का है। प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता नहीं मानते।

आत्मज्ञान

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को लेकर मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में कतिपय तथ्यों के विषय में मतभेद है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इस 'आत्मा' का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है? भाट्ट मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक वस्तुज्ञान में आत्मा का ज्ञान नहीं होता; प्रत्युत 'आत्मसंवित्ति' में ही आत्मा का ज्ञान होता है। 'मैं अपने को जानता हूँ' इस ज्ञान में 'जानता हूँ' क्रिया का कर्म क्या है? 'अपने को' इस पद के द्वारा आत्मा के ज्ञान का ही संकेत होता है। इस प्रकार कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का कर्म दोनों एक साथ ही मानते हैं, परन्तु प्रभाकर के मत में यह तथ्य यथार्थ नहीं है। उनके

अनुसार 'आत्मसंवित्ति' की धारणा ही ठीक नहीं; एक ही वस्तु एक साथ कर्ता तथा कर्म नहीं हो सकती। ऊपर के अनुभव वाक्य में 'आत्मा' जानता हूँ क्रिया का कर्ता भी है और साथ ही साथ कर्म भी है, यह युक्ति-युक्ति नहीं है। प्रभाकर के मत में प्रत्येक वस्तुज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान भी कर्ता के रूप में प्रकाशित होता है। 'मैं घड़े को जानता हूँ', 'मैं लेखनी से लिखा रहा हूँ'—इन समग्र अनुभवों में क्रिया के कर्ता रूप में आत्मा ही आलोकित होता है। यही ज्ञान मेरा है और यह दूसरों के ज्ञान से भिन्न ही है। इस प्रकार का अन्तर हमें तभी ज्ञात होगा, जब हम यहाँ आत्मा के ज्ञान को भी सिद्ध मानें। निष्कर्ष यह है कि कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों मानते हैं, परन्तु प्रभाकर आत्मा को अहंप्रत्यय-वेद्य (अर्थात् 'अहं' पद के द्वारा जाना गया) मानते हैं। अर्थात् प्रत्येक ज्ञान के कर्ता रूप में आत्मा की सत्ता है। कुमारिल प्रभाकर का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शास्त्र तथा लोक व्यवहार दोनों के अनुभव से हम यही जानते हैं कि आत्मा ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों ही होता है। शास्त्रीय वाक्य है—'आत्मानं विद्धि' (अपने को जानो) और लौकिक अनुभव है—मैं अपने आप को जानता हूँ। इन दोनों ज्ञानों में आत्मा ज्ञान का कर्ता भी है और साथ ही साथ विषय भी है। अतः प्रभाकर की युक्ति ठीक नहीं है। इस प्रकार 'आत्मसंवित्ति' के द्वारा ही आत्मा का ज्ञान सम्भव है। और यह पक्ष यथार्थ है।

(५) मीमांसक आचारमीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण दिया है—**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**—'चोदना' के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना का अर्थ है—क्रिया का प्रवर्तक वचन, अर्थात् वेद का विधिवाक्य। **चोदना**[१८] भूत, भविष्य, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बतलाने में जितना समर्थ है, उतना सामर्थ्य न तो इन्द्रियों में है और न किसी अन्य पदार्थ में। मीमांसकों की माननीय सम्मति में भगवती श्रुति का तात्पर्य क्रियापरक ही है। विधि का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है। अतः ज्ञानप्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध प्रतिपादन करने के कारण परम्परया क्रियापरक हैं। उन्हें सामान्यतः **'अर्थवाद'** कहते हैं। इसीलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ 'धर्म' कहलाता है। इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषों को निःश्रेयस की—दुखों को निवृत्त करने वाले स्वर्ग की—उपलब्धि होती है। यथा 'स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्ग

की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे) इस वाक्य में 'यजेत' क्रियापद के द्वारा **'भावना'**[१९] की उत्पत्ति मानी जाती है।

वेदविहित कर्मों के फलों के विषय में मीमांसकों में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। यह प्रसिद्ध है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है। प्राणियों की कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है, जब उससे किसी इष्ट, अभिलाषित पदार्थ के सिद्ध होने का ज्ञान उन्हें होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान 'इष्टसाधनताज्ञान' कारण है, परन्तु प्रभाकर 'कार्यताज्ञान' को कारण अंगीकार करते हैं, अर्थात् देवविहित कृत्यों का अनुष्ठान कर्तव्यबुद्ध्या करना चाहिये, उनसे न सुख पाने की आशा रखे, न अन्य किसी फल के पाने की चाह। कुमारिल का कथन है कि काम्य कर्म विशेष इच्छा की सिद्धि के लिये किये जाते हैं, पर प्रभाकर का मत है कि काम्य कर्म में कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है—वैसी कामना रखने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। इन दोनों का नित्यकर्म के विषय में मतपार्थक्य नितान्त स्फुट है। कुमारिल के मत में नित्य-कर्म (यथा संध्यावन्दन आदि) के अनुष्ठान से दुरितक्षय (पाप का नाश) होता है, और अनुष्ठान के अभाव में प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होता है, परन्तु प्रभा-कर की सम्मति में नित्यकर्मों का अनुष्ठान वेदविहित होने के कारण ही कर्तव्य है। वेद की अनुल्लंघनीय आज्ञा है कि दिन प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए (अहरहः सन्ध्यामुपासीत)। इसी उद्देश्य से, कर्तव्य कर्म होने की दृष्टि से इन कृत्यों का संपादन करणीय है। अतः **निष्काम-कर्मयोग** की दृष्टि से कार्यों का निष्पादन प्रभाकर को माननीय है। इस सिद्धान्त पर श्रीभगवद्गीता के 'कर्मयोग' का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वेदप्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(क) **काम्य**—किसी कामना विशेष के लिए करणीय कार्य, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत'; (ख) **प्रतिषिद्ध**—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध, जैसे 'कलञ्जं न भक्षयेत्' (विषदग्ध शस्त्र से मारे गये पशु का मांस नहीं खाना चाहिए); (ग) **नित्य नैमित्तिक**—अहेतुक करणीय कर्म, जैसे संन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है और अवसर विशेष पर अनुष्ठेय श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक। अनुष्ठान करते ही फल की निष्पत्ति सद्यः नहीं होती, प्रत्युत कालान्तर में होती है। अब प्रश्न यह है कि फल-काल में कर्म के अभाव में वह फलोत्पादक किस प्रकार होता है? मीमांसकों का कहना है कि 'अपूर्व' के द्वारा। प्रत्येक कर्म में 'अपूर्व' (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है[२०]। कर्म से होता

है अपूर्व और अपूर्व से होता है फल। अतः 'अपूर्व' कर्म तथा फल के बीच की दशा का द्योतक है। शंकराचार्य ने इसी से अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है[२१]। 'अपूर्व' की कल्पना मीमांसकों की कर्मविषयक एक मौलिक कल्पना मानी जाती है।

कर्मकाण्ड के प्रति मीमांसकों की भावना पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कर्ममीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण सम्पादन करे। यज्ञ यागादि में किसी देवताविशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य कर आहुति दी जाती है। वेद में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है, परन्तु मीमांसा के मत में देवता सम्प्रदानकारक-सूचक पदमात्र है। इससे बढ़कर उनकी स्थिति नहीं है। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़ कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिए होम का विधान होता है। तब प्रश्न यह होता है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान किस लिए किया जाय? सामान्य मत यह है कि किसी कामना की ही सिद्धि के लिए, परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान हमें करना चाहिए। ऋषियों के प्रातिभ चक्षु के द्वारा दृष्ट वैदिक मन्त्रों में प्रतिपादित धर्म हमारे कल्याण के लिए है। अतः हमें चाहिए कि उसका अनुष्ठान विना किसी प्रयोजन की सिद्धि के स्वयं करते चलें। इस प्रकार निष्काम कर्म के अनुष्ठान की शिक्षा देना मीमासा के कर्तव्यशास्त्र का चरम उत्कर्ष है। जर्मन तत्त्वज्ञ कैण्ट भी कर्तव्य के विषय में मीमांसा के मत के समान ही मत रखते हैं। इनका कहना है कि प्राणी को कर्तव्य का सम्पादन स्वार्थ बुद्धि से न कर निरपेक्ष बुद्धि से करना चाहिए। इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। कांट के मत में कर्म के फलों का दाता ईश्वर है, वहाँ मीमांसक कर्म को ही फल देने की योग्यता से मण्डित मानता है। कांट की दृष्टि में ईश्वर ही मानव को कर्तव्य करने की ओर प्रेरित करता है, परन्तु मीमांसामत में कर्तव्य का मूल स्रोत अपौरुषेय वेद ही है। वही हमें निष्काम कर्म करने का आदेश देता है और हमें उसकी आज्ञा का पालन कर्तव्यबुद्धि से करना चाहिये।

वैदिक कर्मों का फल है स्वर्ग की प्राप्ति। निरतिशय सुख का ही अपर नाम स्वर्ग है। 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य यज्ञ का सम्पादन स्वर्ग की कामना के लिए विधान करता है, परन्तु अन्य दर्शनों में मोक्ष ही मानव जीवन का लक्ष्य माना गया है। फलतः यहाँ भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते हैं, परन्तु निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान

के प्रभाव से पूर्व कर्मों के संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दुःखों से निवृत्ति पा लेता है; वह शरीरादि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है और निरतिशय सुख की प्राप्ति करता है।

हमारे अचेतन कर्मों के फल का दाता कौन है? विना किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के कर्म स्वकीय फल उत्पन्न करने में नितरां असमर्थ हैं। अतः आचार्य बादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं। पर जैमिनि[1] के अनुसार यज्ञ के ही तत्तत् फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं। ब्राह्मसूत्र तथा प्राचीन मीमांसाग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं मानी जाती, पर पीछे के मीमांसकों को यह त्रुटि बेतरह खटकी और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार किया। आपदेव तथा लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यों के फल को ईश्वर को समर्पण कर देने की बात लिखी है[२२]। वेदान्तदेशिक ने उसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमांसा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। ईश्वर के विषय में प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मीमांसक लोग ईश्वर की सत्ता मानते हैं। वेदान्तमत में ईश्वर श्रुतिवाक्यों के द्वारा तथा न्यायमत में अनुभाव के द्वारा सिद्ध होता है। 'प्रभाकर-विजय' के कर्ता ने ईश्वर के विषय में किये गये अनुमान का तो खण्डन किया है,[२३] परन्तु ईश्वर की सिद्धि को स्पष्टतः अंगीकार किया है। प्रभाकर भी उस ईश्वर को मानते हैं, जो श्रुतिमूलक वाक्यों के द्वारा प्रमाणित किया जाता है, अनुमानगम्य ईश्वर को नहीं। कर्मकाण्ड की उपादेयता मीमांसामत में इतनी अधिक मान्य है कि वह ईश्वर को मानने के लिए तैयार नहीं है। प्राचीन मीमांसा का मत निरीश्वरवादी ही प्रतीत होता है। पिछले मीमांसकों को यह बात खटकी और उन्होंने ईश्वर को कर्मफल के दाता के रूप में स्वीकार किया।

ईश्वर

मोक्ष

मोक्ष के महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में इस प्रकार है—**प्रपञ्चसम्बधविलयो मोक्षः**, इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत्-कारागार में डाल रखा है। आत्मा शरीरावच्छिन्न बन कर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्यविषयों का अनुभव करता है। अतः

१. धर्मो जैमिनिरत एव—ब्रह्म-सूत्र ३।२।४०।

इन बन्धनों ने संसारशृंखला में जीव को जकड़ रखा है—भोगायतन शरीर, भोग-साधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ। इन तीन प्रकार के बन्ध के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहते हैं[२४]। 'आत्यन्तिक' का अभिप्राय यह है कि पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाता है, परन्तु बन्धन के उत्पादक धर्माधर्म के एकदम नाश हो जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः आत्मा को इस भौतिक जगत् में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

मोक्ष-विषय में वेदान्त और मीमांसा का अन्तर नितान्त सुस्पष्ट है। मीमांसा 'प्रपञ्चसम्बन्ध विलय' को, परन्तु वेदान्त 'प्रपञ्चविलय' को ही मोक्ष स्वीकार करता है। स्वप्नप्रपञ्च के समान यह संसार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। प्रपञ्च का ही **विलय** हो जाता है[२५], परन्तु वास्तववादी मीमांसा की दृष्टि इससे बिल्कुल भिन्न है। मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार अविद्यादशा में रहती है। केवल बन्ध का नाश हो जाता है। यही दोनों दशाओं का पार्थक्य है। प्रभाकरमत में मोक्ष भाट्ट मत से भिन्न है। प्रभाकर के मत में **'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः'**। विना किसी बाहरी फल की कामना किये कर्तव्य-बुद्धि से नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। अतः मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है, जिसमें क्रिया को छोड़ कर अन्य फल की आकांक्षा रहती ही नहीं[१]।

मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता[२६]। मीमांसा के मत में चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं है, वरन शरीर आदि के सम्पर्क आने पर ही उसे सुख-दुख का अनुभव होता है। मोक्ष दशा में आत्मा शरीरादिकों से विच्छिन्न हो जाता है। फलतः साधन के अभाव में सुख का अनुभव उस समय नहीं हो सकता। तब उस दशा के लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाय? बात यह है कि इस दशा में सब दुःखों का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा सुख-दुःख से परे अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान हो जाता है। यही मुक्त दशा है, जो आनन्दमय न होने पर भी वांछनीय है।

मोक्ष का साधन

अब इस मोक्ष के साधन का विचार करना चाहिये। काम्य और निषिद्ध कर्म बन्धनरूप होते हैं, परन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म इस दोष से रहित हैं। किसी कामना की सिद्धि के लिए किए गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तथा

१. प्रकरणपञ्चिका, पृ० १८०–१९०।

प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फल उत्पन्न करेगा ही। अतः इससे निवृत्ति वाञ्छनीय है, परन्तु नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति, परन्तु नित्य कर्मों में प्रवृत्ति रखनी चाहिए। मोक्ष की साधिका यही है। कर्म के साथ आत्म-ज्ञान उपेक्षणीय विषय नहीं है। कर्म प्रधान कारण है, परन्तु आत्मज्ञान सहकारी कारण है। अतः कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से मीमांसा ज्ञानकर्मसमुच्चय को मानती है। कुमारिल ने इसीलिए वेदान्त के अनुशीलन को उपादेय बतलाया है[७]।

उपसंहार

इस दार्शनिक विवेचन के अनुशीलन से मीमांसा की दार्शनिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। मीमांसा का मुख्य अभिप्राय यज्ञ-यागादि वैदिक अनुष्ठानों की तात्त्विक विवेचना है, परन्तु इस विवेचन की उपपत्ति के लिए उसने जिन सिद्धान्तों को खोज निकाला है वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'शब्द' विषयक मीमांसा के सिद्धान्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से भी कम महत्त्वशाली नहीं हैं। कुमारिल का 'अभिहितान्ववाद' और प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शाब्दबोध के यथार्थ निरूपण के लिए नितान्त मननीय हैं। 'बालमनोविज्ञान' के समझने के लिए मीमांसा ग्रन्थों में मसाला भरा हुआ है। विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता करने की प्रक्रिया मीमांसा के ही द्वारा बतलाई गई है अतः जिस प्रकार 'पद' का ज्ञान व्याकरण से और 'प्रमाण' का न्याय से होता है, उसी प्रकार 'वाक्य' का ज्ञान मीमांसा से होता है। इस विषय में मीमांसा ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है, जिसका उपयोग स्मृति ग्रन्थों के अर्थ-निर्णय करने में किया जाता है। स्मृतियों का क्षेत्र विशाल है तथा उनमें नाना प्रकार के विरोध-सूचक सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। देखने में ये विरोधी बड़े ही मार्मिक प्रतीत होते हैं, परन्तु मीमांसा की व्याख्या शैली के उपयोग करने पर इन विरोधों का परिहार भलीभाँति किया जा सकता है। इसलिए स्मृति के मर्मज्ञान के लिए 'कर्ममीमांसा' का उपयोग अत्यधिक किया जाता है। अतः मीमांसा का अनुशीलन निःसन्देह वैदिक धर्म की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कुमारिल का यह कथन यथार्थ है—

'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्'

———

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् है, जिसका वर्णन पहिले किया गया है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है—उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए 'वेदान्त' (वेद का अन्त = सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय्य है। परन्तु कालान्तर में औपनिषद सिद्धान्तों में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' का निर्माण किया। यह साढ़े पाँच सौ सूत्रों का स्वल्पकलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का आकर-ग्रन्थ है, जिसकी अपनी दृष्टि से विस्तृत व्याख्या कर पीछे के आचार्यों ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है, तथा विपुल यश अर्जन किया है। इन सूत्रों का उदयकाल प्राचीन है। भिक्षुओं अर्थात् संन्यासियों के लिए उपादेय होने के कारण इन सूत्रों को 'भिक्षुसूत्र' भी कहते हैं। पाणिनि ने जिन पाराशर्य (पराशरपुत्रनिर्मित) भिक्षुसूत्रों का नाम निर्देश किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास के द्वारा विरचित प्रकृत ब्रह्मसूत्रों से भिन्न प्रतीत नहीं होते। श्रीधरस्वामी की सम्मति में गीता भी 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३।४) पद्यांश में ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माणकाल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से उतर कर नहीं है। तर्कपाद (२।२) में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन उपलब्ध होने पर भी इस सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ये मत बुद्ध से भी अधिक प्राचीन हैं। असंग आदि ने नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर इनका व्यवस्थापनमात्र किया।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

संख्या	नाम	भाष्य-नाम	
१	शंकर (७८८-८२० ई०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत

२	भास्कर	(१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३	रामानुज	(११४०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	मध्व	(१२३८)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क	(१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ	(१२७०)	शैवभाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति	(१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ	(१४७९ १५४४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु	(१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव	(१७२५)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यों में सिद्धान्तों का ही फर्क नहीं है, बल्कि सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भी बड़ा अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों और अधिकरणों की संख्या क्रमशः ५५५ और १९९ है; रामानुजमत में ५४५ और १६०; माध्वमत में ५६४ और २२३; निम्बार्कमत में ५४९ और १६१; श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२ तथा वल्लभमत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम **समन्वयाध्याय** है, जिसमें समग्र वेदान्तवाक्यों का साक्षात् या परम्परया प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिंगयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र विषयदृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन्हें 'चतुःसूत्री' कहते हैं। द्वितीय पाद में अस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्त उपास्य ब्रह्मविषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिङ्ग प्रायशः ज्ञेय-ब्रह्मविषयक वाक्यों का, चतुर्थ पाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद्गत पदों के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम **अविरोधाध्याय** है, जिसमें स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद (स्मृति-पाद) में सांख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। द्वितीय पाद (तर्क-पाद) में सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों का युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। दोनों पादों में बादरायण ने अपनी तर्कयुक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के बल पर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है वह विद्वानों के आदर का विषय है। तृतीय

तथा चतुर्थ पादों में महाभूतसृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय-विषयक श्रुतियों का विरोध-परिहार किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम **साधनाध्याय** है, जो वेदान्त-सम्मत साधनों का विधान करता है। परलोकगमन, तत्त्वपदार्थपरिशोधन, सगुणविद्यानिरूपण तथा निर्गुण-ब्रह्म-विद्या के बहिरङ्गसाधन (आश्रमधर्म, यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरङ्गसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम **फलाध्याय** है, जिसमें सगुण निर्गुण विद्याओं के फलों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

ब्रह्मसूत्र के विषयों का यही संक्षिप्त प्रतिपादन है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन-कौन से थे ? इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन कार्य है। सूत्र इतने स्वल्पाक्षर हैं कि बिना किसी भाष्य की सहायता के उनका अर्थ लगाना दुष्कर है और साम्प्रदायिक भाष्यों में अर्थ की खींचातानी भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति मे बादरायण के मन्तव्यों का प्रकाशन एक विषम समस्या है जिसके हल करने का श्लाघनीय उद्योग डाक्टर घाटे ने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तक में किया है, जिसमें उन्होंने शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ की व्याख्याओं के तारतम्य का अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को खोज निकाला है। उनकी सम्मति में शंकराचार्य के अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। सूत्रकार के सिद्धान्त सम्भवतः इस प्रकार थे—विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है, जीव चैतन्यरूप है तथा ज्ञान इसका विशेषण या गुण भी है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में सूत्रकार **परिणामवाद** के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, विवर्तवाद के नहीं। "आत्म-कृतेः परिणामात्" (ब्र० सू० १।४।२६) में सूत्रकार ने 'परिणाम' शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है। सूत्रकार के ये मन्तव्य रामानुजादि चारों वैष्णव भाष्यकारों के सामान्य, समभावेन माननीय सिद्धान्त हैं। यदि किसी विशिष्ट सिद्धान्त की झलक सूत्रों में दीख पड़ती है, तो वह 'भेदाभेद' सिद्धान्त है। बादरायण के मत मध्यम कोटि के हैं।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण से भी पूर्व काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त-तत्त्व की मीमांसा की थी, परन्तु इन आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाम अकारादिक्रम से नीचे दिये जाते हैं :—

(१) **आत्रेय**—इनका नाम केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।४।४४ में) निर्दिष्ट है। यज्ञ में अङ्गाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा ऋत्विज् के द्वारा

दोनों प्रकार से हो सकती है। यहाँ फल के विषय में सन्देह बना हुआ है। आत्रेय के मतानुसार कर्म का फल यजमान (यज्ञ-स्वामी) को ही प्राप्त होता है, ऋत्विज् को नहीं।

(२) **आश्मरथ्य**—इनका निर्देश दो बार (ब्र० सू० १।२।२९; १।४।२०) मिलता है। उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापक ईश्वर को प्रादेश-मात्र (एक प्रदेश में टिकने वाला) कहा गया है, जिसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बतलाते हैं—परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए प्रदेशमात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि कोई भी सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उपलब्धि स्थानों (प्रदेशों) में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इस कारण भी वह प्रादेशमात्र कहा गया है। इसके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में **भेदाभेद** सम्बन्ध है। ये भेदाभेदवादी थे। श्रुतिप्रकाशिका के कर्ता सुदर्शनाचार्य का कथन है कि इन्हीं के मत को परवर्तीकाल में यादव-प्रकाश ने पुष्ट किया है। मीमांसा (६।५।१६) में भी इनके नाम का निर्देश एक बार है।

(३) **औडुलोमि**—तीन बार निर्दिष्ट हैं (१।४।२१; ३।४।४५ तथा ४।४।६)। इनके मत में अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है, अर्थात् संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, पर मुक्तावस्था में दोनों में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का उपपादन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

(४) **कार्ष्णाजिनि**—ब्र० सू० (३।१।९) में एक बार तथा मीमांसा-सूत्र में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र में 'रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत निर्दिष्ट हुआ है।

(५) **काशकृत्स्न**—इनके मत में (ब्र० सू० १।४।२२) परमेश्वर ही इस संसार में जीव रूप से अवस्थित है, जीव परमात्मा का विकार नहीं है। आचार्य शंकर के शब्दों में इनका सिद्धान्त यह है—काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्। आचार्य को यह मत श्रुत्यनुसारी होने से मान्य है।

(६) **जैमिनि**—इनका नाम ब्र० सू० में सबसे अधिक आता है—पूरा ११ बार। ये बादरायण के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। कर्ममीमांसा दर्शन की रचना इन्होंने ही की है। प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है।

(७) **बादरि**—इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र० सू० १।२।३०; ३।१।११; ४।३।७; ४।४।१०)। उधर मीमांसा सूत्रों में भी इनका निर्देश उपलब्ध है। अनुमान किया जाता है कि इन्होंने इन दोनों मीमांसाओं पर सूत्र-ग्रन्थ लिखे थे। इनके मत ये हैं :—

(क) कर्मानुष्ठान के विषय में इनका विलक्षण मत यह था कि वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। जैमिनि ने इसका खण्डन कर शूद्र के अनुष्ठान का निषेध किया है।

(ख) ईश्वर को प्रादेशमात्र कहने की इनकी व्याख्या विचित्र है। हृदय में रहने के कारण मन प्रादेशमात्र कहा जाता है। ईश्वर का स्मरण ऐसा ही प्रादेश-मात्र मन करता है। अतः ईश्वर के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है।

(ग) 'रमणीयचरणाः' में चरण का अर्थ कर्म ही है। अनुष्ठानवाचक चरण का प्रयोग कर्म के लिए होता है।

(घ) 'य एनान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) में ब्रह्म शब्द कार्य ब्रह्म का वाच है। जैमिनि के मत में यह परब्रह्म का वाचक है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापक होने से वह गन्तव्य नहीं हो सकता।

(ङ) ईश्वर—भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता के विषय में बादरि कहते हैं कि सत्ता नहीं रहती, तभी तो मन से कामों को देखने का वर्णन छान्दोग्य करता है (८।१२।१५)।

(८) **आचार्य काश्यप**—इनका भी कोई सूत्रग्रन्थ था, परन्तु ब्र० सू० में उल्लेख नहीं है। शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र में (तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्—सूत्र २९) किया है। इनका मत भेदवाद था।

शङ्कर-पूर्व वेदान्ताचार्य

शंकर से पूर्व के आचार्यों का उल्लेख स्वयं शंकराचार्य के ग्रन्थों में किया गया है। इनमें **'भर्तृ-प्रपञ्च'** ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी इनका ग्रन्थ उपलब्ध था। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद कहा है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक-भाष्य में कहीं-कहीं 'औपनिषन्मन्य' कह कर इनका परिहास किया है। दार्शनिक दृष्टि में इनका मत द्वैताद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। 'भर्तृमित्र' का प्रसंग न्याय-मञ्जरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आता है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के आचार्य रहे होंगे। इनके मीमांसा-ग्रन्थ का उल्लेख किया जा

चुका है। 'भर्तृहरि' का नाम यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित है। भर्तृहरि वाक्यप्रदीपकार ही हैं, परन्तु इनका कोई वेदान्त ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। शब्दाद्वैत ही इनका प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। 'उपवर्ष' का नाम आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य (३।३।५३) में निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर उभय मीमांसाओं पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखा था। ब्रह्मसूत्र पर 'बोधायन' की एक वृत्ति थी जिसका उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में किया है। प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्त-वृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था। 'ब्रह्मनन्दी', 'टंक' और 'भारुचि' के नाम वेदान्ताचार्य के रूप से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं। 'द्रविडाचार्य' एक प्राचीन वेदान्ती थे, जिन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहत् भाष्य लिखा था। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने इनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है। शंकर के पहले 'सुन्दरपाण्ड्य' नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्त्तिका की रचना की थी। शंकराचार्य ने इनके वार्त्तिक-ग्रन्थ से तीन श्लोक उद्धृत किया है (१।१।४ ब्र० भा०)। ये शैव वेदान्ती थे। तन्त्रवार्तिक में इनके श्लोकों के उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर मीमांसा पर वार्त्तिक की रचना की थी। 'ब्रह्मदत्त' शंकराचार्य के पूर्वकाल में एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। सम्भव है ये सूत्र के भाष्यकार रहे हों। ब्रह्मदत्त के मत से जीव अनित्य है; एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं, अपितु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोगवाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इनके मत से किसी अवस्था में भी साधक के कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं। आश्मरथ्य के मत से इनका भेद इतना ही है कि वे भेदाभेदवादी हैं तथा ये अद्वैतवादी।

अद्वैत-वेदान्त का इतिहास

शङ्कराचार्य

अलौकिक मेधासम्पन्न पुरुष थे। इनकी अलौकिक विद्वत्ता, सर्वातिशायिनी शेमुषी, असाधारण तर्कपटुता देख कर किसी भी आलोचक का मस्तक गौरव से इनके सामने नत हुए बिना नहीं रहता। इनका जन्म ७८८ ई० (संवत् ८४५)

तथा निर्वाण काल ८२० ई० माना जाता है। ३२ वर्ष की स्वल्प आयु में आचार्य ने वैदिक धर्म के उद्धार तथा प्रतिष्ठा का जो महनीय कार्य सम्पादन किया वह अद्वितीय है। इसीलिए ये भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। मालावार प्रान्त के एक नम्बूद्री ब्राह्मण के घर जन्म लेकर इन्होंने काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया था। आचार्य गौड़पाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे। इनके विषय में प्रसिद्धि है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

प्रस्थानत्रयी के आद्य उपलब्ध भाष्यकार आप ही हैं। इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं—उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डूक्यकारिकाभाष्य, विष्णु-सहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसहस्री आदि। इनकी रचनाशैली इतनी रोचक है, गम्भीर विषयों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम हैं। इनके परमगुरु 'गौड़पादाचार्य' अद्वैत के प्रथम आचार्य हैं, जिनकी 'माण्डूक्यकारिका' अद्वैततत्त्व की आधारशिला के समान महनीय मानी जाती है। शंकरोत्तर युग के विख्यात आचार्यों के नाम ये हैं :—

(१) **मण्डनमिश्र**—शंकराचार्य के समकालीन अद्वैतप्रतिपादक आचार्य थे। इनके मीमांसा ग्रन्थों का निर्देश पहले किया गया है। इनकी 'स्फोटसिद्धि' स्फोटविषयक ग्रन्थ है। इनकी 'ब्रह्मसिद्धि' शंखपाणि की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। इसकी अन्य व्याख्यायें 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्सुख की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन यह व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के 'शब्दाद्वयवाद' के समर्थक हैं। आचार्य के दो शिष्यों ने उनके ग्रन्थों पर व्याख्यायें लिखी हैं—(२) 'सुरेश्वराचार्य' आचार्य के उपनिषद्भाष्य पर वार्त्तिकों की रचना करने के कारण 'वार्त्तिककार' के नाम से विख्यात हैं। इनका बृहदारण्यकभाष्य-वार्त्तिक विपुलकाय, प्रौढ़ तथा पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्त्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्त्तिक अथवा मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्त्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य के दूसरे शिष्य (३) 'पद्मपादाचार्य' ने शारीरकभाष्य की प्रथम वृत्ति 'पञ्चपादिका' नाम से लिखी, जिसमें चतुःसूत्री का ही विस्तृत विवेचन है।

इसके अतिरिक्त 'प्रपञ्चसारटीका' और 'विज्ञानदीपिका' पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। 'पञ्चपादिका' के ऊपर अवान्तर शताब्दियों में अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थ रचे गये। 'प्रकाशात्मयति' ने इसको टीका 'विवरण' नाम से लिखी। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर 'विवरण-प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकायें हैं—(क) अखण्डानन्दमुनि कृत 'तत्त्वदीपन' और (ख) विद्यारण्य कृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह'। पञ्चपादिका की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं।

'सुरेश्वराचार्य' के शिष्य (४) 'सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेपशारीरक' नामक एक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है, जिस पर नृसिंहाश्रम की तत्त्वबोधिनी, तथा मधुसूदनसरस्वती का 'सारसंग्रह' प्रसिद्ध है। (५) वाचस्पति की 'भामती' भाष्य पर एक भव्य टीका है, जो उनकी सर्वतोगामिनी वैदुषी के नितान्त अनुरूप है। 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' अभी तक उपलब्ध नहीं है। भामती की अपनी विशेषता है, जिसके कारण उसकी पद्धति के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ 'भामतीप्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पति मिश्र के वेदान्त-सिद्धान्तों पर मण्डनमिश्र के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था; यह इन दोनों के ग्रन्थों की तुलना से प्रतीत होता है। अव्यक्तात्मा के शिष्य (६) 'विमुक्तात्मा' (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' बड़ोदा से हाल में ही प्रकाशित हुई है। वेदान्त के इस गौरवमय ग्रन्थ में 'अविद्या' के स्वरूप का विवेचन बड़े ऊहापोह के साथ किया गया है। नैषध-चरित के रचयिता (७) महाकवि 'श्रीहर्ष' एक असाधारण वेदान्ती थे, जिनका 'खण्डनखण्डखाद्य' आज भी पाण्डित्य का निकषग्रावा बना हुआ है। नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वत्तापूर्ण खण्डन मिलना दुष्कर है। शंकर मिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना इसके गौरव का परिचायक है। (८) 'अद्वैतानन्द' (१२ शतक) का 'ब्रह्मविद्याभरण' भाष्य का आभरण ही है। (९) 'आनन्दबोध' (१२ शतक) का 'न्यायमकरंद' वेदान्त का एक माननीय ग्रन्थ है।

(१०) 'चित्सुखाचार्य' (१३ शतक) अपनी एक ही कृति 'तत्त्वदीपिका' (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) से विख्यात हो गये हैं। पर इनकी अन्य रचनायें—(१) शारीरकभाष्य पर भावप्रकाशिका, (२) ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका, (३) नैष्कर्म्यसिद्धि पर भावतत्त्वप्रकाशिका—कम महत्त्वशालिनी नहीं है। भामती पर 'कल्पतरु' तथा शास्त्रदर्पण के रचयिता (१२) 'अमलानन्द' (१३ शतक) चित्सुख के समकालीन थे। माधवाचार्य संन्यास लेकर श्रृंगेरी मठ पर अधिष्ठित होने पर (११) 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी

'पञ्चदशी' की लोकप्रियता का परिचय देना व्यर्थ है। यह वेदान्ततत्त्व-जिज्ञासुओं के गले का हार है। इसके अतिरिक्त विवरण-प्रमेयसंग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, बृहदारण्यक-वार्त्तिकसार आदि ग्रन्थ वेदान्त के सिद्धान्तों की जानकारी के लिये विशेष उपादेय हैं। गीता पर वेदान्ततत्त्वप्रतिपादक शंकरानन्दी टीका के रचयिता (१३) 'शंकरानन्द' और वैयासिक-न्यायमाला के निर्माता 'भारतीतीर्थ' विद्यारण्य के गुरु थे। पञ्चदशशतक में (१४) 'आनन्दगिरि' ने शंकराचार्य के भाष्यों को सुबोध बनाने के लिए उनपर टीकायें लिखीं। शारीरकभाष्य पर इनका 'न्याय-निर्णय' भाष्यार्थ को भली-भांति समझाने में कृतकार्य है। इनके समकालीन (१५) 'प्रकाशानन्दयति' ने 'वेदान्तसिद्धान्त-मुक्तावली' नामक 'एक-जीववाद' के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की और (१६) 'अखण्डानन्द' ने 'तत्त्वदीपन' में विवरण के गूढ़ार्थ को भली-भाँति प्रकट किया।

(१७) 'मधुसूदन सरस्वती' (१६ शतक) काशी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' है, जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह वेदान्त-ग्रन्थों में खण्डन के समकक्ष माना जाता है। वेदान्तकल्पलतिका, सिद्धान्तबिन्दु, गीता-टीका (मधुसूदनी) आज भी नितान्त लोकप्रिय हैं। अद्वैतसिद्धि पर अद्वैत-चन्द्रिका (लघु तथा गुरु) के रचयिता (१८) 'ब्रह्मानन्द सरस्वती' बंगाल के रहने वाले थे। अतः इनकी टीका 'गौड़ ब्रह्मानन्दी' के नाम से विख्यात है। (१९) 'नृसिंहाश्रम सरस्वती' मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ संन्यसियों में विशेष विख्यात हैं। वेदान्ततत्त्वविवेक, अद्वैत-दीपिका, भेदधिक्कार, विवरणटीका आदि उद्भट ग्रन्थ इनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिए पर्याप्त हैं। इनके समकालीन (२०) 'अप्यय दीक्षित' वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही नहीं थे, प्रत्युत एक उच्च कोटि के साधक भी थे। श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' इनकी एक उच्चकोटि की कृति है। शांकरमत में 'कल्पतरु-परिमल' (अमलानन्दकृत 'कल्पतरु' व्याख्या की टीका) तथा 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' प्रख्यात ग्रन्थ हैं। 'सिद्धान्तलेश' अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है; प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। (२१) 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' (नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकटनाथ के शिष्य) की 'वेदान्त-परिभाषा' वेदान्त प्रमाणशास्त्र पर एक अनुपम ग्रन्थ है। तत्त्वचिन्तामणि की दशटीकाविभञ्जनी अभिनवा टीका के

निर्माता होने से इस ग्रन्थकार की तार्किक विद्वत्ता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इनके पुत्र (२२) 'रामकृष्ण' ने परिभाषा को 'वेदान्तशिखामणि' टीका से विभूषित किया। (२३) 'सदानन्द' (१६ श०) के 'वेदान्तसार' को सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्राइमर कह सकते हैं और यह इसी कारण लोकप्रिय है। (२४) 'गोविन्दानन्द' (१७ श०) की रत्नप्रभा शारीरकभाष्य की सरल टीका है, जो काशी में लिखी गई। (२५) 'नारायणतीर्थ' तथा 'ब्रह्मानन्द' ने मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' पर क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' नामक उपयोगी टीकायें लिखी हैं। कश्मीर के (२६) 'सदानन्द यति' इन्हीं ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनकी 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' विषय की व्यापकता तथा सुबोध शैली के कारण वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के आदरणीय आचार्यों का यही संक्षिप्त विवरण है।[1]

गौडपाद

अद्वैत वेदान्त का विकास जानने के लिए शंकर से पूर्व के दार्शनिकों का अध्ययन उपादेय है। इनमें सबसे मुख्य हैं **गौडपाद**, जो शंकर के गुरु गोविन्दपाद के गुरु माने जाते हैं। 'मायावाद' का आरम्भ गौडपाद से माना जाता है। इनका कीर्तिस्तम्भ 'माण्डूक्यकारिका' है, जो अद्वैत वेदान्त का उपनिषदों के अनन्तर अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है। 'उत्तरगीता' का भाष्य भी आप ही की कृति है। कारिकाओं की रचना बड़ी ही उदात्त तथा मर्मस्पर्शिनी है। इसमें चार प्रकरण हैं, जिनमें कुल मिलाकर २१५ कारिकायें हैं। इन प्रकरणों के नाम हैं आगम प्रकरण, (२) वैतथ्य प्रकरण, (३) अद्वैत प्रकरण तथा (४) अलातशान्ति प्रकरण।

(क) **आगम प्रकरण** में मूल माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है, जिसमें अ, उ, म, के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक्, परन्तु इनमें अनुगत परमात्मतत्त्व, अनुष्ठान तथा साक्षीरूप से और ओंकार के चतुर्थ-पाद अमात्र 'तुरीय' नाम से वर्णित किया गया है।

---

१. **द्रष्टव्य म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज की ब्रह्मसूत्र के भाष्यानुवाद की भूमिका तथा स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वती का वेदान्तेर इतिहास (२ भाग-बंगला)।**

(ख) **वैतथ्य** (मिथ्यात्व) प्रकरण में प्रपञ्च का मायामयत्व युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से सिद्ध किया गया है। जाग्रत जगत् भी स्वप्न के अनुरूप ही एकदम मिथ्या है। आत्मा ही एक नित्य पदार्थ है, परन्तु उसी में तरह तरह के भावों की कल्पना होकर इस प्रपञ्च का उदय होता है। इस विकल्प की मूल 'माया' है। यह समस्त मायाकल्पित जगत् स्वप्न तथा गंधर्वनगर के समान असत्य है। तब परमार्थ का लक्षण क्या है? आचार्य का कहना है—

ब्रह्म का न तो कभी नाश होता है और न उदय; न वह कभी बंधन में आता है, न वह मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। उत्पत्ति और नाश; बन्धन तथा मुक्ति—ये सापेक्ष भावनायें हैं। ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष रहता है। अतः ये समग्र धारणायें ब्रह्म के विषय में नहीं की जा सकतीं। वह निरपेक्ष सत्ता है। उस एक अखण्ड चिद्घन वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता नहीं है।

(ग) अद्वैतप्रकरण में अद्वैततत्त्व की सिद्धि अनेक दृढ़ युक्तियों के आधार पर आचार्य ने की है। आत्मा में सुख-दुःख की भावना करना नितान्त असंगत है। बालक लोग धूलि तथा धूम के संसर्ग से आकाश को मलिन बतलाते हैं, परन्तु आकाश वास्तव में कभी मलिन नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मा को भी सुख-दुःखादि भावों के संसर्ग से मलिन तथा दुःखी-सुखी मानना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है; आत्मा तो स्वतः असंग ठहरा। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ मर्त्य होता है, न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अतः अमृत आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्व धर्म का दोष आने लगेगा। अतः आत्मा की उत्पत्ति—जाति—नहीं होती। यही है गौड़पाद का विख्यात **'अजातिवाद'** का सिद्धान्त।

(घ) चतुर्थ प्रकरण का नाम **'अलाति-शान्ति'** है। अलात का अर्थ होता है—'मसाल'। मसाल के घुमाये जाने पर वह गोलाकार प्रतीत होता है। गोल आकृति की उत्पत्ति भ्रमणजन्य व्यापार से होती है। उसी प्रकार जगत् का यह रूप मायाकल्पित है। मन के व्यापार होने से ही उनकी सत्ता है, मन के निरोध होते ही उनका अभाव हो जाता है। अतः मन के अमनीभाव होते ही प्रपञ्च का विलय हो जाता है। प्रपञ्च की उत्पत्ति तथा लय, प्रतीति तथा अप्रतीति, दोनों भ्रान्तिजनित हैं। वस्तुतः एक ही परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है। इस प्रकरण की भाषा, पारिमाणिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के

अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारण है कि गौडपाद ने बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन वेदान्त के रूप में किया है, परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण शब्द थे, जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के लिए भी न्याय्य था। केवल शब्दसाम्य के आधार पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना करना उतना उचित नहीं है। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्ध धर्म के तत्त्वों का प्रचार करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं[1]।

(२) वेदान्त तत्त्वमीमांसा

अद्वैत वेदान्त का मूल मन्त्र है परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भली-भाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है—आत्मज्ञान की स्वयंसिद्धि।

आत्मा की स्वयंसिद्धता

जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है; अनुभव के ही आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आत्मा को ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है[1]।

शंकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता; निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आने वाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है ? अन्यथाभाव (परिवर्तन) ज्ञातव्य में सम्भव है, ज्ञाता में नहीं। 'वर्तमान को इस समय जानता हूँ', 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को

१. दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४२३–४२९ तथा उसके उत्तर के लिए देखिये, स्वामी निखिलानन्द कृत माण्डुक्यकारिका का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० १५–३०)।

मैं जानूँगा'—इस अनुभवपरम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। अन्यत्र आचार्य ने भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है; ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा न होती, तो सब किसी की अपने न रहने में विश्वास होता; परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धि माननी पड़ती है ![2]

अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि जो सब किसी का जानने वाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं ? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है ? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किसी प्रमाण के बल पर कैसे सिद्ध किया जाय[3] ? अतः आत्मा की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है।

आत्मा ज्ञानरूप

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है, परन्तु ज्ञेय के न रहने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है, परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मनं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु है। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मान कर इसी सिद्धान्त को अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्यभेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है, जो विषय-सान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तु के अभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है। निष्कर्ष यह है कि रामानुज के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) धर्मीभूत ज्ञान, जो कर्तारूप ज्ञान होता है; (२) धर्मभूत ज्ञान, जो कर्म या विषय रूप में विद्यमान होता है। ज्ञान भी नित्य

तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। 'मैं इस लेखनी को जानता हूँ'— यहाँ लेखनी के साथ हमारे अन्तःकरण का सम्बन्ध होने पर वह लेखनी का रूप धारण कर लेता है। इसे 'वृत्ति' कहते हैं। लेखनी का यह ज्ञान वृत्तिजन्य ज्ञान कहलायेगा और अनित्य है। लेखनी जब तक विद्यमान है तब तक ज्ञान है; लेखनी के हटाते ही ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। इसीलिए वृत्तिजन्य ज्ञान अनित्य होता है, परन्तु इससे भिन्न नित्य ज्ञान होता है, जो वास्तव ज्ञान है और वह एक ही रूप में सर्वदा रहता है। आत्मा का ज्ञान इसी कोटि का होता है। कर्तारूप ज्ञान सदा नित्य होता है, जब की वृत्ति-जन्य ज्ञान अनित्य होता है।

दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि अनित्य है, क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है, पर रोग के दूर होने पर उत्पन्न हो जाती है; परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मा की दृष्टि नित्य मानी जाती है, क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो, वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा। बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता है। अतः आत्मा की दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है। नित्य आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने में संशय उठने की कोई गुञ्जाइश नहीं है[१]।

आत्मा की अद्वैत सिद्धि

प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश होते हैं—अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेय पदार्थ। वास्तववादी की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथग्भूत स्वतन्त्र सत्तायें हैं, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिकी है—व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। आचार्य जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अवसर पर कहते हैं[२]—'ज्ञप्ति आत्मा का स्वरूप है, तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द-स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्म-विज्ञान के विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा व्याप्त होती हैं।' अतः जगत् की समस्त वस्तुवें आत्मविज्ञान के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होती हैं। नामरूप से विकार प्राप्त होने वाले पदार्थ अन्तर्निविष्ट कारण-शक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है, उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मस्वरूप का परित्याग नहीं करती, अर्थात् कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वथा और सर्वदा अनुस्यूत

रहती है। क्या कार्यरूप घट अपने कारण भूत मृत्तिका का परित्याग कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं हैं, अपितु स्थितिकाल में भी वे सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं[६]। जगत् की कलायें उत्पत्ति, स्थिति तथा लय दशाओं में सर्वदा चैतन्य से अव्यतिरिक्त—अपृथग्भूत ही रहती हैं। चैतन्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से स्थित रहते हैं[७]। इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से प्रविभक्त भूत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो आत्मा से पृथक् या भिन्न हो[८]। नामरूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्यरूप में झलक रहा है। अतः प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही—विषयी या विषय-रूप से, कर्ता या कर्म रूप से—एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है; विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देश काल की उपाधि द्वैतसत्ता को सिद्ध करती है। 'यहाँ'–'वहाँ' का भेद देशजन्य है। भूत, वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देश-काल की कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित सी करती है, परन्तु आपाततः ही। थोड़ा भी विचार करने से प्रतीत होता है कि देश काल अद्वैतसिद्धान्त के व्याघातक नहीं है। घर की दीवाल उसे बाह्य वस्तुओं से पृथक् करती सी प्रतीत होती है, परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है; क्योंकि ज्ञानरूप से आत्मा के अव-भासित किये जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है; तब वस्तुओं का व्यवच्छेद क्योंकर हो सकता है? विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मा रूप है, तब आत्मस्वरूप दिक् आत्मचैतन्य से अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक् कैसे कर सकता है? पूर्व, पश्चिम आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की एकता में किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आत्मा की एकता बनी रहती है।

इसी प्रकार काल से उत्पन्न भेद भी काल्पनिक है। 'आज', 'कल' आदि का भेद काल की उपाधि से ही उत्पन्न होता है, वस्तुतः काल एक ही है और वह भी आत्मा से भिन्न नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने इस सृष्टि को देश और काल की विचित्रता से चित्रीकृत कहा है और देशकाल को माया की कल्पना माना है, अर्थात् देश और काल से होने वाले भेद केवल काल्पनिक होते हैं, वास्तव नहीं। इस प्रकार इस जगत् में एक ही अखण्ड सत्ता वर्तमान है।

जो उस सत्ता को जानता है वह सच्चा तत्त्वज्ञानी होता है। जगत् में नाना या अनेकता देखना मृत्युरूप है। कठोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि वह मृत्यु को प्राप्त होता है जो इस संसार में भिन्नता को देखता है। एकता का दर्शन अमरत्व है और अनेकता का ज्ञान मृत्यु। उपनिषत् के इन वचनों का तात्पर्य सत्ता की अद्वैतधारण पर ही आश्रित तथा अवलम्बित है।

ब्रह्मविचार

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—**स्वरूप लक्षण** और (२) **तटस्थ लक्षण**। 'स्वरूप लक्षण' पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसको देखिये। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर आता है, जहाँ वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन कृत्यों को कर प्रजा का अनुरञ्जन करता है, परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप का निर्णय करने के लिये उसे राजा बतलाना क्या उचित है ? राजा है वह अवश्य, परन्तु कब तक ? जब तक नाटक का व्यापार चलता रहता है; नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ लक्षण' हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप लक्षण' हुआ।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका 'तटस्थ' लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[१०] (तैत्ति० उप० २।१।१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) ब्रह्म के स्वरूपप्रतिपादक लक्षण हैं। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्द रूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' है; परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं—सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही हैं, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में गृहीत किये जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और

सगुण ब्रह्म

काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। 'ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है' इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के

लिए करता है। ईश्वर जगत् का स्वामी तथा नियन्ता है। इसीलिए जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करुणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही है सगुण ब्रह्म या ईश्वर। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से ही की गई है।

निर्गुण ब्रह्म

परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत—इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के मत में ब्रह्म में 'स्वगत' भेद रहता है। ब्रह्म में दो अंश होते हैं—चित् अंश तथा अचित् अंश और ये आपस में विरुद्ध होते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में एक अंश दूसरे अंश से भिन्न होता है और स्वगत भेद की सिद्धि करता है। शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं—विश्व तथा विश्वातीत। विश्वग रूप में वह गुण-सम्पन्न माना जा सकता है, परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय है; क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वह **'निर्गुण'** है।

उपनिषत् ब्रह्म को 'नेति नेति' शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? प्रत्येक विधेय उद्देश्य के क्षेत्र को सीमित करता है—वह उसका स्वभाव होता है। 'यह लेखनी लाल है'—इस वाक्य में 'लाल' यह विधेय उद्देश्य (लेखनी) के क्षेत्र को वस्तुतः सीमित करता है। अर्थात् 'लाल' से पृथक् क्षेत्र में 'लेखनी' का कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। ब्रह्म के विषय में हम किसी विधेय का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से वह सीमित तथा परिमित बन जायगा; वह ठहरा वस्तुतः अपरिमित सत्ता। इस प्रकार उसमें कोई गुण नहीं रहता। न यह गुण वहाँ है, और न वह गुण। इस प्रकार सब गुणों के निषेध करने से जो तत्त्व बच जाता है वही है ब्रह्म। इस प्रकार जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति 'नेति, नेति' शब्दों का व्यवहार करती है वह ब्रह्म वस्तुतः **निर्गुण** ब्रह्म ही है। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है।

दोनों की एकता

सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक ही सत्ता है, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण वह इन दोनों नामों से पुकारा जाता है। नाट्यशाला में रंगमंच के ऊपर दुष्यन्त की भूमिका में उतरने वाला नट नाट्यशाला के बाहर जाते वह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बन जाता; रहता है वह वही

मनुष्य ही, परन्तु नाट्य की दृष्टि से वह नट कहलाता है; वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह मनुष्य ही रहता है। ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है। वह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय करता है। अतः संसार की अपेक्षा वह ईश्वर है, परन्तु निरपेक्ष भाव से देखने पर वही ब्रह्म है। अतः सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक है। निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक परमार्थिक सत्ता है, परन्तु व्यवहार के लिए, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है। तत्त्व एक ही है, दृष्टि भिन्न-भिन्न हैं और इसीलिए उसके दो रूप हैं। एकबारगी हम अन्तिम सीढ़ी पर नहीं पहुँच सकते। ज्ञान के मन्दिर में चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ हैं, जिनके द्वारा ही साधक उसमें पहुँच सकता है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है, परन्तु उसे अभ्रान्त ज्ञानी ही पा सकता है। उसके सोपान रूप हैं उपासना और इसके लिए 'ईश्वर' की महती आवश्यकता है। ईश्वर की उपासना से—सगुण ब्रह्म के भजन-पूजन से—चित्त की शुद्धि होती है। और तभी साधक विशुद्ध ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है, अन्यथा नहीं। यही उपासना का उपयोग है।

अद्वैत-सिद्धि की युक्ति

ब्रह्म की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य तथा उनके अनुयायियों ने बड़ी सुन्दर युक्तियाँ दिखलायी हैं। ब्रह्म श्रुति के आधार पर ही प्रतिष्ठित मूल तत्त्व नहीं है, बल्कि युक्ति भी उसके अस्तित्व को भलीभाँति समझाती है।

कार्य-कारण के सम्बन्ध पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि कार्य कारण में उत्पन्न होने से पहिले भी विद्यमान रहता है। कार्य कारण से भिन्न वस्तु नहीं है। मिट्टी से बने हुए जितने पदार्थ हैं वे वस्तुतः मिट्टी ही तो हैं। सोने से बनने वाले गहने (जैसे अँगूठी आदि) आखिरकार सोना ही तो हैं। यह समझना एकदम मिथ्या है कि कार्य कारण से भिन्न कोई नई चीज है। सत् कार्य की ही उत्पत्ति होती है, अर्थात् कारण में कार्य पहिले से ही विद्यमान रहता है। अव्यक्त रूप में निमित्त कारण (जैसे कोंहार और सोनार आदि) के द्वारा वही अव्यक्त-रूप व्यक्त बना दिया जाता है। सत् से असत् की उत्पत्ति कथमपि नहीं सोची जा सकती। यदि ऐसा होता तो तिलों से तेल न निकालकर बालू से तेल निकाला जाता, परन्तु ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि कार्य कारण में सत् या कार्य विद्यमान ही रहता है। सांख्य का भी यही (**सत्-कार्यवाद**) सिद्धान्त है, परन्तु अद्वैत वेदान्त से उसमें कुछ अन्तर है। सांख्य के मत में मृत्तिका में वास्तव

परिवर्तन या विकार उत्पन्न होता है। दूध से दही या सोने से अँगूठी—दोनों नये पदार्थ हैं, अर्थात् दूध में और सोने में जो यह परिवर्तन होता है वह वास्तव है। यहाँ नवीन आकार की सृष्टि होती है। निमित्त कारण के द्वारा पदार्थ नये आकार में पैदा होता है, जो वास्तविक सत्य है। अतः सांख्यों के अनुसार **परिणाम** मानना ही युक्तियुक्त है।

शंकराचार्य की व्याख्या इससे आगे बढ़ती है। जगत् के कार्यों में नया रूप, नया आकार उत्पन्न होता है। इस प्रत्यक्ष को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से यही प्रतीत होगा कि आकार कोई नई चीज नहीं है, जो पदार्थ से अलग हो। आकार वस्तुतः द्रव्य की एक अवस्थामात्र है और द्रव्य से वह भिन्न नहीं है। आकार की सत्ता तो द्रव्य को लेकर ही है। आकार कोई नई चीज नहीं है, जिसके कारण मूल वस्तु में वास्तव परिवर्तन माना जाय। आकारजन्य भेद को लेकर किसी उपादानकारण को भिन्न मानना उचित नहीं, क्योंकि आकार में परिवर्तन होने पर भी वस्तु एक ही रहती है। सोता, खाता-पीता, चलता-फिरता व्यक्ति आखिरकार वही व्यक्ति रहता है, कोई दूसरा व्यक्ति तो बदल कर नहीं हो जाता। तथ्य यह है कि आकार की या किसी गुण की द्रव्य से पृथक् कल्पना मानना नितान्त असंगत है। यदि दोनों भिन्न माने जायेंगे, तो उनका सम्बन्ध क्योंकर सिद्ध हो सकता है? उनमें सम्बन्ध की कल्पना किसी तीसरी वस्तु को ही लेकर हो सकती है। तो उसके सम्बन्ध की कल्पना के लिए एक चौथी वस्तु भी माननी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है। उससे बचने का एक ही उपाय है और वह है यह मानना कि आकार या गुण द्रव्य से भिन्न सत्ता रखते ही नहीं। वस्तुतः 'मृत्तिका' ही एक वास्तव द्रव्य है और कुम्भकार के व्यापार से वह कभी घड़े, कभी कड़ाही और कभी कसोरे के रूप में जो दीख पड़ती है, वह वस्तुतः मिथ्या है। नाम तथा रूप दोनों की कल्पना मिथ्या है। 'वह मृत्तिका है' यही बात एकदम सच्ची है।

विवर्त

फलतः कारण की ही एकमात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं, वह केवल मानसिक आरोप है, वास्तव नहीं है। इसी मानसिक आरोप को शंकराचार्य **'अध्यास'** के नाम से पुकारते हैं। कार्य कारण की शृंखला पर विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कारण ही एकमात्र सत्ता है; उसके समस्त आकार मिथ्या हैं। कारण के इस असत्य, काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैत की भाषा में **'विवर्त'** कहते हैं।

इस प्रकार युक्ति से विचार करने पर जगत् के समस्त आकार मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, समस्त गुण असत्य सिद्ध होते हैं; तब प्रश्न यह है कि वह कौन-सी वस्तु है जो सर्वत्र विद्यमान रहती है। हमने देखा कि घड़ा नामक कोई वास्तव पदार्थ नहीं होता, वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है, परन्तु यह भी ठीक नहीं; घड़े की अपेक्षा मृत्तिका अवश्यमेव विशेष स्थायी है, परन्तु फिर भी वह एकान्त पदार्थ नहीं जो सब जगह समान रूप से विद्यमान रहे। अँगूठी की अपेक्षा सुवर्ण अवश्य ठोस तथा चिरस्थायी है, परन्तु फिर भी वह मूल वस्तु नहीं हो सकता। मूल वस्तु वही हो सकता है जो सब पदार्थों का अधिष्ठान हो, सब पदार्थों में समान रूप से सम्बद्ध (अनुस्यूत) हो और जिसे छोड़कर ये पदार्थ क्षण भर के लिए भी जीवित न रह सकें। ऐसी वस्तु को खोजने पर हमें 'सत्ता' ही एक ऐसी वस्तु मिलती है जो समग्र पदार्थों में विद्यमान रहती है। 'सत्ता' से हमारा तात्पर्य किसी विशिष्ट सत्ता से नहीं है, बल्कि 'शुद्ध सत्ता' से ही है। यह सत्ता प्रत्येक पदार्थ में सम-भाव से रहती है। अतः **'सत्ता'** को जगत् की मूल वस्तु या उपादानकारण मानना चाहिए। वह भौतिक पदार्थों में ही नहीं, बल्कि मानसिक व्यापारों में भी विद्यमान रहती है। भ्रम भी तो एक 'प्रत्यय' (आइडिआ) है, चाहे उसका विषय असत्य भले हो, परन्तु वह भी 'सत्ता' रूप है। इस प्रकार सत्ता समस्त पदार्थों में—चाहे वे भौतिक जगत् के हों या मानस व्यापार—अनुगत रहती है। इस तथ्य पर हम युक्ति के द्वारा पहुँचते हैं। इसी शुद्ध सत्ता को, जो संसार का मूल कारण है, जो नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार तथा निरवयव है, **ब्रह्म** की संज्ञा दी गई है। यही ब्रह्म है। वह एक है, अनेक नहीं। अद्वैतवाद का युक्तियों से पुष्ट यही आधार है।

मूल तत्त्व

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों कर हुई? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज-शक्ति का नाम **'माया'** है। माया-रहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है, यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है,

माया

जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं[११]। अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म के साथ संग रहने वाली शक्ति है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है। भाव-रूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। जगत् के पदार्थों का रूप दो प्रकार का होता है—सत् या असत्। 'सत्' उसे कहते हैं जो सर्वदा एक ही प्रकार का हो, और किसी ज्ञान से भी उसका विरोध न हो, अर्थात् 'बाध' न हो। निर्बाध वस्तु सत् होती है, परन्तु यदि अन्य ज्ञान के द्वारा पूर्व वस्तु बाधित हो जाती है, तो उसे 'असत्' कहना पड़ता है। माया के विषय में ये दोनों प्रकार असंगत हैं। माया को 'सत्' कैसे माना जाय? ब्रह्म का ज्ञान होने पर माया का ज्ञान बाधित हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी को माया का ज्ञान कभी नहीं होता, केवल अज्ञानी ही माया के पचड़े में फिरता रहता है। यदि माया 'सत्' होती, तो वह कभी बाधित नहीं होती और उसकी प्रतीति सर्वदा होती रहती, परन्तु ऐसा न होने से वह 'सत्' नहीं कही जा सकती। तो माया 'असत्' कही जाय यह भी पक्ष ठीक नहीं। क्योंकि असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती, परन्तु माया की प्रतीति तो हमें अवश्यमेव होती है। अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'माया' में बाध तथा प्रतीति दोनों प्रकार के विरुद्ध धर्मों के रहने के कारण उसे **अनिर्वचनीय** कहना पड़ता है[१]।

तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है[१२]। सूर्योदय-काल में अन्धकार की भाँति ज्ञान के उदय काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि[१३] का कहना है कि "यह भ्रान्ति आलम्बन-हीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।" इस प्रकार प्रमाण को न सहने और विचार को न सहने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते

---

१. इसी तथ्य को संस्कृत के एक संक्षिप्त वाक्य में यों कहते हैं—सत् चेत् न बाध्येत, असत् चेत् न प्रतीयेत।

समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्या रूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है[१४]।

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है; वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है; न अंग सहित है, न अंग रहित है और न उभयात्मिका ही है, अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है—वह ऐसी है जो कही न जा सके[१५]।

माया की दो शक्तियाँ होती हैं:[१६]—आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढक कर उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों का अनुभव हुए विना रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को

माया की शक्तियाँ

जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जादू के खेल पर विचार कीजिये। जादूगर दर्शकों के सामने एक जादू का खेल दिखला रहा है। वह कंकणों को आकाश में ऊपर उछालता है और वे सफेद चमकते हुए सिक्कों के रूप में जमीन पर गिरते हैं। यहाँ जादूगर अपने जादू के बल पर कंकण के असली रूप को ढक देता है, परन्तु इतने से भी उसके अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वह उनको सिक्कों के रूप में जो दिखलाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है। अतः वस्तु के असली रूप को छिपा देना पहिली सीढ़ी है (आवरण) और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना अन्तिम सीढ़ी है (विक्षेप)। जब तक ये दोनों कार्य सिद्ध नहीं होते जादू का खेल बन नहीं सकता। ठीक इसी तरह माया ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है और फिर उसमें आकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है। ब्रह्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, परन्तु माया-शक्ति की कृपा से उसी से आकाश, जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि पदार्थों के उत्पन्न होने की धारणा हमारे सामने आती है। यह माया का ही विलास है तथा उसकी दोनों शक्तियों का सामूहिक व्यवसाय है।

आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानों ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा

सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्य-मण्डल को ढकता मालूम होता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा **'आवरण'** है, जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु में अपनी शक्ति से साँप पैदा करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान **'विक्षेप'** है।

'आवरण' का अर्थ है असली स्वरूप पर परदा डाल देना तथा 'विक्षेप' का तात्पर्य है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। इन दोनों शक्तियों के बल पर माया ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करती है। एक बात विचारणीय है। जादू के पूर्वोक्त खेल में जादू का प्रभाव दर्शकों पर होता है, स्वयं जादूगर के ऊपर नहीं। वह तो अपने जादू के रहस्य को जानता है कि वह दूसरों को भ्रम में डालने के लिए है। वह इससे अछूता बचा रहता है। माया में भी यही बात होती है। ईश्वर के लिए माया केवल एक इच्छामात्र है। वह इससे प्रभावित नहीं होता। परन्तु हम अज्ञानियों की दृष्टि में ईश्वर के बदले नाना प्रकार के पदार्थ दीखने लगते हैं। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण होती है। इसीलिए हम उसे **अज्ञान** या **अविद्या** भी कहते हैं। उसके दो कार्य हैं—आवरण तथा विक्षेप, सृष्टि अनादि है। इसी प्रकार माया भी अनादि है।

माया की विभिन्न कल्पना

माया शंकर तथा रामानुज दोनों आचार्यों के द्वारा व्याख्यात है, परन्तु इन दोनों की माया-विषयक कल्पना नितान्त भिन्न है। ध्यान देने की बात है कि रामानुज के मतानुसार यह सृष्टि वास्तविक और सची है। इसीलिए वे माया को ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति मानते हैं। ईश्वर की शक्ति माया है जो इस वास्तव जगत् की रचना करती है। रामानुज के मत में इस प्रकार ब्रह्म में अवस्थित अचित् तत्त्व में (और इस प्रकार ब्रह्म में भी) वास्तव विकार उत्पन्न होता है। शङ्कर के मत में ब्रह्म में कोई वास्तव विकार या परिवर्तन नहीं होता। विकार केवल प्रातिभासित होता है, वास्तविक नहीं। शङ्कराचार्य भी माया को ईश्वर की शक्ति मानते हैं, परन्तु यह ईश्वर का नित्य स्वरूप नहीं है। माया तो ईश्वर की इच्छामात्र है, जिसको वे जब चाहें छोड़ सकते हैं। फलतः

रामानुज माया को ईश्वर की सर्जन शक्ति मानते हैं, जो वहाँ नित्य निवास करती है। शङ्कर उसे ईश्वर की अनित्य इच्छा मानते हैं, जो वहाँ कभी रहती है और कभी नहीं रहती। जिस प्रकार अग्नि से दाहकता शक्ति भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म से भी मायाशक्ति भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म से अभिन्न और अच्छेद्य है। यही माया रामानुज के मत में ब्रह्म में परिणाम पैदा करती है, परन्तु शङ्कर के मत में केवल विवर्त की जननी है, विकार की नहीं।

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा आवृत होने पर जब सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है। परन्तु ईश्वर का जगत् की सृष्टि करने में कौन-सा उद्देश्य सिद्ध होता है? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। बुद्धि पूर्वकारी चेतन पुरुष की प्रवृत्ति विना किसी प्रयोजन के सिद्ध नहीं होती, एतदर्थ इस बड़ी प्रवृत्ति का प्रयोजन खोज निकालना आवश्यक है। श्रुति ईश्वर को 'सर्वकामः' कह कर पुकारती है, अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हैं। यदि ईश्वर का इस सृष्टि व्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है, तो परमात्मा का परितृप्त होना बाधित होता है। यदि विना उद्देश्य के प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय, तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है? अतः परमेश्वर का यह सृष्टि-व्यापार लीलामात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार, विना किसी प्रयोजन के लीला के लिए होते हैं, उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टि-व्यापार भी लीला-विलास है[१७]।

न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्तकारण मानता है, परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है। ईक्षणपूर्वक सृष्टि-व्यापार करनेवाला ईश्वर निमित्तकारण निःसन्देह है, पर उसका उपादान कारण भी सिद्ध है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुवें ज्ञात हो जाती हैं, ब्रह्म ही उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड के जानने से मिट्टी के समग्र बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूप वाले हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं। ब्रह्म की मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादन

ईश्वर की जगत्-सृष्टि

होना स्पष्ट है। मुण्डक (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण भी है।

इस प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है (निमित्त कारण) और साथ ही साथ जगत् का वह उपादान कारण है, मृत्तिका की तरह। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी से नाना प्रकार के मिट्टी के बरतनों को तैयार करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने ही में से जगत् को स्वयं बनाता है। एक ही वस्तु के दोनों क.रण होने में कोई विरोध नहीं है। ईश्वर है मायोपाधिक ब्रह्म, अर्थात् वह ब्रह्म जिसे माया आवृत्त किये रहती है। वह चेतन भी है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि (माया) पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म का एक साथ ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण होना कोई आश्चर्य की घटना नहीं है। अतः ब्रह्म की जगत् सृष्टि में माया को ही प्रधानतया कारण मानना उचित है।

इस पर कुछ तार्किकों का आक्षेप है कि जगत् ब्रह्म से नितान्त विलक्षण है। (१) जगत् है सुख-दुःखमय तथा अचेतन और चेतन इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म से बिलकुल भिन्न हैं। तब क्या यह ब्रह्म का कार्य हो सकता है ? इसका यथार्थ उत्तर यह है कि इस प्रकार का पार्थक्य कथमपि बाधक नहीं हो सकता। अचेतन से चेतन की उत्पत्ति लोक में दिखलाई पड़ती है, तथा चेतन से अचेतन की सृष्टि भी दृष्टिगोचर होती है। गोबर की राशि अचेतन होती है, परन्तु उससे चेतन बिच्छू पैदा होता है। इससे विपरीत पुरुष होता है चेतन और उससे अचेतन नख तथा केश उत्पन्न होते हैं। इसलिए कारण-कार्य की यह विलक्षणता ब्रह्म के जगत्-कर्ता होने के सिद्धान्त को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकता[1]।

(२) जगत् भोग्य तथा आत्मा भोक्ता है, परन्तु उपादान कारण होने से दोनों की एकता सिद्ध है, तो भोक्ताभोग्य का विभाग न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा ? यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तव एकता होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्य है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में वास्तव अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है।[2]

---

१. ब्रह्मसूत्र २।१।३ पर शांकरभाष्य देखिए।

२. ब्रह्मसूत्र २।१।१४ पर शांकरसूत्र भाष्य देखिए।

उपासना के लिए भी निर्विशेष सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुतः प्रादेशिहीन है, तथापि उपाधिविशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिए उपनिषदों में सूर्य में, नेत्र में और हृदय में ब्रह्म की उपासना कही गई है। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि दोनों प्रकार के ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान बतलाया गया है वहाँ फल रूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है, अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक (सूर्य, आकाश आदि)[१८] विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसारगोचर ही भिन्न भिन्न फल होते हैं। उपास्य उपासक की भेददृष्टि से ही यह कल्पना है। अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—माया के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है।

उपास्य ब्रह्म

आशय यह है कि ब्रह्म तो वस्तुतः निर्गुण ही है, परन्तु माया के सम्बन्ध से वही सगुण प्रतीत होता है। उपासना की दृष्टि से वही सगुण रूप अर्थात् ईश्वर का रूप धारण करता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, परन्तु अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने पर वही जीव कहलाता है। ईश्वर मायावच्छिन्न चैतन्य है, तो जीव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। दोनों चैतन्य रूप हैं, परन्तु माया-जन्य उपाधि के द्वारा सीमित होने के कारण ही ईश्वर तथा जीव की ब्रह्म से पृथक् सत्ता है। माया ही इन दोनों को ब्रह्म से पृथक् पदार्थ बनाती है। इसीलिए विद्यारण्यक स्वामी के सुन्दर शब्दों में जीव और ईश्वर दोनों मायारूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं। वे अपनी इच्छानुसार द्वैत का पान भले ही करें, परन्तु तत्त्व तो अद्वैत ही होता है[१९]। इसीलिए उपास्य ब्रह्म की सत्तमयी काल्पनिक ही है।

जीव विचार

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं[२०]। पहला प्रश्न है कि उपनिषदों में आत्मा के उत्पत्तिविषयक वाक्यों का क्या रहस्य है? यदि आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव माना जाता है, तो उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जाती है? इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि उपाधियों की ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं

होता। आत्म-स्वरूप के विषय में भी दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनायें हैं। सुप्त, मूर्छित तथा ग्रहाविष्ट पुरुषों में कतिपय काल तक चैतन्य भाव को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव का पक्षपाती वैशेषिक दर्शन चैतन्य को आत्मा का कभी होने वाला गुण मानता है, परन्तु वेदान्त की सम्मति में आत्मा चैतन्यरूप ही है, क्योंकि परब्रह्म ही उपाधिसम्पर्क से जीवभाव में विद्यमान रहता है। अतः आत्मा में ब्रह्म के साथ स्वभावगत ऐक्य होने पर नित्य-चैतन्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। सूत्रभाष्य में आत्मा के परिमाण का भी विशेष विचार किया गया है। अनेक श्रुतिवाक्यों के आधार पर पूर्वपक्ष का कहना है कि आत्मा अणु है। भाष्यकार का उत्तर है—नहीं। परब्रह्म के विभु होने से तद्व्यपदेश आत्मा का भी विभु-परिमाण ही युक्तियुक्त है। आचार्य ने अणुत्वकल्पना की उत्पत्ति यह कह कर दिखलाई है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही आत्मा अणु स्वीकार किया गया है। आत्मचैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-त्रिविध अवस्थाओं[1] में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोशों में उपलब्ध होता है, परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोशपञ्चक से नितान्त परे की वस्तु है। इसी तरह स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञायें हैं और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें दी गई हैं। व्यष्टि तथा समष्टि के अभिमानी पुरुष परस्पर में अभिन्न हैं, परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है। निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि—वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि—विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि—सूत्रात्मा व्यष्टि—तैजस	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	समष्टि—ईश्वर व्यष्टि—प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं, तो विषयों को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुखी होती हैं, तो कर्ता को अभिव्यक्त

१. द्रष्टव्य ब्र० सू० ३।२।१—१०; तथा तैत्ति० उप० २।१ का शाङ्करभाष्य।

करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला के दीपक से बड़ी सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव से प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वत- प्रद्योतित होता है।[२१] बुद्धि में चाञ्चल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने पर जीव चञ्चल-सा प्रतीत होता है; वस्तुतः वह शान्त है।

जीव और ईश्वर

इन दोनों तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रीति से किया है। एक आचार्य की सम्मति में जीव और ईश्वर के सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य विम्बस्थानीय है। उसी का प्रतिविम्ब भिन्न-भिन्न उपाधियों में पड़ने से भिन्न नाम ग्रहण करता है। चैतन्य का वह प्रतिविम्ब जो माया या अविद्या में पड़ता है **'ईश्वर चैतन्य'** कहलाता है और जो अन्तःकरण में पड़ता है वह **'जीव चैतन्य'** नाम से अभिहित होता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर और भिन्नता है, जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिविम्ब में होता है।

परन्तु इस मत से परमेश्वर में अविद्या से उत्पन्न दोषों की सम्भावना बनी रहती है। उपाधि प्रतिविम्ब को प्रभावित करती है। अतः अविद्या अपने में प्रतिबिम्बित चैतन्य को अवश्य ही अपने दोषों से दूषित करेगी, इसीलिए इस मत के मानने में आपत्ति है।

दूसरे मत में ईश्वर-चैतन्य ही विम्ब के स्थान में माना जाता है, जिसके प्रति-विम्ब को हमलोग जीव के नाम से पुकारते हैं। दोनों में चैतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह विम्बाकार धारण करता है, तब 'ईश्वर' कहलाता है और जब प्रतिविम्ब से आच्छादित रहता है, तो 'जीव' नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चैतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें विम्ब तथा प्रतिविम्ब की कल्पना उपाधिजन्य है। 'एक जीव' मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है; नाना जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में विम्बभूत चैतन्यरूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार आकाश स्थित सूर्य का प्रतिविम्ब जल में पड़ता है और इन प्रतिविम्बों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

वेदान्त में जडतत्त्व

श्री शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने जडतत्त्व के विषय में उद्भावित उन सिद्धान्तों का खण्डन किया है जिनके द्वारा यह जगत् (१) या तो अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है अथवा (२) विना किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणामशालिनी अचेतना प्रकृति का विकारमात्र है अथवा (३) स्वतन्त्र पदार्थ—दो प्रकृति तथा ईश्वर के द्वारा निर्मित है, जिनमें एक तो उपादान कारण है और दूसरा निमित्त कारण है। परन्तु ये सिद्धान्त उक्त दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं हैं। दोनों का यह मत है कि अचेतन वस्तु इस जगत् को पैदा करने में नितान्त असमर्थ है, तथा चेतन और अचेतन के परस्पर संयोग से जगदुत्पत्ति को सिद्ध मानना भी ठीक नहीं है। वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के औपनिषद तथ्य का अवलम्बन कर प्रकृति तथा मन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानने के लिए उद्यत नहीं हैं, प्रत्युत यह समस्त जगत् के ब्रह्ममय होने से प्रकृति तथा मन दोनों ही अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित हैं। इस प्रकार ये दोनों आचार्य ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत करने के कारण अद्वैतवादी हैं। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय (तर्क) पाद में जगदुत्पत्ति-विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सुन्दर तथा अकाट्य युक्तियों से किया है। यह सिद्धान्त वेदान्त के प्रायः समस्त सम्प्रदायों को माननीय है। अतः इन युक्तियों का प्रदर्शन संक्षेप में यहाँ किया जाता है—

सांख्यमत का खण्डन

सांख्य दर्शन के मतानुसार सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणत्रयात्मिका प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होकर इस जगत् की उत्पत्ति करती है और इस कार्य में उसे किसी चेतन अध्यक्ष के सहायता की अपेक्षा नहीं रहती, परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता; प्रकृति के जगद्रूप से परिणत होने में एक महान् उद्देश्य है—पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि। प्रकृति के परिणाम का ही यह फल है कि पुरुष अपने पूर्व कर्मानुसार सुख-दुःख रूप भोगों को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृति से अपने को विविक्त (पृथक्) जान लेने पर वह इस संसार से मुक्तिलाभ कर लेता है। क्या इस प्रकार के उद्देश्य की कल्पना कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है ? लोकानुभव इसका नितान्त विरोधी है। दूसरी बात यह है कि विना किसी चेतन अध्यक्ष के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। चेतन पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर हाथ की लेखनी लेखन-व्यापार में प्रवृत्त होती है; सारथि की अध्यक्षता में रथ में

गति का आविर्भाव होता है। तब अचेतन प्रकृति में पहिली प्रवृत्ति का उदय क्योंकर हुआ ? इसके उत्तर में सांख्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए गाय के स्तन से दूध आप से आप बहने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति विना किसी बाह्य कारण के स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। वत्स की विवृद्धि के लिए गो-स्तन से स्वयं प्रवृत्त होने वाले दूध का यह उदारहण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है जिस के हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान है। पुरुष की सहायता भी प्रकृति को इस महत्त्व के कार्य में नहीं मिल सकती, क्योंकि सांख्य ने पुरुष को क्रियाहीन तथा उदासीन मान कर उसे नितान्त पंगु बना डाला है। प्रकृति की कल्पना भी केवल आनुमानिक है। बादरायण सूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुति में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतने विरोधों के होने पर जगत् की प्रकृति का परिणाम मानना युक्तियुक्त नहीं है।

वैशेषिक मत का तिरस्कार

सूक्ष्म परमाणुओं के संघात से इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्धि होती है—यह वैशेषिक सिद्धान्त है, जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक, त्रसरेणु आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है, परन्तु अचेतन परमाणु इस नियत बद्ध जगत् की उत्पत्ति में क्या कभी समर्थ हो सकता है ? वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् का नियामक बतलाते हैं, परन्तु अदृष्ट भी तो अन्ततोगत्वा अचेतन ही ठहरा। परमाणु में प्रथम संयोग की उत्पत्ति किसी भी युक्ति के बल पर समझाई नहीं जा सकती। यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता का सिद्धान्त मानें, तो उनमें कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी। ऐसी स्थिति में प्रलय की कल्पना ही नष्ट हो जायेगी। जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उत्पन्न करने के लिए परमाणुओं में इन गुणों का सद्भाव माना जाता है। तब परमाणु सगुण हुए और ऐसी दशा में सगुण पदार्थ न तो नित्य हो सकता है और न सूक्ष्म। गुण से युक्त होना उसे स्थूल, अत एव अनित्य ही बनाता है। ऐसी दशा में वैशेषिक मत में परमाणुओं की स्वरूप-हानि होती है। अतः परमाणु को भी जगत् का उपादान मानना युक्ति-युक्त नहीं है।

वास्तववादी बौद्ध (सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक) दार्शनिकों की सम्मति में वह जगत् समूहात्मक है। आन्तर जगत् पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा

बौद्धमत का खण्डन विज्ञान का संघातमात्र तथा बाह्य जगत् विभिन्न रूप वाले चार परमाणुओं का पुञ्जमात्र है। जगत् के समस्त पदार्थ क्षणस्थायी हैं; परन्तु क्षणिक पदार्थों में कारणता नहीं सिद्ध हो सकती। कारण मानने के लिए किसी भी पदार्थ को उत्पन्न होना चाहिए तथा स्थित भी होना चाहिए। ऐसी दशा में पदार्थ दो क्षणों तक स्थायी होगा। एक क्षण में उत्पन्न होगा और दूसरे क्षण में स्थित होगा। इस प्रकार क्षणिकवाद का स्वतः खण्डन हो जाता है। चेतन की अध्यक्षता मानने पर भी यह मत सुसम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि चेतन स्थायी है, तो क्षणवाद का निरास होता है। यदि वह क्षणिक है, तो वह कार्य उत्पन्न ही नहीं कर सकता। एक क्षण उत्पन्न होने के लिए तथा दूसरा क्षण परमाणुओं को संयोग करने के लिए मानने से क्षणिकवाद का खण्डन हो जाता है। अचेतन कारण का दोष अभी बतलाया गया है। ऐसी दशा में जगत् को संघातात्मक तथा क्षणिक मानना नितान्त निराश्रय सिद्धान्त है।

विज्ञानवादी बौद्धों का भी सिद्धान्त इतना ही हेय तथा अप्रामाणिक है। शंकराचार्य ने इस मत के विरुद्ध बड़ी प्रौढ़ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। सबसे प्रधान युक्ति यह है कि जगत् को असत्य मान कर विज्ञान मात्र को सत्य मानना प्रतिदिन के लोकानुभव के नितान्त विरुद्ध है[1]। अनुभव के विषय होने पर भी घटपटादि की सत्ता का तिरस्कार करना उसी प्रकार उपहासास्पद है, जिस प्रकार रसभरी मिठाइयों के स्वाद का अनुभव करते हुए भी उन्हे मिथ्या ठहराना है। जगत् के असत्य होने पर घटपटादि का आपस में विभेद किस कारण पर ठहरेगा? विज्ञान रूप होने से तो ये दोनों समान ही ठहरे। ऐसी दशा में घट माँगने पर यदि पट लाकर उपस्थित कर दिया जाय, तो लोक का व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? अतः जगत् को विज्ञान का ही विकृत रूप बतलाना नितान्त अनुचित है। जब विज्ञानवाद की ऐसी विषम दशा है तो समस्त पदार्थों के अभाव मानने वाले शून्यवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार ठीक माना जाय? अतः बौद्धों की जगदुत्पत्ति की कल्पना नितान्त तर्कशून्य, अप्रामाणिक, अत एव अविश्वसनीय है।

द्वैतवादियों—पाशुपत, शैव तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों—के मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारण मात्र है, उपादान कारण नहीं। यह मत भी सन्तोष-

---

१. ब्रह्मसूत्र २।२।१८—३२ पर शांकरभाष्य।

द्वैतवाद का निरास

प्रद नहीं है। यदि ईश्वर जगदुत्पत्ति में केवल निमित्त-मात्र है, तो वह पक्षपात के दोष से लांछित हुए विना नहीं रह सकता। जगत् में कोई जीव सुखी है और कोई नितान्त दुःखी, इस वैषम्य का क्या कारण है? यदि कर्मानुसार यह विषमसृष्टि मानी जाय, तो श्रुतिमूलक होने के कारण ईश्वर का उपादान कारण होना भी अनिवार्य है; जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का स्रष्टा बतलाती है, वही उसे उपादान कारण भी बतलाती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रियाओं को पैदा करता है, परन्तु द्वैतवादियों का ईश्वर न तो शरीर है और न रागद्वेषादि भावों से मण्डित है। ऐसी दशा में केवल निमित्तकारण मानने पर ईश्वर में जगत्-कर्तृत्व का सिद्धान्त ठीक नहीं होता। अतः वेदान्त बाध्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त कारण दोनों बतलाता है। श्रुति और युक्ति दोनों इस सिद्धान्त के पोषक हैं। इस विषय में उपनिषद् उर्णनाभि (मकड़े) का उदाहरण प्रस्तुत करती है[२२]—जिस प्रकार मकड़ी विना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है—अर्थात् उन्हें अपने शरीर के बाहर फैलाती है और फिर उन्हें ग्रहण कर लेती है—अर्थात् अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना लेती है, उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादानकारण है तथा निमित्तकारण भी। वेदान्त का यही परिनिष्ठित मत है। अतः जगत् की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

जगत्

जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है[२३]। जादू उन्हीं लोगों को मोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्य जानने वाले पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल मोह का विषय नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अद्वैत-तत्त्व के ज्ञानियों के लिए इस जगत् की सत्ता निर्मूल है। इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है। समस्या यह है कि—जगत् सत्य है या असत्य? 'जगन्मिथ्यात्व' के सिद्धान्त ने सर्वसाधारण में कौन कहे शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैला रक्खी है कि अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य-परिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगत् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है—एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्ति-शून्य नहीं रहता।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में[२४] जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सतत समभाव से विद्यमान रहे तो उसे **सत्य** कहते हैं। इस प्रतिक्षण-परिणामी, सतत चञ्चल, नियत-परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कोटि में नहीं आ सकती। तो क्या जगत् नितान्त असत्य है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान-वादियों के मत का खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है। विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियसन्निकर्ष सब बुद्धि में है। जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि प्रत्यय बाहरी वस्तु के विना ही आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थशून्य हैं।

विज्ञानवादियों के अनुसार समस्त पदार्थ केवल विज्ञानमात्र होते हैं, स्वप्न तथा जागरित दशा में अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न विना किसी बाहरी पदार्थ की सत्ता के केवल कल्पनामात्र होता है, उसी प्रकार जागरित दशा में भी घड़ा एक विज्ञान का रूप है; घड़ा नामक कोई पदार्थ बाहरी जगत् में नहीं होता। फलतः इनके मत में जगत् स्वप्न के समान मायिक, काल्पनिक तथा असत्य है। इस पर शंकराचार्य का आक्षेप यह है कि—जगत् में पदार्थों का अनुभव तो प्रत्येक क्षण में हो रहा है। वस्तु तथा वस्तुज्ञान दो अलग-अलग चीजें हैं। यदि वस्तु को उस वस्तु के ज्ञान के बाहर न माना जाय, तो हँसी की बात होगी। स्वादिष्ट भोजन करके तृप्त होने वाला पुरुष उपहास का ही पात्र होता है, वह यदि न तो भोजन की बात माने और न अपनी तृप्ति की बात स्वीकार करे। बौद्धों का कथन है कि बाहरी वस्तुयें 'बाहर के समान' प्रतीत होती हैं; समानता की भावना दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में ही हो सकती है। 'मुख चन्द्रमा के समान है'—यह सादृश्य की धारणा ठीक है, क्योंकि मुख तथा चन्द्रमा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। जब बाहरी वस्तुयें 'बाहर के समान' बतलाई जाती हैं तब स्पष्ट है कि यहाँ दो वस्तुओं की सत्ता है। अतः बाहरी वस्तुओं को विज्ञान से अलग सत्तावान् मानना ही उचित होगा।

जगत् स्वप्नवत् अलीक है—इस मत का खण्डन आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। वे कहते हैं:[२५]—स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्न दशा का बाध होता है, परन्तु जागरित दशा का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागने पर प्राप्ति न होने से बाधित

होना प्रत्यक्ष ही है, परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न-ज्ञान स्मृति-मात्र है, परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभवरूप है। अतः दोनों की भिन्नता एकदम स्पष्ट है।

ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है? व्यवहार में इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता, परन्तु ब्रह्मात्म के ऐक्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित हाता है। अतः उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् बाधित रहता है, पर व्यवहारदशा में यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है जितना अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है।

सृष्टि

तमःप्रधान, विक्षेपशक्ति से युक्त, अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्ररूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु की, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वायुपञ्चक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है। स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं, अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिला कर आधा होता है, जैसे आकाश $= \frac{1}{2}$ आकाश $+ \frac{1}{8}$ पृथ्वी $+ \frac{1}{8}$ जल $+ \frac{1}{8}$ तेज $+ \frac{1}{8}$ वायु। प्रत्येक स्थूल भूत पञ्चभूतात्मक होता है (इसका नाम **पञ्चीकरण** है।)

सत्य का लक्षण

'सत्' वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित (विरुद्ध) न हो, और 'असत्' वही है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो। घनघोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी रस्सी को देख कर सर्प का ज्ञान होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी को देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है। यहाँ पहिले का सर्प-ज्ञान अब रज्जु-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अतः रज्जु में सर्प-ज्ञान बाधित होने से मिथ्या है। परन्तु यदि मेढकों की आवाज सुन कर हमें उनमें खाने वाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजली चमकने से घासों में भागने

वाला साँप दीख पड़े तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है। सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से वेदान्तियों ने 'अबाध्य' से प्रथम 'त्रिकाल' शब्द की योजना की है। अतः सत्य की शास्त्रीय परिभाषा **'त्रिकालाबाध्यं सत्यम्'** है—भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो—अर्थात् एक रूपेण अवस्थित रहे वही **सत्य** है। ब्रह्म ऐसा ही एक तत्त्व है—जो तीनों काल में समभाव से उपस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है, वह एक है तथा अद्वितीय है; ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है।

त्रिविध सत्ता

वेदान्त मत में तीन प्रकार की **सत्ता** मानी जाती है—(क) प्रातिभासिक या प्रातीतिक, (ख) व्यावहारिक और (ग) पारमार्थिक।

(क) प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है जो प्रतीतकाल में सत्यतया प्रतिभासित हो, परन्तु पीछे बाधित हो जाय, जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि। मृगतृष्णिकादि पदार्थ आधारहीन (निरास्पद) नहीं हैं। प्रतीति से पूर्वकाल में रज्जु सर्प-ज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान में उसी के आधार पर सर्प-ज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान अन्तर्हित हो जायगा[२६]। अतः रज्जु-सर्प का ज्ञान आकाशकुसुम के समान निराकार नहीं है।

(ख) व्यावहारिक सत्ता जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं[२७]—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का न कोई नाम है और न कोई रूप। इन नाम-रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिए नितान्त आवश्यक है, परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है; अतः एकान्त सत्य नहीं है। व्यवहार काल में ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है[२८]। इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है, जो त्रिकाल में अबाध्य होने से ऐकान्तिक सत्य है। वही ब्रह्म है।

(ग) 'पारमार्थिक' सत्ता वास्तव सत्ता है। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है। इन तीनों से

भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि। ये निराधार या निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या 'अलीक' कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती[१]।

अनिर्वचनीयतावाद

शुक्ति में रजत के भान के विभिन्न व्याख्यानों का उल्लेख भिन्न-भिन्न दर्शनों के वर्णन के अवसर पर इसने यथास्थान किया है। अद्वैतवेदान्त का भी अपना एक विशिष्ट सिद्धान्त है। रस्सी में सर्प का ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि दीपक के लाने और रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान बाधित हो जाता है। अर्थात् दीपक आने पर हमारे सामने रस्सी ही एकमात्र रहती है, वह साँप के रूप में कभी प्रतीत नहीं होती। अतः रज्जु में सर्पज्ञान को हम 'सत्' नहीं कह सकते। उसे 'असत्' (अविद्यमान) कहते भी नहीं बनता, क्योंकि साँप को देखकर जैसे कोई आदमी डर के मारे काँपने लगता है और भाग खड़ा होता है, उसी प्रकार इस रस्सी को भी देखकर वह वैसा ही व्यवहार करता है। फलतः रस्सी साँप के सब काम करने की योग्यता रखती है। पुनः उसे 'असत्' कैसे कहा जाय? फल यह है कि रज्जु में सर्पज्ञान न सत् है और न असत्; प्रत्युत दोनों से विलक्षण है। इसे **अनिर्वचनीय** कहते हैं अथवा 'मिथ्या' भी कहते हैं। ध्यान देने की बात है कि वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ 'असत्' नहीं; प्रत्युत 'अनिर्वचनीय' है। भ्रम के विषय में अद्वैतियों का यह सिद्धान्त 'अनिर्वचनीयता ख्याति' के नाम से प्रख्यात है।

विवर्तवाद

कार्य-कारणभाव के विचार करने पर भी जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय ही ठहरती है। अद्वैतवादियों के मत में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। परिणामवादी कार्यभूत द्रव्य को कारण से अभिन्न, साथ ही भिन्न भी स्वीकार करते हैं, परन्तु ये युक्ति-युक्त नहीं हैं। घट आदि मिट्टी के बर्तन मृत्तिका से अभिन्न हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी इनमें पारस्परिक भेद कहाँ से आया? यदि इनमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए विना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्य-कारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद (या एक) का परमार्थ सत् होना उचित है और भेद (या नाना) को कल्पित मानना ठीक है। ऐसा न करने पर असंख्य परमार्थ

वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण-सत्ता अविनाशी एवं निर्विकार है, तथा उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपञ्च केवल कल्पनामूलक है—अनिर्वचनीय है। इस तरह एकमात्र स्वप्रकाश अखण्ड चैतन्यसत्ता के अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है, तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है, पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीयवाद की पारिभाषिकी संज्ञा **'विवर्त'** है[३०]। परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है:—

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है, परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। और रज्जु तथा सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (२।१।८ शां० भा०)।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्य-मुक्त है, तब वह संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है? निरतिशय आनन्दरूप आत्मा

अध्यास

इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दुःखों के झेलने का उद्योग क्यों करता है? इसका एकमात्र उत्तर है—**'अध्यास'** के कारण। अध्यास कौन-सी वस्तु है? शारीरकभाष्य के उपोद्घात में आचार्य ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में किया है। आचार्य के शब्दों में **'अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः'** तत्पदार्थ में अतद् (तद्भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना 'अध्यास' कहलाता है। जैसे पुत्र स्त्री के सत्कृत या तिरस्कृत होने पर अपने को मनुष्य का सत्कृत या तिरस्कृत मानना—यह हुआ बाह्य धर्मों का आरोप। इसी प्रकार अपने को स्थूल या कृश, चलनेवाला या खड़ा होनेवाला, अन्ध या बधिर मानना इन्द्रियादिकों के धर्मों के आरोप के कारण ही आभ्यन्तर धर्मों का आरोप है। यह सब अविद्या-विजृम्भित अध्यास ही है। आत्मा के विषय में यह अध्यास क्यों चला तथा कब से चला? इसका भी वर्णन आचार्य ने किया है। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान है—विषयी (अस्मत्प्रत्यय) तथा विषय (युष्मत्प्रत्यय)। सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का आरोप 'अध्यास' है, परन्तु आत्मा तो विषयी ठहरा, अतः विषयी आत्मा में अध्यास बनता ही नहीं। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि आत्मा का विषयी होना तो ठीक है, परन्तु आत्मा भी अस्मत्प्रत्यय ('मैं हूँ' ऐसा ज्ञान) का विषय होता ही है। अतः वह

भी कभी-कभी विषय बनता है। अध्यास कब से चला ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं[३१]—कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अध्यास स्वाभाविक है, अनादि है तथा अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास है। यह अध्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान ही पाया जाता है। अध्यास का ही दूसरा नाम 'अध्यारोप' है। इसी अध्यारोप को हटाने के लिए आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

वेदान्त आचार-मीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन-यापन करता है। वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है। आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है। नानात्व ज्ञान से ही संसार है, तथा एकत्व ज्ञान से ही मुक्ति है। आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोकनिवृत्ति मोक्ष कहलाता है। अब इस मोक्ष के साधन मार्ग की रूपरेखा का निरूपण करना नितान्त आवश्यक है।

ज्ञान-कर्म का समुच्चय

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञानसमुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधन-मार्ग बतलाया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण, सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाण-कोटि में अंगीकार किया है। उनका कहना है कि स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठायें हैं—**'कर्मनिष्ठा'** तथा **'ज्ञाननिष्ठा'**। इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। मानव जीवन के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिए कर्मों का विधान किया गया है और आत्मा का परमात्मरूप में ज्ञान, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्यकर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान और कर्म में गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है[३२] कि क्या पूर्व समुद्र जाने वाले पुरुष का तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता है ? आत्मा की प्रतीति को निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा ही महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में। अतः ऐकान्तिक विरोध के विद्यमान होने से ज्ञान-कर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता।

कर्म-मार्ग

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कथमपि सिद्ध हो सकती है ? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है। अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है (उत्पाद्य), परन्तु क्या नित्यसिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य), परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं, परन्तु आत्मा में विकार तथा संस्कार का अभाव है। अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मों की निष्पत्ति का प्रयास अकिञ्चित्कर ही है। अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती[33]। अतः कर्म व्यर्थ हैं। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु कामनाहीन नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है[34]। आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्ष-साधक हैं। सकाम कर्मों का अनुष्ठान असुरत्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है। देव तथा असुर का अन्तर भी यही है। स्वाभाविक रागद्वेष मूलक प्रवृत्तियों का दास होने वाला अधर्म-परायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है, परन्तु रागद्वेष को अभिभव कर शुभवासना की प्रबलता से धर्माचरण करने वाला पुरुष 'देव' कहलाता है[35]।

पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञानदीपिका' में वेदान्तसम्मत आचारपद्धति का विवेचन किया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन माननीय है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। अतः संसार के उच्छेद के लिए कर्म का 'निर्हरण' (विनाश) करना नितान्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित (प्राचीन), संचीयमान (भविष्य में उत्पन्न होने वाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रखे गये अन्न, सञ्चीयमान कर्म क्षेत्र में बीजरूपी अन्न और प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान हैं। जिस प्रकार गृहस्थित तथा क्षेत्रस्थित अन्न का विविध रूप से नाश किया जा सकता है, परन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन के ही द्वारा होता है, उसी प्रकार संचित तथा संचीयमान कर्म का नाश ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध का क्षय भोग के ही द्वारा हो सकता है। कर्म का निर्हरण कर्म, योग,

ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है[३६]। फलानुसंधान-रहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्य-पापादि कार्य का तथा सूक्ष्म-स्थूल शरीररूपी कारण का सर्वथा लोप कर देता है। अतः यही वास्तव कर्मनिर्हार है।

इस विवेचन से यही परिणाम निकलता है कि सत्त्वशुद्धि या अन्तःकरण के शोधन के लिए कर्म व्यर्थ न होकर मुमुक्षु के लिए उपादेय हैं; तथापि ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। आचार्य की माननीय सम्मति में न तो कर्म से, न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से; प्रत्युत केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ज्ञानमार्ग

ज्ञानप्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक-चूडामणि' और 'उपदेश-साहस्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदान्त-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है, तदितर समस्त संसार अनित्य एवं असत्य है—इस विवेक का उदय प्रथम साधन है (नित्यानित्य वस्तुविवेक)। सांसारिक और पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों का वश में करना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता-शोक से रहित अप्रतीकारपूर्वक दुःखों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास) तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा)—इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तदनन्तर शिष्य शान्त दान्त अहैतुकदयासिन्धु, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में जाकर आत्म-विषयक प्रश्न करता है। गुरु को निष्प्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिए वह 'अध्यारोप और अपवाद विधि' से ब्रह्म का उपदेश कराता है। 'अध्यारोप' निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक-एक निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है, तदनन्तर युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पञ्चकोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर उसके स्वरूप का बोध गुरु कराता है। वेदान्त की व्याख्यापद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।

अध्यारोप-विधि

वेदान्त परम्परा का उपदेशक विषयों में अद्वैत तत्त्व का उपदेश देता है, तथा उन्हें ब्रह्म की एकता का ज्ञान यथार्थरूप से कराता है। ब्रह्म निष्प्रपञ्च है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म का ज्ञान बिना प्रपञ्च की सहायता से नहीं हो सकता। जगत् के भीतर से ही ब्रह्म के तत्त्व का अभ्यास कराया जाता है। इसके लिए वेदान्त के ग्रन्थों में बड़ी सुन्दर तथा वैज्ञानिक व्याख्यापद्धति समझाई गई है। प्रथमतः आत्मा के ऊपर देह-धर्मों का आरोप कर देना चाहिए, अर्थात् आत्मा ही शरीर, मन, बुद्धि आदि समस्त पदार्थ है, इस धारणा को ही प्रथमतः शिष्य के सामने रखना चाहिए। इसका नाम है—**अध्यारोप-विधि**। अब युक्ति के बल पर दिखलाना चाहिए कि आत्मा न तो बुद्धि है, न मन है और न शरीर है; वह इन सबसे भिन्न ही है। इस प्रकार एक एक आरोपित धर्म को आत्मा से हटाते जाना चाहिए। जिससे हटाते-हटाते जो अन्तिम कोटि में शेष रह जाता है वही होता है आत्मा का सच्चा रूप। इसका नाम है—**अपवाद-विधि**। ये दोनों एक ही पद्धति के दो अंश हैं। इस विधि से शिष्य को आत्मा या ब्रह्म के यथार्थ रूप का, सच्चिदानन्द रूप का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है। अज्ञात तत्त्व के मूल्य तथा रूप को जानने के लिए इस पद्धति का उपयोग आज का 'बीजगणित' भी निश्चयरूप से करता है[३७]।

अपरोक्ष-ज्ञान का उदय

ब्रह्मवेत्ता गुरु अधिकारी और प्रपन्न शिष्य को 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है कि तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। इस महावाक्य का शब्दबोध आगे बतलाया जायगा। यहाँ इसके फल का विचार करना है। फलोदय में दो मत हैं। वाचस्पति मिश्र मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' का अनुकरण कर शब्द से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति बतलाते हैं[३८], जो मनन, निदिध्यासन आदि योगप्रक्रिया के द्वारा अपरोक्षरूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरुपदेश के अनन्तर वाक्यार्थ का मनन तथा ध्यानधारणा का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक होता है। अनन्तर अपरोक्षानुभूति की उत्पत्ति होती है[३९]। यहाँ पर सुरेश्वराचार्य की सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। आवरणों की सत्ता होने से यदि सद्यः ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती तो उन्हें दूर करने के लिए मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्द सुनते ही सद्यः अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है। 'दशमस्त्वमसि' (तुम ही दसवाँ हो)

इस लौकिक वाक्य से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का रहस्य समझा जा सकता है। नदी पार कर लेने के बाद दसों मूर्ख गिनती से नव ही आदमियों को पाकर शोक से उद्विग्न हो रहे थे। गिनने वाला गिनती करते समय अपने ही को भूल जाता था, परन्तु जब एक दूसरे व्यक्ति ने आकर उपदेश दिया कि दसवाँ तुम ही हो, तब वाक्य स्मरण करते ही उनका शोक विलीन हो गया। इसी प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होकर आनन्द का उदय सद्यः होता है[४०]। आचार्य का अपना मत यही जान पड़ता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्र तथा व्याकरणागम में विशिष्टरूपेण किया गया है। भामती-प्रस्थान और विवरणप्रस्थान का मूलभेद यहाँ से आरम्भ होता है।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

अद्वैतियों के सामने प्रश्न था कि उपाधिविशिष्ट क्लेशकर्मादिकों में बद्ध जीव को निरुपाधि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म से एकता क्योंकर सिद्ध की जा सकती है? **'तत्त्वमसि'** (छा० उप० ६।८।७) इसी तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

इस महावाक्य का स्पष्ट अर्थ है कि त्वम् (= जीव) तत् (= ब्रह्म) हो, अर्थात् ब्रह्म और जीव की एकता है। दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। यह दोनों के अभेद का प्रतिपादक वाक्य है, परन्तु इसका अर्थ ठीक-ठीक नहीं जमता। जीव तथा ब्रह्म में अनेक विरुद्ध धर्मों की स्थिति है। जीव अल्पज्ञ तथा अणु है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है। इस परिस्थिति में दोनों की एकता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? उपनिषद् के इस महनीय वाक्य का तात्पर्य क्या है? आचार्यों का कहना है कि 'आद्यावृत्ति' के द्वारा इस वाक्य के अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता। इसके लिए 'लक्षणा' की आवश्यकता होती है। वही उस वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक बतलाती है[४१]।

अद्वैत वेदान्त की शिक्षा का निचोड़ **'तत्त्वमसि'** इस महावाक्य में दिया गया है। जीव तथा ब्रह्म दोनों में पूर्ण अभेद है। यही वेदान्त की शिक्षा है।

'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ

दोनों में शुद्ध चैतन्य को लेकर ही एकता मानी जाती है। इसे एक दृष्टान्त के द्वारा समझना चाहिये। 'यह वही देवदत्त है' इस तादात्म्य-सूचक वाक्य के अर्थ पर ध्यान दीजिये। जिस देवदत्त को हमने कल देखा था आज का यह देवदत्त वही है। यहाँ कल देखे गये देवदत्त का आज देखे गये देवदत्त

के साथ अभिन्नता तथा तादात्म्य विद्यमान है, परन्तु दोनों देवदत्तों में अनेक विरुद्ध गुण भी हैं। तब दोनों में एकता कैसे सिद्ध हो सकती है? तात्कालिक और एतत्-कालिक इन दो विरुद्ध विशेषणों को हटा देने पर दोनों की एकता सिद्ध होती है। इसी उदाहरण की सहायता से 'तत्त्वमसि' का अर्थ समझा जा सकता है। 'तत्' का अर्थ है—अल्पज्ञ चेतन जीव तथा 'त्वम्' का अर्थ है—सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म। यहाँ अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ—दोनों आपस में विरुद्ध धर्म हैं। ऐसे धर्मों के रहने पर जीव तथा ब्रह्म में एकता तथा अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है? अतः इन विरुद्ध धर्मों को छोड़ देने पर केवल 'चैतन्य' अंश को ही लेकर दोनों में भेद सिद्ध हो सकता है, अर्थात् चेतन आत्मा तथा चेतन ब्रह्म दोनों एक हैं। **भागवृत्ति** लक्षणा के द्वारा यह एकता सिद्ध मानी जाती है।

साधन का मार्ग

वेदान्त के साधक को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की नितान्त आवश्यकता होती है। उसे वेदान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों को गुरुमुख से सुनना चाहिए (श्रवण)। अनन्तर अधीत विषय के ऊपर युक्ति तथा तर्क के द्वारा स्वयं मनन करना चाहिए (मनन) तथा मनन के बाद उस विषय के ऊपर निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। तभी उसे आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व का पूर्ण ज्ञान तथा सच्चा बोध होता है। इस एकता का ज्ञान उसे परोक्ष रूप से न होकर अपरोक्षरूप से करना चाहिए। केवल शाब्दिक ज्ञान से उसे लाभ ही क्या? यह तो केवल परोक्ष ज्ञान का जनक होता है। अपरोक्ष-ज्ञान स्वानुभूति पर आश्रित रहता है। साधक को गुरु उपदेश देता है—तत् त्वमसि–अर्थात् तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो। परन्तु इस उपदेश पर निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करना पड़ता है। तब वह परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत होता है। साधक अनुभव करता है—**अहं ब्रह्मास्मि**—मैं ही ब्रह्म हूँ। इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेदभाव मिट जाता है, एकत्व का ज्ञान हो जाता है, भ्रम दूर भाग जाता है तथा साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वह ज्ञान भारभूत है जो क्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता।

मुक्ति के भेद

मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुष का शरीर जारी रहता है, क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। वह व्यक्ति अब संसार के प्रपञ्च में नहीं पड़ा रहता। न मोह उसे सताता है, न शोक उसे अभिभूत करता है। संसार उसके लिए

अवश्य चलता रहता है, परन्तु वह उसके दुःखों से स्पृष्ट नहीं होता। संसार की अनुवृत्ति होती है उसके लिए, परन्तु वह बाधित रूप में ही होती है। ऐसे पुरुष को **'जीवन्मुक्त'** कहते हैं। 'जीवन्मुक्त' का अर्थ है—इसी जीवन में, जीते जी दुःखों से मुक्ति पा लेने वाला व्यक्ति। पूर्व अवस्था से इस अवस्था की तुलना से दोनों में जमीन आसमान का अन्तर होता है। कर्म के तीन प्रकार होते हैं—(१) **संचित** (पूर्व जन्म का इकट्ठा कर्म), (२) **प्रारब्ध** (पूर्व जन्म के वे कर्म जिनका फलभोग हो रहा है) तथा (३) **संचीयमान** (वे कर्म, जो इस जन्म में जमा हो रहे हैं)। तत्त्व-ज्ञान के द्वारा संचित कर्म का नाश तथा संचीयमान कर्म का निवारण किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश तो भोग के द्वारा ही होता है। जब भोग होने से प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब वह कर्म भी शान्त हो जाता है। कुम्भकार का चाक दण्ड हटा लेने पर भी कुछ काल तक पूर्व अभ्यास के वश से चलता ही रहता है, पर वह भी धीरे धीरे शान्त हो जाता है और गति बन्द होने से वह एकदम रुक जाता है। इस दशा में जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर का अन्त हो जाता है। उस समय **विदेह-मुक्ति** जीव को प्राप्त हो जाती है।

मुक्ति का रूप

मुक्ति का स्वरूप समझाने के लिए वेदान्ती लोग एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। किसी मनुष्य के गले में सोने का हार है। उसे वह भूल कर इधर उधर अपने से बाहर ढूँढ़ता फिरता है, परन्तु किसी जानकार के उपदेश से उसे पता चलता है कि हार उसी के गले में है और तब उसकी प्राप्ति से वह प्रसन्न होता है। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है। मुक्ति न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य; न उसका उत्पादन होता है और न उसकी प्राप्ति, परन्तु जीव इसे भूलकर बाहर खोजता फिरता है। गुरु के उपदेश से अज्ञान और भ्रम दूर होता है, विवेक उत्पन्न होता है और वह व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति को पाकर प्रसन्न होता है। मुक्त पुरुष अपनी एकता सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रतिष्ठित करता है। फलतः वेदान्तमत में मुक्ति की दशा नितान्त आनन्दमयी दशा है। जीव और ब्रह्म की भेद-भावना से उत्पन्न होने वाले दुःखों की केवल निवृत्ति ही नहीं हो जाती, प्रत्युत साधक को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। अज्ञान आवरण के हट जाने से पूर्ण ज्ञान के आलोक से वह उद्भासित हो उठता है और ब्रह्म की अनुभूति से वह कृतकृत्य हो जाता है।

शाङ्कर मत की मौलिकता

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में मौलिकता की खोज आलोचकों ने की है। आचार्य शंकर से पहले अनेक अद्वैतवाद का प्रचार इस भारतभूमि में था। माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचारों का विज्ञानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्यद्वैत तथा भर्तृहरि और तदनुयायी मण्डन मिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन हैं। प्रथम दो मतों का विशेष वर्णन बौद्धदर्शन के प्रसंग में किया गया है तथा शक्त्यद्वैत का विवेचन आगे किया जायगा। भर्तृहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द की ही अद्वैत कल्पना स्वीकृत की गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—इन चतुर्विध वाणी-विभेद में 'परा वाक्' साक्षात् ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डन मिश्र भी भर्तृहरि के मतानुयायी प्रतीत होते हैं। अभी प्रकाशित 'ब्रह्मसिद्धि' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे, श्रवण से परोक्ष ज्ञान का उदय मानकर 'उपासना' को ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे तथा वे 'ज्ञानकर्म-समुच्चय' के पक्षपाती थे, जिसके अनुसार अग्निहोत्रादि वैदिक कृत्यों का भी उपयोग मोक्ष की उत्पत्ति में अवश्यमेव है। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। शंकर शाक्ताद्वैत से परिचित थे। 'सौन्दर्यलहरी' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है। अतः शंकर अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं, परन्तु कतिपय आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्दसाम्य के बल पर ब्रह्मवाद को शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मानते हैं, तथा प्राचीन द्वैतवादी आलोचकों ने भी शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है, परन्तु बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन के तारतम्य परीक्षण से निश्चित हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ़ आधारों पर है। 'शान्तरक्षित' ने तत्त्वसंग्रह (कारिका ३२८-३३१) में 'अद्वैतदर्शनावलम्बी' औपनिषद मत का खण्डन किया है। यदि अद्वैत में बौद्धमत की तनिक भी झलक होती, तो शान्तरक्षित तथा कमलशील जैसा बौद्ध दार्शनिक इसका बिना उल्लेख किये कैसे रहता? बौद्धों का विज्ञान अनित्य और नाना है, शाङ्करमत में विज्ञान नित्य तथा एक है; विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नावभास है, परन्तु शाङ्करमत में ऐसा नहीं। चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य 'सत्' रूप नहीं है, पर शाङ्करमत में 'ब्रह्म' तद्रूप है। ये अनेक मौलिक धारणायें भिन्न-भिन्न हैं। अतः शङ्कर को अद्वैत

शंकर से प्राचीन अद्वैत मत

कल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी ठहराना असंगत प्रतीत होता है। शंकर के अनन्तर अनेक प्रौढ़ वेदान्तियों ने अपने नवीन मतवाद का विवरण प्रस्तुत किया है[४२]।

उपसंहार

अद्वैत वेदान्त का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्मविषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्कविषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। आचार्य ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही है, उन्हें पुष्ट करने के लिए तथा अन्य मतों के निराकरण के वास्ते उन्होंने आगमरहित तर्क से विपरीत वेदशास्त्रानुकूल तर्क का विशेष उपयोग किया है। आचार्यप्रतिपादित साधन-मार्ग भी नितान्त मनोरम है। वे कर्म का तिरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। इन्हीं कारणों से जनसाधारण में भी इसकी इतनी लोकप्रियता है। बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में कुमारिलभट्ट के साथ शंकराचार्य का भी बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य श्रीविद्या के उपासक परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने मायावाद को भक्ति से नितान्त विरोधी मान कर उसका खण्डन बड़े समारोह के साथ किया। इतना होने पर भी आचार्य का अद्वैत वेदान्त इस विश्व की पहेली को समझाने में जितना सफल हुआ, उतना दूसरा मत नहीं। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का इतना गौरव है।

अद्वैत वेदान्त के मूल स्रोत का हमें पता उपनिषदों में तो लगता ही है, उससे भी प्राचीन वैदिक संहिताओं में भी यह सिद्धान्त सर्वत्र व्यापक रूप से जागरूक दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी विद्वानों का यह आग्रह है कि संहिताओं में कर्मकाण्ड पर ही जोर है, तथा ज्ञानकाण्ड का उदय कर्मकाण्ड के विरोध के रूप में उपनिषदों में सर्वप्रथम हुआ, परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। उपनिषदों ने अपने सिद्धान्तों के लिए संहिताओं को ही अपना उद्गम स्वीकार किया है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन तथा व्यावहारिक धर्म होने के कारण वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा सर्वतोभावेन उचित तथा श्लाघनीय है।

वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। जो आलोचक वेदान्त के ऊपर निष्क्रियता की शिक्षा देने का आरोप लगाते हैं वे सत्य से बहुत दूर हैं। वेदान्त विश्व के

भीतर प्रत्येक जीव में, प्रत्येक प्राणी में विद्यमान ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाता है। जब सब जीव ब्रह्म के ही रूप हैं और प्राकारान्त से वे अपने ही अविभाज्य रूप ठहरते हैं, तब ईर्ष्या-द्वेष के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता ? वेदान्त विषयसुख को तुच्छ सिद्धकर जीवों को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन देता है। विषय का सुख क्षणिक होता है, परन्तु आध्यात्मिक सुख सच्चा तथा चिरस्थायी होता है। वेदान्त उसी की ओर बढ़ने के लिए जीवों में स्फूर्ति भरता है। वेदान्त प्रत्येक जीव में अनन्त-शक्ति-सम्पन्न होने की शिक्षा देकर उसे आगे बढ़ने का उपदेश देता है। नर से नारायण बनने का अमूल्य आदर्श वेदान्त हमारे सामने रखता है। वेदान्त की शिक्षा का चरम अवसान है—**वसुधैव कुटुम्बकम्**। समस्त संसार को अपना कुटुम्ब समझना तथा इस आदर्श के अनुसार चलना—वेदान्त की महनीय शिक्षा आज क्षुद्रस्वार्थ की भावना से त्रस्त तथा परास्त मानव-समाज के कल्याण के लिए अमृतमयी है—इसे विशेष बतलाने की आवश्यकता नहीं। आज के पश्चिमी संसार में विशेषतः अमेरिका में, वेदान्त के प्रचुर प्रचार का रहस्य इसी अलौकिक उपदेश के भीतर छिपा है।

———

त्रयोदश परिच्छेद

वैष्णव दर्शन

नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत हैं। ज्ञान और भक्ति की धारायें नारायण से आरम्भ होकर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती हैं। भगवान् ही अद्वैत दर्शन तथा वैष्णवदर्शनों के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञान-धारा प्रवृत्त हुई। शुक, गौडपाद, गोविन्द भगवत्पाद, शंकराचार्य—यह अद्वैत-मार्ग की मुख्य आचार्य-परम्परा है। वैष्णवधर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय तथा सनक सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय भगवान् से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरु परम्परा का क्रम प्रत्येक सम्प्रदाय में मिलता है। **श्रीवैष्णव** सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज 'विशिष्टाद्वैत' के, '**ब्रह्म-सम्प्रदाय**' के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) 'द्वैत' के, **रुद्रसम्प्रदाय** के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ 'शुद्धाद्वैत' के, '**सनक-सम्प्रदाय**' के आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैत-वाद से पृथक् 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। पाञ्चरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्रीवैष्णव मत पर पाञ्चरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में विष्णुपुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है। इस परिच्छेद में इन्हीं निगमागममूलक पाँचों वैष्णव दर्शनों का परिचय संक्षेप में क्रमशः दिया जायेगा।

(१) रामानुज दर्शन

दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त को अपने भक्तिमयपद्यों तथा गायनों से आनन्द विभोर बनाने वाले वैष्णव सन्तों का नाम 'आलवार' है। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ अध्यात्म-ज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान् नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तमिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पद्यों की

आलवार

रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध 'आलवारों' में अनेक नीच जाति के भी पुरुष थे। सुनते हैं कि सबसे प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे, 'तिरुमंगै' आलवार जाति से नीच और कर्म से बड़े भारी डाकू थे, गोदा या आण्डाल स्त्री थी। भगवान् के दरबार में जातिपाँति का आदर नहीं होता, वहाँ पहुँचने में केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। 'आलवारों' ने अपने जीवन से इस सत्य को यथार्थ प्रमाणित कर दिया। 'आलवार' संख्या में १२ माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नालायिर प्रबन्ध' (चतुःसहस्र पद्यात्मक) कहा जाता है, जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का एक अनमोल खजाना है। इनका आविर्भाव काल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।

आलवारों के नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो तमिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इनके जीवन की घटनायें बड़े विस्तार के साथ लिखी गई हैं। इन भक्तों का आदर इतना अधिक है कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मन्दिरों में की गई हैं, जहाँ इनके मधुर पद्य आज भी गाये जाते हैं, तथा इनकी प्रभावशालिनी जीवन-घटनायें नाटक के रूप से सर्वसाधारण के उपदेश के लिए दिखाई जाती हैं। इनके पद्य वेदमन्त्रों के समान पवित्र तथा मुक्तिरूपी गंगा के बहाने वाले हैं। पवित्रता और आध्यात्मिकता के कारण इन पद्यों का पूर्वोक्त संग्रह 'तमिलवेद' के महनीय नाम से पुकारा जाता है। इनके नाम पराशरभट्ट ने एक सुन्दर श्लोक में दिया है—

भूतं सरश्च महदाह्वयभट्टनाथ-
श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान् ।
भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
श्रीमत्पराङ्कुशमुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

आरम्भ के तीन आलवारों के नाम 'पोयगै' आलवार (सरोयोगी), 'भूतत्तालवार' (भूतयोगी), 'पेयालवार' (महत्-योगी) है। ये प्रायः समकालीन तथा सबसे प्राचीन माने जाते हैं। चौथे भक्त का नाम 'तिरुमड़िसै' आलवार (भक्तिसार) है, जो उनकी जन्मभूमि तिरुमड़िसै के कारण है। पञ्चम आलवार इन भक्तों की श्रेणी के मुकुटमणि माने जाते हैं। इनका नाम 'नम्मालवार' या परांकुशमुनि या शठकोपाचार्य है। इन्होंने चार सुप्रसिद्ध भक्तिज्ञानप्रपूरित ग्रन्थरत्नों की रचना की है—(क) तिरुविरुत्तम्, (ख) तिरुवाशिरियम्,

(ग) पेरियतिरुन्दादि, (घ) तिरुवॉयमोलि। साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित ये ग्रन्थ आध्यात्मिकतत्त्वों के प्रदर्शक होने के कारण श्रीवैष्णव ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चारों ग्रन्थ चारों वेदों के समकक्ष स्वीकृत किये गये हैं। वेदान्तदेशिक ने अन्तिम ग्रन्थ को 'द्रविडोपनिषद्' कहा है, तथा उसका संस्कृत भाषा में अनुवाद भी किया है। श्री वैष्णवों के मौलिक सिद्धान्त—मूलमन्त्रद्वय तथा चरम श्लोक—का प्रतिपादन होने से वैष्णव समाज में समधिक आदर के भाजन हैं। योगी शठकोपाचार्य के शिष्य (६) 'मधुरकवि' ने अपने गुरुदेव का पवित्र चरित्र लिखकर गुरु-भक्ति को ईश्वर-भक्ति के समान ही आदरणीय बतलाया है। (७) 'कुलशेखर' आलवार मालावार प्रान्त के प्रजारञ्जक राजा थे। राज्य वैभव को लात मार कर ये श्रीरंगम् में एक साधारण निर्धन भक्त के समान जीवन यापन करते थे। इन्होंने 'पेरुमाल तिरोमोलि' की रचना तमिल भाषा में और 'मुकुन्द माला' की रचना संस्कृत में की है, जो भाषा और भाव के सौन्दर्य के कारण रसिक-समाज में नितान्त प्रख्यात है। (८) 'पेरिय आलवार' का दूसरा नाम 'विष्णुचित्त' है जिन्होंने दक्षिण के एक बड़े राजा को वैष्णव बनाया था। (९) 'गोदा' या आण्डाल को विष्णुचित्त अपनी पुत्री के समान मानते थे। आण्डाल कृष्ण के प्रेम में सदा मस्त रहती थी। वह श्रीरंगम् के रंगनाथजी को अपना पति मानती थी। गोपी प्रेम की झलक आण्डाल के जीवन तथा काव्य में भरपूर मिलती है। इनके 'तिरुप्पावै' तथा 'नाचियार तिरोमोलि' नामक काव्य-ग्रन्थ भक्तिरस से विभोर भक्त जन के हृदयोद्गार हैं। (१०) 'तोण्डरडिप्पोलि' (विप्रनारायण) की उपाधि 'भक्तपदरेणु' है, क्योंकि वे श्रीरंगम् के मन्दिर में आने वाले समस्त भक्त जनों का चरणामृत लिया करते थे। (११) 'तिरुप्पन' (मुनिवाहन, योगवाहन) जाति से अछूत थे, पर भक्ति में पहुँचे हुए भक्त थे। (१२) 'तिरुमंगैआ' 'आलवार (नीलन्, परकाल) अछूत जाति के एक बड़े भयानक डाकू थे और लूट से मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिर बनवाते थे। इन्होंने ६ पद्यग्रन्थों का निर्माण किया है जो तमिल भाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। ग्रन्थ रचना की दृष्टि से नीलन् का स्थान शठकोपाचार्य से कुछ ही घट कर है। इन्हीं आलवरों के उद्योग का फल था कि परवर्ती काल में रामानुज को श्रीवैष्णव मत के प्रचार करने में इतनी सफलता प्राप्त हुई।

(क) विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

दशम शताब्दी में तमिल प्रान्त में वैष्णव धर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तमिल जनता में विष्णुभ-क्ति के प्रचार करने का

श्लाघनीय उद्योग किया। ये 'आचार्य' कहलाते हैं। इन आचार्यों ने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय किया; तमिल वेद तथा संस्कृत वेद का गहरा अध्ययन कर इन लोगों ने तमिल वेद के सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों से पूरा सामञ्जस्य दर्शाया। इसी कारण ये 'उभय वेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त और 'प्रपत्ति' मार्ग की प्रतिष्ठा कर एक नवीन वैष्णव मत को चलाया, जो 'श्री' या 'लक्ष्मी' के आद्य प्रवर्तक होने के कारण 'श्रीवैष्णव' के नाम से विख्यात है।

आद्य आचार्य (१) रंगनाथमुनि (८२४–९२४ ई०) **'नाथमुनि'** के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात हैं। ये शठकोपाचार्य की शिष्य परम्परा में थे। इन्होंने लुप्तप्राय 'तामिल वेद' का पुनरुद्धार किया, श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की तथा वैदिक ग्रन्थों के ही समान इन ग्रन्थों का भी अध्यापन प्रारम्भ किया। इनके 'योगरहस्य' का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका 'न्याय-तत्त्व' विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है।

(२) यामुनाचार्य का विख्यात नाम 'आलवन्दार' है। ये नाथमुनि के पौत्र थे। ९७३ ई० के लगभग ये आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। नाथमुनि के बाद 'पुण्डरीकाक्ष' और 'राम मिश्र' आचार्य पद पर आरूढ़ थे। राम मिश्र के उद्योग करने पर यामुन ने राजसी वैभव का तिरस्कार कर वैष्णव मत के प्रचार में अपना शेष जीवन बिताया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(क) गीतार्थ-संग्रह, (ख) श्रीचतुःश्लोकी (लक्ष्मी की स्तुति), (ग) सिद्धित्रय (आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, माया खण्डन तथा आत्म-विषय-सम्बन्ध प्रतिपादक संवित्-सिद्धि), (घ) महापुरुषनिर्णय (विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन), (ङ) आगमप्रामाण्य (पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन), (च) आलवन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न)। यामुन के ग्रन्थों में सब से अधिक लोकप्रिय इस स्तोत्र के ७० पद्यों में 'आत्मसमर्पण' के सिद्धान्त का मनोरम वर्णन है। कविहृदय की भक्ति-भावना इन सरस पद्यों में फूट कर बह रही है।

(३) रामानुजाचार्य—(१०३७–११३७ ई०) ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे, परन्तु गुरु के अद्वैतमत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़कर अन्य आचार्यों से वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया। ये यामुनाचार्य के अन्तर प्रधान

आचार्य बने। पत्नी से मतभेद, संन्यासग्रहण, शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर मैसूर में भाग आना, मेल्कोट में लगभग १२ वर्ष तक निवास तथा बिट्टिदेव (विष्णुवर्धन) को वैष्णव मत में दीक्षित करना—आदि इनकी जीवनघटनायें नितान्त प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'श्रीभाष्य' (रचनाकाल ११०० के आसपास) की स्वयं रचना कर, अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशर भट्ट के द्वारा विष्णुसहस्रनाम पर पाण्डित्यपूर्ण 'भगवद्गुणदर्पण' भाष्य और अपने मातुलपुत्र कुरुकेश के द्वारा नम्मालवार के 'तिरुवायमोलि' पर तमिल भाष्य का निर्माण कराकर रामानुज ने यामुन के तीनों मनोरथों की पूर्ति कर दी। आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (शांकर और, भास्कर मत का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ—सुदर्शनसूरि की 'तात्पर्यटीका' विख्यात व्याख्या है), (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षर टीका, (३) वेदान्तदीप—यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है, पर सार से विस्तृत है; (४) गद्यत्रय—(ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ), (५) गीताभाष्य (वेदान्तदेशिक कृत तात्पर्य-चन्द्रिका टीका), (६) श्रीभाष्य—रामानुज के पाण्डित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत, प्रामाणिक विवेचन है। इन्होंने बौधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के व्याख्यानों पर इस विशिष्टाद्वैत मार्ग का अवलम्बित होना बतलाया है (वेदार्थ-संग्रह, पृ० १०८)।

परवर्ती आचार्यों ने श्रीभाष्य के गूढ़ार्थ को प्रकट करने के लिए अनेक वृत्तिग्रन्थों की रचना की है—(१) 'सुदर्शनसूरि' (१३ श०) की 'श्रुतप्रकाशिका' भाष्यवृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, (२) इनके पहले भी 'रामिश्र देशिक' ने 'श्रीभाष्यविवृति' लिखी थी, (३) 'वात्स्यवरद' कृत 'तत्त्वसार', (४) 'वेदान्तदेशिक' कृत 'तत्त्वटीका', (५) 'वीरराघवदास' (१४ श०) की 'तात्पर्यदीपिका', (६) 'मेघनादारि' कृत 'नयप्रकाशिका', (७) 'परकालयति' की 'मितप्रकाशिका'—आदि टीकायें श्रीभाष्य के गौरव को बढ़ाने वाली हैं।

दो मत

आचार्य रामानुज की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो बड़े स्वतन्त्र मत उठ खड़े हुए। एक पक्ष तामिल वेद की ही प्रामाणिकता अक्षुण्णभावेन स्वीकार करता था, तथा संस्कृत के निबन्ध-ग्रन्थों में आस्था नहीं रखता था। तमिल के पक्षपाती इस मत का नाम **'टैंकलै'** है। दूसरा पक्ष दोनों को प्रमाण कोटि में मानता था, पर संस्कृताभिमानी था। इस मत का

नाम **'वड्कलै'** है। दोनों में भाषाभेद के साथ अठारह सिद्धान्तगत पार्थक्य भी हैं, जिनमें **'प्रपत्ति'** के विषय में विशेष पार्थक्य है। 'टेंकलै' मत के अनुसार प्रपत्ति के लिए जीव को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती; शरणापन्न होते ही भगवान् स्वयं जीव का उद्धार करते हैं, परन्तु **'बड़कलै'** मत में जीव को प्रपत्ति के लिए भी कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। मार्जार किशोर (बिल्ली का बच्चा) और कपिकिशोर (बन्दर का बच्चा) के दृष्टान्त इन मतों के भेद को समझाने के लिए ग्रन्थों में क्रमशः दिये जाते हैं। मार्जार किशोर स्वयं निश्चेष्ट रहता है। उसने अपने को अपनी माता के आश्रय में डाल दिया है। फलतः बिल्ली अपने शरणागत बच्चे की सदा रक्षा करती है, यद्यपि वह स्वयं क्रियाहीन रहता है। कपिकिशोर की दशा इससे विपरीत है; वह शरणागत होने पर भी अपनी माता के शरीर को जोर से पकड़े रहता है। भक्त को भी भगवान् के शरण में जाने पर भी अपने कर्तव्य-कर्मों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। रामानुज के इन मतों में यही प्रपत्ति-विषयक मतभेद है। 'टेंकलई' मत के प्रतिष्ठापक **श्रीलोकाचार्य** (१३ शतक) थे, जिन्होंने 'श्रीवचनभूषण' ग्रन्थ में इस प्रपत्तिपन्थ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है। 'बड़कलै' मत के प्रतिष्ठापक विख्यात 'वेदान्तदेशिक' थे, जो लोकाचार्य के समकालीन थे। लोकभाषा पर पक्षपात दिखलाने के कारण आजकल टेङ्कलै मत का प्रचार, प्रसार तथा प्रभाव दक्षिण भारत में विशेष रूप से दृष्टि-गोचर होता है।

रामानुज सम्प्रदाय की ग्रन्थसम्पति शाङ्करमत से कम नहीं है, परन्तु प्रकाशित **विशिष्टाद्वैत साहित्य** ग्रन्थों की संख्या बहुत नहीं है। विख्यात ग्रन्थकारों का ही यहाँ निर्देश करना पर्याप्त होगा—

(१) सुदर्शनसूरि—ये वरदाचार्य (१२००—१२७४ ई०) के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के व्याख्यानों के आधार पर श्रीभाष्य की प्रसिद्ध व्याख्या 'श्रुत-प्रकाशिका' लिखी। इसके अतिरिक्त श्रुतिदीपिका, उपनिषद्-व्याख्या, वेदार्थसंग्रह पर 'तात्पर्यदीपिका' भागवत 'पर शुकपक्षीय टीका' प्रसिद्ध हैं।

(२) वेंकटनाथ (१२६९-१३६९ ई०)—वेदान्ताचार्य के नाम से विख्यात हैं। इनकी कोटि का विद्वान् श्रीवैष्णवपन्थ में दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी 'कवितार्किकसिंह' तथा 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि यथार्थ है। ये कवि, तार्किक, विचारक, शास्त्रार्थवावदूक के रूप में समभावेन आदरणीय हैं। इनके काव्य-ग्रन्थों में संकल्पसूर्योदय, हंसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, पादुकासहस्र काव्य-

दृष्टि से अनुपम हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में मुख्य ये हैं—तत्त्वटीका (श्रीभाष्य पर विस्तृत व्याख्या), अधिकरणसारावली (ब्र० सू० के अधिकरणों का पद्यमय विवेचन), तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ), न्यायपरिशुद्धि और न्यायसिद्धाञ्जन में विशिष्टाद्वैत मत की प्रमाण-मीमांसा वर्णित है, गीतार्थतात्पर्य-चन्द्रिका (रामानुज के गीताभाष्य की टीका), ईशावास्यभाष्य, द्रविडोपनिषद्-तात्पर्यरत्नावली, शतदूषणी (रामानुजदास कृत 'चण्डमारुत, टीका; अद्वैत का विविध प्रकार से प्रचण्ड खण्डन)। 'सेश्वरमीमांसा' का परिचय पहले दिया गया है। पाञ्चरात्ररक्षा, सच्चरित्ररक्षा, निक्षेपरक्षा, न्यासविंशति—आदि निबन्ध प्रपत्ति और धर्म-विषयक महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं। इनके **मामा आत्रेय रामानुज** का 'नयकुलिश' तर्कविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

(३) लोकाचार्य—इनका जन्म १२६४ ई० में हुआ था और इस प्रकार ये वेदान्तदेशिक तथा सुदर्शनसूरि ('श्रुतिप्रकाशिका' के कर्ता) के समकालीन थे। १३२७ ई० में श्रीरंगम् पर जब मुसलमानों ने आक्रमण किया, तब मन्दिर की रक्षा का भार लोकाचार्य के ऊपर ही पड़ा। श्रीरंगनाथ की मूर्ति को लेकर ये उसकी रक्षा के लिए यत्र-तत्र प्रयत्न करते थे, परन्तु अन्त में ये रक्षा कार्य में मुसलमानों के द्वारा मारे गये। फलतः इनका समय १२६४ ई० से लेकर १३२७ ई० तक था। 'तत्त्वशेखर' नामक ग्रन्थ में लोकाचार्य ने अपने १८ 'रहस्य' ग्रन्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनमें चार प्रकाशित तथा मुख्य हैं—(१) तत्त्वशेखर, (२) अर्थपञ्चक, (३) तत्त्वत्रय और (४) श्रीवचनभूषण। इनमें प्रथम तीन का सम्बन्ध दार्शनिक विवेचन से है, तथा अन्तिम का सम्बन्ध धार्मिक विवरण से है। लोकाचार्य का श्रीवैष्णव आचार्यों के इतिहास में अत्यधिक महत्त्व है। ये टेंकलै मत के संस्थापक थे, जिसके अनुसार प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती।

(४) वरवरमुनि (१५ श०)—टेंकलै मत के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने लोकाचार्य के ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं तथा 'तामिलवेद' के भाष्यों का प्रचुर प्रचार किया।

(५) श्रीनिवास (१६ श०) की 'यतीन्द्रमतदीपिका' रामानुजमत का लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(६) रङ्गरामानुज (१६ श०) ने ब्रह्मसूत्र, श्रीभाष्य और न्यायसिद्धाञ्जन पर टीकायें लिखीं। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर विशिष्टाद्वैती भाष्य एवं रामानुजसिद्धान्तसार नामक प्रकरणग्रन्थ की भी रचना की।

(ख) रामानुज की तत्त्वमीमांसा

रामानुज के अनुसार **तीन तत्त्व** होते हैं—चित्, अचित् तथा ईश्वर। इनमें 'चित्' का अर्थ है—जीव, अचित् का प्रकृति या जड़ तत्त्व और सबके अन्तर्यामी तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर चित् तथा अचित् दोनों तत्त्वों से युक्त होता है। वही एकमात्र सत्ता है, उसे छोड़कर कोई स्वतन्त्र सत्ता जगत् में नहीं है। जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन ही होकर रहते हैं, क्योंकि ईश्वर भोक्ता (जीव) तथा भोग्य (जड़ पदार्थ) इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। इसीलिए चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ईश्वर सगुण तथा सविशेष है। रामानुज जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना को असम्भव मानते हैं। संसार के समग्र पदार्थ गुण-विशिष्ट ही होते हैं। यहाँ तक कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है[1]। ईश्वर कल्याण-गुणों का आकर, अनन्त-ज्ञान, आनन्द रूप और ज्ञान शक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित तथा जगत् के सृष्टि स्थिति-प्रलय-कार्य का कर्ता है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो 'निर्गुण' कहा गया है उसका यही तात्पर्य है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें वर्तमान नहीं रहते। जगत् में तीन पदार्थों की कल्पना रामानुज ने श्वेताश्वतर उपनिषद् के आधार पर मानी है। श्वेताश्वतर का भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता यह त्रिविध ब्रह्म यहाँ क्रमशः चित्, अचित् तथा ईश्वर के रूप में गृहीत किया गया है[2]।

ईश्वर

वेदान्तियों कि दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है—(१) **सजातीय भेद** (उसी जाती के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भेद, जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद), (२) **विजातीय भेद** (गाय का भैंस से भेद), (३) **स्वगत भेद** (अर्थात् एक वस्तु में एक अंग का दूसरे अंग से भेद, जैसे गाय के सींग तथा पूँछ में)। रामानुज के मत में ईश्वर में प्रथम दोनों भेद तो अवश्य रहते हैं, परन्तु अन्तिम भेद नहीं रहता। ईश्वर का चित् अंश अचित् अंश से भिन्न होता है। ऐसी दशा में ईश्वर में स्वगत-भेद वर्तमान रहता है। शङ्कर से यहाँ भी अन्तर पड़ता है। शङ्कर के अनुसार ब्रह्म इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर में तीसरा भेद वर्तमान रहता है। ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है। प्रलयमयी दशा में जनजीवों का तथा भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है, तब भी चित् तथा अचित् दोनों

तत्त्व अपनी जीवावस्था में ब्रह्म में वर्तमान रहते हैं। उस दशा में विषयों का प्रभाव होने के कारण ब्रह्म शुद्ध चित् (शरीररहित जीव) से तथा अव्यक्त अचित् (निर्विषयक भूत-तत्त्व) से मुक्त रहता है और वह **'कारण ब्रह्म'** कहलाता है। पुनः जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है। उस समय वह **कार्य ब्रह्म** कहलाता है।

ईश्वर तथा अंश सम्बन्धी प्रश्न की मीमांसा के लिए आचार्य श्रीरामानुज ने द्रव्य तथा गुण अथवा द्रव्य तथा अन्य द्रव्य में विद्यमान रहने वाला **'अपृथक्-सिद्धि'** नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया है। यह सम्बन्ध न्याय-वैशेषिकसम्मत समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न है। समवाय बाह्य सम्बन्ध है, परन्तु अपृथक्-सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है। चिदचित् का सम्बन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के नितरां अनुरूप है। शरीर वही है जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचित् को आश्रित करता है तथा कार्य में प्रवृत्त करता है[3]। इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है; जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा 'विशेषण' कहलाता है। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य अथ च अप्रधान होने के कारण जीव तथा जगत् विशेषण हैं। आत्मभूत ईश्वर के चिदचित् शरीर हैं, विशेष्यभूत ईश्वर के चिदचित् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न होकर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना युक्तियुक्त है। ब्रह्म अद्वैतरूप है, क्योंकि अंगभूत चिदचित् की अंगी से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर सकल जगत् का निमित्तोपादन कारण है। रचना का प्रयोजन केवल लीला है, अन्य कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार वह लीलाधाम भगवान् जगत् को उत्पन्न कर खेल किया करता है। संहारदशा में लीला की विरति नहीं होती, क्योंकि संहार भी उसकी एक लीला ही है।

जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूलरूप और सूक्ष्म रूप धारण करने से है। प्रलयकाल[4] में जीव-जगत् के सूक्ष्मरूपापन्न होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है और सृष्टिकाल में स्थूलरूप धारण करने पर स्थूल-चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। वह किसी भी अवस्था में निर्विशेष नहीं रह सकता। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से है। ब्रह्म समस्त

हेय गुणों से शून्य है। इसलिए वह 'निर्गुण' कहलाता है[५]। 'एकमेवाद्वितीयम्'—आदि वाक्यों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म है, जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। विशिष्टद्वैतवादियों का यही कथन है[६]।

विशिष्टाद्वैत मत में ऐसी कभी दशा ही नहीं होती जब की ब्रह्म विशिष्टता से हीन हो। प्रलयकाल में विषयों के अभाव में जीव तथा जगत् दोनों सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म इन सूक्ष्म जीव तथा जगत् से (चित् तथा अचित् से) विशिष्ट बना ही रहता है। सृष्टिदशा में ये दोनों व्यक्त रूप अर्थात् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। फलतः इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट रहता है। उसमें 'विशेष' रहता ही है, वह कभी भी निर्विशेष नहीं होता। 'विशिष्टाद्वैत' नाम में भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत है। यहाँ **केवल** ब्रह्म का अद्वैत नहीं होता (जैसा शंकराचार्य मानते हैं); प्रत्युत **विशिष्ट** (चित्-अचित् से विशिष्ट) ब्रह्म का ही अद्वैत होता है, अर्थात् चित्-अचित् जिसमें अंश रूप में विद्यमान रहते हैं ऐसा अंशी रूप विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत रूप में विद्यमान रहता है। इसीलिए रामानुज वेदान्त का शंकर मत से भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से प्रख्यात है।

भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करने के पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के (पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा आर्चावतार) रूपों को धारण करता है। ईश्वर के इस पञ्चविध रूप की कल्पना रामानुज ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की।

अंश-अंशी विचार

ईश्वर के साथ चित् (जीव) तथा अचित् (भूत) का सम्बन्ध क्या है? यदि ईश्वर अंशी माना जाता है तो ये दोनों उसके अंश कैसे हैं? यदि भौतिक विकारों के होने पर अचित् अंश में विकार उत्पन्न होता है, तब तो ईश्वर को भी विकारी मानना पड़ेगा? उसी प्रकार अंशभूत जीव के दोषों से ईश्वर को भी दोषी होना ठहरता है। अंशभूत जीव में नाना दोष होते हैं, अतः अंशी ब्रह्म में भी ये दोष आरोपित अवश्यमेव किये जा सकते हैं? फलतः ब्रह्म विकारी तथा दोषी सिद्ध होता है। इस विषम स्थिति से बचने के लिए रामानुज ने दोनों के परस्पर सम्बन्ध की मीमांसा कर सिद्धान्तरक्षा का दृढ़तर उपाय किया है। वे दोनों के सम्बन्ध को कहीं आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध के सदृश मानते हैं—जिस प्रकार आत्मा शरीर को भीतर से नियमित कर चलता

है, उसी प्रकार ईश्वर चित्-अचित् को भीतर से नियमित करता है और इसलिए वह 'अन्तर्यामी' कहलाता है। जिस प्रकार शरीर यदि अन्धा या लँगड़ा हो जाय, तो आत्मा इन दोषों से स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार चित्-अचित् में दोषों के होने पर भी ब्रह्म उनसे अछूता ही रहता है। रामानुज इस सम्बन्ध की राजा-प्रजा के सम्बन्ध के साथ तुलना करते हैं--प्रजा के दुःखों से या सुखों से जिस प्रकार राजा प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार जीवों के दुःखों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वह अधिकारी शुद्ध सत्ता है, जिसमें चित्-अचित् अंशरूप से विद्यमान रहकर भी अपनी क्रिया से उसे परिणामी नहीं बना सकते।

परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि ऊपर की दोनों उपमायें क्या ईश्वर और चिदचित् के सम्बन्ध को पूरी तरह से समझाती हैं? ईश्वर है अंशी और चिद-चित् उसके अंश हैं, किन्तु राजा-प्रजा में तो अंशांशी सम्बन्ध है नहीं। ऐसी स्थिति में दोनों का सम्बन्ध कैसे सुसंगत बैठता है? रामानुज जगत् को विशेषण तथा ईश्वर को विशेष्य मानते हैं। यदि यह ठीक है, तो जगत् के दोषों के आरोपण से ईश्वर बच नहीं सकता। रामानुज को भी अपने सिद्धान्त में इस परस्पर विरोध की सत्ता का आभास था, क्योंकि इन्होंने एक स्थान पर स्पष्टतः स्वीकार किया है कि ब्रह्म यथार्थरूप में अपरिणामी है और वह जगत् के विकारों से विकृत नहीं होता[1]। इसका फल यह निकलता है कि विकारशील अचित् ईश्वर का यथार्थ आन्तरिक स्वरूप न होकर एक बाह्य रूप है। इस वस्तु-स्थिति से बचने का जो भी उपाय किया जाय, इतना तो सत्य प्रतीत होता है कि परिणामी अचित् को ईश्वर का आन्तरिक अंश मानना और साथ ही साथ ईश्वर में परिणाम न मानना ऐसा विरोधाभास है जो रामानुज के मूल सिद्धान्त को बहुत कुछ दुर्बल बनाता है।

इस प्रकार रामानुज की ईश्वरकल्पना शांकर मत की कल्पना से भिन्न है। शांकर मत में (१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं है, (२) ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है, (३) ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में (१) चिद-चित् रूप शरीरविशिष्ट ब्रह्म सत्य है, इसके तथा उसके शरीर (जीव और जगत्) से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है; (२) सजातीय विजातीय भेद से शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद से शून्य नहीं है; (३) ब्रह्म सविशेष ही है,

अद्वैत मत से पार्थक्य

१. श्रीभाष्य २।१।१४

स्वभाव से ही उसमें कल्याणकारी गुणों की सत्ता है, प्राकृत हेय गुणों से वह सर्वथा हीन है। शांकर मत में (४) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है, पन्तु जड़ जगत् प्रतिभासिक (मिथ्या) ही है। अतः तत्त्व एक ही है। रामानुज के अनुसार (४) ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।

जीव

चित्

अब **'चित्'** के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण; अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार, तथा ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के विना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड है। सुषुप्ति के अनन्तर जागने पर सुख पूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव जीव को आनन्दरूप सिद्ध करता है। हृत्प्रदेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुण्डक (३।१।९) और श्वेताश्वतर के आधार पर समग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं[७]। जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता है। जीव में एक विशेष गुण **'शेषत्व'** विद्यमान है, अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है; ईश्वरानुग्रह के विना अपने कर्तव्यों का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। जीव की विशिष्टाद्वैतवादी कल्पनायें अद्वैतवादियों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहरती है। जहाँ अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैती उसे अणु मानते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है, पर रामानुज मत में जीव अनन्त हैं और वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध

देह तथा देही के समान जीव भी ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं है। ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है, जीव दुःखत्रय से नितरां पीड़ित है। ऐसी दशा में उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसी मानी जा सकती है? "ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव) का अधिपति है"; "जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है"; "दोनों अज हैं—एक ईश है, दूसरा अनीश; एक प्राज्ञ है, दूसरा अज्ञ"—आदि भेद-मूलक श्रुतियाँ[८] जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक्, स्वतन्त्र बतलाती हैं। अतः दोनों का अभेद बतलाना वास्तव नहीं है। ब्रह्म अखण्ड वस्तु है, तब जीव को उसका खण्ड बतलाना कहाँ तक उचित है? रामानुज का कहना है कि चिनगारी

जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है; उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। अभेदश्रुतियों का भी यही तात्पर्य है कि जीव ब्रह्मव्याप्य तथा ब्रह्म का शरीर है। अतः जीव-ब्रह्म में अंशांशीभाव या विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है।

जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध रामानुज मत में अभेदसूचक एकता नहीं है। जीव है अल्पज्ञ तथा अनन्त और ईश्वर है सर्वज्ञ तथा एक। ऐसी दशा में दोनों का अभेद कैसे बन सकता है? इसके उत्तर में रामानुज का कथन है कि ईश्वर प्रत्येक जीव में व्याप्त है और भीतर से उसका नियमन करता हुआ 'अन्तर्यामी' है। इसी दृष्टि से दोनों में अभेद माना जा सकता है। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर रहता है और गुण का द्रव्य पर, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ईश्वर के ऊपर निर्भर रहता है, क्योंकि जीव है अंश और ईश्वर है अंशी; जीव है नियम्य और ईश्वर है नियामक; जीव है आधेय और ईश्वर आधार है। इस तरह के सम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि जीव ईश्वर के ऊपर आश्रित तथा निर्भर रहता है। ऐसी दशा में ईश्वर के शरण में गये विना जीव का निस्तार तथा कल्याण नहीं हो सकता। वह अशेष गुणों का आकर है, दया का समुद्र है तथा करुणा का निधि है; वह जीव की दीन दशा को देखकर स्वयं द्रवित होता है। अतः जीव-ईश्वर के इस सम्बन्ध निर्णय से स्पष्ट है कि रामानुज के अनुसार **प्रपत्ति** (शरणागति) ही जीव की आध्यात्मिक उन्नति का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इस प्रसंग में 'तत् त्वमसि' महावाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है। 'त्वं' पदार्थ साधारणतया जीव का प्रतीक माना जाता है, पर विशिष्टाद्वैत मत में 'त्वं' का अर्थ है—अचिद्विशिष्ट जीव-शरीरवाला ब्रह्म।

'तत्त्वमसि' का अर्थ

'तत्'पद से अभिप्राय है सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, जगत्-कारण ईश्वर से। इस प्रकार इस महावाक्य का अभिप्राय है कि अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्वप्रपञ्च का निर्माता ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता है, अर्थात् एक विशेषण से विशिष्ट ईश्वर तदन्य-विशेषण से विशिष्ट ईश्वर के साथ नितान्त अभिन्न है। अतः एकता विशिष्ट ईश्वर की है (विशिष्टयोरैक्यम्)। इसी कारण रामानुजसिद्धान्त की 'विशिष्टाद्वैत' संज्ञा दी गई है।

सृष्टि विचार

सृष्टि के विषय में रामानुज उपनिषदों के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इनमें चित् जीव का द्योतक है और अचित् जड़तत्त्व या प्रकृति का। वे

श्वेताश्वतर उपनिषद्, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों में वर्णित प्रकृति के रूप को स्वयं स्वीकार करते हैं। श्वेताश्वतर के अनुसार प्रकृति एक है, अनादि (अजा) है तथा अपने समान ही बहुत सी प्रजाओं की सृष्टि करने वाली है। इतना तो सांख्य भी मानता है, परन्तु रामानुज तथा सांख्यमत से भेद इस बात को लेकर है कि रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश तथा ईश्वर के द्वारा परिचालित मानते हैं। प्रकृति स्वयं सृष्टि नहीं करती (जैसा सांख्य मानता है); प्रत्युत ईश्वर की अध्यक्षता में ही वह सृष्टि का कार्य करती है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से सूक्ष्म प्रकृति तीन प्रकार के तत्त्वों—तेज, जल तथा पृथिवी—में विभाजित हो जाती है, जिनमें क्रमशः सत्त्व, रज तथा तमोगुण पाये जाते हैं। इन्हीं तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोग तथा मिश्रण के फल से जगत् के स्थूल पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसीलिए ये तीनों तत्त्व संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। इस मिश्रणक्रिया का नाम **त्रिवृत्-करण** है। इसका मूलतः संकेत छान्दोग्य उपनिषद् में पाया जाता है जिसे रामानुज ने अपने सिद्धान्त के लिए अपनाया है।

ईश्वर अपनी माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। **माया** क्या है ? माया का अर्थ है—अद्भुत पदार्थों की सृष्टि करने वाली शक्ति। इस माया से युक्त होने से श्वेताश्वतर में ईश्वर मायी कहा गया है। इसे रामानुज अक्षरशः मानते हैं, परन्तु ईश्वर को मायावी कहने का इतना ही तात्पर्य है कि उसकी सृष्टिलीला अद्भुत तथा विचित्र होती है। ईश्वर की यह सृष्टि उतनी ही वास्तविक तथा सत्य है जितना स्वयं ईश्वर। रामानुज शङ्कर के समान इस संसार को काल्पनिक तथा असत्य नहीं मानते। जहाँ शङ्कर विवर्तवाद के सिद्धान्त को सृष्टिव्यापार के लिए सत्य मानते हैं, वहाँ रामानुज परिणाम के सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं। संसार तथा सृष्टि भ्रममात्र है—इस मत को रामानुज नहीं मानते। उनके मत में 'ज्ञानमात्र ही सत्य होता है और कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं है।' इसी तथ्य के आधार पर वे सृष्टि को सत्य मानते हैं। समस्त वैष्णव आचार्य शङ्कराचार्य के मायावाद का खण्डन करने में अपनी शक्ति लगाते हैं। रामानुज भी मायावाद का खण्डन अनेक तर्कों के बल पर करते हैं, तथा अद्वैतवादियों ने भी अपने मत का समर्थन अपनी युक्तियों के सहारे किया है। यह खण्डन-मण्डन का क्रम आज भी चलता है।

जगत्

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को **'अचित्'** कहते हैं। लोकाचार्य ने (तत्त्व-त्रय, पृ० ४१) अचित् तत्त्व का तीन भेद माना है—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और

सत्त्वशून्य। शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है।

अचित् तत्त्व इस सत्त्व की कल्पना रामानुज दर्शन की विशेषता है। मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या 'प्रकृति' है। सत्त्वशून्य तत्त्व 'काल' कहलाता है। शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता। यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक निरवधिक तेजोरूप द्रव्यविशेष है। इससे ईश्वर, नित्यपुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर, भोगसाधन चन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिकों की उत्पत्ति ईश्वर के संकल्पमात्र से होती है। ईश्वर तथा नित्यपुरुषों के शरीर भगवान् की नित्येच्छा से सिद्ध है, मुक्त पुरुषों का शरीर भगवान् के संकल्प से उत्पन्न होता है। भगवान् के व्यूहविभवादिरूप इसी शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होते हैं। वे प्रकृतिजन्य न होने से अप्राकृत हैं। रामानुज का यह मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मा विना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता। अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है, परन्तु शुद्ध सत्त्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है। इसी नित्य विभूति का नाम त्रिपाद विभूति, परम पद, परम व्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या—आदि है[१०]।

(ग) साधन मार्ग

ईश्वरभक्ति

वेदान्त के शुष्क अध्ययन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यह तो पुस्तकों का ज्ञान है, तथा किसी के द्वारा अनुभूत तथ्य की शाब्दिक पुनरावृत्ति है। यथार्थ ज्ञान तो अपरोक्ष ज्ञान है। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती—उपनिषदों का यह मन्तव्य बिल्कुल ठीक है, परन्तु ज्ञान का अर्थ क्या है? यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुवा स्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही उपासना या भक्ति है। भगवान् की प्राप्ति में भक्ति ही मुख्य साधन है जिसकी प्राप्ति में वैदिक कर्मों का अनुष्ठान साधक तथा सहायक होता है। अतः जहाँ शंकर केवल ज्ञान के मार्ग को ही उपादेय बतलाते हैं, वहाँ रामानुज ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञानरूप भक्ति जीव के निस्तार के लिए श्रेष्ठ उपाय है। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् जीव के समस्त बन्धनों और क्लेशों का नाश कर देता है, तब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। भक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्ति से है। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का एक सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'शरणागति' का शरण में आना अर्थात् भगवान् ही हमारी गति है, गन्तव्य स्थान है। वहीं लौट कर आना ही शरणागति का लक्ष्य है। शरणापन्न ही जीव भगवत्कृपा का प्रिय पात्र बनता है—भक्ति शास्त्र का यही निष्कर्ष है।

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार से मुक्ति लाभ करता है। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय हैं। वेद-विहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है। अतः वर्णाश्रम विहित कर्मों का विधान मानव मात्र का कर्तव्य है। चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः कर्ममीमांसा का अध्ययन ज्ञानमीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती है। ज्ञान कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में सहकारी कारण है[११]।

मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है[1] और भक्ति में भी परा प्रपत्ति—शरणागति। जब तक जीव भगवान् के शरण में नहीं जाता, तब तक उसका परम कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु शरणागति के लिए कर्मों का अनुष्ठान उचित है या अनुचित? इस पर श्रीवैष्णव आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। 'टेंकलई' मत के संस्थापक श्रीलोकाचार्य प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते। मार्जारकिशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से माता के शरण में उपस्थित होता है, तब बिल्ली उसे अपने मुँह में रख कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है। भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी इस प्रकार 'अहैतुकी' होती है। नारायण की अनुग्रहशक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से आप से आप होता है[१२]।

'बड़कलै' मत के आचार्य वेदान्तदेशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से ही भगवान् गम्य हैं, उन्हें पाने का दूसरा उपाय है ही नहीं। **'मामेकं सरणं व्रज'**—यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है। अकिञ्चन, दीनभाव से भगवान् की शरण में प्राप्त होनेवाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं[१३]।

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्णज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं, जिसका फल ईश्वर का अपरोक्षज्ञान होता है। मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन है, परन्तु उस अवस्था तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मों का

---

१. द्रष्टव्य रामानुज—वेदार्थसंग्रह, पृ० १४५-१४७।

सम्पादन होना ही चाहिये। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का संन्यास न्याय्य नहीं है। अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (भक्तिरूपापन्न ध्यान) के द्वारा अमृत पाने का सिद्धान्त ईशोपनिषद् (श्लो० ११) में वर्णित है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं होता है। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिल कर एक नहीं हो जाता। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं होता, वह ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता है[१४]। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता[१५]। मुक्त जीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा संकल्प-सिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता। मुक्ति जीवित दशा में नहीं हो सकती, अतः अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं है। केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है। वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बनना ही—कैंकर्य ही—परमा मुक्ति है।

श्रीकण्ठाचार्य (१३ श० का उत्तरार्ध) का सिद्धान्त रामानुज सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ ईश्वर शिव रूप में माने गये हैं। श्रीकण्ठ ने इस 'शैव-विशिष्टाद्वैत' का समर्थन ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिख कर किया है, जिस पर अप्पय दीक्षित ने 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। अतः आपके मत में सगुण ब्रह्म ही परमार्थ भूत है[१६] तथा चित् अचित् उसके प्रकार हैं। परब्रह्म की ही शिव, महादेव, उग्र आदि संज्ञायें हैं।

२

माध्वमत

माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान् को प्राप्त हुआ, हनुमान् से भीम को तथा अन्त में आनन्दतीर्थ को। **आनन्दतीर्थ** का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान के पास इनका जन्म ११९९ ई० में हुआ था तथा मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है।

आचार्य

भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन कर आपने अपने द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपके ३७ ग्रन्थों में से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) ब्रह्मसूत्र-भाष्य; (२) अनुव्याख्यान (सूत्र की अल्पाक्षरा वृत्ति; जिस पर 'न्यायविवरण' स्वयं आचार्य ने, 'न्यायसुधा' जयतीर्थ ने तथा न्यायसुधा की परिमलनाम्नी टीका राघवेन्द्रयति ने लिखी है), (३–७) ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य, (८) गीताभाष्य, (९) भागवत-तात्पर्यनिर्णय (टीका—यदुपति की), (१०) महाभारत-तात्पर्यनिर्णय, (११) विष्णुतत्त्व-निर्णय, (१२) प्रपञ्चमिथ्यात्वनिर्णय, (१३) गीता-तात्पर्यनिर्णय, (१४) तन्त्रसारसंग्रह आदि। नारायण पण्डित ने 'मध्वविजय' तथा 'मणिमञ्जरी' में मध्व का प्रामाणिक जीवन-चरित लिखा है।

जयतीर्थ (१४ श०) प्रकाण्ड पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्व के भाष्यों पर विद्वत्तापूर्ण वृत्ति-ग्रन्थों की रचना कर द्वैत-सिद्धान्त को परिपुष्ट किया। माध्वमत में जयतीर्थ के समान विद्वान् बिरला ही हुआ। जयतीर्थ ने मध्व के सूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' और तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, प्रमाणलक्षण तथा गीताभाष्य (टीका न्यायदीपिका) के ऊपर अन्य सुबोध टीकायें ही न लिखीं, प्रत्युत 'प्रमाण-पद्धति' और 'वादावली' जैसे मौलिक ग्रन्थों की रचना से अद्वैत का खण्डन कर द्वैतमत की स्थापना पर्याप्त मात्रा में की। 'प्रमाण-पद्धति' की अष्ट टीकायें इसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रदर्शित करती हैं।

व्यासतीर्थ (१५ श०)—माध्वमत के उद्भट विद्वान् थे। इनका सर्व-श्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ 'न्यायामृत' है, जिसका खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत-सिद्धि' में किया। इसी न्यायामृत ने द्वैत-अद्वैत सम्प्रदाय में घनघोर वाग्युद्ध की अवतारणा की, जो आज भी खण्डन-मण्डनरूप से बन्द नहीं हुआ है। इनके अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ तर्कताण्डव, तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थ की तत्त्वप्रकाशिका की टीका), मन्दारमञ्जरी, भेदोज्जीवन, मायावाद-खण्डन टीका आदि हैं। इनके 'न्यायामृत' के ऊपर कम से कम १० विख्यात टीकायें हैं, जिनमें रामा-चार्य की 'तरंगिणी' तथा विजयीन्द्रतीर्थ का 'कण्टकोद्धार' अद्वैतसिद्धि के खण्डन होने से विशेष प्रसिद्ध हैं।

रघूत्तमतीर्थ (१५५७–१५९६ ई०)—माध्वग्रन्थकारों में भावबोधाचार्य या भावबोधकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने 'विष्णु-तत्त्वनिर्णय' तथा जयतीर्थ के तत्त्वप्रकाशिका पर 'भावबोध' नामक व्याख्यायें लिखी हैं, पर इनका सर्वश्रेष्ठ

ग्रन्थ मध्वाचार्य के बृहदारण्यकभाष्य की टीका 'परब्रह्मप्रकाशिका' है। इनके शिष्यों में तरंगिणीकार **रामाचार्य** तथा **वेदेश भिक्षु** मुख्य हैं। वेदेश माध्वमत के विद्वान् व्याख्याकारों में माने जाते हैं, जिन्होंने 'तत्त्वोद्योतपञ्चिका', ऐतरेय, छान्दोग्य, केन पर माध्वभाष्य की टीका तथा 'प्रमाणपद्धति' पर सुन्दर व्याख्या निर्माण कर विपुल कीर्ति प्राप्त की है। न्यायामृत पर 'आमोद' और 'तात्पर्य-चंद्रिका' टीका के लेखक **विजयीन्द्र** ने गीता की मधुसूदनी टीका की आलोचना 'गूढार्थदीपिकायुक्तिमल्लिका' में की है। वे रामाचार्य के समकालीन थे।

वनमाली मिश्र (१७ श०) मथुरा के आस-पास के निवासी एतद्देशीय ब्राह्मण थे। द्वैत साहित्य में इनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है। इनके विपुल ग्रन्थों में से 'माध्वमुखालंकार' अप्पय दीक्षित के 'माध्वमतमुखमर्दन' का तथा 'न्यायामृतसौगन्ध्य और 'तरंगिणी सौरभ' अद्वैतसिद्धि और गौड़ ब्रह्मानन्दी के पाण्डित्यपूर्ण खण्डन हैं। 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' ब्रह्मसूत्र की टीका है। अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ के खण्डन में 'अभिनवगदा', 'अभिनवतर्कताण्डव', तथा तात्पर्यदीपिका की टीका 'अभिनवचंद्रिका' के निर्माता **सत्यनाथ यति** (१६५० ई०) वनमाली मिश्र के समकालीन थे। **वेणीदत्त** की 'भेदजयश्री' तथा 'वेदान्तसिद्धान्त कण्टक' इसी काल की रचनायें हैं। बंगाल के **पूर्णानन्द चक्रवर्ती** की तत्त्व-मुक्तावली (या मायावादशतदूषणी) ने अद्वैत मत के खण्डन में एक नई दिशा खोज निकाली है। अद्वैत वेदान्त के समान द्वैत मत की भी साहित्यिक सम्पत्ति बहुत है, परन्तु अधिकांश ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

माध्व पदार्थ-मीमांसा

माध्वमत में दश पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों का विशेष वर्णन पद्मनाभ ने अपने 'मध्वसिद्धान्तसार' में विशदरूपेण किया है।

पदार्थ-भेद

इनमें कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय-वैशेषिक के साथ साम्य होने पर भी अधिकांश में माध्वमत की विशेषता है। 'द्रव्य' बीस प्रकार का माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत् तत्त्व, अहंकार तत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। 'गुण' के अनेक प्रकार हैं, जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा और सौन्दर्य आदि

की भी गणना है। 'कर्म' तीन प्रकार का है:—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दनात्मक है जिसके भीतर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि नानाविध कर्मों का अन्तर्भाव होता है। नित्यानित्य भेद, तथा जाति-उपाधि भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का होता है। भेद के अभाव होने पर भी भेद व्यवहार के निर्वाहक पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं[१७]। परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता है। विज्ञानानन्दरूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। यह विशेष जगत् के समस्त पदार्थों में रहता है, अत एव अनन्त है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को 'विशिष्ट' कहते हैं। हस्त, पादादि से व्यतिरिक्त समग्र अवयवविशिष्ट पदार्थ 'अंशी' हैं। 'सादृश्य' तथा 'अभाव' की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है।

'शक्ति' चार प्रकार की है—(१) अचिन्त्य शक्ति, (२) आधेय शक्ति, (३) सहज शक्ति और (४) पद शक्ति। 'अचिन्त्य शक्ति' अघटित-घटना-पटीयसी होती है और भगवान् विष्णु में ही निवास करती है। भगवान् में ही विचित्र कार्य-सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। विषम गुणों की परमात्मा में सार्वकालिक स्थिति इसी शक्ति के कारण है। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कोटिगुण न्यून होती हैं। (२) दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को 'आधेय शक्ति' कहते हैं (अन्याहितशक्तिराधेयशक्तिः) विधिवत् प्रतिष्ठा करने से प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है वही 'आधेय शक्ति' है। कामिनी के चरणाघात से अशोक का पुष्पित होना और औषधलेप से कांस्य-पात्र का स्वच्छ हो जाना इसी शक्ति से सम्पन्न होता है। (३) कार्यमात्र के अनुकूल स्वभाव-रूपा शक्ति 'सहज-शक्ति' है। यह सर्व-पदार्थ-निष्ठ होती है। पदार्थ-भेद से यह नित्य भी होती है तथा अनित्य भी। (४) पदपदार्थ में वाचक-वाच्य-सम्बन्ध 'पदशक्ति' कहलाता है। मुख्या और परम मुख्या भेद से यह दो प्रकार की होती है। 'इन्द्र' शब्द का 'पुरन्दर' अर्थ मुख्या वृत्ति से और 'परमेश्वर' अर्थ परममुख्या वृत्ति से होता है।

परमात्मा—साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण-परिपूर्ण है, अर्थात् भगवान् के गुण अनन्त हैं, तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष—इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परम मुख्या वृत्ति से समस्त पद-वाच्य हैं। वे जीव, जड़ और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण हैं। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही भगवान् के शरीर हैं। अतः शरीरी होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण

करते हैं। इनके समस्त रूप स्वयं परिपूर्ण हैं, अर्थात् उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं[१८]। मत्स्य, कूर्मादि स्वरूपों से, कर चरणादि अवयवों से, ज्ञानान्ददादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं। अत एव भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेद दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

लक्ष्मी—परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही केवल अधीन रहती है; अतः उससे भिन्न है[१९]। इस प्रकार माध्व मत में तन्त्र मत के विपरीत शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। लक्ष्मी भगवान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती ही है। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्य मुक्ता है, नाना रूपधारिणी भगवान् की भार्या है। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य शरीर से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी भी उसी प्रकार अप्राकृत-देह धारिणी है। ब्रह्मा, रुद्रादि अन्य देवतागण शरीर के क्षरण (नाश) होने से 'क्षर' हैं, परन्तु लक्ष्मी दिव्यविग्रहवती होने से 'अक्षरा' है। परमात्मा देश, काल, तथा गुण इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न है, परन्तु लक्ष्मी गुण में परमात्मा से न्यून है; तथापि देश और काल की दृष्टि से उनके समान ही व्यापक है[२०]।

जीव—अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम मनुष्यरूप से पाँच प्रकार के होते हैं। नित्यसंसारी जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं[२१]। वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं। जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार मनुष्य गुणों के तारतम्य के कारण तीनों श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहते हैं। वह अन्य जीवों से भिन्न है, तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है। संसार दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती है[२२]। मुक्तपुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्वमत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है[२३]। मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्यमत की विशेषता है। मुक्तावस्था में जीव परमसाध्य को प्राप्त कर लेता है (निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति—मुण्डक ३।१।३) इस श्रुति का तात्पर्य प्राचुर्यविषयक है, अभेदविषयक नहीं। भगवान्

के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाणसिद्ध है[२४]।

'अव्याकृत आकाश' न्याय वैशेषिक का 'दिक्' है, जो सृष्टि और प्रलय में भी विकारशून्य रहता है। यह भूताकाश से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उत्पन्न होने से भूताकाश अनित्य है, परन्तु अव्याकृत आकाश नित्य, एक तथा व्यापक है। इसके अभाव में समस्त जगत् एक निविड़ पिण्ड बन जाता है। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। 'प्रकृति' साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। यह जड़रूपा, नित्या, व्याप्ता, सर्वजीव-लिंग-शरीर-रूपा है। रमा इसकी अभिमानिनी देवता है। इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा केवल निमित्तकारण है और प्रकृति उपादानकारण। 'गुणत्रय' प्रसिद्ध हैं। अन्य वैष्णव मतों के अनुरूप माध्व मत भी शुद्ध सत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है, जिससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते हैं। सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा होती हैं। महत्तत्त्वादि अन्य द्रव्यों की कल्पना सांख्य तथा पुराणों के अनुरूप ही है।

साधनमार्ग—श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य-परिज्ञान तथा पञ्चभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं। ज्ञान सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है। यही तारतम्य-ज्ञान है। भेद पाँच प्रकार का होता है—(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड़ से भेद, (३) जीव का जड़ से भेद, (४) जीव का दूसरे जीव से भेद तथा (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। इन पञ्चविध भेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति-साधक है। उपासना दो प्रकार की होती है—सन्तत-शास्त्राभ्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान' से तात्पर्य इतर विषयों के तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषया अखण्ड स्मृति से है (ध्यानं च इतर-तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः—म० सि० सा०, पृ० १३९)। जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह हुए विना परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परम भक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है, अनन्तर मोक्ष का जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चिरादिमार्ग और भोग। भोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना 'सायुज्य' है[२५], जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता

है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की एक विशिष्ट कल्पना है।

हनुमान् और भीम के अनन्तर वायु के तृतीय अवतारभूत मध्वाचार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

३

निम्बार्कमत

'हरिगुरुस्तव माला' में उल्लिखित गुरुपरम्परा के अनुसार निम्बार्क मत के आद्य आचार्य हंसनारायण हैं, जो राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं।

आचार्य

उन्होंने इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को दी, जो सनन्दनादि रूप से चतुर्व्यूहात्मक हैं। सनत्कुमार के शिष्य त्रेता युग में प्रेम-भक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक नारदजी थे, जिन्होंने इस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के अवतारभूत निम्बार्क को बतलाया।

निम्बार्क—तैलङ्ग ब्राह्मण थे। 'सिद्धान्तजाह्नवी' (प्रथम श्लोक) के अनुसार इनका असली नाम नियमानन्द था; निम्ब के वृक्ष पर अर्क (सूर्य) का रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। इनके प्रधान ग्रन्थ हैं:—(१) **वेदान्तपारिजात-सौरभ** (ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य), (२) **'दशश्लोकी'** (सिद्धान्त-प्रतिपादक दश श्लोकों का संग्रह, जिस पर हरिव्यास आचार्य की टीका प्राचीन तथा महत्त्वशालिनी मानी जाती है), (३) **'श्रीकृष्णस्तवराज'** निम्बार्क-तत्त्व-प्रकाशक पचीस श्लोकों का है, जिसका श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी तथा श्रुत्यन्तकल्पवल्ली नामक विस्तृत व्याख्यायें प्रकाशित हुई हैं। अप्रकाशित ग्रन्थों में मध्व-मुखमर्दन, वेदान्त-तत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्त-प्रदीप, श्रीकृष्णस्तव मुख्य हैं।

श्रीनिवासाचार्य—निम्बार्क के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने पारिजात सौरभ के ऊपर 'वेदान्त कौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिख कर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढ़ अर्थों का रहस्य भली भाँति समझाया है।

केशवभट्ट काश्मीरी (१५ श०) इस दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थकार हैं। इनके (१) 'कौस्तुभ प्रभा'—वेदान्त कौस्तुभ की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या;

(२) 'तत्त्व प्रकाशिका'—गीता की निम्बार्क मतानुसारिणी व्याख्या; (३) तत्त्व-प्रकाशिका 'वेदस्तुति'—टीका दशम स्कन्ध भागवत की टीका; (४) 'क्रम-दीपिका'—पूजा-पद्धति का विवरणात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रभा के अवलोकन से इनकी गाढ़ विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का परिचय स्फुट रीति से उपलब्ध होता है। चैतन्य के साथ जिस केशवभट्ट के शास्त्रार्थ करने का वर्णन 'चैतन्य-चरितामृत' में दिया गया है, वे ये ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य—निम्बार्क मत के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य हैं। ये हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थों की समधिक प्रसिद्धि है—(१) वेदान्त-रत्न-मंजूषा—(दशश्लोकी की विस्तृत सिद्धान्त-प्रतिपादक व्याख्या) तथा (२) श्रुत्यन्त-सुरद्रुम—(आचार्य के श्रीकृष्णस्तवराज के श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण टीका)। देवाचार्य के 'सिद्धान्त जाह्नवी' (पृ० ५६) में वेदान्त-रत्न-मंजूषा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अतः इनका समय देवाचार्य से पहले होना चाहिए। कृपाचार्य के शिष्य श्री**देवाचार्य** की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम है—'सिद्धान्त जाह्नवी' (सुन्दर भट्ट की 'सिद्धान्तसेतु' टीका युक्त), जो ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का विस्तृत समीक्षात्मक भाष्य है। **अनन्तराम** कृत वेदान्त-तत्त्व-बोध तथा **पुरुषोत्तम प्रसाद** वैष्णव कृत 'श्रीकृष्णस्तवराज' की श्रुत्यन्त कल्पवल्ली टीका इस मत के तत्त्वों की परीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी है। **माधवमुकुन्द** ने, जो बंगाल के अरुणघाटी नामक ग्राम के निवासी बतलाये जाते हैं, 'परपक्षगिरिवज्र' (हार्दसंचय) नामक नितान्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है, जिसमें वेदान्त के अद्वैतमत का खण्डन प्रबलयुक्तियों के बल पर विस्तार के साथ किया गया है[२६]।

(क) निम्बार्क की पदार्थमीमांसा

निम्बार्क-सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप ही है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है। इन्द्रियों की सहायता विना इन्द्रियनिरपेक्ष जीव विषय का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञानघनः', 'स्वयं ज्योतिः' तथा 'ज्ञानमयः'—आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय भी है तथा प्रकाश का आश्रय भी है[२७]। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही है, तथापि इन दोनों में धर्मधर्मिभाव से भिन्नता है।

जीव

जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव कर्ता ही रहता है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परन्तु मुक्त हो जानेपर भी जीव में कर्तृत्व का होना श्रुतिप्रतिपादित है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेच्छतं समाः' 'स्वर्गकामो यजेत'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत', 'शान्त उपासीत'—आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना करने का प्रतिपादन करती हैं और मुक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं[२८]।

'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' इस गीतावाक्य में प्रकृति सृष्टि की कर्त्री मानी जाती है तथा कर्ता होने का अभिमान वाला आत्मा अहंकार विमूढ़ कहा जाता है। इस वाक्य का अभिप्राय यह नहीं है कि जीव में कर्तृत्व का निषेध है, प्रत्युत इसका अर्थ तथा तात्पर्य दूसरा ही है। संसार की प्रवृत्ति में प्राकृतगुण से संमूढ आत्मा प्रकृति के गुणों के द्वारा प्रयुक्त होकर ही प्रवृत्त होता है। इतना ही इसका तात्पर्य है, आत्मा के कर्ता होने का कथमपि निषेध नहीं करता। जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करता है और इसलिए वह भोक्ता भी है। आत्मा के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध स्वस्वामिभाव है। जीव है स्वामी तथा इन्द्रियाँ हैं उसके वश में रहने वाली (स्व)। अतः इन्द्रियों के द्वारा अनुभूत समस्त विषय जीव के ही लिए भोग्य हैं। इन्द्रियाँ तो इस कार्य में केवल करणमात्र हैं। यह जीव कर्ता तथा भोक्ता दोनों होता है।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिये स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष भेदक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियन्ता है, जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर पर आश्रित रहता है। जीव नियम्य है तथा ईश्वर नियन्ता है। इसका कारण यह है कि जीव परतन्त्र होता है और ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र होने से ईश्वर प्रत्येक दशा में नियन्ता होता है, अर्थात वह जैसा चाहे वैसा बर्ताव जीव के साथ कर सकता है। जीव अपने सब कार्यों के लिए परतन्त्र है तथा ईश्वर पर आश्रित रहता है। यहाँ तक कि जीव का कर्तृत्व भी उसके वश की बात नहीं है। नियन्ता परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार जीव में कर्तृत्व उत्पन्न करता है। इसलिए श्रुति कहती है कि ईश्वर मनुष्यों के हृदय में प्रवेश कर उनका शासन या नियमन करता है और गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'स्मृति और ज्ञान मुझ से जीवों को होता है' (मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च)—ये दोनों वचन जीव की परतन्त्रता तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता के बोधक हैं।

जीव परिमाण में अणु है—ऐसी स्थिति में संशय उत्पन्न होता है कि वह अणु होने पर शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव किस प्रकार करता है ? इसका समाधान यह है कि जीव में व्यापक ज्ञानलक्षण गुण सदा विद्यमान रहता है और इसी गुण की सहायता से जीव सकल शरीर में होने वाले सुख-दुःख का अनुभव सदा किया करता है। वह रहता तो है हृदय में ही, परन्तु वहीं से वह शरीर के अन्य भागों में उत्पन्न सुख-दुःख का अनुभव किया करता है। एक उदाहरण से इसे देखिए—चन्दन का तिलक तो ललाट के ऊपर रहता है, परन्तु वह वहीं से समग्र शरीर को विभूषित करता है; दीपक घर के एक कोने में रखा जाता है, परन्तु वहीं से वह समस्त घर को प्रकाशित करता है। अणुरूप जीव की भी ठीक यही दशा है। जीव प्रतिशरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता है।

इस प्रकार जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव—विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है[२९]। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, अतः वह अंशी है; जीव उसका शक्तिरूप है, अतः वह अंशरूप है। अघटनघटनापटीयसी, गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत्त होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से ही जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है[३०]। बद्ध जीव मुमुक्ष (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद से दो प्रकार का है। क्लेशों से पीड़ित होने पर विरक्त तथा मुक्ति चाहने वाला जीव मुमुक्षु कहलाता है, परन्तु विषय आनन्द का इच्छुक जीव **बुभुक्षु** कहलाता है। बद्धजीव के दो प्रकारों के समान मुक्त जीव भी दो प्रकार का होता है—(१) नित्यमुक्त तथा (२) मुक्त। जो जीव गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि प्राकृत दुःखों के अनुभव से शून्य है और नित्य भगवान् के स्वरूप का दर्शन करता हुआ भजनानन्द में मस्त रहता है वह **नित्य मुक्त** माना जाता है। भगवान् के पार्षद विश्वक्सेन तथा गरुड़ आदि इसी श्रेणी के जीव हैं। अविद्या से उत्पन्न दुःखों के अनुभव से जो जीव रहित होता है वह **केवल मुक्त** कहलाता है। मुक्त पुरुषों की भी अनेक श्रेणियाँ आकर ग्रन्थों में वर्णित हैं। मुक्त पुरुषों में कुछ तो ऐसे हैं जो निरतिशय आनन्दरूप भगवद्भाव को पाने वाले हैं और दूसरे मुक्त जीव अपने आत्मज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करने वाले होते हैं और इतने से ही वे संतुष्ट होते हैं।

जडतत्त्व

अचित्—चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है[३१]—

(१) **'प्राकृत'**—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। (२) **'अप्राकृत'**—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं है। जैसे भगवान् का लोक, जिसकी श्रुतियों में 'परम व्योमन्', 'विष्णुपद', 'परमपद'—आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें हैं। (३) **'काल'**—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिए नियम्य (अधीन) ही है। काल अखण्ड-रूप है। स्वरूप से वह नित्य है, परन्तु कार्यरूप से अनित्य है। काल का कार्य औपाधिक है। इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है।

ईश्वर

निम्बार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है[३२]। इस जगत् में जो कुछ दृष्टि गोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है[३३]। नियम्य तथा परतन्त्र सत्त्वाश्रय चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होने वाला है। परमात्मा की ही परब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि संज्ञायें हैं।

ईश्वर समस्त प्राकृत (प्रकृतिजन्य) दोषों से रहित है तथा अशेष कल्याण-गुणों का निधान है। प्राकृत दोषों से अभिप्राय—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश से है, जो योगशास्त्र में क्लेशों के नाम से पुकारे जाते हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, करुणा—आदि गुण भगवान् में सदा निवास करते हैं। कल्याण गुणों की भी इयत्ता नहीं है, वे अनन्त हैं, जिनमें जगत् के उदय का कारण होना तथा मोक्ष देना प्रधान है। ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल का वितरण करता है। विश्व का आधारभूत परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान्, ईश्वरों का ईश्वर तथा सबका अतिक्रमण करने वाला है। उसके शक्ति और सामर्थ्य की अवधि नहीं है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है, तथा अपनी इच्छा के विलास से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार करता है।

जीव की दो दशायें होती हैं—**बद्धदशा** जब जीव संसार के नाना दुःखों के बन्धन में पड़ा रहता है और **मुक्त** दशा जब भगवान् के अनुग्रह से बन्धनों दुःखों की निवृत्ति हो जाने से वह मुक्ति पा लेता है। ब्रह्म तथा जीव के बीच

में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक है और ऊपर की दोनों दशाओं में नियत है। इसका तात्पर्य यह है कि बद्ध तथा मुक्त दोनों दशाओं में जीव ब्रह्म से भिन्न भी रहता और अभिन्न भी रहता है। अतः दोनों का भेदाभेद स्वाभाविक है। बद्ध दशा में तो सर्वज्ञ, व्यापक ब्रह्म से अल्पज्ञ तथा एक-देशव्यापी जीव की भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है, परन्तु इस दशा में भी दोनों में अभिन्नता रहती है। बद्धदशा में भी जीव की न तो ब्रह्म से अलग स्थिति है और न अलग प्रवृत्ति ही होती है। जिस प्रकार पेड़ से पत्तों की, प्रदीप से प्रभा की, गुणी से गुणों की तथा प्राण से इन्द्रियों की न तो अलग स्थिति है और न अलग कार्यों में प्रवृत्ति है, उसी प्रकार जीव तथा ब्रह्म में भी अभिन्नता समझनी चाहिए। मुक्त दशा में जीव ब्रह्म से अभिन्न तो बन जाता है, परन्तु फिर भी दोनों में भेद बना ही रहता है। छान्दोग्य उपनिषद (८।३।४) का स्पष्ट कथन है कि मुक्त जीव भी अपने विशेष स्वरूप को ही प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता। आशय यह है कि मुक्तिदशा में जीव ब्रह्म के साथ मिलकर एकाकार होने पर भी अपनी स्वतन्त्रता पृथक् बनाये रहता है और उसका व्यक्तित्व बना ही रहता है[१]।

साधन मार्ग

निम्बार्क मत में साधन का मार्ग शरणागति (प्रपत्ति) है। जीव जब तक भगवान् के शरण में नहीं आता, तब तक उसका वास्तव कल्याण नहीं होता। प्रपन्न होते ही भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह होने से भगवान् के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। भगवान् के प्रति प्रेम होना कोई साधारण घटना नहीं है। भगवान् जिसपर अपनी दया की वर्षा करते हैं वही जीव उनकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम करता है। इस प्रेमा भक्ति का फल है—भगवान् से साक्षात्कार अर्थात् भगवान् का दर्शन। तब जीव भगवान् के भावों से स्वतः व्याप्त हो जाता है और इस दशा में वह क्लेशों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है। शरीर के साथ सम्बन्ध रहने पर 'भगवद्भावापत्ति' हो नहीं सकती। इसलिए निम्बार्कमत में भी अन्य वैष्णव मतों के समान 'विदेहमुक्ति' ही मान्य है, 'जीवन्मुक्ति' नहीं[२]।

---

१. देखिये—ब्रह्मसूत्र १।४।२१ पर वेदान्त-कौस्तुभ तथा छान्दोग्य उपनिषत् ८।३।४।

२. द्रष्टव्य 'दशश्लोकी' के नवम पद्य पर—वेदान्तरत्नमञ्जूषा।

४
वल्लभमत

पद्म पुराण के वर्णनानुसार रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक **विष्णुस्वामी** थे[34]। नाभादासजी के भक्तमाल[35] से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे, तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्ध द्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वशाली यह कथन बतलाता है कि विष्णुस्वामी का समय ज्ञानदेव (१२७५–१२९६ ई०) से पहले है। रसेश्वरदर्शन में माधवाचार्य ने इनके एक श्लोक को उद्धृत किया है। 'सकलाचार्यमत-संग्रह' में श्रीनिवास के कथनानुसार ये शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक थे।

वल्लभ (जन्म १४७९ ई०) की जीवन घटनायें काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन से सम्बद्ध हैं। विजयनगराधीश श्रीकृष्णराय (१५००–१५२५ ई०) के दरबार में द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया था। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्य की घनिष्ठता की बात कही जाती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) ब्रह्मसूत्रभाष्य (**अणुभाष्य**), (२) **तत्त्वदीपनिबन्ध** (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ), (३) **सुबोधिनी** (श्रीमद्भागवत के १, २, ३, १० स्कन्धों पर उपलब्ध विख्यात टीका), (४) भागवत-सूक्ष्म-टीका, (५) पूर्वमीमांसा-भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्तमुक्तावली आदि १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ हैं।

विट्ठलदास (१५१६–१५८६) आचार्य के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने पिता के ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी लिख कर पुष्टि-मार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में निबन्धप्रकाश, विद्वन्मण्डन, शृङ्गाररसमण्डन, सुबोधिनी टिप्पणी है। अन्तिम डेढ़ अध्यायों पर भाष्य लिख कर इन्होंने वल्लभ कृत अणुभाष्य की पूर्ति की। इनके सात पुत्रों ने अलग-अलग गद्दियों की स्थापना कर इस मत का विपुल प्रचार किया। कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्र पर 'भाव प्रकाशिका' नाम्नी टीका लिखी है। इनके शिष्य **पुरुषोत्तमजी** वल्लभ सम्प्रदाय के एक विशेष विद्वान् टीकाकार हैं। इन्होंने 'भाष्य प्रकाश' नामक टीका लिख कर अणुभाष्य के गूढ़ार्थ को अच्छी प्रकार से अभिव्यक्त किया है। अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थरत्न की विशिष्टता है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—(१) सुबोधिनीप्रकाश, (२) उपनिषद्-दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थानरत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र (विद्व-

न्मण्डल की पाण्डित्यपूर्ण विवृति), (६) गीता की अमृततरंगिणी टीका तथा (७) षोडशग्रन्थ विवृति। इस भाष्यप्रकाश पर विस्तृत 'रश्मि' नामक व्याख्या **गोपेश्वरजी** (१८ शतक) ने लिखी है।

गिरिधर महाराज गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड' वल्लभ मत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ है। **हरिराय** (हरिदास) ने अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है, जिनमें ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि विख्यात हैं। **व्रजनाथभट्ट** की 'मरीचिका' ब्रह्म सूत्रों की अणुभाष्यानुसारिणी वृत्ति है। 'लालूभट्ट' के नाम से प्रसिद्ध, पुरुषोत्तम तथा अप्पयदीक्षित के समकालीन **बालकृष्ण भट्ट** का 'प्रमेयरत्नार्णव' नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। अधिकांश वल्लभ साहित्य का प्रकाशन बम्बई तथा काशी (चौखम्बा कार्यालय) से हुआ है।

सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध-रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है[३६]।

ब्रह्म

इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। अद्वैतवादियों के मतानुसार निर्धर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहिकुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभय-रूपता का होना श्रुतिसिद्ध है[३७]। यह विरुद्धधर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित ही नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक भी है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है, अतः जो अणोरणीयान् हैं, वे ही महतो महीयान् हैं। वे अनेक रूप होकर भी एक हैं, स्वतन्त्र होने पर भी भक्तपराधीन हैं। यह संसार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विकासमात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव है, माया कल्पित नहीं। अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह परब्रह्म हैं।

आचार्यवल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—(१) आधि-दैविक = परब्रह्म; (२) आध्यात्मिक = अक्षरब्रह्म; (३) आधिभौतिक = जगत्। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारण-रूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता

है, उसी प्रकार आविर्भावदशा में जगत् तथा तिरोभावरूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है।

वल्लभाचार्य के मत में ब्रह्म ही जगत् के कर्ता स्वभाव से ही हैं। उनके कर्ता होने में माया का व्यापार तनिक भी नहीं होता। वे स्वयं लीलाधाम ठहरे और इसलिए जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती है। जब उनकी इच्छा होती है वे जगत् का संहार या लय कर देते हैं। अन्ततः प्रलय भी भगवान् की लीला का ही एक रूप है। अतः सृष्टि और प्रलय दोनों भगवान् स्वाभाविक रीति से करते हैं। ये दोनों उनकी लीला के विलास-मात्र हैं। जिस प्रकार कोई योगी अपनी विचित्र शक्तियों के सहारे वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे खेलता है और अन्त में उनका संहार कर लेता है; भगवान् की भी यही दशा होती है। भगवान् की महिमा अतर्क्य है। कोई भी उनकी महिमा के यथार्थ रूप को जान नहीं सकता। भगवान् अपनी अचिन्त्य माया से जगत् की सृष्टि कर उससे क्रीडा करते हैं और अन्त में सब सृष्टि को अपने में तिरोहित कर देते हैं। इस प्रकार जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव भगवान् की लीला के कारण होता है। अन्यथा उस पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई कामना ही शेष नहीं है जिसके लिए वह जगत् की सृष्टि करता। यह जगत् ब्रह्मरूप है और ब्रह्म के समान ही नित्य है। अद्वैतियों के समान यह जगत् मायिक तथा असत्य नहीं है।

इस प्रकार **लीला** को छोड़कर इस ब्रह्माण्ड के उदय का कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं है। लीला का रहस्य वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी में बड़ी सुन्दरता से समझाया है। उनका महत्त्वपूर्ण कथन है[३८]—लीला विलास की इच्छा का नाम है। कार्य के बिना ही यह केवल व्यापारमात्र होता है, अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता; कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे, इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश रहता है, न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है। जब अन्तःकरण आनन्द से पूर्ण हो जाता है तब उसके उल्लास से कार्य के उदय के समान ही कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान् की लीला है। सर्ग-विसर्ग आदि के समान भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगनान् की लीला है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतन्त्र रहते हैं, क्योंकि इस मार्ग में भगवान् को अपनी बँधी हुई मर्यादाओं की रक्षा रकना

लीला का रहस्य

अभीष्ट होता है। पुष्टिमार्ग में भगवान् किसी साधन का परतन्त्र न होकर स्वयं स्वतन्त्र होता है। अनुग्रह भी भगवान् की नित्यलीला का विलास है।

जीव के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् का इस भूतल पर अविर्भाव होता है। जीवमात्र को निरपेक्ष मुक्ति देने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। भगवान् सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न, अपराधीन तथा सर्व-निरपेक्ष है। तब उनके अवतार लेने का प्रयोजन ही क्या है? दुष्टों के दलन तथा शिष्टों के रक्षण का कार्य तो अन्य साधनों से भी हो सकता है। तब वे अवतार क्यों लेते हैं? इसके उत्तर में भागवत का कहना है कि अद्वय तथा निर्गुण भगवान् का प्रकटीकरण इस जगत् में मनुष्यों को मुक्ति प्रदान करने के लिए ही होता है। मनुष्यों को साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का प्रयोजन है[३९]। इसका अभिप्राय यह है कि विना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए भी भगवान् साधक को स्वतः अपनी लीला के विलास एवं अपने अनुग्रह से मुक्ति प्रदान करते हैं। भगवान् की यह लीला ही ठहरी। ज्यों ही जीव भगवान् के शरणापन्न हो जाता है और शरणामन्त्र का उच्चारण करता है, भगवान् की भक्ति का उदय हो जाता है। फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की विमल दया की धारा उस साधक के ऊपर झरने लगती है। यही 'पुष्टि' का रहस्य है। शक्तितन्त्रों में जिस तत्त्व को **'शक्तिपात'** के नाम से पुकारते हैं वही तत्त्व इस पुष्टिमार्ग में **'पुष्टि'** के नाम से प्रख्यात है।

अक्षरब्रह्म क्षरपुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ है, परन्तु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ है (गीता ८।२१), अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का किञ्चिन्मात्र में तिरोधान रहता है, पर पुरुषोत्तम आनन्द से परिपूर्ण रहता है। क्षर से अतीत तथा अक्षर से उत्तम होने के कारण परब्रह्म को गीता 'पुरुषोत्तम' के नाम से पुकारती है। अक्षरब्रह्म विशुद्ध-ज्ञानैकगम्य है, परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति तो केवल 'अन्यन्यभक्ति' के द्वारा ही हो सकती है[४०]।

वल्लभार्य के सिद्धान्तों पर श्रीमद्भागवत तथा भागवद्-गीता का विशेष प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म के तीनों रूपों की कल्पना गीता के अष्टम तथा पञ्चदश अध्याय के वर्णन के अनुसार है। ब्रह्म के **'आधिभौतिक'** रूप का ही दूसरा नाम है—क्षर पुरुष, अर्थात् भौतिक तत्त्व (प्रकृति)। यह भी ब्रह्म के रूप होने से उसी के समान वास्तव तथा नित्य है। ब्रह्म में जब आनन्द अंश थोड़ी मात्रा में तिरोहित हो जाता है, तब उसे **'अक्षर-ब्रह्म'** कहते हैं और जब आनन्द का अंश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, तब वह **परब्रह्म** या **पुरुषोत्तम** कहलाता है। यह 'ब्रह्म का 'आधिदैविक रूप' होता है। ब्रह्म के इन दोनों रूपों की प्राप्ति का साधन भिन्न ही होता है। ज्ञानी जन अपने विशुद्धज्ञान के द्वारा अक्षर-ब्रह्म की

प्राप्ति करते हैं, परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति **अनन्या भक्ति** के ही द्वारा हो सकती है। इसीलिए गीता (८।२२) कहती है कि परब्रह्म अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्य होता है। पुरुषोत्तम ब्रह्म ही परब्रह्म के नाम से पुकारे जाते हैं और ये ही निरतिशय सर्वज्ञ ब्रह्म हैं।

जीव

भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुणो के अंशों को तिरोहित कर स्वयं **जीवरूप** ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद होता है; ज्ञान के तिरोधान से देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख प्राप्त करता है[४१]। ब्रह्म से जीव का उदय अग्निस्फुलिंगवत् है। यह व्युचरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युचरण होने पर भी जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता। वल्लभ मत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप हैं। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है, परन्तु जीव के निर्गमन-काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है (प्रमेयरत्नार्णव, पृ० ७-९)।

जीव नित्य है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ (स्फुलिंग) छिटक कर निकलती हैं, उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता है। इस निकलने से (व्युचरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। वह उसी भाँति नित्य बना रहता है। अग्नि-स्फुलिंग का दृष्टान्त जीव के निर्गमन के लिए श्रुति तथा भागवत पुराण दोनों में उपलब्ध होता है। वल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते हैं। इनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणाम-रूप हैं, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। वह परिणामी नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। भगवान् में तीन अंश हैं—सत्, चित् और आनन्द। इनमें कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता। ब्रह्म के अविकृत (विकार न पानेवाले) 'सत्' अंश से भौतिक पदार्थों का उदय होता है और अविकृत 'चित्' अंश से जीवों का आविर्भाव होता है। जब भौतिक पदार्थों का उदय होता है, तब ब्रह्म के दोनों अंश—चित् और आनन्द अंश—छिपे रहते हैं। केवल 'सत्' अंश ही प्रकट रहता है और इसलिए इस अंश से ही भौतिक पदार्थों का जन्म होता है। जीव के उदयकाल में

ब्रह्म में केवल आनन्द-अंश ही तिरोहित रहता है, अन्य दो अंश विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

जीव अनेक प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) संसारी। स्फुलिङ्गवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने पर अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव 'संसारी' कहलाता है। यह भी दो प्रकार का होते है—दैव और आसुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न-भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंशों को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। 'तत् त्वमसि' महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार सुवर्ण के कटक-कुण्डलादि अंश सुवर्णण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है।

जगत्

जगत् के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के सामान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत्त भाव से जगद्रुपेण होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नही होता।

वल्लभाचार्य परिणमवाद को ही कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में मानते है, परन्तु परिणाम मानने से मूल वस्तु में विकार होना अवश्यंभावी होता है। दूध से दही बनता है। दूध का परिणाम दही है। यहाँ दूध में विकार उत्पन्न होने से ही दही जैसा परिणाम उत्पन्न होता है, परन्तु जगत् की सृष्टि के विषय में यह नियम कथमपि नहीं माना जाता। ब्रह्म से जगत् का परिणाम होता है, परन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार नहीं उत्पन्न होता। वल्लभाचार्य इसीलिये अपने इस विशिष्ट मत को **'अविकृत परिणामवाद'** के नाम से पुकारते हैं। कार्य-कारण के विषय में उनकी यह नई धारणा श्रीमद्भागवत की मान्यता के अनुसार है। भागवत ने सुवर्ण का उदाहरण देकर इस तत्त्व को समझाया है[१]। सोने से जितने भी गहने (अँगूठी, कुण्डल आदि आदि) तथा पदार्थ बनते हैं जिनमें सोना ही सदा अपने अविकृत रूप में बना रहता है। समस्त सुनहले पदार्थों के

आदि, अन्त तथा मध्य में सुवर्ण की प्राप्ति होती है और वह भी विना किसी विकारी रूप में। इसी प्रकार ब्रह्म भी नाना नामों तथा रूपों के भीतर एक ही प्रकार से अविकृत रूप में विद्यमान रहता है। यह जगत् भगवान् का ही आकार है। श्रति तथा पुराण दोनों एक ही तत्त्व के बोधक हैं। उपनिषद् कहती है—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म,** अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्ममय है। भागवत अपने मंगलश्लोक में ही इस तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है। अतः जगत् को भगवान् का रूप मानना सर्वथा उचित है। कहना न होगा कि भगवान् का आकार होने से यह जगत् भी सर्वथा नित्य सिद्ध होता है।

आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते। वे आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता है[४३]।

वल्लभ मत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममतारूप पदार्थ की संज्ञा 'संसार' है। अविद्या के पाँच पर्व होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है। अतः ज्ञान के उदय होने पर 'संसार' का तो नाश हो जाता है, परन्तु ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत्' का विनाश कभी सम्भव नहीं है। वह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग

भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है; ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु परब्रह्म, सच्चिदानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है। आचार्य का आचार मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है (**पोषणं तदनुग्रहः**—भाग० २।१०)। अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है। मर्यादामार्ग वैदिक है, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से निकला है। मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही ध्येय होती है, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा

विप्रयोग-रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है[४४]।

मुक्ति की दशा

मुक्ति—विचारणीय है कि अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी होती होती है ? आनन्द-स्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूपबल से अपने किसी भी प्रकार के सम्बन्ध मात्र से स्वरूपदान करते हैं, अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने आनन्द का स्थापन कर उसे अपने स्वभाव में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है, अर्थात् अन्यथाभाव को, दुःख तथा जड़ता को छोड़कर स्वरूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही मुक्ति है; भागवत का यही मन्तव्य है[४५]। वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त में मुक्ति का यही रूप माना है। इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की 'प्रकृति' है। प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे जीव को अपने समान ही आनन्दमय बना देते हैं। 'पुरुषोत्तम' स्वयं सच्चिदानन्द रूप ठहरे, अतः वे जीवों को भी वही रूप प्रदान कर उन्हें आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव 'स्वरूपापत्ति' कहलाता है, 'स्वरूप' का अर्थ ही है आनन्दमय रूप। इसे ही पाना मुक्ती है।

भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'मर्यादाभक्ति' तथा 'पुष्टिभक्ति'। इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है। भगवान् के चरणारविन्द की भक्ति मर्यादाभक्ति है, परन्तु भगवान् के मुखारविन्द की भक्ति पुष्टिभक्ति है। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है, परन्तु पुष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रहती। मर्यादाभक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पुष्टिभक्ति से अभेदबोधन की प्रधानतया सिद्धि होती है। इस प्रकार इस क्लेशविपुल संसार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है पुष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के बिना सब प्राणियों के लिए उपादेय है।

यह 'पुष्टि' श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है। वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पुष्टितत्त्व को पुष्ट किया है। इस मत के 'प्रस्थान-चतुष्टयी' में उपनिषत्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवत (समाधिभाषा व्यासस्य) की भी गणना है। भागवत का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों में अणुभाष्य की अपेक्षा 'सुबोधिनी' की ख्याति कहीं अधिक है[४६]।

विज्ञान भिक्षु वल्लभ के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'विज्ञानामृत' भाष्य में इन्होंने "अविभागाद्वैत" का प्रतिपादन किया है। इनके मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है।

५
चैतन्यमत

बंगदेश को अपने रसमय कीर्तनों से भक्ति-विभोर बना देने वाले निखिल-रसामृतमूर्ति श्री महाप्रभु **चैतन्यदेव** (१४८५ ई०—१५३३ ई०) वल्लभाचार्य जी के समसामयिक थे। नवद्वीप में जन्म ग्रहण कर आपने वैष्णवधर्म के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किया वह सर्वसाधारण से अविदित नहीं है। आपके युगल शिष्य **श्रीरूपगोस्वामी** तथा श्री **सनातनगोस्वामी** ने प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण कर गौडीय वैष्णवमत की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा की है। श्रीरूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदी, ललितमाधव तथा विदग्धमाधव नाटकों में श्रीकृष्ण की ललित वृन्दावनलीलाओं का रसमय वर्णन ही नहीं किया है, प्रत्युत 'लघुभागवतामृत', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस की सांगोपांग विवेचना की है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—पद्यावली, हंसदूत और उद्धवसन्देश। रूप के ज्येष्ठ भ्राता सनातन ने 'बृहद्भागवतामृत', भागवत दशमस्कन्ध की 'वैष्णवतोषिणी' नाम्नी टीका तथा 'हरिभक्तिविलास' में चैतन्यमत के सिद्धान्त तथा आचार का सविस्तार वर्णन किया है। सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र **श्रीजीव-गोस्वामी** का नाम चैतन्यमत के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु पर 'दुर्गमसंगमनी' तथा भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' व्याख्या लिखने के अतिरिक्त 'भागवतसन्दर्भ' या षट्सन्दर्भ में भागवतसम्मत भक्ति तथा भगवान् का स्वरूप विस्तृत रूप से दिखलाया है। भागवत का समीक्षा-त्मक यह ग्रन्थरत्न जीवगोस्वामी की भक्तिभावना तथा प्रचुर पाण्डित्य को सर्वदा विद्योतित करता रहेगा। 'सर्वसंवादिनी' टीका से मण्डित यह षट्सन्दर्भ अचिन्त्य-भेदाभेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।

विश्वनाथ चक्रवर्ती—का समय १७ वें शतक का अन्त तथा १८ वें का आदिम काल है। इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत की 'सारार्थदर्शिनी' टीका (रचनाकाल १७०४ ई०) है। इनकी उज्ज्वलनीलमणि की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका तथा कविकर्णपूर के 'अलङ्कारकौस्तुभ' की व्याख्या भी महत्त्वपूर्ण है। **कृष्णदास कविराज** के 'चैतन्यचरितामृत' (बंगला) में चैतन्य की प्रामाणिक जीवनी के साथ-साथ उनके भक्ति-सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। **बलदेव**

विद्याभूषण (१८ शतक का उत्तरार्ध) की सर्वोत्तम कृति ब्रह्मसूत्र का 'चैतन्य-मतसम्मत 'गोविन्दभाष्य' है। इसका उपोद्घातरूप सिद्धान्तरत्न (या भाष्यपीठिका), प्रमेयरत्नावली, गीताभूषण (गीता व्याख्या), रूप गोस्वामी की स्तवमाला तथा लघुभागवतामृत की टीका आदि ग्रन्थ नितान्त विख्यात हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चैतन्यमत माध्वमत से सम्बद्ध है, तथा इसके अनेक सिद्धान्त उस मत से गृहीत भी हैं, परन्तु इसकी दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। गौडीय वैष्णवमत 'अचिन्त्यभेदाभेद' का समर्थक है।

सिद्धान्त

साध्यतत्त्व

भगवान् विज्ञानानन्द विग्रह हैं, ये अनन्त गुणों के निवासस्थान हैं, सत्य-कामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वविद्यत्व; आदि अनन्त अपरिमित गुण श्रीभगवान् में सदा निवास करते हैं। गुण और गुणी का वास्तव में अभेद रहता है। इसीलिए सत्यकामत्वादि अनन्तगुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं हैं। इस अभेद-दृष्टि को ध्यान में रख कर विष्णुपुराण ज्ञान-बलादि गुणों को भगवत् शब्दवाच्य बतलाता है[४७]। भगवान् का विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार ही है। अतः भगवद्-विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है। इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, विग्रह तथा गुणों में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्य नहीं है; तथापि पार्थक्य का वर्णन (जैसे भगवान् के गुण, भगवान् का स्वरूप) भाषा की दृष्टि से ही किया जाता है। चैतन्यमत में भेद का समर्थन जलकल्लोल न्याय से किया जाता है।

भगवान्

शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेद से शून्य है। वह अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है। भगवान् में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति रहती है जिसके कारण नानात्मक प्रतीत होने पर भी वह एकात्मक ही बना रहता है। भक्तों ने इसीलिए भगवान् को वैदूर्य मणि के समान बतलाया है। इस शक्ति की पारिभाषिकी संज्ञा 'विशेष' है जिसकी कल्पना माध्वमत से ग्रहण की गई है। जहाँ पर भेदभाव होकर भी भेदकार्य की प्रतीत होती है, वहाँ 'विशेष' माना जाता है[४८]। 'विशेष' भेदव्यवहार का निर्वाहकमात्र होता है, पर 'भेद' वास्तव होता है। भगवान् का जीव तथा प्रकृति से पृथक् होना भेद-साध्य है, परन्तु भगवान् का अपने गुणों तथा विग्रहों से पृथक् होना 'विशेषजन्य' है, क्योंकि वस्तुतः उनके गुण तथा विग्रह भगवान् से एकाकार ही हैं। इसी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं[४९]।

भगवान् की शक्तियाँ

भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और मायाशक्ति[५०] । **स्वरूपशक्ति** को चित्-शक्ति तथा अन्तरंग शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवद्रूपिणी ही है। सत्, तथा आनन्द के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एक होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती है[५१]।—(१) **'सन्धिनी'**—इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान करने हैं, तथा समस्त देश, काल एवं द्रव्यों में व्यप्त रहते हैं[५२]। (२) **'संवित्'** चिदात्मा भी भगवान् इसी से स्वयं जानते हैं तथा दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं। (३) **'ह्लादिनी'**—इससे भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं[५३]। जो शक्ति परिच्छिन्न-स्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के अविर्भाव का कारण बनती है वह **'तटस्था'** या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भावसाधन होता है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को **'पराशक्ति'** कहते हैं। भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और माया-जीव-शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए भक्तों की रुचि के अनुसार ये ही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं, अवतार नहीं (**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**—श्रीमद्भाग० १।३।२८)।

जगत्

चैन्यमत में जगत् प्रपञ्च नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्ववित् हरि की बहिरङ्ग शक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करती हैं[५४]। जगत् की सत्यता के विषय में ईशावास्य उपनिषद् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थभाव से पदार्थों का निर्माण किया, जिससे पदार्थों का सत्य होना प्रमाणित होता है। विष्णुपुराण में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यह अखिल जगत् जन्म तथा नाश आदि विकल्पों से युक्त होने पर भी अक्षय तथा नित्य है। महाभारत भी जगत् को सत्य तथा भूतमय मानता है। जगत् सच्चा अवश्य है, तथापि इसे अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि दुःख-बहुल होने से साधक को इससे विरक्त रहना चाहिए। वैराग्य के लिए ही संसार को अनित्य कहा गया है। सृष्टिकाल में यह जगत् भगवान् में अभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है, परन्तु प्रलयकाल में भी यह जगत् अव्यक्त

रूप से भगवान् में ही रहता है। रात के समय चिड़ियाँ जंगल के पेड़ों में छिप कर रहती हैं, अर्थात् वे वहाँ रहती अवश्य हैं, परन्तु काल के वश उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसी प्रकार यह जगत् भी प्रलय दशा में अव्यक्त रूप से भगवान् में रहता है। प्रमेयरत्नावली (३।२) में इसलिए प्रलय दशा में जगत् की उपमा 'वनलीन विहङ्गवत्' कह कर दी गई है।

चैतन्य मत की दार्शनिक दृष्टि **अचिन्त्यभेदाभेद** की है। इसका विशिष्ट वर्णन श्री जीवगोस्वामी ने इस प्रकार किया है—वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी स्वरूपादि शक्तियों का अभिन्नरूप से चिन्तन करना अशक्य है वह भिन्न प्रतीत होता है। उधर उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् (भगवान्) तथा शक्ति (स्वरूपादि) में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं। ये दोनों ही अचिन्त्य शक्ति के कारण अचिन्तनीय हैं। इस प्रकार अचिन्त्य शक्ति के कारण यह प्रपञ्च न तो भगवान् के साथ बिल्कुल भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण यह मत अचिन्त्यभेदाभेद के नाम से दार्शनिक जगत् में प्रख्यात है[५५]।

साधनमार्ग

भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में है। ज्ञान की प्रकाररूपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—केवल ज्ञान तथा विज्ञान। 'त्वं' पदार्थ के ज्ञान से कैवल्य-ज्ञान का उदय होता है, 'तत्' पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता है सायुज्यादि मुक्ति की उपलब्धि होती है। फलतः विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्-प्रसाद को ही प्राप्त करता है, अपितु भगवान् को अपने वश में भी कर लेता है (भगवद्वशीकार)। अतः भगवद्वशीकार को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। संवित् तथा [५६]ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान् की ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृग् विशेषण है, परन्तु भक्तों का पृथग् विशेषण है।

भगवान् के दो रूप होते हैं—(१) ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा (२) माधुर्य, जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं। ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है।

ऐश्वर्यज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत्सानिध्य में स्वकीय भाव को भूल कर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता है, परन्तु माधुर्य-ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह वात्सल्य, सख्य आदि स्वीय भावों को खो नहीं बैठता। भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'विधिभक्ति' और 'रुचिभक्ति' या राग। विधिभक्ति में भक्तिशास्त्र में निर्दिष्ट उपायों का अवलम्ब नितान्त उपादेय है। दृप्त भक्त अपने प्रयत्न से 'देवयान' का आश्रय कर सिद्धि लाभ करते हैं, परन्तु आर्त भक्तों पर भगवान् की अहैतुकी कृपा होती है। वह स्वयं उन्हें अपने वाहन के द्वारा स्वेच्छा से परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं। विधिभक्ति से रागात्मिका नितान्त श्रेयस्कर है। इसमें भक्त भगवान् को अपने प्रियतमरूप से ग्रहण करता है, तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत्-धाम को प्राप्त करता है। व्रजगोपिकाओं में प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन नारदपाञ्चरात्र ने किया है[५७]।

यह भक्ति अन्य दर्शनों के समान उपायभूता न होकर उपेयभूता है। मुक्तात्माओं के लिए यही भक्ति 'सेवानन्द' का रूप धारण कर प्रकट होती है। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा से जो आनन्दलाभ होता है—मोक्ष से भी बढ़कर होने के कारण 'पञ्चम' पुरुषार्थरूप से गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है। इस भक्तिरस की सांगोपांग कल्पना चैतन्यमत की मुख्य विशेषता है, जिसका पाण्डित्यपूर्ण विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में किया है।

चैतन्यमत का संक्षिप्त वर्णन भक्तवर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है:—

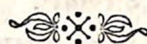
आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

उपसंहार

प्रसिद्ध वैष्णव दर्शनों का यही संक्षिप्त परिचय है। इसके अनुशीलन से पता चलता है कि इनमें कतिपय सिद्धान्त सामान्य रूप से मान्य हैं। वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा मोक्ष-साधन में भक्ति की ही प्रधानता है। भगवान् का साकार, सगुण, सविशेष भाव ही मान्य है। भगवान् अनन्तकल्याणगुणनिकेतन, समस्त प्राकृतगुण-विहीन, हेयप्रत्यनीक हैं तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर विग्रह धारण करने वाले हैं। जीव का अणुत्व सर्वत्र समभावेन सिद्ध है। भक्ति-

मार्ग में जीव की विभुत्वकल्पना कथमपि सुसंगत नहीं हो सकती। 'विदेह मुक्ति' की कल्पना ही सर्वत्र आदरणीय है, 'जीवन्मुक्ति' की नहीं। देह-धारण के समय जीव के दुःखक्षय होने पर भी सर्वदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते। विदेहमुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के संनिधान में उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताता है। मुक्त आत्माओं को भी देहप्राप्ति भजन के लिए अवश्यमेव होती है, परन्तु यह देह शुद्धसत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत होता है। नित्य देह के आश्रय से ही जीव भगवान् के साथ नित्य-लीलायें कर सकता है। सामीप्यादि चतुर्विध मुक्ति की कल्पना में भगवान् तथा भक्त का किञ्चिदंश में भेद बना ही रहता है। सायुज्यमुक्ति में दोनों की एकरूपता होने पर भी किञ्चिन्मात्र भेद उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार दो वृत्तों को एक दूसरे के ऊपर रखने से एकाकार होने पर भी उनमें परस्पर भेद किञ्चिन्मात्र में अवश्यमेव रहता है।

इस प्रकार जीव, ईश्वर तथा मुक्ति की कल्पना में साम्य होने पर भी जीवेश्वरसम्बन्ध के विषय में इन विभिन्न वैष्णवसम्प्रदायों में पार्थक्य है। चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्यशक्ति के कारण 'अचिन्त्यभेदाभेद' के सिद्धान्त का पोषक है, तो वल्लभमत मायासम्बन्धरहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता है। माध्वमत स्पष्टतः जीवेश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है। रामानुज तथा निम्बार्क मत में परस्पर सिद्धान्तगत विपुल साम्य है। रामानुज चित् अचित् को भगवान् के गुण या प्रकार मानकर उभयविशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं, परन्तु निम्बार्क चित् अचित् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं। ईश्वर के लिए किसी व्यावर्त्य पदार्थ की सत्ता न होने से चित्-अचित् को विशेषण मानना निम्बार्क को न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।[१८] मायावाद का खण्डन भक्ति-विरोधी होने के कारण सर्वत्र समभावेन किया गया है।



भारतीय दर्शन

चतुर्थ खण्ड

तन्त्र

(१) वैष्णव तन्त्र
(२) शैव-शाक्त तन्त्र
(३) उपसंहार

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव तन्त्र

सामान्य परिचय

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यारी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टि-गोचर होती हैं। तन्त्र के नाम सुनते ही कितने लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें और विशुद्ध आचारपद्धति के न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल हैं जितने षड्दर्शनों के; उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रमूलक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस चतुर्थ खण्ड का मुख्य विषय है।

'तन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'काशीकावृत्ति' में विस्तारार्थक तन धातु से औणादिक ष्ट्रन् (सर्व धातुभ्यः ष्ट्रन्, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बतलाई गई है।

तन्त्र

अतः 'तन्त्र' का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्) और जो साधकों का त्राण (रक्षा) करता है[1]।

अतः **'तन्त्र'** का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान-विषयक ग्रन्थ आदि है। इस शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में बहुशः उप-लब्ध होता है। शंकराचार्य ने 'सांख्य' को तन्त्र नाम से अभिहित किया है[2]। महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तन्त्र' के प्रयोग उप-लब्ध होते हैं, परन्तु यहाँ तन्त्रों से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो यन्त्र-मन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्रों का दूसरा नाम **'आगम'** है। आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं[3]। यह व्युत्पत्ति आगम और निगम के भेद को बतला रही है। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है, तथा इनके साधन-भूत उपायों को आगम सिखलाता है। दृष्टान्त के लिए शाक्ता-

गम को लीजिये। अद्वैत वेदान्त में जिस अद्वैत तत्त्व की उपपत्ति प्रबल युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है, उसकी व्यावहारिक योजना शाक्तागमों में की गई है। निगम तथा आगम का पारस्परिक सम्बन्ध एक बड़े झमेले का विषय है, परन्तु साधारण तौर से कहा जा सकता है कि अधिकांश आगमों की मूल भित्ति निगम ही है।

इस कलियुग के लिए आगम की उपयोगिता विशेष रूप से मानी गई है। चारों युगों में चार प्रकार की पूजा का विधान मिलता है। सत्ययुग में वेद एवं वैदिक उपासना का, त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पुराण-सम्मत पद्धति का तथा कलि में तन्त्र और तान्त्रिकी उपासना का विशेष महत्त्व है[४]। महानिर्वाण तन्त्र के अनुसार कलि में शुद्धि और अशुद्धि के विचार से हीन मानवों के कल्याणार्थ शंकर ने तन्त्रों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया। अतः कलियुग में इन्हीं आगमों के अनुसार पूजा-विधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है। तन्त्रों का स्वरूप भली भाँति पहचाना जा सकता है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिनमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचों अंग (पटल, पद्धति, कवच, सहस्र नाम और स्तोत्र) व्यवस्थित रूप से दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थों को **'तन्त्र'** कहते हैं। वाराही तन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण) का साधन तथा ध्यानयोग—इन सात लक्षणों से युक्त ग्रन्थों को **आगम** कहते हैं[५]—

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। भारतीय धर्म निगमागममूलक है। जिस प्रकार भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगम (वेद) पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम (तन्त्र) पर भी आश्रित है। आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषम समस्या है। तन्त्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदबाह्य। कतिपय तन्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूल स्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। पाञ्चरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य ही माना गया है। शाक्त आगम की वेदमूलकता के विषय में जनसाधारण को विशेष संदेह है। शाक्तों के सप्तविध आचारों में से केवल एक ही आचार—वामाचार—की घृणित पूजापद्धति के बल

पर पूरे शाक्त आगम को लोग अवैदिक ठहराते हैं, परन्तु शाक्तों के सिद्धान्त और आचार के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है। वेदबाह्य तन्त्रों की भी कमी नहीं है जिनके आचार और पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद प्राप्ति है। तान्त्रिक उपासना का प्रथम सिद्धान्त है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे (देवो भूत्वा यजेद् देवम्)। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है कि मैं ही देवी हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मुझमें शोक नहीं, मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ, मैं स्वभाव से ही मुक्त हूँ। यह पूर्ण अद्वैत धारणा है[१]।

आगम-निगम

शाक्तों को आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयं-ज्योतिः, आद्यन्त-विरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है (कुलार्णव १।६—१०)। जीव अग्नि-स्फुलिंगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है—तन्त्रों के ये सिद्धान्त निःसंशय उपनिषन्मूलक हैं। तन्त्रों में परमतत्त्व मातृरूप से स्वीकृत किया जाता है। तन्त्रों में शक्ति की कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के ही आधार पर है। ऋग्वेद के वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन है, 'शक्तितन्त्र' उसी के भाष्य माने जा सकते हैं। अतः आगमों के सिद्धान्तों में निगमों के सिद्धान्तों से किसी प्रकार का मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। शाक्त आचार का भी विचार आगे किया जा रहा है। सिद्धान्ततः अनेक शाक्ताचार भी नितान्त वैदिक हैं। निगम तथा आगम में यही पार्थक्य दृष्टिगत होता है कि जहाँ निगम अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—(त्रिवर्ण) के लिए सीमित करता है, वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रीजनों के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। निगम जहाँ विशेषतः ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतः क्रिया-प्रधान है।

तान्त्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षा-ग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक पूजा-पद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है।

प्राचीनता

वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का भी प्रचार कम न था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधारभित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक (६।२) तथा छान्दोग्य (५।८) में वर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में 'योषा वाव गौतमाग्निः' आदि रूपक का क्या स्वारस्य है? छान्दोग्य (३।१–१०) में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलने वाले अमृत को 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं; इस पञ्चम अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं? अतः वैदिकी पूजा के साथ गुह्य तान्त्रिक पद्धति की कल्पना करना निराधार नहीं है।

शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार होते हैं। पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार—ये सात

भाव और आचार

आचार पूर्वोक्त तीनों भावों से सम्बद्ध हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण। जिन जीवों में अविद्या के आवरण के न हटने से अद्वैत-ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, उनकी मानसिक अवस्था **'पशुभाव'** कहलाती है। पशु के समान ये भी अज्ञानरज्जु के द्वारा संसार से दृढ़रूप में बँधे रहते हैं। संसारमोह में पड़ने वाला जीव 'अधम' पशु और सत्कर्मपरायण भगवद्भक्त 'उत्तम' पशु कहलाता है। जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतह्रद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञानरज्जु के काटने में यदि कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं, वे **'वीर'** कहलाते हैं। जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैतभाव के दूरीकरण में सर्वथा समर्थ होते हैं, तथा उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को डुबा कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे **'दिव्य'** हैं तथा उनकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। पूर्वोक्त आचारों में प्रथम चार आचार—वेद, वैष्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीरभाव के लिए तथा आचारों में सर्वश्रेष्ठ कौलाचार पूर्ण अद्वैत की भावना से भावित दिव्य साधक के लिए है। कौलाचार का रहस्य नितान्त निगूढ़ है।

भास्करराय ने **'कुल'** शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। जिस साधक की अद्वैतभावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपदवाच्य है[१]। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा

तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती[9]। यह कौलसाधना वेदागममहोदधि की सार बतलाई गई है। इस नितान्त दुष्कर साधना के रहस्य को न जानने के कारण लोगों में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। कौल वह साधक है जो अद्वैतनिष्ठा में पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुका है और उसी निष्ठा के अनुसार वह अपना आचरण भी रखता है, परन्तु लोगों के नेत्रों से वह अपने को बचाये रहता है। कौलों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे हृदय से तो शक्ति के उपासक होते हैं, बाहर शैव प्रतीत होते हैं और सभा के भीतर वैष्णव जान पड़ते हैं। इस प्रकार वे नाना रूप धारण कर पृथ्वी पर विचरण करते हैं। यह प्रसिद्धि निन्दा-जनक न होकर वस्तुतः यथार्थ कथन है[९]।

समयाचार

कौलाचार के अतिरिक्त 'श्रीविद्या' के उपासकों का एक अन्य ही आचार है, जो 'समयाचार' के नाम से विख्यात है। आचार्य शंकर इसी आचार के अनुयायी थे। 'लक्ष्मीधर' ने सौन्दर्यलहरी (४१ श्लोक) की टीका में और 'भास्करराय' ने 'समयान्तस्था' और 'समयाचारतत्परा' आदि शब्दों के भाष्य में (ललितासहस्रनाम पृ० ५४) इस मत के अनेक रहस्यमय तत्त्वों का वर्णन किया है। समयमार्ग में अन्तर्याग का ही प्राधान्य है। 'समय' का अर्थ है—हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजाविधान[१०] या शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेद से पञ्च प्रकार के साम्य को धारण करनेवाले शिव (शिवशक्ति की सामरस्य)। समयाचार में मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग कर देना प्रधान आचार है। समयाचार का तत्त्व नितरां गूढ़ तथा गुरुमुखैकवेद्य है। समयमार्गी लक्ष्मीधर ने कौलमार्ग की बड़ी निन्दा की है, परन्तु साधना के रहस्यवेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्गों में अन्तर होने पर भी अन्ततः दोनों में नितान्त घनिष्ठता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयमार्गी है। यही मन्त्र-शास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धान्त है।

कौलाचार

तान्त्रिक आचार के रहस्यों से अनभिज्ञ शिक्षित समाज का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को आश्रय दिया गया है। इस आक्षेप की मीमांसा भी आवश्यक है। तन्त्रों की भाषा सांकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा-प्रकार का यथार्थ निरूपण करना एक दुरूह व्यापार है। तान्त्रिक आचार-मार्ग भी अनेक हैं, जिनमें समयाचार तथा कौलाचार दो प्रधान

तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम भाष्य के आरम्भ में ही[११] 'कुल' शब्द का अर्थ दिया है - मूलाधारचक्र। लक्ष्मीधर के कथनानुसार आधार-चक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करनेवाले तान्त्रिक 'कौल' तथा उसकी भावना करने वाले उपासक 'समयमार्गी' कहे जाते हैं। इन तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्च-तत्त्व साधन' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पञ्चतत्त्वों में मकारादि पञ्च वस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, और मैथुन। समय मार्ग में अन्तर्याग (आन्तरिक उपासना) को महत्त्व दिया जाता है। अतः इन पाँचों के 'अनुकल्प' का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् इन पदार्थों का प्रत्यक्ष उपयोग न कर इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है[१२], परन्तु कौल मत में ऐसा नहीं होता। लक्ष्मीधर ने कौलों के दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल 'श्रीचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दरी तरुणी के प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं। अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तान्त्रिक विधि-विधानों को कुत्सापूर्ण बतलाने की कल्पना का मूलकारण यही उत्तरकौलों का वामाचार है।

तन्त्र के अनुशीलनकर्ता कतिपय विद्वानों की यह सम्मति है कि शाक्तमार्ग इन पञ्चतत्त्वों के लिए भी वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वामदेव्यादि अनेक विधानों में परयोषा आदि का प्रयोग मान्य था[१]। बहुत सम्भव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य—विशेषतः तिब्बती, तन्त्रों का प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि कौलों के प्रधान तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है[२]। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है, जो भारतवर्ष के बिलकुल पूरबी प्रान्त आसाम में स्थित है। सम्भवतः यहीं तिब्बती तन्त्रों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। गान्धर्वतन्त्र, तारातन्त्र (१।२), रुद्रयामल (१७ पटल), विष्णुयामल (१–२) पटल के आधार पर महाचीन (तिब्बत) से पञ्चमकारविशिष्ट पूजा का प्रचार वसिष्ठ के द्वारा किया गया माना जा सकता है। इस उल्लेख से पूर्वोक्त मत को कुछ आधार मिल सकता है[१३]।

तन्त्र की प्रामाणिकता

तन्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं। भास्करराय तथा राघवभट्ट की सम्मति में श्रुत्यनुगत होने से तन्त्रों का परतः प्रामाण्य है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य

१. द्रष्टव्य उडरफ—शक्ति ऐण्ड शाक्त (अँ०) पृ० ४४०–४४८।

२. द्रष्टव्य कुलार्णवतन्त्र, २, उल्लास १, श्लोक ११७–१३६।

तन्त्रों को श्रुति के समान स्वतः प्रमाण मानते हैं। कुलार्णवतन्त्र (२।१४०) का स्पष्ट कथन है कि कौल आगम नितान्त वैदिक शास्त्र है जिससे दोनों की एकता की ओर संकेत मिलता है। कुल्लूक भट्ट ने भी मनुस्मृति (२।१) की टीका में हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि श्रुति दो प्रकार की होती है—वैदिकी और तान्त्रिकी, अर्थात् हारीत की दृष्टि में तन्त्र भी वेद के समान ही श्रुति कहलाने की योग्यता रखता है। इन मतों के अनुसार तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समान है और वह वेद के समान ही स्वतः प्रमाण है। प्रसिद्ध शाक्त-दार्शनिक भास्करराय ने तन्त्र शास्त्र को स्मृति शास्त्र के अन्तर्भूत मानकर उसका प्रामाण्य अंगीकार किया है[१४]। मन्वादि स्मृतियों से तन्त्रों की विशेषता यही है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और तन्त्र ज्ञानकाण्ड के। शारदातिलक के टीकाकार राघव भट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृति शास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड—उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य माना है, क्योंकि वेद तथा तन्त्र शिव के द्वारा निर्मित होने के कारण समभावेन प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेद केवल त्रैवर्णिक—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्णों के लिए है, परन्तु तन्त्र सबके लिए माननीय हैं; लेकिन हैं दोनों आदरणीय और प्रामाणिक[१५]। इस भाष्य की 'शिवार्कमणि-दीपिका' व्याख्या में अप्पय दीक्षित ने आगम दो प्रकार का माना है—वैदिक और अवैदिक। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए और अवैदिक तन्त्र वेद के अनधिकारियों के वास्ते हैं। अतः अधिकारी-भेद से व्यवस्था होने के कारण आगम का प्रामाण्य सर्वथा सुव्यवस्थित है।

तन्त्रभेद

तन्त्र भेद—तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं—ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र[१] और जैन तन्त्र। ब्राह्मण तन्त्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं—(१) वैष्णवागम (पाञ्चरात्र या भागवत), (२) शैवागम, (३) शाक्तागम। जिनमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवता रूप से उपासना विहित है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद से आगम भी द्वैत-प्रधान, अद्वैत-प्रधान तथा द्वैताद्वैत-प्रधान है। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है; शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि

१. द्रष्टव्य लेखक—रचित बौद्धदर्शन, पृ० ४२५-४६०।

होती है, परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इन्हीं तन्त्रों का क्रमशः वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

(१)

पाञ्चरात्र आगम

आजकल 'पाञ्चरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वैखानस आगम भी वैष्णवागमों के ही अन्तर्भुक्त है। पाञ्चरात्र का प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है, परन्तु वैखानस आगम आजकल लुप्तप्राय सा हो गया है, किन्तु किसी समय में वैखानसों का भी बोलबाला था। पाञ्चरात्र तन्त्र कितना प्राचीन है? आवश्यक साधनों के अभाव में इस प्रश्न का यथार्थ निर्धारण करना असम्भव सा है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्ति पर्व अध्याय ३३५-३४६) में पहले-पहल इस तन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। जब महर्षि नारद को इसके तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौट कर इस देश में उनका प्रथम प्रचार किया। इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्चरात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है[१६]। छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है, पर इसके विवेच्य विषयों की ओर संकेत नहीं है। यहाँ भी 'एकायन' का सम्बन्ध नारद से ही है, जिन्होंने समस्त वेदों के साथ-साथ 'एकायन' का भी अध्ययन किया था। नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व-शाखा का ही दूसरा नाम 'एकायन-शाखा' है[१७]। जयाख्यसंहिता (पृ० १५) पाञ्चरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जायन, औपगायन और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभी तक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता।

उत्पल (१० म शताब्दी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' में पाञ्चरात्र श्रुति तथा पाञ्चरात्र उपनिषद् से अनेक उद्धरण दिये हैं। सम्भवतः ये उद्धरण इसी शाखा के हैं। उत्पलकृत निर्देशों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक 'पाञ्चरात्र श्रुति', 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' तथा 'पाञ्चरात्र संहिता'[१८]—इस प्रकार इस तन्त्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त थे। यामुनाचार्य (११ वीं शताब्दी) ने अपने 'आगमप्रामाण्य' में पाञ्चरात्र संहिताओं का नामोल्लेख किया है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि यह तन्त्र उपनिषत्काल में विद्यमान था। कम से कम महाभारत से प्राचीन तो अवश्यमेव है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) भी हैं। विना भगवान् के अनुग्रह हुए जीव भगवान् को नहीं पा सकता। भगवान् की 'शरणागति' ही केवल उपाय है। इस शरणागति तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तन्त्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है।[१९] पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम 'भागवत धर्म' और 'सात्त्वतधर्म' था। भागवत धर्म का उल्लेख विक्रम-पूर्व के शिलालेखों में मिलता है। विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में वेसनगर के शिलालेख में यूनानी हेलिओडोरस को भागवत उपाधि धारण करने तथा गरुडस्तम्भ की स्थापना का वर्णन मिलता है[२०]। महाभारत में 'सात्त्वतविधि' का उल्लेख किया गया है[२१]। इतना ही नहीं 'सात्त्वत' शब्द ऐतेरयब्राह्मण में भी आता है[२२]। यदि इसका प्रयोग इसी प्रसङ्ग में हो तो सात्त्वत तन्त्र की प्राचीनता निःसंदिग्ध है।

पाञ्चरात्र और वेद

पाञ्चरात्र के मूल सिद्धान्त श्रुति में प्रतिपादित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच दिनों तक किया था। इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्यों का पता नहीं चलता, पर इतना तो निश्चित है कि विष्णुभक्तों के यज्ञ हिंसात्मक नहीं होते थे, पशु के स्थान पर यज्ञ में घृत की ही आहुति दी जाती थी। नारायणीयोपाख्यान के आधार पर नारायण-भक्त राजा उपरिचर ने इस प्रकार का यज्ञ सप्तर्शियों के उपदेश से सर्वप्रथम किया। पाञ्चरात्र के वैदिकत्व को लेकर श्रीवैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत की है। पाञ्चरात्रों के 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहङ्कार) की। शङ्कराचार्य ने शारीरिकभाष्य (२।२।४२-४५) में इस मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक घोषित किया है, परन्तु रामानुज के मत में बादरायण ने उक्त अधिकरण में पाञ्चरात्र का मण्डन ही किया है, खण्डन नहीं। महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्यों को उद्धृत कर रामानुज ने पाञ्चरात्रागम को भी वेदों के समान ही प्रमाणभूत माना है[२३]। रामानुज से पहले श्रीयामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' में पाञ्चरात्र-तन्त्र की प्रामाणिकता को प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया। रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' ग्रन्थ में और भट्टारक वेदोत्तम ने

'तन्त्रशुद्ध' ग्रन्थ में इस विषय को मीमांसा-पद्धति से विचार कर पाञ्चरात्रों को वेदसम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है।

पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत या सात्त्वत' है। सत्त्वत शब्द का यादव क्षत्रियों के लिए प्रयोग होता था। अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसका विपुल प्रचार होने के कारण यह संज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी, परन्तु पाराशर की सम्मति में सात्त्वत भागवत का पर्यायवाची है[२४]। भगवान् विष्णु के परमाराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता स्पष्ट ही है, तथापि 'पाञ्चरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र थी। ईश्वरसंहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपाद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे, अतः पाञ्चरात्र नामकरण हुआ। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की संख्या है। 'रात्र' का अर्थ होता है—ज्ञान[२५]। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)—पंच विषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है।

पाञ्चरात्र तन्त्रविषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है।

साहित्य

कपिञ्जलसंहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में, निर्दिष्ट सूचना के अनुसार अगस्त्य संहिता, काश्यप संहिता, नारदीय संहिता, महासनत्कुमार संहिता, वासिष्ठ संहिता, वासुदेव संहिता, विश्वामित्र संहिता, विष्णुरहस्य संहिता आदि पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है[१], परन्तु निम्नलिखित १३ संहितायें ही अब तक प्रकाशित हो सकी हैं:—(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास), (२) ईश्वर संहिता (सुदर्शन प्रेस, काञ्ची) (३) कपिञ्जल संहिता, (४) जयाख्य संहिता (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज नं० ४५) (५) पराशर संहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहत् ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला), (८) भारद्वाज संहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०) विष्णुतिलक, (११) श्रीप्रश्न संहिता, (१२) विष्णुसंहिता, (अनन्त शयन ग्रन्थमाला) तथा

---

१. द्रष्टव्य डा० श्रीदर इन्ट्रोडक्सन टू दी पाञ्चरात्र, पृ० ६-१२।

(१३) सात्त्वत संहिता (काञ्ची)। इन तेरहों में भी केवल वे ही ६ संहितायें नागराक्षरों में छपी हैं जिनके प्रकाश-स्थान का यहाँ निर्देश है। अन्य सात संहितायें आन्ध्र-लिपि में हैं। अन्य संहितायें भी विषयगौरव के कारण प्रकाशन योग्य होने पर भी हस्तलिपिरूप में ही मिलती हैं। समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं में 'पौष्कर', 'सात्त्वत' तथा 'जयाख्य' संहितायें प्राचीनतम मानी जाती हैं। जयाख्य संहिता ३३ पटलों में समाप्त है, पर षष्टि अध्यायात्मक अहिर्बुध्न्य संहिता जयाख्य संहिता से लगभग दुगुनी है। बृहद् ब्रह्मसंहिता परिमाण में कम है। जयाख्य संहिता में दार्शनिक तत्त्व का विवेचन संक्षिप्त है, परन्तु अहिर्बुध्न्य संहिता का विवेचन बहुत विस्तृत है। इन्हीं संहिताओं के आधार पर इस तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा।

पाञ्चरात्र संहिताओं के विषय चार हैं—(१) 'ज्ञान'—ब्रह्म, जीव तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टितत्त्व का विशेष निरूपण। (२) 'योग'—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन। (३) 'क्रिया'—देवालय का निर्माण मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन। (४) 'चर्या'—आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्रों के पूजन का विस्तृत विवरण, वर्णाश्रम का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर विशिष्ट पूजा का विधान। इनमें चर्या का वर्णन आधे से अधिक है। आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग का विवेचन है। अतः चर्या और क्रिया कि व्यावहारिक विवेचना ही पाञ्चरात्र संहिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयों की मीमांसा गौण तथा प्रासंगिक है। तन्त्रों की शैली के अनुसार सृष्टि और अध्यात्मतत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप से मिलता है।

(२)

पाञ्चरात्र की तत्त्वमीमांसा

पाञ्चरात्र मत में परब्रह्म अद्वितीय दुःख-रहित, निःसीम सुखानुभव रूप, अनादि अनन्त है; सब प्राणियों में निवास करने वाला, समस्त जगत् में व्याप्त होकर स्थित होने वाला, निरवद्य तथा निर्विकार है। इस विषय में उसकी समता उस महासागर से दी जाती है जो तरङ्गरहित होने से नितान्त प्रशान्त है। (अतरङ्गार्णवोपम्)। वह प्राकृतगुणस्पर्शहीन तथा अप्राकृत गुणों का आस्पद है। वह आकार, देश तथा काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, नित्य तथा व्यापक है। वह हेय-उपादेय-विवर्जित है तथा इदन्ता (स्वरूप), इदृक्ता

और इयत्ता (परिमाण) इन तीनों से अनवच्छिन्न है। षाड्गुण्य-योग से 'भगवान्' है। समस्त भूतवासी होने से वही 'वासुदेव' है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण वही 'परमात्मा' है। इसीप्रकार गुणों की विशेषता के कारण वह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त अपरिमित, अचिन्त्य, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा शिव आदि नामों से विख्यात है। पाञ्चरात्र में परब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुणभाव स्वीकृत हैं। परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य है—वह न भूत है, न वर्तमान और न भविष्य; न ह्रस्व है, न दीर्घ; न स्थूल है, न अणु; न आदि है, न मध्य और न अन्त। इस प्रकार वह सब द्वंद्वों से विनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित, सब कारणों का कारण षाड्गुण्यरूप परब्रह्म है[१]।

नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण निर्गुण तथा षड्गुण-युक्त होने से सगुण हैं। जगत्-व्यापार के लिए कल्पित इन छः गुणों का नाम—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज है। अजड, स्वात्म सम्बोधी (स्वप्रकाश), नित्य, सर्वावगाही गुण को **'ज्ञान'** कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है तथा उसका गुण भी है। 'शक्ति' से अभिप्राय है जगत् का उपादान कारण तथा ऐश्वर्य का अर्थ है—स्वातन्त्रपरिबृंहित जगत्-कर्तृत्व। जगत् के निर्माण करने में भगवान् को तनिक भी परिश्रम नहीं होता। इस श्रमाभाव को **'बल'** कहते हैं तथा जगत् के उपादान होने पर भी विकार-रहित्य की शास्त्रीय संज्ञा **'वीर्य'** है। जगत् के समस्त उपादान कारणों में कार्यावस्था में विविध विकार दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निर्विकार भगवान् में जगदुपादान होने पर भी किसी प्रकार के विकार का उदय नहीं होता। जगत्-सृष्टि में सहकारी की अपेक्षा (अनावश्यकता) को **'तेज'** कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की उभयविध कारणता—उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता है। ब्रह्म विना किसी सहायता के स्वतन्त्रतापूर्वक अपने से ही इस सृष्टि का उत्पादक है। 'सर्वकारणकारणम्' विशेषण इसी सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतन्त्रता को द्योतित करता है[१]। वासुदेव का ज्ञान ही उत्कृष्ट रूप है, शक्त्यादि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण होने से सर्वदा तत्सम्बद्ध रहते हैं।

षाड्गुण्य

भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। भगवान् शक्तिमान् है, तथा लक्ष्मी उनकी शक्ति है। भगवान् तथा लक्ष्मी का पारस्परिक सम्बन्ध

---

१. अहि० सं०, अध्याय २।१५-६२।

आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में भगवान् की शक्तियाँ अद्वैत नहीं है। प्रलय दशा में जब प्रपंच का लय निष्पन्न हो जाता है, तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता। उस समय भी नारायण तथा नारायणी शक्ति 'मानों' एकत्व धारण करते हैं[27]। धर्म तथा धर्मी, अहन्ता तथा अहं, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति तथा शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव सम्बन्ध स्वीकृत किया गया है, पर मूल में भेद रहता ही है[28]।

भगवान् की आत्मभूता शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण के वश कहीं उन्मेष प्राप्त करती है : जगद्रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है[29]। विष्णु की स्वातन्त्ररूपी शक्ति भिन्न-भिन्न गुणों के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। आनन्दा, स्वन्त्रता, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि उसी के नामान्तर हैं। उसी लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप हो जाते हैं—(१) 'क्रियाशक्ति' तथा (२) 'भूतशक्ति'। भगवान् की जगत्-सिसृक्षा (जगत् उत्पन्न करने के संकल्प) को 'क्रियाशक्ति' कहते हैं[30] और जगत् की परिणति (भवनं भूतिः) की संज्ञा 'भूतिशक्ति' है। अहिर्बुध्न्य संहिता में ही लक्ष्मी को इच्छाशक्ति तथा सुदर्शन को क्रियाशक्ति कहा गया है[1]। इन दोनों शक्तियों के अभाव में भगवान् स्वयं अकिञ्चित्कर हैं। शक्तिद्वय के सद्भाव में ही भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति व्यापार के उत्पादक है। लक्ष्मी-शक्ति के प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध सृष्टि' या **गुणोन्मेष** कहते हैं, जब तरंग रहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद्बुद के समान परब्रह्म में ज्ञानादि षड् गुणों का प्रथम उदय होता है। इसी शक्ति के विकास से जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती है। सृष्टि शुद्ध और शुद्धेतर भेद से दो प्रकार की होती है। इसी के भीतर जयाख्य संहितानुसार शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग का अन्तर्भाव किया जाता है।

शुद्धसृष्टि

भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार तथा (४) अन्तर्यामी अवतार। पूर्वकथित षड्गुणों में से दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है—'संकर्षण' में ज्ञान तथा बल गुण का प्राधान्य रहता है, 'प्रद्युम्न' में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का आधिक्य रहता है तथा 'अनिरुद्ध' में

---

१. अहिर्बुध्न्य संहिता ३६।५५।

शक्ति तथा तेज का उद्रेक विद्यमान रहता है। इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते हैं[1]। संकर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकान्तिक मार्ग (पाञ्चरात्र तत्त्व) का उपदेश देना है, प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देना है तथा अनिरुद्ध का काम क्रियाफल (मोक्ष) तत्त्व का शिक्षण है। वैषम्य दशा में गुण-प्रधान भाव से षड्गुणों की व्यवस्था की जाती है। षाड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यतः विद्यमान रहता है, परन्तु प्रतिव्यूह में दो गुणों का ही प्राधान्य रहता है। वासुदेव को मिलाकर इन्हें 'चतुर्व्यूह' कहते हैं। चतुर्व्यूह भगवद्रूप ही है, परन्तु शंकराचार्य के उल्लेख[2] के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की। यही 'चतुर्व्यूह सिद्धान्त' पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत नहीं मिलता, परन्तु नारायणीयोपाख्यान[3] और लक्ष्मी-तन्त्र (५।९-१४) में निर्दिष्ट होने से यह पाञ्चरात्र का एकदेशीय मत जान पड़ता है।

(२) **विभव**—विभव का अर्थ अवतार है, जो संख्या में ३९ माना जाता है। विभव दो प्रकार के होते हैं—(क) 'मुख्य', जिनकी उपासना मुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण', जिनकी पूजा भुक्ति के वास्ते की जाती है। (अहि० सं० ५५०)। पद्मनाभ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना विभव में की जाती है।

(३) **अर्चावतार**—पाञ्चरात्र विधि से पवित्रित किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तियाँ भी भगवान् के अवतार मानी जाती हैं। सर्वसाधारण की पूजा में इनका उपयोग होता है। इनका नाम है—'अर्चा अवतार'।

(४) **अन्तर्यामी**—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए उनके समस्त व्यापारों के नियामक हैं। इस रूप का नाम अंतर्यामी रूप है। यह कल्पना उपनिषदों के आधार पर ही है[११]।

शुद्धेतर सृष्टि—शुद्ध सृष्टि के आधार शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है। इस सृष्टि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

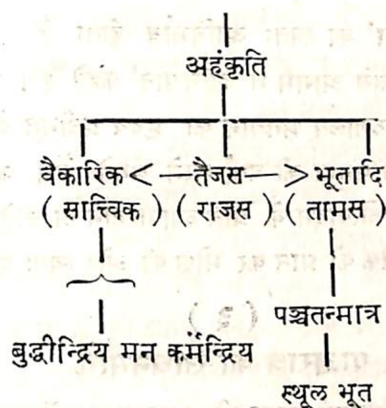
प्रद्युम्न–> कूटस्थपुरुष–> मायाशक्ति–> नियति–> काल–> सत्त्वगुण–> रजोगुण–> तमोगुण–> बुद्धि–>

---

१. वही ५।१७-६०।

२. ब्रह्मसूत्र का शांकरभाष्य २।२।४२-४५।

३. शान्तिपर्व, अ० ३३९, श्लोक ४०-३२।



यह क्रम अहिर्बुध्न्य संहिता (६।५।१८) के अनुसार है। जयाख्य संहिता का क्रम इससे भिन्न है। सांख्य से सादृश्य होने पर भी यह क्रम उससे अनेक सिद्धान्तों में भिन्न है। पाञ्चरात्र के अनुसार प्रकृति पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि करती है। सांख्य प्रकृति को स्वतः मानता है, पर इस तन्त्र में चुम्बक के सान्निध्य से लोहे की गति की भाँति आत्मच्छुरता से यह प्रकृति कार्य में प्रवृत्त होती है। पाञ्चरात्रमत में तीनों गुणों की सृष्टि क्रमशः एक से दूसरे की होती है, परन्तु सांख्य में इस मत का कहीं उल्लेख नहीं है।

इस जगत् के अधिपति नारायण का स्वातन्त्र्य अलौकिक होता है। समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेने पर भी वही वासुदेव राजा के समान लीलापूर्वक क्रीडा किया करते हैं। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। भगवान् के 'संकल्प' या इच्छाशक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है, जो अनन्तरूप होने पर भी प्रधानतया पाँच प्रकार का होता है—उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाशकारिणी शक्तियाँ, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधानशक्ति) तथा अनुग्रह-शक्ति[1]। जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टि-काल में भगवान् की तिरोधान शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव क्रमशः अणु, किञ्चित्कर तथा किञ्चिज्ज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणुत्वादिकों को 'मल' कहते हैं। इन्हीं से जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है। इस विकट भवचक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है। जीव के क्लेशों को देखकर

जीवतत्त्व

1. अहिर्बुध्न्य संहिता १४।१२।१४।

भगवान् के हृदय में 'कृपा' का स्वतः आविर्भाव होता है, इसी का नाम है—'अनुग्रहात्मिका शक्ति'—जिसे आगम में 'शक्तिपात' कहते हैं। जीवों की दीन हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ-अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं, तब जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है।[१]

(३)
पाञ्चरात्र का साधनमार्ग

साधनमार्ग का प्रतिपादन करना ही पाञ्चरात्र ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है। यथाशास्त्र मन्दिर की रचना कर इष्टदेवता को विधिवत् स्थापन करना चाहिये, तदनन्तर उनकी सात्त्वतविधि से अर्चना करनी चाहिए। योग का अभ्यास भी इसमें सहायक होता है, परन्तु भक्ति ही इस दुःखद संसार से जीव को मुक्त करनेका मुख्य साधन है। भक्त-वत्सल करुणा-निकेतन भगवान् की अनुग्रह शक्ति ही जीवों को भवपंक से उद्धार कर सकती है। शरणागति (परिभाषिकी संज्ञा **'न्यास'**) ही अनुग्रहशक्ति को प्रोद्‌बुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है। भगवान् से निष्कपट रूप से यह प्रार्थना करना कि मैं अपराधों का आलय हूँ, अकिञ्चन तथा निराश्रय हूँ, ऐसी स्थिति में आप ही केवल मात्र उपाय बनिये 'शरणागति' कहा जाता है[३२]।

यह शरणागति छः प्रकार की होती है—(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः, (२) प्रतिकूल्यस्य वर्जनम् (भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प और प्रतिकूलता को छोड़ना), (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः ('भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें विश्वास), (४) गोप्तृत्ववरणम् (भगवान् को रक्षक मानना), (५) आत्मनिक्षेपः (आत्म-समर्पण) और (६) कार्पण्यम् (नितान्त दीनता)। वैष्ण भक्त को **'पञ्च-कालज्ञ'** कहते हैं, क्योंकि वह अपने समय को पाँच विभागों में बाँटकर भगवत्पूजा में निरन्तर लगा रहता है। पञ्चकालों के नाम हैं—(क) अभिगमनकर्मणा मनसा वाचा (जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना), (ख) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह, (ग) इज्या-पूजा, (घ) अध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण, मनन तथा उपदेश और (ङ) योग—अष्टांग-योग का अनुष्ठान।

---

१. वही १४।१४–२०।

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्ति का नाम 'ब्रह्माभावापत्ति' है, क्योंकि इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

मोक्ष

वह पुनः लौटकर इस संसार में नहीं आता। उस दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जयाख्य-संहिता का कहना है कि यह भगवत्-सम्पत्ति नदियों की समुद्रप्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रूप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, योगियों की भी ही परमात्मा की प्राप्ति होने पर वैसी दशा हो जाती है[३३]। जिस प्रकार अग्नि में क्षिप्त काष्ठ के टुकड़े दग्ध होने पर लक्षित नहीं होते, उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति में भक्तों की भी दशा होती है। उस काल में जीव भगवान् के 'पर' रूप के साथ परमव्योम में (शुद्ध-सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में) आनन्द से विहार किया करता है। यह 'पर वासुदेव' 'व्यूह वासुदेव' से भिन्न है। वैकुण्ठ में अनन्त, गरुड़ तथा विष्वक्सेन आदि नित्यजीव भी निवास करते हैं। त्रसरेणु के परिमाण वाला मुक्त जीव कोटि-कोटि रश्मि से विभूषित होकर अपने इष्ट देवता का यहाँ दर्शन करता है, तथा काल-चक्र से रहित होकर भगवान् की निरन्तर सेवा तथा भजन में निरत रहता है। वह काल-कल्लोल-संकुल जगत्-मार्ग में फिर अवतीर्ण नहीं होता। यही है पाञ्चरात्रों की मुक्ति-कल्पना[१]। पाञ्चरात्र सिद्धान्त जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मानकर परिणामवाद का पक्षपाती है।

(२)

वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो पाञ्चरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी उतना प्रख्यात नहीं है। किसी समय

परिचय

में इनका बोलबाला था, परन्तु किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता का ह्रास हो गया और आज तो इसका नाम भी सुनने को नहीं मिलता। मन्दिर और मूर्ति के निर्माण विषय को लेकर पाञ्चरात्रों तथा वैखानसों में प्राचीन समय में कभी मत-भेद था और इसी प्रसंग में इनके मत पाञ्चरात्र ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतन्त्र पृथक् शाखा थी। चरणव्यूह में वर्णित कृष्णयजुः

---

१. अहि० सं० ६।२७-३०।

की चार प्रधान शाखाओं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ-हिरण्यकेशी तथा औखेय—में 'औकेय' अन्तिम शाखा है[३४]। 'वैखानस श्रौतसूत्र' के भाष्यकार वेंकटेश के कथनानुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी 'औखेय' शाखा के साथ था।

गौतम धर्मसूत्र (३।२), बौधायन धर्मसूत्र (२।६।१७), वसिष्ठ—धर्मसूत्र (९।१०) में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' का प्रयोग किया गया है। मनु भी वानप्रस्थों को 'वैखानस शास्त्र का अनुयायी' बतलाया है (वैखानसमते स्थितः ६।४१)। इसका मुख्य कारण यह है कि 'वैखानसधर्मप्रश्न' (१।६-७) में वानप्रस्थों के आचार-विधान का सांगोपांग वर्णन किया गया है, जिनका अक्षरशः पालन करना तृतीय आश्रम के वनस्थ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य था।

इस शाखा के केवल चार ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हुए हैं—(क) वैखानसीय मन्त्रसंहिता, (ख) गृह्यसूत्र (सात प्रश्नों में या अध्यायों में विभक्त), (ग) धर्मसूत्र (या धर्मप्रश्न, तीन प्रश्नों में विभक्त), (घ) श्रौतसूत्र। मन्त्रपाठ आठ अध्यायों में विभक्त है जिसके प्रथम चार अध्यायों में गृह्य तथा धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट मन्त्रों का संग्रह है और अन्तिम चार अध्यायों में विशिष्ट विष्णुपूजा का विधान है। अतः इन्हें 'अर्चनाकाण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

वैखानसों की विशिष्टता का परिचय उनके गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ही हमें मिल जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम, एकादश तथा द्वादश खण्ड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा और अर्चना का विशेष वर्णन है। नित्य प्रातःकाल एवं सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अँगुली से परिमाण में कम नहीं होती थी। विशेष विधि से उसकी घर में प्रतिष्ठा की जाती थी तथा विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उसकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों के जप का विधान था। नारायण-बलि का उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत नारायण की सब देवताओं में प्रधानता स्पष्टाक्षरों में मानी गई है[१]। पाञ्चरात्रों की वैदिकता सिद्ध करने के लिए अनेक उद्योग किये गये हैं, परन्तु वैखानसों की वैदिकता में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है।

हाल ही में मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० १२१) में प्रकाशित हुआ है। इस विस्तृत ग्रन्थ में ७० पटल हैं। इसके

---

१. वैखानस धर्मप्रश्न ३।९।१।

सिद्धान्त

अनुशीलन करने से वैखानसों के लुप्तप्राय प्राचीन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है। किसी माधवाचार्य के पुत्र वाजपेययाजी श्री नरसिंह यज्वा-विरचित 'प्रतिष्ठाविधिदर्पण' में नारायण, विखनख मुनि, काश्यप, मरीचि इस वैखानस आचार्य परम्परा का उल्लेख किया गया है। वैखनसागम का विषय क्रिया तथा चर्या है। मन्दिर के विभिन्न अंगों का निर्माण, विविध मूर्तियों की रचना, राम-कृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का इतना सांगोपांग विवेचन एकत्र मिलना कठिन है। आध्यात्मिक बातें बहुत कम हैं। परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति ठीक उपनिषत्क्रम से होती है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—विष्णु, महाविष्णु, सदाविष्णु तथा सर्वव्यापी। भगवान् की इन्हीं चारों मूर्तियों के अंश से चार अन्य मूर्तियों की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मक 'सत्य', सदाविष्णु के अंश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपति) तथा सर्वव्यापि के अंश से 'अनिरुद्ध' की उत्पत्ति होती है, जिसमें वैराग्य या संहार की प्रधानता रहती है (७० वाँ पटल)। इन चारों मूर्तियों से युक्त होने के कारण नारायण पञ्चमूर्तिरूप माने जाते हैं। भगवान् की माया से ही जीव बन्धन में पड़ता है और उसी की कृपा से वह मुक्त भी होता है। जीव का मुख्य कर्तव्य भगवान् विष्णु का अर्चन है। विष्णु के समाराधन के चार प्रकार हैं—(१) **जप**—भगवान् का ध्यान करते हुए अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्र का जपना, (२) **हुत**—अग्नि-होत्रादि हवन, (३) **'ध्यान'**—अष्टांग योगमार्ग से परमात्मा का चिंतन; (४) **अर्चना**–प्रतिमा-पूजन। इन साधनों में 'अर्चना' ही मुख्य मानी जाती है। अर्चना विधि पूर्वक विशुद्ध होनी चाहिए। श्रीदेवी और भूमिदेवी के साथ विष्णु की मूर्ति मन्दिर के मध्य में स्थापित की जाती है। उनके दक्षिण ओर 'पुरुष' तथा 'सत्य' मूर्तियों की और वाम ओर 'अच्युत' एवं 'अनिरुद्ध' मूर्तियों की स्थापना की जाती है। पूजा वैदिक मन्त्रों से होती है। सम्यक् आराधना के अनुष्ठान से जीव आमोद नामक विष्णुलोक में सालोक्य मुक्ति, प्रमोद (महाविष्णुलोक) में सामीप्य, सम्मोद (सदाविष्णुलोक) में सारूप्य और अन्ततोगत्वा सर्वश्रेष्ठ वैकुण्ठ (सर्वव्यापी नारायण के लोक) में सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है। वहीं जीव इष्टदेवता से अभिन्नरूपत्वेन सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वैखानसों की दृष्टि में सायुज्यरूपा मुक्ति सर्वश्रेष्ठ है।[1]

---

१. आनन्दगिरि के शंकर-विजय में भी इस मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है (प्रकरण ९, पृ० ५५–६४)

१

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है। यह निगम-कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है। वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहते हैं, अर्थात् भागवत तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभव कर के किया था। भागवत का प्रभाव वल्लभसम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी अपनी पद्धति से किया है। इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीवगोस्वामी का 'षट् सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढ़ार्थ को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वैष्णवसम्प्रदाय ने इस पर स्वामतानुकूल व्याख्यायें लिखी हैं, जिनमें कुछ टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं—रामानुज मत में सुदर्शनसूरि की 'शुकपक्षीय' तथा वीरराघवाचार्य की 'भागवतचन्द्र-चन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्तप्रदीप'; वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' तथा गिरिध-राचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीसनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी', सब से अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की 'श्रीधरी' है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्तिरसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्र श्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

साध्यतत्त्व

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है[१]:—

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था—मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्—कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही

एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा'। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निर्गुण, सगुण; जीव, जगत् सब वही हैं। अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं[३६]। वह जब सत्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकार रूप से रहते हैं तब 'निर्गुण' कहलाते हैं। परमार्थभूत ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है—वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है[३७]। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही 'निर्गुण' ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुण रूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्म', तमो मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्यबल रज तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार-व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारों ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

परब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न अवतार धारण करते हैं। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बद्ध रहित हुए भी माया से युक्त रहता है, सर्वदा चित्-शक्ति से समन्वित रहता है—उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न-भिन्न अवतारों का उदय होता है[३८]।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम **'माया'** है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है[३९]—

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में दीख नहीं

पड़ता) वही **'माया'** है। भगवान् अचिन्त्यशक्ति से समन्वित हैं। वह एक समय में एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारिका पुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को समस्त रानियों के महलों में भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग

भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपबृंहित विपुलकाय महाभारत की रचना करने पर भी अतृप्त होने वाले वेदव्यास का हृदय भक्तिप्रधान भागवत की रचना से वितृप्त हुआ। भागवत के श्रवण करने से भक्ति के निष्प्राण ज्ञानवैराग्यपुत्रों में प्राण का ही संचार नहीं हुआ, प्रत्युत वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो गये। अतः भगवान् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'भक्ति' ही है[४०]।

परम भक्त प्रह्लादजी ने भक्ति की उपादेयता का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है कि भगवान् चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से प्रसन्न नहीं होते; वे तो निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं। भक्ति के विना अन्य साधन उपहासमात्र हैं[४१]।

भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान-कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते हैं, अतः वे परम्परया साधक हैं, साक्षाद्रूपेण नहीं। कर्म का उपयोग वैराग्य उत्पन्न करने में है। जब तक वैराग्य की उत्पत्ति न हो जाय, तब तक वर्णाश्रम-विहित आचारों का निष्पादन नितान्त आवश्यक है। कर्मफलों को भी भगवान् को ही समर्पण कर देना उनके 'विषदन्त' को तोड़ना है। श्रेय की मूलस्रोतरूपिणी भक्ति को छोड़कर केवल बोध की प्राप्ति के लिए उद्योगशील मानवों का प्रयत्न उसी प्रकार निष्फल तथा क्लेशोत्पादक है जिस प्रकार भूसा कूटने वालों का यत्न[४२]। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्ति के विषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—'साधनरूपा भक्ति' और 'साध्यरूपा भक्ति'। साधनभक्ति नव प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्संगति की महिमा का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है, जिसके सामने अनन्य भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्मा का पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविध विलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में

ललित विहार की कामना करनेवाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नीरस मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिरस्कार करते हैं[43]।

भक्त का हृदय भगवान् के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बछड़े दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल सुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है[44]।

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि व्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशास्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोकों में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत का कथन यथार्थ है[45]।



पञ्चदश परिच्छेद

शैव-शाक्त तन्त्र

(इतिहास तथा साहित्य)

शिव या रुद्र की उपासना वैदिककाल से ही इस भारतभूमि में प्रचलित है। यजुवद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बतलाया गया है। श्वेताश्वतर (३।११) में भगवान् शिव सर्वाननशिरोग्रीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गये हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है। इससे पाशुपतमत की प्राचीनता सिद्ध होती है। महाभारत में शैवमतों का वर्णन है। वामन पुराण (६।८६-९१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं--शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म सूत्र (२२।३७) के भाष्य में माहेश्वरों का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक-सिद्धान्ती', भास्कर ने 'काठक सिद्धान्तों', यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है (आगम-प्रामाण्य पृ० ४८-४९)। इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्हीं धार्मिक मतों के मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्न-स्तोत्र तथा ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२।३७) में पाशुपत मत वेदबाह्य माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्पयदीक्षित 'शिवार्कमणिदीपिका' (२।१।२८) में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए तथा अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए हैं। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायसंगत है।

माहेश्वर तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण तीन प्रधान भेद हैं—द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैतपरक

(भैरवतन्त्र)। पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपत मत का केन्द्र गुजरात और राजपूताना था, शैव सिद्धान्त का प्रचार तामिल देश में और वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्रस्थल काश्मीर देश है। इन्हीं शैवमतों का वर्णन क्रमशः आगे किया जायगा।

(१) पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापकों का नाम नकुलीश या लकुलीश है। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण महात्म्य' से इनका जन्म भड़ोंच के पास 'कारवन' नामक स्थान में होना प्रतीत होता है राजपूताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम 'लगुडेश' या 'लकुलीश' होना प्रतीत होता है। भगवान् शंकर के इन १८ अवतारों में नकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं—लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपरकुशिक, अत्रि, पिंगलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु (अपना आचार्य)। विक्रम द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा से मिला है जिसमें **उदिताचार्य** नामक पाशुपत द्वारा गुरु-मन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है। लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है और यह वही समय है जब कुषाणनरेश हुविष्क के सिक्कों पर लगुडधारी शिव की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। पाशुपतों का संबन्ध न्याय-वैशेषिक से नितान्त घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्यायवार्त्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' की उपाधि से अपना परिचय दिया है। कभी इस मत का पश्चिमी भारत में विशेष प्रचार तथा समधिक ख्याति थी।

पाशुपतसाहित्य

पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राजशेखरसूरि ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में

'यौगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायसार के रचयिता काश्मीर भासर्वज्ञ (८०० ई०) की 'गणकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' व्याख्या वास्तव में रत्नरूपा है जिसके अज्ञातनामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वररचित **'पाशुपतसूत्र'** अनन्त-शयन ग्रन्थमाला (नं० १४३) में कौण्डिन्यकृत **'पञ्चार्थीभाष्य'** के साथ अभी प्रकाशित हुआ है। सर्वदर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट राशीकर-विरचित भाष्य यही है। इस पञ्चाध्यायी (१६८ सूत्र) में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों की विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचना है।

(२) शैव-सिद्धान्तमत

शैव सिद्धान्त का प्रचार दक्षिण देश के तमिल प्रदेश में है। यह प्रदेश शैवधर्म का प्रधान दुर्ग है। यहाँ के शैवभक्तों ने भगवान् भूतभावन शङ्कर की आराधना कर भक्तिरसपूरित भव्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों की रचना अपनी मातृभाषा तामिल में की है, जो श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। इन ८४ शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य—सन्त अप्पार, सन्त ज्ञानसन्बन्ध, सन्त सुन्दर मूर्ति तथा सन्त मणिक्कवाचक हुए, जो शैवधर्म के चार प्रमुख मार्ग-चर्या (दासमार्ग), क्रिया (सत्पुत्रमार्ग), योग (सहमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग) के तामिलदेश में संस्थापक हैं। इन सन्तों का आविर्भावकाल सप्तम तथा अष्टम शताब्दी है। इनसे पहले सन्त नक्कीर (प्रथमशतक), सन्त कण्णप्प (द्वितीय-शतक) और तिरुमूलर ने शैवमत का विपुल प्रचार किया था। इनकी तामिल रचनायें 'सिद्धान्त' की मूलभित्ति हैं[1]। इन भक्तों ने जिन शैवतन्त्रों के तत्त्वों का प्रचार किया है वे संस्कृत में धीरे धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इन आगमों को 'शैवसिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् शङ्कर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिए अपने पाँचों मुखों से २८ तन्त्रों का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न आगम हैं—१ कामिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित; वामदेवमुख से—६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद; अघोरमुख से—११ विजय, १२ निश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल, १५ वीर; तत्पुरुष मुख से—१६ रौरव, १७ मुकुट, १८ विमल, १९ चन्द्रज्ञान, २० बिम्ब। ईशान मुख से—२१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ संतान,

---

१. जीवनचरित्र के लिए द्रष्टव्य कल्याण-सन्ताङ्क, पृ० ४४०—४४२।

२५ सर्वोत्तर, २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल। जयरथ ने 'तन्त्रालोक' की टीका में इन तन्त्रों का नाम दिया है। दोनों में कहीं कहीं अन्तर है। इनमें १० द्वैतमूलक (शैव) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने प्रणवादि दश शिवों को पढ़ाया तथा १८ द्वैताद्वैत प्रधान (रुद्र) तन्त्र हैं जिन्हें परिमशिव ने अघोरादि १८ रुद्रों को पढ़ाया। यही उपदेश 'महौघक्रम' तथा 'प्रतिसंहिताक्रम' से दो प्रकार के हैं। अनेक उपागमों से युक्त होकर इन आगमों की संहिताओं की संख्या २०८ है। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर-ज्ञानरूप वेद केवल मुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञानरूप यही शिवशास्त्र मुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में **'मृगेन्द्र'** तन्त्र नारायण-कण्ठ की वृत्ति और अघोरशिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित हुआ है।

शैवाचार्य

अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शिवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत आचार्य **'सद्योज्योति'** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। सद्योज्योति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—नरेश्वरपरीक्षा, रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तत्त्वसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका। **हरदत्त शिवाचार्य** (११ शतक)—एक विशिष्ट आचार्य थे जिनकी 'श्रुतिसूक्तमाला' या 'चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह' में वेद-वेदान्त का तात्पर्य शिवमहिमा के प्रतिपादन में बतलाया गया है। इसकी 'शिवलिंग भूप' (१५ श०) ने रमणीय टीका लिखी है। श्रीकण्ठ तथा अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। बृहस्पति, शंकरनन्दन, विद्यापति, देवबल द्वैताचार्यों की स्थिति अभिनवगुप्त से पहले थी, क्योंकि तन्त्रालोक में इनका उल्लेख मिलता है। नारायणकण्ठ के पुत्र **रामकण्ठ** (११ श० का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यायें तथा मौलिक ग्रन्थ लिखा है, जिनमें—(१) प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षाटीका), (२) मातङ्गवृत्ति, (३) नादकारिका, (४) मोक्षकारिकावृत्ति, (५) परमोक्षनिरासकारिकावृत्ति प्रकाशित हो गई हैं। रामकण्ठ के अन्तेवासी श्रीकण्ठसूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उत्तुङ्ग-शिवाचार्य के शिष्य **भोजराज** रचित 'तत्त्वप्रकाशिका' एक माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'सूतसंहिता' की टीका में अमात्य माधव ने किया है। रामकण्ठ के शिष्य **अघोरशिवाचार्य** (१२ श० का मध्यकाल) ने तत्त्वप्रकाशिका तथा नादकारिका पर वृत्तियाँ लिख कर इन ग्रन्थों को बोधगम्य बनाया है। सद्योज्योति

के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के नाम से विख्यात हैं। दक्षिण का 'शैवागमसंघ' इन 'सिद्धान्त' ग्रन्थों को नागराक्षर में प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार कर रहा है।

(३) वीर शैवमत

वीर शैवमत के अनुयायियों का नाम लिंगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शंकर की लिंगात्मक मूर्ति को गले में हर समय लटकाये हुये रहते हैं। कर्नाटक देश में वीर शैव धर्म का बहुत प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'बसव' (१२ श०) था, जो कलचुरि नरेश बिज्जल के मन्त्री बतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश किया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं, जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ, मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिवलिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास ऊखी मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा 'ज्ञान' सिंहासन को काशी (जंगमबाड़ी—विश्वाराध्यमहासंस्थान) में स्थापित किया। सिद्धान्त के २८ आगम इन्हें भी मान्य हैं। श्रीपति (१०६० ई०) ब्रह्मसूत्र पर 'श्रीकर' भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है। श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का 'सिद्धान्त-शिखामणि' वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है।

(४) प्रत्यभिज्ञा दर्शन

काश्मीर देश में प्रचलित शैव आगम को प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं। प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द नामकरण का कारण इस तन्त्र के विशेष आध्यात्मिक तत्त्व के कारण है। 'त्रिक' या 'षडर्ध' शास्त्र नाम देने का कारण यह है कि इस दर्शन में पशुपति-पाश तीन तत्त्वों का प्रधानतया वर्णन है, अथवा ९२ आगमों में से **सिद्धा, नामक तथा मालिनी** तन्त्र सबसे अधिक महत्त्वशाली हैं[1]। तन्त्रालोक की टीका में इस दर्शन के आविर्भाव तथा प्रचार का

---

१. तन्त्रालोक भाग १, पृ० ३५, ४९।

इतिहास संक्षेप रूप से उल्लिखित है। भगवान् परम शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिए इस मत का आविर्भाव किया, तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैवशासन के प्रचारार्थ आदेश दिया। **त्र्यम्बक, आमर्दक तथा श्रीनाथ नामक** मानस पुत्रों को उत्पन्न कर दुर्वासा ने क्रम से अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों का उपदेश दिया। अतः त्र्यम्बक द्वारा प्रचारित होने के कारण इसका नाम **त्रैयम्बक** दर्शन है। सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक से १९ वीं पीढ़ी में बतलाते हैं। अतः एक पीढ़ी के लिए २५ साल का समय मानने पर त्रिकदर्शन का आविर्भाव काल पञ्चम शतक में सिद्ध होता है।

इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है और काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है। काश्मीर में प्राचीनकाल में मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, नेत्र आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे जिनको परवर्ती आचार्यों ने इस अद्वैत मत का उपजीव्य माना है। त्रिक के मूल प्रवर्तक **आचार्य वसुगुप्त** (८०० ई० के आसपास) हैं। शिवसूत्रविमर्शिनी के आरम्भ में क्षेम-राज का कथन है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर लिखे गये 'शिवसूत्रों' का उद्धार तथा प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उट्टङ्कित मिले थे उसे आज भी 'शिवपल्' (शिवोपल = शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। ये ही ७७ सूत्र इस दर्शन के मूल आधार हैं। वसुगुप्त ने स्पंदकारिका (५२ कारिका) में शिवसूत्रों के सिद्धान्तों का ही विशदीकरण किया है। वसुगुप्त कृत गीता की वासवी टीका अभी तक अप्रकाशित है।

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने दो प्रकार की दार्शनिक चिंता की धारायें चलाईं। महामाहेश्वराचार्य (२) **कल्लट** (नवम शतक का उत्तरार्द्ध) ने स्पंद सिद्धान्त को अग्रसर किया तथा (३) **सोमानन्द** ने प्रत्यभिज्ञामत का आविर्भाव तथा प्रचार किया। दोनों मतों की दार्शनिक दृष्टि एक ही है, यद्यपि छोटे-मोटे सिद्धान्तों में पार्थक्य है। कल्लट की सबसे श्रेष्ठ कृति स्पंद-कारिका की वृत्ति है, जो 'स्पंदसर्वस्व' के नाम से विख्यात है। सोमानन्द के महत्त्वशाली ग्रन्थों के नाम 'शिवदृष्टि' और परात्रिंशिकाविवृत्ति' हैं। (४) **उत्पलाचार्य** (९०० ई०) सोमानन्द के पुत्र और शिष्य थे। इनकी 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' त्रिक सम्प्रदाय का मनन-शास्त्र है, जिसमें परपक्ष का प्रामाणिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व का मण्डन किया गया है। वृत्ति के साथ इस ग्रन्थरत्न के नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा'

नाम से व्यवहृत किया जाता है। 'सिद्धित्रयी' में अजडप्रमातृ-सिद्धि, ईश्वर-सिद्धि तथा सम्बन्ध-सिद्धि की गणना है। 'शिवस्तोत्रावली' भक्ति-रस से पूरित बड़ा ही सुन्दर स्तोत्र-संग्रह है।

(५) **अभिनवगुप्त**—(९५०—१००० ई०)—उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनव का नाम दर्शन तथा साहित्य संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य-जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्त्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन के इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है। विपुलकाय 'तन्त्रालोक' को मन्त्रशास्त्र का विश्वकोश कहना चाहिए। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्ताचार्य को है। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथसम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे।
(६) **क्षेमराज** (९७५–१०२५)—अभिनव जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। व्यापकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) शिवसूत्र-विमर्शिनी, (२-४) स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान-भैरव तथा नेत्र तन्त्र पर उद्योत टीका, (५) प्रत्यभिज्ञाहृदयः, (६) स्पन्द-सन्दोह, (७) शिवस्तोत्रावली की टीका आदि। इनके अतिरिक्त **उत्पल वैष्णव** की 'स्पन्दप्रदीपिका', भास्कर तथा वरदराज का 'शिवसूत्र वार्त्तिक', रामकण्ठ की 'स्पन्द-कारिका-विवृति', योगराज की 'परमार्थ-सारवृत्ति' तथा जयरथ की विपुलकाय तन्त्रालोक की टीका और गोरक्ष (महेश्वरानन्द) की 'परिमल' सहित 'महार्थमञ्जरी' विख्यात ग्रन्थ हैं।

(५) शाक्त तन्त्र

शाक्ततन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। शाक्त पूजा-पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ होने की ही अधिक सम्भावना है। इसलिए शाक्ततन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है; तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपुल साहित्यिक सम्पत्ति तथा उदात्त सिद्धान्तों का भलीभाँति परिचय मिलता है। आगमों के गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं।

भगवान् शंकर के मुखपञ्चकों से उत्पन्न होने के कारण आगमों के प्रधानतया पाँच 'आम्नाय' होते हैं[1]—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुप्तमुख से उत्पन्न अधःआम्नाय छठाँ आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टि रूप तथा मन्त्र योग है, दक्षिणाम्नाय स्थित-रूप और भक्तियोग है, पश्चिमा-म्नायसंहार रूप तथा कर्म योग है, उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णव में बड़ी प्रशंसा की गई है[2]। यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह आम्नाय समय-मत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है—भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश, विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है; उत्तर पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें विंध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं; तृतीय भाग 'अश्वकान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है, 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त के समस्त प्रदेश की तथा 'महासिद्धिसार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकार के तन्त्र प्रचलित बतलाये जाते हैं।

शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, काञ्ची और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे। कामाख्या तो कौलमत का मुख्य स्थान आज भी है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों के विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्चतत्त्वों का उग्ररूप में प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्यबिन्दु काशी है जिसमें इन तीनों सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषद् भी उपलब्ध हैं। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषदों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं—कौल, त्रिपुरामहोपनिषत्, भावना, बह्वृच, अरुणोपनिषत्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्करराय ने लिखा है तथा त्रिपुरा और भावना का अप्पय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेस्ट ग्रन्थमाला (नं० ११) में प्रकाशित हुए हैं।

---

१. परशुराम कल्पसूत्र १।२।

२. कुलार्णव तन्त्र ३।१६-१७।

शाक्त तन्त्र के आचार्य

श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध हैं। **श्री दत्तात्रेय** ने त्रिपुरातत्त्व के उद्घाटन के लिए अष्टादशसाहस्री 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्बोध होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप ५० खण्डों और ६ हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन सुमेधा ने दशखण्डात्मक 'परशुराम कल्पसूत्र' में किया है। गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। अगस्त्य के 'शक्तिसूत्र' कविराजजी को मिले हैं। उन्होंने इन्हें सरस्वतीभवन स्टडीज (१०म भाग) में प्रकाशित किया है। 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथमसूत्र है। इन निगूढ़ ११३ सूत्रों की एक अल्पक्षरा वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। **दुर्वासा** के सूत्र नहीं मिलते 'शक्तिमहिम्नः स्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में **गौडपाद** 'श्रीविद्या' के बड़े भारी उपासक थे, जिनका 'सुभगोदय' (स्तोत्र) तथा 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' (शंकरारण्य की विस्तृत व्याख्या संवलित) एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गौडपाद के प्रशिष्य **शंकराचार्य** श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे, जिनकी 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'ललितात्रिशतीभाष्य' रहस्यपूर्ण रचनायें हैं। **'सौन्दर्य लहरी'** में कवित्व तथा तान्त्रिकत्व का अनुपम सम्मिलन है। इसकी ३५ टीकायें उपलब्ध हैं, जिनमें कैवल्याश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरसूरि की महत्त्वशालिनी टीकायें अभी तक अप्रकाशित हैं। **लक्ष्मीधर** (१२६८–१३७९ ई०) की प्रकाशित टीका समयमार्ग के रहस्यों को जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। **पुण्यानन्दनाथ** का 'कामकलाविलास' नटनानन्द की 'चिद्वल्ली' व्याख्या के साथ शाक्ततत्त्व का प्रकाशक है। इन्हीं के शिष्य अमृतानन्दनाथ की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वरतन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्तदार्शनिक श्री **भास्करराय** (१८ वें शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्त-सम्प्रदाय के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शक्तिविद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वीरवस्यारहस्य, सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका), गुप्तवती (दुर्गासप्तशती की व्याख्या) तथा कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य **उमानन्दनाथ** ने 'नित्योत्सव' नामक पद्धति ग्रन्थ की रचना १७५५ ई० में तथा प्रशिष्य **रामेश्वरसूरि** ने 'परशुराम कल्प-

सूत्र' की टीका 'सौभाग्यसुधोदय' का निर्माण १८३१ ई० में किया। ये ग्रन्थ बड़ोदा से प्रकाशित हैं। **लक्ष्मण रानडे** की परशुराम-कल्पसूत्र की टीका (सूत्र तत्त्वविमर्शिनी) अभी तक अप्रकाशित ही है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक है। कौलमत के आचार्यों में **पूर्णानन्द** (जगदानन्द, १४४८–१५२६ ई०) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'षट्चक्र-निरूपण' इनके विस्तृत 'श्रीतत्त्व-चिन्तामणि' का एक प्रकरणमात्र है। ये ब्रह्मानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहने वाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामा रहस्य, शक्ति-क्रम, तत्त्वानन्दतरङ्गिणी प्रसिद्ध हैं। कौलाचार्य **सदानन्द** का ईशावास्य उपनिषद् का भाष्य और सर्वानन्द का 'सर्वोल्लास' तन्त्र प्रसिद्ध हैं।

शैवतन्त्र-सिद्धान्त

(क) पाशुपत मत

पाशुपतों के मतानुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुखान्त। **(१) कार्य** उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो। यह तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला और पशु। जीव और जड़ दोनों का अन्तर्भाव कार्य में होता है, क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वर के अधीन हैं। जीवों की गुणरूपा विद्या दो प्रकार की होती है—बोध और अबोध। बोधस्वभावा विद्या का ही नाम चित्त है; पशुत्व की प्राप्ति करने वाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध-रूप है। चेतन के अधीन, स्वयं अचेतन पदार्थ **'कला'** कहलाता है (चेतनपरतन्त्रत्वे सति अचेतना कला)। कार्यरूपा कला में पृथिवी आदि पाँचों भूत तथा उनके गुणों का और कारणरूपा कला में त्रयोदश इन्द्रियों का अन्तर्भाव होता है। पशु का अर्थ है—जीव। कार्यकारणरूपी कला से बद्ध होकर शब्दादि विषयों में सदा परवश होने से जीव **'पशु'** संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शरीरेन्द्रिय से सम्बद्ध जीव 'साञ्जन' तथा शरीरेन्द्रिय-विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है।

(२) कारण—महेश्वर ही जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु 'कारण' पद वाच्य हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है (आप्ति पाति च तान् पशूनित्यतः पतिर्भवति—कौण्डिन्य भाष्य) महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरिमित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति के आश्रय होने से सर्व-शक्तिमान् महेश्वर 'पति' पदवाच्य है। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य, एक तथा कर्ता है। वह अनुग्रहशक्ति

का भी आश्रय है। उसकी इच्छा से जीवों की इष्ट अनिष्ट स्थान-शरीर-विषयेन्द्रियों की प्राप्ति होती है। 'स्वतन्त्रः कर्ता'[३]। शिव में ज्ञानशक्ति के निवास होने से वह परमेश्वर कहलाता है। समस्त जगत् का उत्पादक होने के कारण वह 'कारण' पदवाच्य है। वह क्रीडा के लिए जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव करता है। इसी कारण 'देव' और निरपेक्ष होने से 'सार्वकामिक' कहा जाता है।

(३) **योग**—चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं (पाशुपतसूत्र ५।२)। यह दो प्रकार का होता है—क्रियात्मक, जिसमें जप, ध्यानादि की गणना है तथा क्रियोपरम—क्रिया की निवृत्ति अर्थात् भगवान् में ऐकान्तिकी भक्ति, ज्ञान तथा शरणागति। पातञ्जल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होता है, परन्तु पाशुपतयोग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ-साथ परमैश्वर्य का लाभ है।

(४) **विधि**—महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्य विधि की संज्ञा—'चर्या' है, जो व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की होती है। हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार तथा जप्य भेद से उपहार (नियम) ६ प्रकार का है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय हँसना गाना, नाचना, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज के समान हुड़हुड़ शब्द करना, नमस्कार आदि का अभ्यास करना चाहिए। इसी उपहार के साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप तथा प्रदक्षिणा को पञ्चविध व्रत कहते हैं (पाशुपत सूत्र १।८)। भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए इनका पालन आवश्यक है। द्वार के प्रकार ये हैं:—(१) 'क्राथन'—असुप्त पुरुष का सुप्त पुरुष के समान चिह्न धारण करना, (२) 'स्पन्दन'—वातव्याधि से ग्रस्त पुरुष के समान शरीर के अंगों का कम्पन, (३) 'मन्दन'—लँगड़ाते हुए के समान चलना, (४) 'शृङ्गारण'—रूपयौवनसम्पन्न सुन्दरी का निरीक्षण कर कामीजन के सदृश चेष्टा करना, (५) 'अवितत्करण'—अविवेकी के समान निन्दित कर्मों का करना, (६) 'अवितद्भाषण'—ऊटपटाँग बोलना (पाशुपतसूत्र ३।१२—१७)। अनुस्नान, निर्माल्य धारण आदि को 'गौण' विधि कहते हैं।

(५) **दुःखान्त**—अन्तिम पदार्थ का नाम दुःखान्त—दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति या मोक्ष—है। पशु पाँच प्रकार के दोषों से बन्धन में पड़ा हुआ है। ये दोष 'मल' कहे जाते हैं, जिनके नाम—मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु (विषयाशक्ति के कारणभूत विषयसम्पर्क), च्युति (रुद्रतत्त्व से चित्त का तनिक भी च्युत होना) तथा पशुत्व (अल्पज्ञत्वादि पशुत्वोत्पादक) धर्म हैं[४]। ऊपर

वर्णित योग तथा विधि के अनुष्ठान से मलों का सर्वथा नाश हो जाता है। गण-कारिका में वर्णित मोक्ष लाभ करने के लिए पञ्चविध उपायों में 'प्रपत्ति' अन्तिम उपाय है। भगवान् पशुपति का शरणागत होने पर जब उनके नैसर्गिक प्रसाद का उदय होता है तब जीव इस क्लेशबहुल संसार से सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ करता है।

दुःखान्त दो प्रकार का होता है—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक दुःखान्त केवल दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्तिमात्र है, परन्तु सात्मक में पारमैश्वर्य का लाभ होता है; और दृक्-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का उदय होता है। मुक्तात्मा सूक्ष्म-व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है (दर्शन), उसे अशेष शब्दों का ज्ञान होता है (श्रवण), चिन्तित विषयों की सिद्धि हो जाती है (मनन), समस्त शास्त्रों का ग्रन्थतः तथा अर्थतः परिज्ञान हो जाता है (विज्ञान), सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि होती है (सर्वज्ञत्व)। इस प्रकार **दृक्शक्ति** पञ्चविधा है।

क्रियाशक्ति—तीन प्रकार की है:—(१) मनोजवित्व—किसी कार्य को अत्यन्त शीघ्र करने का सामर्थ्य; (२) कामरूपित्व—कर्मादि के विना ईप्सित रूप का धारण करना, (३) विकरणधर्मित्व—इन्द्रिय की सहायता के विना सब पदार्थों का जानना और करना, अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्य का लाभ। इन पाँचों पदार्थों की विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक है। अन्य दर्शनों में कार्य उत्पत्ति-विनाशशील तथा कारण अन्यसापेक्ष रहता है, परन्तु पाशुपत में पश्वादि कार्य नित्य हैं, कारण निरपेक्ष भगवान् केवल ही है। पातंजल योग का फल कैवल्य का लाभ है, पाशुपतयोग का फल पारमैश्वर्य तथा दुःखान्त का लाभ है। अन्यत्र विधि का फल पुनरावृत्ति-सहित स्वर्ग है, परन्तु पाशुपतविधि का फल पुनरावृत्ति-रहित सामीप्यादि है। इसी प्रकार अन्यत्र मोक्ष दुःखात्यन्तिकी निवृत्ति रूप है, परन्तु पाशुपत में मोक्ष परमैश्वर्यप्राप्तिरूप है।

कापालिक और कालामुख

इन सम्प्रदायों का इस समय नितान्त उच्छेद प्रतीत होता है, परन्तु कभी भारत में इन सम्प्रदायों का बोलबाला था। यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' (पृ० ४८) में इनका संक्षिप्त वर्णन किया है। कापालिकों के मत में निम्नलिखित छः मुद्राओं के धारण करने से ही अपवर्ग की उपलब्धि होती है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म, और यज्ञोपवीत। इनके साथ अनेक गुप्त क्रियाओं का

विधान किया जाता था। कालामुख सम्प्रदाय में कपाल-पात्र-भोजन, शव-भस्म-स्नान, तत्प्राशन, लगुडधारण, सुराकुम्भस्थान—आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता था। गुप्त रखने के कारण धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों की लोकप्रियता जाती रही और अब तो इनके अनुष्ठानों का रहस्य समझना कठिन कार्य है।

(ख) रसेश्वर दर्शन

शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय रसेश्वर दर्शन का अनुयायी है। इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का उपाय दिव्य शरीर का पाना है। जिस शरीर को नाना व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधारण काम करने के लिए असमर्थ बना देती हैं, भला उस शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी हो सकता है? जिस शरीर को ज्वर कभी कष्ट दे रहा है और श्वास-कास का प्रपञ्च जिसे दुःख में डाले हुए है, उस देह से कभी भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिए इस शरीर को दृढ़ बनाने की नितान्त आवश्यकता है। इसका नाम है—पिण्डस्थैर्य (= शरीर की स्थिरता)। जगत् के समग्र पदार्थ—धन, दारा, सुत, भोग आदि—अनित्य हैं। अतः मुक्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है। यह मुक्ति ज्ञान से ही प्राप्य है। यह ज्ञान अभ्यास से होता है और यह तभी सम्भव है, जब स्थिर देह प्राप्त हो[१]।

शरीर को स्थिर बनाने के लिए लौकिक उपाय विद्यमान हैं। पारद (पारा) भस्म के सेवन से यह शरीर स्वाभाविक क्लेशों को दूर हटा कर स्थिर, नित्य तथा दिव्य बनाया जा सकता है। पारा का नाम ही है—पारद। इस नाम की सार्थकता इस बात में है कि वह संसार के दुःखों से मुक्त कर उस पार पहुँचा देता है[२]। पारद की शक्ति बड़ी अलौकिक है। यह भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है। और अभ्रक पार्वती का रज समझा जाता है। इन दोनों के मिलने से जो भस्म तैयार होता है वह प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ है। वैद्यक शास्त्र में रस-भस्म की इतनी उपयोगिता के कारण ही इसका इतना महत्त्व है।

शरीर के भीतर प्राण वायु तथा बाहर पारद—इन दोनों के उचित प्रयोग से नीरोग तथा दिव्य शरीर बनाया जा सकता है। प्राण का नियमन प्राणायाम से होता है और पारद का उपयोग उसका भस्म बना कर करने से है। प्रत्येक साधक को इन दोनों उपायों का उपयोग अपने शरीर को दिव्य बनाने के लिए अवश्य करना चाहिए। पारद की तीन अवस्थायें होती हैं—(१) मूर्छित, (२) मृत और (३) बद्ध। जिस पारद में घनता और चंचलता नहीं होती, वह मूर्छित

कहलाता है। जिसमें आर्द्रता (तेज, चमकीलापन), गौरव (भारीपन) और चपलता विद्यमान नहीं रहती, उसे 'मृत' पारद कहते हैं। इसी प्रकार पारद की एक बद्ध दशा होती है। इन तीनों दशाओं में पारद का उपयोग मानव के परम कल्याण का साधन माना जाता है[७]।

पारद का ही नाम 'रस' है और यही 'रस' ईश्वर है। इस रस को सिद्ध करना होता है स्वेदन, मर्दन आदि अठारह संस्कारों के द्वारा। रससिद्ध कवीश्वरों का शरीर जरा और मरण दोनों विकृतियों से रहित होकर दिव्य बन जाता है। इस अनुभव का समर्थन सर्वत्र शास्त्र में तथा लोक में भी होता है।[८]

पारद का वही सच्चा भस्म होता है जिसे रगड़ने से लोहा भी सुवर्ण बन जाता है। यह बाहरी परीक्षा है। ऐसे ही भस्म से शरीर के भीतरी अनित्य परमाणुओं को बदल कर नित्य बनाया जाता है। असली बात यह है कि विना योगाभ्यास के आत्म-साक्षात्कार नहीं जनमता और यह अभ्यास साधारण शरीर से साध्य नहीं है। इसीलिए पारद-भस्म के प्रयोग करने से दिव्य शरीर बनाना, योगाभ्यास करना तथा आत्मा का दर्शन करना—साधना का क्रमिक विकास है।

'रस' को इस उपयोगिता के कारण ईश्वर कहा जाता है। 'रसेश्वर' दर्शन का यही सिद्धान्त है। इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे पा लेने पर साधक वस्तुतः आनन्द का अधिकारी बनता है[९]।

भारतवर्ष में रसेश्वर दर्शन के अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने 'रसरत्नाकर' लिखकर विमल कीर्ति अर्जन की। उन्हें रस सिद्ध था। इसलिए वे 'सिद्ध नागार्जुन' के नाम से विख्यात हैं। गोविन्द भगवत् पाद ने 'रसहृदय' में इस शास्त्र का हृदय खोल कर रख दिया है। विष्णु स्वामी की 'साकार सिद्धि' तो उपलब्ध नहीं है, पर जान पड़ता है कि वे नरसिंह के दिव्य देह मानने वाले निःसन्देह थे। सायण-माधव ने इस ग्रन्थ को 'रसेश्वर दर्शन' के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत किया है। इस दर्शन का विशाल साहित्य है, जो धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहा है।

(ग) व्याकरण-दर्शन

पाणिनि का व्याकरण शैव आगम के ही अन्तर्गत माना जाता है। यह साधन मार्ग है जिसका अनुसरण करने से साधक इस प्रपञ्च से विमुक्त होकर परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। व्याकरण के दार्शनिक रूप का परिचय हमें पतञ्जलि

के महाभाष्य से चलता है, परन्तु इसका विकसित रूप भर्तृहरि (षष्ठशतक) के 'वाक्यपदीय' में उपलब्ध होता है। नागेश भट्ट (१८ शतक) ने 'लघुमंजूषा' में अन्य मतों का खण्डन कर पाणिनि के सिद्धान्तों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है, परन्तु इस विषय में 'वाक्यपदीय' ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

भर्तृहरि के अनुसार **शब्दाद्वैत** का तात्पर्य यह है कि स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। यह समस्त जगत् इसी स्फोट का एक विवर्तमात्र है। वाक् चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें 'पश्यन्ती' वाक् ही परब्रह्मस्वरूपिणी है। अक्षर, शब्द, ब्रह्म, परावाक् इसी के नामान्तर हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है। पश्यन्ती वाक् चैतन्यरूपा है। वह अखण्ड, अभिन्न तथा अद्वयतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें इसी से देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए इसे कहीं पर 'अक्रमा' और कहीं पर 'प्रतिसंहृतक्रमा' शब्दों से अभिहित किया गया है। यही पश्यन्ती शब्दतत्त्व की विवक्षा से अर्थात् अर्थ के प्रतिपादन करने की वाञ्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करती है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। जिस समय इन्द्रियों के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है उसी समय वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। बाहरी अर्थ की वासना से प्रेरित होकर, अविद्या के प्रभाव से यही घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षु आदि इन्द्रियों की गोचर होती है। इस प्रकार शब्दब्रह्म ही अनादि अविद्यारूपी वासना के कारणभेद को प्राप्त होकर अर्थ के रूप में परिवर्तित होता है, परन्तु वास्तव में वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं; जो कुछ विद्यमान है वह केवल वाचक (अर्थात् शब्द) ही है। ज्ञानमात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परमतत्त्व है[१०]। इस प्रकार व्याकरणसिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवादी ही माने जाते थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

वाक् के त्रिविध प्रकार के वर्णन में भर्तृहरि ने भौतिक की अपेक्षा बौद्धिक स्तर को ही क्रमशः ऊपर उठता हुआ दिखलाया है। **वैखरी** सभी तरह के व्यक्त ध्वनियों की प्रतीक है। व्यक्त वर्ण और अव्यक्त वर्ण, साधु शब्द (संस्कृत) तथा असाधु शब्द (अपभ्रंश) तथा इसी प्रकार अन्य शब्दों का द्योतन वैखरी करती है। **मध्यमा** अंतःसंनिवेशवाली होती है तथा वैखरी की अपेक्षा वह सूक्ष्म

होती है और उसका व्यापार भीतरी होता है। वह सूक्ष्म प्राणशक्ति के द्वारा परिचालित होती है। वक्ता की बुद्धि में शब्द क्रमरूप से प्रतिभासित होते हुए प्रतीत होते हैं। संक्षेप में 'चिन्तन' का कार्य मध्यमा वाक् करती है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द की त्रिविध वृत्तियाँ होती हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। पुनः इन तीनों में शब्द के पाँच औपाधिक भेद होते हैं—उच्च, मंद, उपांशु, परमोपांशु तथा संहृतक्रम। इन पाँचों में उच्च तथा मंद का सम्बन्ध वैखरी से है और उपांशु का सम्बन्ध मध्यमा से है। 'उपांशु' का अर्थ है—मौन भाषण, अर्थात् बोलने की वह दशा जिसमें शब्द भीतर ही भीतरहोते हैं, उन्हें कोई सुन नहीं सकता। 'परमोपांशु' इससे सूक्ष्मतर दशा का संकेत है जब शब्द बुद्धिस्थ होते हैं और उनका उच्चारण कथमपि नहीं होता। उपांशु में प्राणवृत्ति का संचार होता है, परमोपांशु में बुद्धि वृत्ति का मध्यमा में शब्द की विवक्षाजन्य मानसिक क्रिया होती है, अर्थात् वक्ता बोलना चाहता है और बोलने के लिए वह शब्दों को ढूँढ़कर प्रकट करना चाहता है। यही 'मध्यमा' वाक् का क्षेत्र है। वैखरी का सम्बन्ध व्यक्त ध्वनि के साथ है।

पश्यन्ती मध्यमा से भी सूक्ष्मतर होती है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में इसके रूप को प्रकट किया है। **पश्यन्ती** का प्रधान लक्षण है कि वह 'प्रतिसंहृतक्रमा' होती है अर्थात् उस समय वर्णों में किसी प्रकार के क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती। वह चला और अचला दोनों है। वह चला इसलिए कहलाती है कि शब्द की अभिव्यक्ति में गति होती है। अपने विशुद्ध रूप में वह अचला अर्थात् निःस्पंद रहती है। इस प्रकार पश्यन्ती के अनेक भेद होते हैं, परन्तु अपने मूलरूप में वह क्रमरहित, स्वप्रकाश तथा संवित्-रूप है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नागेश आदि नव्य वैयाकरण परावाक् में जो लक्षण उपस्थित मानते हैं वे सब भर्तृहरि की दृष्टि में पश्यन्ती में ही विद्यमान रहते हैं। तथ्य यह है कि भर्तृहरि परा वाक् को मानते ही नहीं, वे पश्यन्ती को ही शब्द-ब्रह्म के रूप में स्वीकृत करते हैं।[११]

व्याकरण की पदार्थमीमांसा न्याय-वैशेषिक के समान ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि की कल्पना दोनों दर्शनों में एक समान ही है। वैयाकरण लोग शक्ति को एक विशिष्ट पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं। इस विषय में ये 'मीमांसा' से सहमत हैं। इस प्रकार व्याकरण का दार्शनिक जगत् में अपना विशिष्ट स्थान है। इसीलिए भर्तृहरि ने इसे सब विद्याओं में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार बतलाया है[१२]।

(घ) वीरशैवसिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त सम्प्रदाय में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत तथा अचिंत्य भेदाभेद आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार से वीर शैव अथवा शक्ति विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय भी शैव मत में अपना विशेष स्थान रखता है। यह भी वेदान्त का एक प्रधान सम्प्रदाय है, जिसके मानने वालों की संख्या कुछ कम नहीं है। इस सम्प्रदाय को शिवाद्वैत, द्वैताद्वैत, वीरशैव, विशेषाद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय का प्रधान नाम वीरशैव या शक्तिविशिष्टाद्वैत ही है। श्री शङ्कराचार्य का अद्वैत मार्ग त्याग-प्रधान है। वह कर्म से उपरत बनाकर ब्रह्मवाद की स्थापना करता है, परन्तु यह शक्तिविशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कर्म-प्रधान है। यह निष्काम कर्म का मार्ग प्रदर्शित करता है, इसीलिए इसे वीरधर्म या वीरमार्ग भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रधान देवता शिव होने के कारण इस मत का वीरशैव नाम पड़ा। शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना[१३]। चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत (सामरस्य) ही शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है। अतः इस नामकरण का कारण स्पष्ट है।

शक्ति

शक्ति का अर्थ होता है—परमशिव, ब्रह्म में अपृथक् सिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' मत में जो 'शक्ति' है, उसके 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' नामक ये दो भेद हैं। इनमें पहली शक्ति से 'पर शिव' का ग्रहण होता है तथा दूसरी से 'जीव' का। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' पद के विग्रह से शक्तिविशिष्ट परमात्मा और जीवात्मओं के ऐक्य का ही बोध होता है। परमात्मा से भिन्न शक्ति और शक्ति से भिन्न परमात्मा नहीं हैं। यह चराचरात्मक जगत् परमात्मा का शक्तिरूप ही है। इस शक्ति से समुत्पन्न ही परमात्मा है। अग्नि और तद्गत दाहजनक शक्तियों की भाँति शक्ति और परमात्मा का सर्वथा अभेद है।

धर्मरूप शक्ति धर्मीरूप शिव से भिन्न नहीं है। शक्तितत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्वपर्यन्त यह सारा संसार शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शिव और शक्ति में अभिन्न सम्बन्ध है। शक्ति परशिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। इस विषय का बोध करते हुए शक्ति के नित्यत्व को उद्घोषित किया गया है[१४]।

वीरशैवसिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) कहा गया है। जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवाय-सम्बन्ध कहते हैं, जैसे सूर्य में प्रभा का और चन्द्र में चन्द्रिका का। इसीलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति से नित्य सम्बन्ध माना गया है। परब्रह्मस्थित विमर्शशक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति कही जाती है। जो परब्रह्मनिष्ठ चिच्छक्ति है, वह सर्वज्ञतारूप है और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, वह सर्व-कर्तृत्वरूप है। इन दोनों शक्तियों की आश्रयरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्ति-रूप कही जाती है। यह चराचरात्मक विमर्शशक्ति सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त रहती है। तमोगुण शक्ति ही जड़ माया कहलाती है। सूर्यकिरण जैसे सूर्य-कान्तमणि का सम्पर्क होते ही अग्निकण का रूप धारण कर रूई में लगकर अग्नि हो जाता है, वैसे ही शिव की विमर्शशक्ति जड़ मायाशक्ति में प्रतिस्फुरण गति से प्रवेश करके सुख, दुःख तथा मोह को पैदा करने वाली त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' कही जाती है। इस प्रकृति को वीरशैवाचार्यों ने 'चित्त' कहा है। यह चित्तशक्तिविशिष्ट शिवप्रकाशरूप शिवांश ही 'जीव' कहलाता है। संक्षेप में वीरशैव मत के अनुसार शक्ति का यही स्वरूप है।

वीरशैवमत के अनुसार यह **जगत्** सत्य है। इन लोगों का कहना है कि शक्तिविशिष्ट परशिव (ब्रह्म) से समुत्पन्न हुआ यह चराचरात्मक सकल जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है। 'तैत्तिरीय श्रुति' भी इसी विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है। श्रीरेणुकाचार्य ने भी अगस्त्य महर्षि को उपदेश देते हुए जगत् की नित्यता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है[५]। उनके कथन का सारांश यह है—जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से भिन्न नहीं है, वैसे ही शिव से उत्पन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है, अर्थात् नित्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ शंकर का अद्वैतवाद 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उपदेश देता है, वहाँ वीरशैवमत ब्रह्म (शिव) के साथ ही साथ जगत् को भी सत्य बतलाता है।

जगत्

सृष्टि

संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं, जिन को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—पहला परिणामवाद और दूसरा विवर्तवाद है। जब भगवान् अपने स्वरूप को जगत् के रूप में निर्माण करता है, उसे विवर्तवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सत्ता

मिथ्या है, क्योंकि वह ब्रह्म से पृथक् अपनी स्थिति नहीं रखता, परन्तु परिणामवाद इससे पृथक् है। जैसे दूध में विकार पैदा हो जाने से उस विकार के परिणामस्वरूप दधि नामक एक अन्य पदार्थ पैदा हो जाता है, जिसकी सत्ता दूध से पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र होती है, वैसे ही परब्रह्म (शिव) की शक्तियों के द्वारा जिस जगत् की सृष्टि होती है, वह सत्य है तथा परिणामजन्य होने के कारण इसे परिणामवाद कहते हैं। वीरशैवमत वाले थोड़े अन्तर के साथ इसी मत को मानते हैं। उनका मत है कि जैसे कछुआ एक समय में अपने पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव अपने में नित्य सम्बन्ध से रहने वाले जगत् का एक समय में विकास करता है और दूसरे समय में संकोच करता है। कछुआ जब अपने पैरों को बाहर निकालता है, तब उन पैरों की उत्पत्ति कहना, फिर जब भीतर छिपाता है, तब उन पैरों को नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यास्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है। अत एव उत्पत्ति और नाश शब्दों की जगह शक्ति-विकास और शक्ति-संकोच कहना अधिक उपयुक्त होगा[१६]।

जीव

वीरशैव मत **जीव** को शिवांश रूप ही मानता है[१७]। इस मत में शिव और जीवों का पारमार्थिक भेदाभेद बतलाया गया है, अर्थात् एक दृष्टि से भेद है तथा दूसरी दृष्टि से अभेद। जैसे अग्नि और उससे उत्पन्न कणों में न अत्यन्त भेद ही है और न अभेद ही, शिव से आविर्भूत शिवांश-रूप जीवों में तथा शिव में आत्यन्तिक न तो भेद है और न अभेद ही। इसीलिए इस मत को **'भेदाभेद'** मत कहते हैं। यदि अंश और अंशी में अभेद मानेंगे, तो अग्नि की भाँति अग्निकणों से भी पाकादि क्रिया की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि आत्यन्तिक भेद मानेंगे, तो वह्नि से भिन्न जलादिकों की तरह वह्निकणों में शीतता होने लगेगी। इसी तरह यदि शिव तथा शिवांश रूप जीवों में अभेद मानेंगे, तो शिव की तरह इन जीवों में भी सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व आदि गुण मानने पड़ेंगे। यदि दोनों में भेद कहते हैं, तो शिव से भिन्न घटपटादि अचेतन वस्तुओं की तरह जीवों में भी सकल वस्तु ज्ञान का अभाव आ जाता है, परन्तु जीवों का घटादि-विषयक ज्ञान प्रसिद्ध है। इसीलिए वीर शैवाचार्यों ने शिव तथा जीव में पारमार्थिक भेदाभेद को स्वीकार किया है। अत एव इसे 'द्वैताद्वैत' मत भी कहते हैं।

शिवतत्त्व

सच्चिदानन्द स्वरूप, सत्य, नित्य आद्यन्तरहित और सर्वशक्ति-समन्वित उस परशिव ब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्वरूप से परिणत होता है। ये तत्त्व छत्तीस प्रकार के होते हैं, जिनमें से मुख्य तत्त्वों के नाम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहंकार आदि हैं। वीर शैव मत के ये छत्तीस तत्त्व सांख्यों के छब्बीस तत्त्वों के प्रायः समान ही हैं। जब परशिव ज्ञानशक्ति से एकाकार होकर 'मैं सर्वज्ञ हूँ' इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे 'शिवतत्त्व' कहते हैं। परशिव जब क्रिया शक्ति में लीन होकर 'मैं सर्वकर्ता हूँ' ऐसे अभिमान से युक्त हो जाता है, तब वह 'शक्ति' कहलाता है। इसी प्रकार परशिव में भिन्न-भिन्न शक्तियों के योग से भिन्न-भिन्न तन्त्रों की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

वीर शैव सिद्धान्त में पर शिव ब्रह्म **'स्थल'** नाम से निर्देश किया गया है[१८]। यह चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म **'स्थल'** नाम से पुकारा जाता है। स्थलरूपी यह परशिव अपनी लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है। इसी तरह लिङ्ग और अंग के भी तीन तीन भेद होते हैं। यद्यपि इन विभिन्न अंग और लिंगों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है, परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अंग-नामक जीव का लिङ्ग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिंगांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्ति विशिष्टाद्वैत मत का सार[१] है।

सारांश—इस मत की दार्शनिक दृष्टि 'भेदाभेद विशिष्टाद्वैत' या 'शक्ति विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारी जाती है। इस शब्द का अर्थ है स्थूल चिदचिद् शक्ति विशिष्ट जीव और सूक्ष्म-चिदचिद् शक्ति विशिष्ट शिव का अद्वैत—एकाकारता या सामरस्य। परम तत्त्व एकमात्र परमशिव है, जो पूर्णाहन्तारूप तथा पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप हैं। उनकी पारिभाषिकी संज्ञा 'स्थल' है[१९]। जब इन्हें उपास्य और उपासकरूप से क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परमशिव में शान्त समुद्र के वक्षःस्थल पर विपुलाकार तरंगों के उठने से पहले क्षुद्र कम्पन के समान लीलार्थ कम्पन उत्पन्न होता है जिससे सामरस्य का विभेद होकर

---

१. इस मत के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—काशीनाथशास्त्री कृत 'शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' (काशी)।

'स्थल' के द्विविधरूप हो जाते हैं:—चैतन्यात्मकरूप का नाम है शिव और तदितर अंश का नाम है जीव। शक्ति परम-शिव में अपृथक् सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण है। न तो शिव शक्ति से भिन्न है और न शक्ति शिव से पृथक् है; दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है। शक्ति दो प्रकार की होती है—सूक्ष्म तथा स्थूल। शक्ति के क्षोभमात्र से स्थल (परम शिव) के ही दो रूप उत्पन्न होते हैं—उपास्यरूप जिनका नाम है—'लिंग' (शिव), तथा उपासक रूप जिसका नाम है—'अंग' (जीव)। परमशिव की द्विरूपता के समान शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं। 'लिङ्ग' की शक्ति का नाम 'कला' है, जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है तथा अंग की शक्ति 'भक्ति' है, जो निवृत्ति को पैदा करती है। कला शक्ति से जगत् परमशिव मूर्त होता है[२०], तथा भक्ति के द्वारा यह जगत् परमशिव के साथ एकीभूत हो जाता है। लिङ्ग (शिव) तीन प्रकार का होता है—भावलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा इष्टलिङ्ग। इसी प्रकार अंग (जीव) भी तीन प्रकार का है—योगांग (कारणरूप-प्राज्ञ), भोगांग (सूक्ष्मरूप-तैजस), त्यागांग (स्थूल शरीररूप-विश्व)। जीव को अपनी स्वाभाविक भक्तिशक्ति से परमशिव के साथ जो एकभावापत्ति है वही **मुक्ति** कहलाती है[२१]। यह संसार तथा जीव शिवरूप ही है, अतः नितान्त सत्य है। शक्ति से इस जगत् का परमशिव से 'परिणाम' होता है।अंग के मलापनयन के लिए आवश्यक साधन 'भक्ति' ही है। परमशिव के अनुग्रह से अंग भक्ति प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा की भक्ति में बड़ी आवश्यकता रहती है। वेधात्मिका, मन्त्रात्मिका तथा क्रियात्मिका रूप से दीक्षा तीन प्रकार की होती है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर ही जीव शिवत्व प्राप्त करता है।[२२]

(ङ) शैव 'सिद्धान्त' मत

शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि भेद-प्रधान है। इसके अनुसार शिव, शक्ति और बिंदु—ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादानरूप से प्रकाशमान होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्धजगत् के कर्ता शिव, करण शक्ति तथा बिन्दु है। पाञ्चरात्र आगम में 'विशुद्ध-सत्त्व' शब्द से जो समझा जाता है वही 'बिन्दु' है। इसी का नाम 'महामाया' है। यही बिन्दु शब्दब्रह्म कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम, इन विचित्र भुवन तथा भोग्यरूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। क्षुब्ध होने पर इस बिन्दु से एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रियभोग और भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा), दूसरी ओर

रत्नत्रय

शब्द का भी उदय होता है[२३]। शब्द सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण भेद से तीन प्रकार का होता है। इनका कारणभूत बिन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है। शिव के साथ इस महामाया का सम्बन्ध विचारणीय विषय है।

शिव की दो शक्तियाँ होती हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। (क) समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है, जिसे शक्तितत्त्व कहते हैं। यह परमशिव में नित्य समवेतभाव से रहती है। शिव-शक्ति का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव की स्वरूपशक्ति है। (ख) परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणामशालिनी है। यही बिन्दु कहलाती है। जिसके शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो रूप होते हैं। शुद्ध बिन्दु का नाम महामाया और अशुद्ध का नाम माया है। दोनों में अन्तर यही है कि माहामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान है। जड़ तथा परिणामशाली बिन्दु का चिदात्मक शिव से समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा शिव को भी अचेतन मानने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा[२४]। जब परमेश्वर अपनी समवायिनी शक्ति से बिन्दु का आघात करते हैं, तब उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और शुद्ध जगत् की सृष्टि होती है। माया के क्षोभ होने से अशुद्ध, प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। शिव की परिभाषिकी संज्ञा 'पति' है।

(क) पति

'शैवसिद्धान्त' के अनुसार तीन पदार्थ होते हैं—पति (शिव), पशु (जीव), पाश (मल कर्म आदि अर्थपञ्चक)। पति से अभिप्राय परमेश्वर परशिव से है। परमैश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व पति के असाधारण गुण हैं। मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में शिवत्व का निवास रहता है, तथापि ये परमेश्वर के परतन्त्र रहते हैं। पशुओं की अपेक्षा उनमें अधिक स्वतन्त्रता रहती अवश्य है, परन्तु परमेश्वर के प्रसाद से ही वे मुक्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं। अतः वे शिव के परतन्त्र हैं। शिव नित्यमुक्त हैं अर्थात् स्वभाव-सिद्धि नित्य निर्मल निरतिशय अर्थज्ञान-क्रियाशक्ति समन्वित हैं। शिव पञ्चमन्त्रतनु हैं। ईशानमन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, घोर उनका हृदय है, वामदेव उनका गुह्य अङ्ग है, सद्योजात उनका पाद है। इस प्रकार पशुओं के पाशक्षेपण के लिए तथा ध्यान योग के हेतु शिव शरीर धारण करते हैं। ईशानादि शक्ति निर्मित यह शरीर 'शाक्त' कहलाता है[२५]।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रहकरण—इन कृत्यपञ्चक के कर्ता साक्षात् शिव हैं[1]। शुद्धाध्व-विषयक इन पञ्चकृत्यों के सम्पादक परमशिव हैं, परन्तु कृच्छाध्व (या अशुद्धाध्व) विषयक इन कृत्यों का विधान अनन्तादि विद्येश्वरों के द्वारा होता है। शिव की दो अवस्थायें होती हैं—**'लयावस्था'** और **'भोगावस्था'**। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर रूपमात्र में अवस्थान करती है, तब शिव शक्तिमान् कहा जाता है और यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए अभिमुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है, वह शिव की भोगावस्था है।

(ख) पशु

अणु, परिच्छिन्नरूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित क्षेत्रज्ञ जीव पशु कहलाता है। वह न तो चार्वाक के समान देह रूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैनियों के समान अव्यापक है, अपितु व्यापक, प्रकाशरूप और अनेक है। वह सांख्य पुरुष के समान अकर्ता नहीं है, क्योंकि पाशों के दूरीकरण के अनन्तर शिवत्व प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। अतः जीव 'सिद्धान्त' मत में कर्ता माना जाता है। पाशों के तारतम्य के कारण पशु तीन प्रकार का होता है—(१) विज्ञानाकाल, (२) प्रलयाकाल और (३) सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा संन्यास से या भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीरबन्ध का उदय नहीं होता, उन्हें 'विज्ञानाकाल' कहते हैं। इनमें केवल मल (आणव) अवशिष्ट रहता है। दूसरे प्रकार के जीव में प्रलय दशा में शरीरपात होने से मायीय मल तो नहीं रहता, परन्तु आणव तथा कार्मण मल की सत्ता बनी रहती है, परन्तु 'सकल' पशुओं में पूर्वोक्त तीनों मल विद्यमान रहते हैं।

विज्ञानाकाल पशु भी समास-कलुष तथा असमास-कलुष भेद से दो प्रकार का होता है। जब इन जीवों का मल पक्व हो जाता है, वह परमशिव अपने अनुग्रह से उन्हें **'विद्येश्वर'** पद प्रदान करते हैं। तन्त्रशास्त्र में विद्येश्वरों की संख्या आठ मानी जाती है—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी। ये भी पञ्चकृत्य के अधिकारी हैं, शुद्धाध्व के अधिष्ठाता

१. भोजराज—तत्व-प्रकाशिका, कारिका ७।

तथा ईश्वर-तत्त्व के निवासी हैं। आपक्व मल वाले विज्ञानाकाल जीवों को शिव दया से 'मन्त्र' का स्वरूप प्रदान करते हैं, जो संख्या में सात कोटि हैं और विद्या-तत्त्व के निवासी हैं।

प्रलयाकाल जीव भी पक्वमल तथा अपक्वमल भेद से दो प्रकार के होते हैं। ये जीव प्रलयकाल में माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में मायीय तथा कार्मण मलों के नितान्त पक्व होनेवाले जीवों को तो शिव मुक्ति प्रदान करते हैं परन्तु, अपक्वमल वाले जीव पुर्यष्टक से युक्त होकर इस संसार की नाना योनियों में कर्मानुसार भ्रमण किया करते हैं। 'पुर्यष्टक' प्रतिपुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं, जो पृथिवी से आरम्भ कर कला पर्यन्त तीस तत्त्वों का होता है और सृष्टि से लेकर कल्प या मोक्ष तक बना रहता है। **'सकल'** पशुओं के भी ये ही दो भेद होते हैं। पक्वमल वाले इन पशुओं को भगवान् शंकर अपने 'शक्तिपात' से मन्त्रेश्वर-पद प्रदान करते हैं, जो संख्या में एक सौ अठारह होते हैं। अपक्वमल वाले पशु अपने कर्मानुसार इस संसार में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के विषयों का उपभोग किया करते हैं।

(ग) पाश

पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होने पर भी जीवों को पशुत्वप्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के हैं:—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोधशक्ति। जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान क्रिया-शक्ति का तिरोभाव हो जाने से वह परिच्छिन्न बन जाता है उसका नाम है—**मल** (या आणव मल = अणुता या परिच्छिन्नता)। मल की उपमा तण्डुल के तुष (छिलका) और ताम्रस्थित कालिमा से दी जाती है। तुष धान के अंकुरित होने का कारण होता है, उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु है। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रसशक्ति से निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह मल शिवशक्ति से निवृत्त होता है[२६]।

फलार्थी जीवों से किये गये, धर्माधर्मरूप, बीजांकुर न्याय से अनादि कार्य-कलाप को 'कर्म' कहते हैं। जिसमें प्रलयकाल में जीव लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिससे जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा है 'माया'। माया शब्द मा और या दो शब्दों से बना है—'मा' का अर्थ है प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टि में व्यक्त होने वाला पदार्थ। अतः जगत् की मूल प्रकृति का नाम माया है। माया तन्त्र में वस्तुरूपा है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीयरूपा नहीं। माया एक और नित्य है। जिस प्रकार बिन्दु

(महामाया) शुद्ध सृष्टि (शुद्धाध्वा) का उपादान कारण है, उसी प्रकार यह माया अशुद्ध सृष्टि का मूलकारण है। यही दोनों में अन्तर है[२७]। चतुर्थ पाश का नाम रोध शक्ति है। परमेश्वर की यह वह शक्ति है जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है। इसलिए इसमें पाशत्व औपचारिक है।

साधन-मार्ग

मुक्ति तथा मुक्ति-साधन की कल्पना तान्त्रिक मत में अन्य मतों से विलक्षण है। यह तो निश्चित है कि अनादि काल से प्रवृत्त मलावरणों से संयुक्त होने के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशों का भाजन है। इस मल के आवरण को दूर करने का क्या उपाय है? तन्त्रों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह न तो ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, अपितु 'क्रिया' के द्वारा ही सर्वदा के लिए हटाया जा सकता है। मल का पाक धीरे-धीरे होता है और जब तक मल पूरे रूप से पक्व नहीं हो जाता, तब तक उसका अपसारण नहीं हो सकता है। मल एक सत्तात्मक द्रव्य है। जिस प्रकार नेत्र में जाली पड़ जाने पर उसे शल्य-क्रिया के द्वारा आपरेशन कर हटाया जाता है, ठीक वही दशा मल की भी है। परिपक्वता दोनों में अपेक्षित है। जीव में स्वतः कोई भी सामर्थ्य नहीं है जिससे यह मल हटाया जाय। ज्ञान, तप, आदि तीव्रतर उपाय भी असमर्थ हैं, क्योंकि सुतीक्ष्ण भी असिधारा अपने को काट नहीं सकती[२८]।

मलापयन का एक ही साधन है—परमशिव की अनुग्रह शक्ति। इसे तान्त्रिक भाषा में '**शक्तिपात**' कहते हैं। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से निर्मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह शक्ति का नाम 'दीक्षा' है[२९]। आचार्यमूर्ति भगवान् ही इस दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करते हैं और उसे भवबन्धन से उन्मुक्त कर स्वरूपापत्ति करा देते हैं[३०]। 'दीक्षा' का तत्त्व तथा प्रकार, बड़े विस्तार के साथ आगम-ग्रन्थों में दिया गया है। दीक्षातत्त्व तन्त्र का एक नितान्त निगूढ़ रहस्य है। त्रिक दर्शन में भी इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए दीक्षा की आवश्यकता बनी रहती है[३१]।

तान्त्रिकी **मुक्ति** की कल्पना के प्रसङ्ग में याद रखना चाहिए कि तन्त्रों के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अभिन्न रूप हैं। क्रिया के साथ ही ज्ञान-चैतन्य का उदय करता है। अतः जीव में कैवल्य-ज्ञान के उदय होने ही से मुक्ति नहीं होती, जब तक क्रियाशक्ति का उदय न हो जाय। अभिन्न रूप होने से विशुद्ध ज्ञान के होते ही क्रियाशक्ति स्वतः आविर्भूत हो जाती है। तान्त्रिकों की

दृष्टि में कैवल्यज्ञान मोक्षप्रद नहीं है; क्योंकि न तो इससे मुक्त पुरुष में ऐश्वर्य का संचार होता है, न क्रियाशक्ति का। बद्धजीव दीक्षा के द्वारा शिवत्व लाभ कर लेता है, अर्थात् उसमें सर्वविषया दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति की नैसर्गिकी उत्पत्ति हो जाती है[३२]।

देहादिकों में आत्माभिमान-लक्षण मोह ही पूर्ण स्वरूप में संकोच उत्पन्न कर देने से 'ग्रन्थि' रूप है। इस ग्रन्थि के विदारण करने से जीव की अपनी स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव होना ही मोक्ष है। अज्ञानबन्धन के प्रक्षीण होने पर भी यदि जीव शरीर धारण करता है तथापि वह (जीवन) मुक्त ही है[३३]। शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद की ही है। अतः साधना का जो प्रकार वर्णित है वह भी द्वैतवाद को ही दृष्टि में रखकर किया गया है।

(ङ) प्रत्यभिज्ञा दर्शन

त्रिक दर्शन तथा शाक्त दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है। दोनों के मत में एक ही अद्वैत परमेश्वर परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का, सामरस्य-रूप है। यह आत्मा चैतन्यरूप है तथा स्वयं निर्विकाररूप से जगत् के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत है। इसी का नाम चैतन्य, परा संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर तथा परमशिव है। परमेश्वर के दो भाव हैं—'विश्वात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण'। विश्वात्मकरूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक रहता है, परन्तु व्यापक होते हुए भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों को अतिक्रमण करता है। यह नानाविचित्रता-संवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न है तथा उसका स्फुरणमात्र है[३४]। परम शिव ही इस विश्व का उन्मीलन स्वयं करते हैं। इसमें न तो किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की। परमस्वातन्त्र्य-शक्तिसम्पन्न परमेश्वर स्वेच्छया स्वभित्ति में, अपने ही आधार में, जगत् का उन्मीलन करते हैं[३५]। जगत् पहले भी विद्यमान था, केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है। आचार्य वसुगुप्त का भगवान् शङ्कर को विलक्षण कलाकार कहना नितान्त यथार्थ है।

परमतत्त्व

चित्रकार जब कोई चित्र बनाता है तब उसे दो वस्तुओं की आवश्यकता बनी रहती है। आधार तथा सामग्री उसे हमेशा आवश्यक होती है। किसी पदार्थ के ऊपर ही चित्र बनाया जाता है (आधार) तथा उसे बनाने में रंग आदि चीजों की सहायता होती है (सामग्री), परन्तु जगत्-रूपी चित्र बनाने

वाले कलाकार शङ्कर की लीला विचित्र होती है। जगत्-चित्र के लिए न तो कोई आधार है, और न कोई सामग्री। बिना इनकी सहायता से वे स्वयं अपनी इच्छा-शक्ति से अपने आप में ही इस जगत् का आविर्भाव करते हैं। इसीलिए वे अन्य भौतिक कलाकारों से नितान्त विलक्षण होने के हेतु 'कलानाथ' या 'कलाश्लाघ्य' विशेषण से संकेतित किये जाते हैं[३६]।

परमेश्वर के अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी उसकी पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से विख्यात हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। चित्-शक्ति प्रकाश-रूपा है, जिसके द्वारा परमशिव प्रकाश्य वस्तु के अभाव में भी स्वतः प्रकाशित होते हैं। वह शक्ति जिसके द्वारा परमेश्वर निरतिशय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किये, स्वयं अनुभव करता है। स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है[३७]। अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविघात इच्छा-सम्पन्न समझना 'इच्छा शक्ति' है। ज्ञान शक्ति आमर्षरूपा है। आमर्ष का अर्थ है—वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान[३८]। सर्व आकार धारण करने की योग्यता का नाम 'क्रिया शक्ति' है[३९]। इन्हीं पञ्चशक्तियों के द्वारा परम शिव अपने को, स्वभित्ति पर जगत् रूप से परिणत करते हैं।

ईश्वराद्वयवाद

त्रिकदर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इसका नाम 'ईश्वराद्वयवाद' है। एक परमेश्वर ही केवलमात्र तत्त्व है। अज्ञान माया या जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्य-मूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है। नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। वह स्वतन्त्र है, अपने रूप को ढकने में समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है, अज्ञान उसकी स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भणमात्र है। अद्वैतवादी होने पर भी ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वय-वाद में अन्तर है। जहाँ ब्रह्मवाद में विश्वोत्तीर्ण, सत्य, निर्मल, निर्विकार ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है, वहाँ ईश्वराद्वयवाद में परमेश्वर में स्वातन्त्रशक्ति-सम्पन्नता अत एव कर्तृता है। आत्मा सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलयन—इन पञ्चकृत्यों का सम्पादक है, परन्तु शङ्कर मत में ब्रह्म इस प्रकार का स्वभाव वाला नहीं है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में पर्याप्त सिद्धान्तगत पार्थक्य है।

परमेश्वर तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार है? अभिनवगुप्त का कहना है—दर्पणबिम्बवत्। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्षादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण में तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं; इसी प्रकार पूर्ण संवित्-रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह विश्व अभिन्न

होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न अवभासित होता है। एक बात ध्यान देनेयोग्य है। लोक में प्रतिबिम्बित की सत्ता बिम्ब पर अवलम्बित है, परन्तु त्रिकदर्शन में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण, विना बिम्ब के ही, जगद्रूप का प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है। अतः द्वैतभावना कल्पित है, अद्वैतभावना वास्तविक है। इस आभास या प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त को मानने के कारण त्रिकदर्शन की दार्शनिक दृष्टि **'आभासवाद'** के नाम से पुकारी जाती है[४०]।

यह विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है, अतः कथमपि असत्य नहीं हो सकता। परिणामवाद में वस्तु का स्वरूप तिरोहित होकर अन्य आकार ग्रहण करता है। प्रकाशतनु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो यह जगत् ही अन्धा हो जायगा। अतः न तो विवर्तवाद हृदयंगम प्रतीत होता है, न परिणामवाद, प्रत्युत **स्वातन्त्र्यवाद** या आभासवाद ही बुद्धिगम्य होने से प्रामाणिक है।[४१]

छत्तीस तत्त्व

तन्त्र शास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है। स्वकीय कार्य में धर्मसमुदाय में या स्वसमान गुणवाले वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते हैं[४२]। शाक्त तथा शैव उभय आगमों में तत्त्वों की संख्या समान ही है। इन्हें तीन भागों में विभक्त करते हैं—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व = (१) शिवतत्त्व और (२) शक्ति तत्त्व। विद्या तत्त्व में तीन तत्त्व गृहीत हैं—(३) सदाशिव, (४) ईश्वर और (५) शुद्ध विद्या। आत्मतत्त्व में ३१ तत्त्व अन्तर्भूत हैं—६ माया, ७ कला, ८ विद्या, ९ राग, १० काल, ११ नियति, १२ पुरुष, १३ प्रकृति, १४ बुद्धि, १५ अहंकार, १६ मन, १७–२१ श्रोत्र, त्वक् चक्षुः, जिह्वा, घ्राण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय) २२–२६ वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पञ्च कर्मेन्द्रिय), २७–३१ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (पञ्चविषय), ३२–३६ आकाश, वायु, वह्नि सलिल, भूमि (पञ्चभूत)।

परमेश्वर के हृदय में विश्व सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते हैं—शिव-रूप तथा शक्ति रूप। शिव प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्शरूपिणी है। 'विमर्श' का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टि काल में विश्वाकार स्थिति में विश्व-प्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है[४३]। इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि अनेक संज्ञायें हैं। प्रमा के दो रूप होते हैं—अहमंश तथा इदमंश। अहमंश ग्राहक शिव है तथा इदमंश ग्राह्य शक्ति है। विमर्श के द्वारा प्रकाश

का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना न्याय्य है। जिस प्रकार दर्पण के विना मुख के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार विमर्श के विना प्रकाश का स्वरूप सम्पन्न नहीं होता। शिव चिद्रूप हैं, परन्तु अचेतन हैं। मधु में मिठास है, परन्तु वह स्वयं अपने मिठास का स्वाद नहीं ले सकता। शराब में मादकता है, परन्तु उसे उसका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार विना शक्ति के शिव को अपने प्रकाशरूप का ज्ञान नहीं होता। शिव में चेतनता का ज्ञान शक्ति के कारण होता है, शक्ति के विना शिव शव (मृतक) है[४४]।

पुण्यानन्द ने 'कामकलाविलास' में आद्या शक्ति को 'शिव रूप-विमर्श निर्मलादर्श' कह कर उसके स्वरूप का सुन्दर परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण अहन्ता और प्रकाशमय स्वरूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है, अथ च विमर्श प्रकाशात्मक है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित रहती है। अतः शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। शिव शक्ति के सामञ्जस्य के विषय में आगम का स्पष्ट कथन है[४५]।

शिव तथा शक्ति की अभेद कल्पना यहाँ मान्य है। इन दोनों का अभेद उसी भाँति बनता है जिस भाँति चन्द्रमा तथा चन्द्रिका का नित्य योग। चन्द्रमा न तो अपनी चाँदनी को छोड़ कर एक क्षण टिक सकता है और न चाँदनी चन्द्रमा के विना रह सकती है। दोनों अद्वैत रूप में सदा एक संग रहते हैं। शिव तथा शक्ति का भी यह नियम है। तन्त्रों का यह सिद्धान्त सोमानन्द को अक्षरशः पूर्णतया मान्य है। आचार्य सोमानन्द का कथन है कि शक्ति से सम्पन्न शिव ही अपनी इच्छा से पदार्थों का निर्माण करता है। शक्ति तथा शिव में भेद की कल्पना कथमपि नहीं की जा सकती[४६]। विमर्श के ही दूसरे नाम स्फुरत्ता, स्पन्द, महासत्ता, परा वाक् आदि हैं।

इसी शिवशक्ति के आन्तर निमेष को (३) **सदाशिव** तथा बाह्य उन्मेष को (४) **ईश्वर** कहते हैं[४७]। सदाशिव अचलरूप परमेश्वर में किञ्चित् चलनात्मकरूप स्फुरण होता है। प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर विद्यमान रहता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है[४८]।

विकासोन्मुख ज्ञान की तीसरी अवस्था को (४) ईश्वरतत्त्व कहते हैं, जो सदाशिव का बाह्यरूप है। यहाँ 'अहं' इदं (जगत्) का स्पष्ट, किन्तु एक आत्मा के अंशरूप में आत्मा के अभिन्नरूप में, अनुभव करता है। पिछले

विमर्श में 'अहं' की प्रधानता थी; इस विमर्श में 'इदं' की प्रधानता रहती है। पञ्चमतत्त्व को (५) विद्या, सद्विद्या या शुद्ध विद्या कहते हैं। ज्ञान की इस दशा में 'अहं' तथा 'इदं' का पूर्ण सामानाधिकरण्य रहता है, अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती है[४९]। इस दशा में शिव समस्त जगत् को अपना विभव समझने लगता है। सारांश यह है कि परा संवित् का शिव-शक्त्यात्मकरूप सर्गात्मक होता है। शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमिदं' विमर्श होता है। इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथमपद की प्रधानता रहती है। 'सद्विद्या' में 'अहं' और 'इदं' दोनों की समभावेन प्रधानता रहती है।

अब (६) माया शक्ति का कार्य आरम्भ होता है, जो 'अहं' और 'इदं' को पृथक् पृथक् कर देती है[५०]। अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति, परन्तु शिव को पुरुषरूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों—कला, विद्या, राग, काल, नियति—की सृष्टि करती है, जिनका पारिभाषिक नाम **'कञ्चुक'** (शक्ति को परिच्छिन्न बनाने वाला आवरण) है। जीव के सर्वकर्तृत्वशक्ति को संकुचित करने वाला तत्त्व **'कला'** है जिसके कारण जीव किञ्चित्-कर्तृत्व शक्तियुक्त बन जाता है। 'सर्वज्ञता' का संकोच करने वाला तत्त्व **'विद्या'** कहलाता है, जिसके कारण जीव किञ्चिज्ज्ञ होता है। नित्यतृप्तित्व गुण के संकोच का कर्ता **'राग'** तत्त्व कहलाता है जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है। नित्यत्व को संकुचित करनेवाला तत्त्व **'काल'** है, जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। जीव की स्वातन्त्र्यशक्ति को तिरस्कार करनेवाला तत्त्व **'नियति'** (नियमन हेतु) कहलाता है, जिसके कारण वह नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। इन्हीं पाँचों कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप का आवरण करने के कारण **'कञ्चुक'** कहते हैं। इस मायाजनित कञ्चुकों के द्वारा आवृतशक्ति जीव **'पुरुष'** पदवाच्य है। त्रिगुणमय महत्-तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यंत तत्त्वों का मूलकारण **'प्रकृति'** है। प्रकृति से महदादि पृथ्वीपर्यंत तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं। षड्त्रिंशत् तत्त्वों का यही सामान्य परिचय है।

साधन मार्ग

त्रिकदर्शन का **साधनमार्ग** अपनी विशिष्टता धारण किये हुए है। यह न तो शुष्क ज्ञान का ही पक्षपाती है, और न शुष्क भक्ति का। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में चरमावस्था में भक्ति

का स्थान नहीं है। भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, परन्तु यह साधनरूपा अज्ञान-मूलक भक्ति है। अद्वैत ज्ञान के उदय होने पर जिस साध्यरूपा भक्ति का आविर्भाव होता है वह वस्तुतः नित्य है। साधारणतया जिसे मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान भक्ति का ही आवरणभंगजनित समुन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्दलाभ' कहते हैं। इस प्रसङ्ग में 'प्रत्यभिज्ञा' की कल्पना को भलीभाँति समझ लेना चाहिये, जिसके कारण यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है—ज्ञात वस्तु को फिर से जानना या पहचानना। प्रत्यभिज्ञा की उपयोगिता दिखलाते समय उत्पलाचार्य ने कामिनी का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिखलाया है। जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख या दूतीप्रेरणा आदि अनेक उपायों के द्वारा आये हुए और समीप में खड़े होने वाले मनोवाञ्छित प्रियतम को पाकर भी आनन्दित नहीं होती है, परन्तु दूती के वचन से या उसके लक्षणों के अभिज्ञान से प्रियतम को पहचान कर पूर्णता प्राप्त करती है और अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायों के द्वारा आत्मचैतन्य के स्फुरण होने पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान से वह उन्हें पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञ' वास्तव **मोक्ष**—शिवत्वलाभ—में प्रधान साधन[१] है।

ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद

आचार्य शंकर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा अभिनवगुप्त आदि के द्वारा व्याख्यात ईश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त में माया की जो मीमांसा की गई है, उससे प्रत्यभिज्ञा को सन्तोष नहीं होता। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है? इसका कोई उत्तर नहीं। इस अज्ञान का प्रथम अविर्भाव ही क्यों कर होता है, जिसके वश में होकर ब्रह्म जीव रूप में आविर्भूत होता है, अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है? इस प्रश्न का ठीक उत्तर वेदान्त नहीं देता, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन देता है। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है और माया है, किन्तु इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है; वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अपनी इच्छ से परिगृहीत, रूप है। जिस प्रकार नट जान बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, ठीक उसी तरह परमेश्वर भी अपनी इच्छा से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है—अपने स्वरूप को ढकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है, परन्तु जब वह अपने रूप को ढक लेता है, तब भी उसका आवरणहीन रूप उसी प्रकार अच्युत रूप से

विद्यमान रहता है—ठीक सूर्य के समान। सूर्य अपने ही द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढक लेता है, और ढकने के समय भी वह अनाच्छादित ही रहता है, अन्यथा मेघों को प्रकाशित कौन करता ? ठीक यही दशा परमेश्वर की भी है। अज्ञान या **माया** उनके स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण भगवान् की लीला ही मुख्य कारण है। ईश्वरवादी कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्यरूप तथा कर्तृत्वरूप है; ब्रह्मवादी कहते हैं—वह शुद्ध साक्षी है, अर्थात् अधिष्ठान चैतन्यात्मक है। यही दोनों का अन्तर है। शांकर-वेदान्त में **आत्मा** विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टिस्थिति-लय का कारण, भाव-अभाव-विहीन है, उसमें कर्तृत्व नहीं है, परन्तु आगमानुसारी अद्वैतवाद में यह कभी नहीं है; ज्ञान और क्रिया उसके लिए एक-समान है, उसकी क्रिया ही ज्ञान है, कर्तृत्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस प्रकार इच्छा आदि शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर स्वातन्त्र्यमय है।[५२]

आत्मा—आगम-सम्मत आत्मा सदा पञ्चकृत्यकारी है। इन पञ्चकृत्यों के नाम हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय, परन्तु शांकर मत में आत्मा का यही स्वभाव नहीं है। इस तरह ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उतना नहीं है, जितना आगमों में। अतः वह सत्य होते हुए असत्कल्प है। अद्वैतवाद मानने पर कुछ द्वैताभास सा बना हुआ है; आगम की मीमांसा पर विचार करने से यही प्रतीत होता है।

इस अद्वयवाद की यह महती विशेषता है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है, न ज्ञानविहीन भक्तिमार्ग है; प्रत्युत यहाँ ज्ञान और भक्ति का मंजुल सामञ्जस्य है।

ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य

शांकर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है। अतः ज्ञान के उदय होने पर उसकी स्थिति नहीं होती है। यह मत ठीक है, क्योंकि यह भक्ति साधनरूपा अज्ञानमूलक होती है, परन्तु जो अद्वैत भक्तिरूप पदार्थ है, वह नित्य सिद्ध है। उसकी सत्ता का पता शास्त्र के वचन तथा महात्माओं के अनुभव से चलता है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः नित्य सिद्ध ज्ञानभक्ति का ही आवरण-भंग से उत्पन्न, उन्मेष-मात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्द-लाभ' कहते हैं। अद्वैत ज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है वह निर्व्याज अहैतुकी भक्ति वास्तविक भक्ति है[५३]।

ज्ञान होने के पहले द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। सामरस्य हो जाने पर वह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पती मिलन के समान होता है। लौकिक जगत् में स्त्री पुरुष का संयोग उस अलौकिक दशा का यत् किञ्चित परिचायक होता है। यही **'सामरस्य'** तन्त्र का सर्वस्व है। अद्वैत वेदान्त में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मा के स्वरूपभेद होने के कारण ही यह साधन-भेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में त्रिक-दर्शन की विशिष्टता नितान्त स्पष्ट है।

(च) त्रिपुरा—सिद्धान्त

त्रिक-दर्शन तथा शाक्त-दर्शन दार्शनिक दृष्टि में समभावेन पूर्ण अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। पूर्व वर्णित छत्तीस तत्त्व दोनों को माननीय हैं। इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है, जो विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से पृथक् है। अतः वह एक साथ विश्वात्मक भी है तथा विश्वोत्तीर्ण भी है। सदाशिव से लेकर क्षिति पर्यन्त चौंतीस तत्त्व **'विश्व'** कहलाता है। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिव-तत्त्व में शक्ति-भाव गौण और शिव-भाव प्रधान है; शक्ति-तत्त्व में शिव-भाव गौण और शक्ति-भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है और न शक्ति की; प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। वही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग 'परमशिव' के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्त लोग उसे 'पराशक्ति' के नाम से अभिहित करते हैं[५४]।

शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं; प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के नाम से अभिहित हैं, वे ही त्रिपुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य रूप को त्रिपुरा मत में **'सुन्दरी'** या **'त्रिपुरासुन्दरी'** कहते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्यरूपा, समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्री ललिताम्बिका हैं। ये ही 'सर्ववेदान्त-तात्पर्य-भूमि' हैं। इस प्रकार निरतिशय-सौंदर्य-मूर्ति को मातृरूप से कल्पना

करना साधनाराज्य का एक निगूढ़ तत्त्व है। शंकराचार्य ने इसी ललितामूर्ति के सौन्दर्य का कवित्वमय चमत्कारिक वर्णन अपने 'सौन्दर्यलहरी' में किया है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिये सामूहिक रूप से इन्हें 'नित्याषोडशिका' कहते हैं। परन्तु पहली से पन्द्रह तक की कलाओं का उदय अस्त होता रहता है, किन्तु **षोडशी कला** सर्वदा नित्य है। इसी का नाम 'अमृता' कला है। वैयाकरण लोग इसी को 'पश्यन्ती' वाणी कहते हैं। महाकवि भवभूति ने उत्तर-रामचरित की नान्दी में इसी वाग्देवता रूपिणी अमृताकला के लाभ के लिए प्रार्थना की है[55]। यही षोडशी महात्रिपुरसुन्दरी ललिता है, यही सौन्दर्य और आनन्द की परम धाम है। इसी 'ललिता' की अद्वैतभावना से उपासना करना 'श्रीविद्या' के उपासकों का प्रधान लक्ष्य है। साधकों के निकट यह सुन्दरी ललिता सदा षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय वैष्णव मत में निखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के सन्तत कुमार अर्थात् षोडशवर्षीय होने का भी यही रहस्य है। **'ललिता'** ही पुंरूप-धारण करने पर श्रीकृष्णरूप से प्रकट होती हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परमशिव, त्रिपुरामत की षोडशी तथा वैष्णव मत में श्रीकृष्ण—एक ही आनन्दनिकेतन सच्चिदानन्दविग्रह परतत्त्व के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। साधन-साम्राज्य का यही मञ्जुल सामञ्जस्य है।

साधना-जगत् में प्रवेश करने के लिए तन्त्रों के रहस्यों को जानना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु इस माया-लोक के ऊपर महामाया के साम्राज्य का तात्त्विक विवेचन तन्त्रों में किया गया है। वहाँ बैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों और जीवों की सत्ता है, जिसका रहस्य-ज्ञान साधन पन्थ के लिए एक उपादेय पाथेय है। तन्त्रों में शक्ति के जडत्व को दूर कर उसकी वास्तविक चित्स्वरूपता को प्रकट किया गया है। शाक्त तन्त्रों में पूर्ण अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोरम समन्वय उपस्थित करना साधना-जगत् के लिए एक विशिष्ट घटना है। तान्त्रिक साधना के अन्तिम फल का वर्णन कुलार्णव तन्त्र में सुन्दर शब्दों में दिया गया है—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

———

षोडश परिच्छेद

उपसंहार

१

भारतीय दर्शनों में समन्वय

भारतीय तत्त्वज्ञान के उदय और अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। दार्शनिक सम्प्रदायों के विवेचन प्रस्तुत करने में उनके विशिष्ट अंशों पर ध्यान देना स्वाभाविक है। अतः इस विवरण में प्रत्येक दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त पृथक् रूप से दिखलाये गये हैं। जिनके अनुशीलन करने से पाठकों के हृदय में इनके पारस्परिक विरोध की बात अवश्यमेव उठती है, परन्तु यह विरोध आपाततः ही दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विरोध का परिहार दो प्रकार से किया जाता है। एक प्रकार दृष्टिभेद के कारण यह भेद है। दूसरे प्रकार से इनमें क्रमशः सिद्धान्तगत विकाश है। नैयायिक दृष्टिकोण से जितने तत्त्वों की सम्भावना हो सकती है, उतने तत्त्वों का परिनिष्ठित विवेचन न्याय-वैशेषिक में किया गया है। इस दशा में अधिक तत्त्वों को मानने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यदि कई खण्ड वाले मकान के प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र हों, तो प्रथम खण्ड में रहने वाले व्यक्ति न तो ऊपर वाले खण्ड की बात जान सकते हैं, न जानने की उन्हें जरूरत ही है, यही दशा न्याय-वैशेषिक की भी है। यह दार्शनिक विकाश की जिस सीढ़ी पर खड़ा है, वहाँ वह स्वयं पूर्ण है। उसका विवेचन नितान्त सत्य है। यही दशा सांख्ययोग तथा वेदान्त की है, जो अपनी दृष्टि में पूर्ण हैं। विरोध परिहार का दूसरा प्रकार यह है कि इन दर्शनों में क्रमिक विकास मानना। भारतीय दर्शन सोपान-परम्परा के अनुरूप क्रमशः विकसित हुए हैं। अतः न्याय-वैशेषिक से अधिक विकास सांख्य-योग में है और सांख्य योग से अधिक अद्वैत वेदान्त में। अद्वैत तत्त्व ही भारतीय तात्त्विक चिन्तनों का पर्यवसान प्रतीत होता है।

प्रथमतः शास्त्र के उद्देश्य पर ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य लोकसिद्ध अर्थ के व्युत्पादन में नहीं है, क्योंकि जो वस्तु सर्वजनों में प्रसिद्ध है,

उसे सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय युक्तियों के व्यूह-रचना करने से क्या लाभ? लौकिक व्यवहारों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भेद लोक-सिद्ध है। मैं-तुम, मेरा-तेरा आदि भेद को लेकर ही जगत् का समग्र व्यापार चलता है। अतः लोकसुलभ भेद का निराकरण कर अभेद का प्रतिपादन ही शास्त्र का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि शास्त्रों में लोकसिद्ध वस्तुओं या सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है तो यह अनुवादमात्र है, विधेय कथमपि नहीं है[1]। यदि अभेद का व्युत्पादन शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, तो भेद-प्रतिपादक न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों की संगति क्यों कर सिद्ध होगी? इसके उत्तर में शास्त्र का स्पष्ट कथन है[2] कि अधिकारिभेद से शास्त्रों की भेदकल्पना है। वस्तुतः समस्त दर्शनों का लक्ष्य एक ही अद्वैत तत्त्व के विवेचन में है।

दर्शनों का विकास

षड्दर्शनों के सिद्धान्तों का विकास सोपानपरम्परा न्याय के अनुरूप है। एक सीढ़ीपर खड़ा कर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है, उससे कहीं अधिक भूभाग उसके आगे की सीढ़ियों पर चढ़ने में दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विकास की भी ठीक यही व्यवस्था है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि से जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्ययोग कीदृष्टि में आते हैं और वेदान्त दृष्टि में उससे भी कहीं अधिक[3]। यही कारण है कि वेदान्त की पर्यालोचना करने से हम विश्वव्यापिनी एक अखण्ड सत्ता के अस्तित्व पर पहुँच जाते हैं। कार्य-कारण की शृङ्खला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीय दर्शन में तीन प्रस्थानों को मुख्यतया पाते हैं[4]— आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। **आरम्भवाद** की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता नहीं रहती है, प्रस्तुत कार्य की उत्पत्ति एक नवीन घटना है। आरम्भवाद न्याय-वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। **परिणामवाद** में कार्यकारण में अन्तर नहीं होता, कार्य कारण में सदा व्यक्त रूप से या अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह दृष्टि सांख्य-योग की, अद्वैतवेदान्ती भर्तृप्रपञ्च की और वैष्णव दार्शनिकों की है। **विवर्तवाद** कारण की ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करता है। कार्य सत् और असत् से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। यह दृष्टि शाङ्कर अद्वैत वेदान्तियों की है। इन तीनों दृष्टियों में क्रमिक विकास निश्चय रूप से दृष्टिगोचर होता है[5]।

सूक्ष्म तत्त्वों पर पहुँचने के लिए स्थूल पदार्थों का प्रथमतः अनुशीलन नितान्त नैसर्गिक है। अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म और कुशलबुद्धिगम्य है कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयंगम नहीं हो सकता। अतः स्थूल विषयग्राही मानवों के उपकारार्थ मुनियों ने न्यायादि शास्त्रों की रचना की है जिससे मनुष्य स्थूल से प्रारम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रमपूर्वक सुभीते के साथ कर सकें। आरम्भवाद का आश्रय लेकर **न्याय-वैशेषिक** इस स्थूल जगत् के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है[६]। लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है, उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में किया जाता है। सांख्ययोग की पदार्थ-कल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है, क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभाव के द्वारा भी साक्षात्कृत पदार्थ मान्य माने जाते हैं। अद्वैत वेदान्त की कल्पना सूक्ष्मतम है। एक उदाहरण के द्वारा इस क्रमिक विकास की सत्यता प्रदर्शित की जाती है। 'आत्मा' के विषय में दर्शनों के विवेचन में स्पष्ट पार्थक्य दीख पड़ता है, परन्तु इन विवेचनों में विरोध न होकर अविरोधिता ही विचार करने पर निश्चित-रूपेण प्रतीत होती है। चार्वाक शरीर से पृथक् आत्मा की स्थिति मानता ही नहीं है; बौद्धमत स्कन्धपञ्चकरूप आत्मा को शरीर से भिन्न मानकर भी उसे 'क्षणिक' बतलाता है; न्याय-वैशेषिक का प्रधान उद्देश्य इन मतों का युक्तियों के सहारे खण्डन कर आत्मा को देह, प्राण, मन और इन्द्रियों से भिन्न तथा नित्य सिद्ध करना है। अतः न्याय आत्मा के 'सत्' रूप को युक्तिबल पर निःसंशय सिद्ध करता है। वह अवश्यमेव आत्मा को जड़ और मनःसंयोग उत्पन्न होने पर चैतन्यगुणविशिष्ट मानता है, परन्तु यह गुणाश्रयिता लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद-मात्र है, क्योंकि आचार्य शङ्कर के कथनानुसार आत्मा में व्यापक अव्यापक किसी भी रूप से गुणों की सत्ता युक्तिबल पर सिद्ध नहीं की जा सकती। इस अंश के अग्राह्य होने पर भी न्यायसम्मत आत्मनित्यता भारतीय दार्शनिकों को अभीष्ट है। विज्ञानभिक्षु ने न्याय-वैशेषिक को इसीलिए दर्शन की 'प्रथम भूमिका' माना है[६]।

सांख्ययोग की दृष्टि में आत्मा गुणों का अधिष्ठान कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। गुणों की गुणी में स्थिति दो प्रकार से होती है—कतिपय गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी होते हैं, जैसे घट में रूप, स्पर्श आदि घट के प्रत्येक अंश को व्याप्त कर विद्यमान रहते हैं। कोई कोई गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी नहीं होते, जैसे संयोग। दो वस्तुओं का संयोग एक अंशविशेष को लेकर ही सिद्ध होता है, परन्तु आत्मा में ज्ञान चैतन्यादि गुणों की उभयथा स्थिति दोष-युक्त है। अतः सांख्य-योग आत्मा को निर्लेप, असङ्ग, निर्गुण तथा चैतन्यरूप मानता है। जिस प्रकार न्याय ने आत्मा को 'सत्' सिद्ध किया है, उसी प्रकार सांख्य-योग उसे

'चित्' सिद्ध करता है। परन्तु सांख्य मत के अनुसार आनन्द पुरुष में विद्यमान नहीं रहता; गुणत्रयात्मिका प्रकृति की विकाररूपा बुद्धि में ही सुख-दुःखादिकों की कल्पना वास्तव है। पुरुष बुद्धि के सम्पर्क में आने से सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः वह निरानन्द है। सांख्य शास्त्र में पुरुष अवश्यमेव नाना माना गया है, परन्तु यह लोकसिद्ध वस्तु का अनुवाद मात्र है। सांख्य का वास्तव प्रयोजन तो व्यावहारिक आत्मा (जीव) का अनात्मा से विवेक होने पर मोक्ष प्रतिपादन है। अतः विवेक ज्ञान के प्रधान लक्ष्य होने से सांख्य अप्रमाण नहीं है"। इसके आगे वेदान्त की दृष्टि आरम्भ होती है। वेदान्त-दृष्टि में जो पदार्थ चैतन्य रूप है, वही आनन्द रूप भी है। अतः आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध करने में वेदान्त की सबसे अधिक महनीयता है। पूर्व दृष्टियों के द्वारा सिद्ध तत्त्वों का समन्वय देकर वेदान्त प्रतिपादित करता है कि आत्मा 'सत्, चित्, आनन्द' रूप है। इस प्रकार आत्मा की सच्चिदानन्द रूपता की कल्पना में तीनों दृष्टियों का विकास-क्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन न्यायाचार्य की उक्ति है कि प्रमाण की मीमांसा करने वाले न्याय का काम तो वैदिक धर्म तथा तत्त्व-ज्ञान को कुतार्किकों के कुत्सित तर्कों तथा अनुचित युक्तियों से बचाने मात्र में है। इस प्रकार न्याय वेदवाटिका का कण्टकमय आवरण है, तत्त्व तो बादरायण से ही प्राप्य है। 'आत्मतत्त्वविवेक' के अन्त में उदयनाचार्य ने विभिन्न दर्शनों की अविरोधिता दिखाई है। वह उनकी समन्वयदृष्टि का पर्याप्त सूचक है। स्थूल जगत् के दृश्यमान वस्तुओं से आरम्भ कर अद्वैत तत्त्व तक पहुँचना भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। इस दीर्घ मार्ग में अनेक कोटियाँ हैं, जिनको पार करना आवश्यक है। पहली कोटि में बाह्य अर्थों की स्फुटतया पृथग्रूपेण प्रतीति होती है। इस स्थिति में चार्वाक दर्शन का समुत्थान है और कर्ममीमांसा का उपसंहार। दूसरी कोटि आत्मा के अर्थाकार प्रतिभासित होने में है, जिसमें योगाचार का समुत्थान है और त्रिदण्डी वैष्णव मत (रामानुज) का उपसंहार है। तृतीय कोटि में स्वरूपतः और आकारतः अर्थ का अभाव प्रतिभासित होता है। इस दशा में शून्यवाद का समुत्थान और वेदान्त का द्वार-मात्र उपसंहार है। इसके आगे आत्मा तथा अनात्मा के परस्पर पार्थक्य ज्ञान से 'विवेक' उदय होता है। जिसमें शक्ति-सत्त्व का समुत्थान तथा सांख्य मत का उपसंहार है। इस अवस्था में त्रिगुणमयी प्रकृति की सत्ता पुरुष से पृथक् और स्वतन्त्र माननी ही पड़ती है, परन्तु यह भी कोटि हेय है, क्योंकि जड़ प्रकृति भी स्वप्रवृत्ति के लिए चेतन रूप आत्मा के अधिष्ठान की नित्य-कांक्षिणी है। इससे आगे केवल आत्मा की एकमात्र स्फूर्ति होती है। यही अद्वैत वेदान्त की

स्थिति है। यही वेदान्त की अद्वैतावस्था है जिसका वर्णन बृहदारण्यक (४।४२) में 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' इत्यादि मन्त्र में बड़े सुन्दररूप से किया गया है, परन्तु यह भी अवस्था हेय है, क्योंकि मूलतन्त्र न तो द्वैत है, न अद्वैत। द्वैताद्वैत की कल्पना भी विकल्प-सापेक्ष है। परमार्थ इन दोनों कोटियों से पृथक् स्वतन्त्र और द्वैताद्वैत से वर्जित है[९]।

यही निर्विकल्पावस्था चरम वेदान्त का उपसंहार है। इस दशा में सर्वविकल्पशून्य अवाङ्मनसगोचर आत्मा ही ब्रह्मरूप है। आत्मा की यही चरम अवस्था है। यह कथमपि हेय नहीं है। निर्वाण इस दशा में स्वतः सिद्ध है[१०]। उदयनाचार्य का स्पष्ट कथन है—अन्य मार्ग केवल अपद्वार हैं, परन्तु वेदान्तमार्ग मोक्षनगर का गोपुर है—पुरद्वार है, जिसमें प्रवेश कर साधक सुगमतया मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस दशा में सब दर्शनों का एकान्त समन्वय समुपस्थित है। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है।

जैन तथा बौद्ध तत्त्व-ज्ञान भी भारतीय आध्यात्मिकता के मानसरोवररूप उपनिषदों से ही प्रवाहित होते हैं। श्रुति के तिरस्कार करने से ब्राह्मण दार्शनिकों को इनके सिद्धान्तों में आस्था नहीं है, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैन धर्म की कर्तव्यमीमांसा बड़ी सुन्दर है और बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा बड़ी सूक्ष्म कोटि की है। हम उस दार्शनिक की समन्वय बुद्धि की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते जिसके उदात्त विचार में बौद्ध तथा जैन, वैदिक तथा तान्त्रिक समस्त दार्शनिक चिन्तनों का मंजुल सामञ्जस्य इस श्लोक में प्रदर्शित किया गया है :—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

बुद्ध के धर्म का श्रवण करना चाहिए, जैन धर्म को करना चाहिए, वैदिक धर्म को व्यवहार में लाना चाहिए तथा परमशिव का ध्यान करना चाहिए, क्योंकि वह अद्वैत-रूप अन्तिम सत्ता के रूप में सर्वदा विद्यमान रहता है।

२

भारतीय दर्शन का भविष्य

भारत में दर्शन तथा धर्म का परस्पर सहयोग जितनी सुन्दर रीति से सम्पन्न किया गया है वस्तुतः वह नितान्त श्लाघनीय है। भारतीय दर्शन केवल तत्त्ववेत्ता पुरुषों की कल्पना का विजृम्भणमात्र पठित समाज में ही आदर और श्रद्धा का भाजन नहीं है; प्रत्युत जनसाधारण के लिए भी वह उसी प्रकार उपादेय और ग्रहणीय है। तत्त्वशास्त्र के द्वारा उद्भावित तत्त्व मनोविनोद के साधन मात्र नहीं हैं,

बल्कि प्रतिदिन धार्मिक व्यावहार के निष्पादक हैं। पाश्चात्त्य दार्शनिकों ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, वे भारतीय तत्त्वज्ञान को अविदित नहीं हैं, प्रत्युत भारत के दार्शनिकों ने उन सिद्धान्तों का क्रमबद्ध तथा सुसंगत रूप अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान अपनी व्यावहारिकता, व्यापकता तथा विविधरूपता के लिए नितान्त मननीय तथा माननीय है। इसका भविष्य इसके भूत के समान ही गौरवशाली प्रतीत होता है। पाश्चात्त्य जगत् को अपनी जिस वैज्ञानिक सभ्यता पर इतना अभिमान है उसका ध्वंस तो अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा है। वर्तमान प्रलयंकारी युद्ध पाश्चात्त्य सभ्यता को भूमिसात् विना किये नहीं रहते। दो यूरोपीय युद्ध के अनन्तर जो भयङ्कर उच्छृङ्खलता फैल गई है, मानवसमाज को लील जानेवाले जो गाढ़ आध्यात्मिक अन्धकार उत्पन्न हो गया है उनका दूरीकरण भारतीय तत्त्व के प्रकाशमान किरणों से ही हो सकेगा, इतना कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है।

भारतीय महर्षियों ने बाह्य भिन्नता के भीतर विद्यमान आन्तर अभिन्नता को भलीभाँति पहचाना। जितना धार्मिक झगड़ा है, सामाजिक कलह है, वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है। यदि इनके भीतर विद्यमान समानता की ओर तनिक भी मनुष्यों का ध्यान जाय, तो न तो संसार में इतना वैमनस्य हो और न गृहकलह न रक्तपात हो। अनेकता के भीतर इसी एकत्व को खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है। बाहरी कपड़ों की भिन्नता होने से क्या प्रियतम का अभिराम रूप छिपाया जा सकता है? प्रियतम के पहचानने के लिए क्या प्रेमी जन को बाहरी वेशभूषा की आवश्यकता होती है? कपड़े लत्ते बाहरी चीज हैं, स्नेह भीतरी वस्तु है। बरतनों के रूपरंग भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार के हों, परन्तु उनमें रखा गया जल एक ही रूप का होता है। दीपक भिन्न-भिन्न धातुओं का तथा भिन्न-भिन्न आकारों का भले ही बना हो, परन्तु उसकी प्रभा एक ही रूप की होती है। गायों के अनेक वर्ण की होने पर भी उनका दूध एक वर्ण का ही रहता है[११], इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों तथा धर्मों के आचारों के भिन्न प्रतीत होने पर भी उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय एकता की धारा बहती रहती है। इस रहस्य को भारत ने पहचाना है। इस तत्त्व का उपदेश भारतीय महर्षियों ने दिया है। तुमुल कलह तथा संग्राम से छिन्न-भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता, एक दूसरे के बाह्यरूप के भीतर आन्तरिक एकता के पहचानने का सुन्दर उपदेश भारतीय तत्त्वज्ञान ही दे सकता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट शब्दों में मानवों के विचार तथा हृदय के समान बनाये रखने का उपदेश दिया है—

समानी व आकूतिः समानाहृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसी सिद्धान्त का निरूपण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति।
तत् तत्त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

शास्त्र के अभ्यास करने वाले विद्वान् लोग अपनी बुद्धियों के द्वारा समीक्षा कर जिस तत्त्व का वर्णन करते हैं, वह सब तत्त्व भगवान् ही स्वयं है। भगवान् को छोड़कर इस जगत् में और कुछ भी नहीं है। विद्वानों का झगड़ा केवल संज्ञा के विषय में है, नामों को ही लेकर विद्वानों में विवाद है; तत्त्व तो वस्तुतः एक ही है। दार्शनिक लोग इसी एक तत्त्व को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। विवाद नामों का ही है, तत्त्व का नहीं। इस प्रकार महनीय सामरस्य स्थापित किया जा सकता है।

भगवान् करे उस दिन मंगल प्रभात शीघ्र हो जब मानव परस्पर कलह भुलाकर मानवता का मूल्य समझें और शान्ति का पाठ सीखकर अपने जीवन तथा दूसरे के जीवन को आनन्दमय बनावें:—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥



परिशिष्ट

पाश्चात्य दर्शन का परिचय

पाश्चात्य दर्शन

सत्य का अन्वेषण तत्त्वज्ञानियों का मुख्य कार्य रहा है। भारत के तत्त्वज्ञानियों के समान पश्चिमी जगत् के दार्शनिकों ने भी सत्य की खोज बड़े प्रेम और अध्यवसाय से की है। पृथ्वीतल पर प्राचीन काल में दो ही देशों में तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा जाग्रत हुई और इन दोनों ने दर्शन के विषय में विशेष अनुसन्धान किया। वे देश हैं—भारतवर्ष तथा यूनान। यूनान या ग्रीस देश में ही तत्त्व का उदय पाश्चात्त्य जगत् में सर्व-प्रथम हुआ। इसीलिए ग्रीस देश पश्चिमी संसार में तत्त्वज्ञान के लिए गुरुस्थानीय माना जाता है। यूरोप में तत्त्वज्ञान की 'फिलासफी' संज्ञा है। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विद्या का अनुराग, विद्याप्रेम (फिलास = प्रेम, सोफिया = विद्या)। भारतीय दर्शन के लक्ष्य से फिलासफी के लक्ष्य में पार्थक्य है, जिसका संक्षिप्त वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में किया गया है।

यूरोपीय दर्शनों के मत से ज्ञान के अन्वेषण का लक्ष्य स्वयं ज्ञान ही है। ज्ञान की तृप्ति ही पश्चिमी दर्शन का चरम अवसान है, यद्यपि आजकल के कतिपय पश्चिमी दार्शनिक (जैसे वर्गसों आदि) ज्ञान को क्रिया का साधनमात्र मानते हैं। पश्चिमी तत्त्वज्ञान के प्रमुख आचार्य प्लेटो के अनुसार दर्शन-शास्त्र का उदय 'आश्चर्य' से है और इसी आश्चर्य की तृप्ति के लिए यूरोपीय दर्शन का समग्र प्रवाह चलता रहा है, परन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार ज्ञान साधनमात्र है, स्वतः साध्य नहीं है। हमारे तत्त्वज्ञान का लक्ष्य सदैव क्रियात्मक रहा है। संसार में सन्तत विद्यमान दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति अर्थात् मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण पाना ही हमारा लक्ष्य है और यह लक्ष्य ज्ञान के द्वारा ही प्राप्य है (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः)। अतः ज्ञान की प्राप्ति में हमारा अध्यवसाय साधन की खोज के लिए है, साध्य की खोज के लिए नहीं। सत्य की खोज दोनों करते हैं, परन्तु उद्देश्य दोनों के भिन्न हैं। इस भिन्नता के विद्यमान रहने पर भी अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ दोनों मिल जाते हैं। अतः दोनों का तुलनात्मक अध्ययन ज्ञानप्रवाह की परीक्षा के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

यूरोपीय दर्शन मन और आत्मा के तादात्म्य पर चलते हैं; कहीं-कहीं अतीत आत्मा की सत्ता मानी गई है, परन्तु यह अपवाद रूप ही है। कतिपय दार्शनिक आत्मा को प्रकृति का विकार मानते हैं, उनके लिए तो यह सिद्धान्त

उचित ही है, परन्तु जो लोग ऐसा नहीं मानते, वे भी आत्मा का मुख्य स्वरूप मन ही मानते हैं; किन्तु भारत में चार्वाक लोग ही आत्मा का शरीर, इन्द्रिय या मन से तादात्म्य मानते थे। उन्हें छोड़ कर अन्य समस्त तत्त्ववेत्ता आत्मा की इनसे पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। यह भारतीय दर्शन की विशिष्टता है। यूरोपीय लोग हमारे मन्तव्य के विरुद्ध लिंग-देह और स्थूल शरीर का न तो भेद मानते हैं और न आवागमन या जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इतनी भिन्नता होने पर भी पश्चिमी तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त मानव मस्तिष्क के द्वारा उद्‌भावित अत्यन्त महत्त्वशाली, मूल्यवान् तथा प्रभविष्णु सिद्धान्त है। इन्हीं के ऐतिहासिक विकास की संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

प्राचीन युग

पाश्चात्त्य तत्त्वज्ञान का उदय यूनान (ग्रीस) के दार्शनिकों से होता है। यूनानी दार्शनिकों के शिरोमणि थे—**सुकरात** (साक्रेटीज) Socrates, परन्तु उस देश में तत्त्वज्ञान का उदय उनसे भी प्राचीनतर है। यूनान के जनप्रिय धर्म में भी दर्शन के सिद्धान्तों के बीज अन्तर्निहित दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ की धार्मिक दन्तकथा (Mythology) में एक दार्शनिक देवता की सूचना मिलती है। इस देवता का नाम था—निमेसिस (Nimesis), अर्थात् व्यवस्था-देवी। ये देवी थीं और इनका कार्य था जगत् के पदार्थों में तथा घटनाओं में व्यवस्था लाना। ग्रीस में अव्यवस्था या गड़बड़ी उत्पन्न करने वाले प्रभावशाली देवता का नाम था—पैन (Pan)। उनके पैर बकरे के थे तथा उनकी बुद्धि भी बकरे की बुद्धि के समान ही मानी जाती थी। इस अजपाद तथा अजबुद्धि देवता को हम 'अव्यवस्था' का देवता कह सकते हैं। इनके प्रभाव से जगत् को बचाना ही व्यवस्था-देवी का कार्य था। इस निमेसिस की कल्पना हमारे वैदिक 'ऋत' की कल्पना के समान है। इस प्रकार जगत् में सामञ्जस्य तथा व्यवस्था मानने की ओर ग्रीक लोगों की प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही थी। स्पष्टतः यह तत्त्व-ज्ञान का प्रधान बीज था।

मूल तत्त्व की मीमांसा

कालक्रम से पश्चिमी दर्शन का उदय ग्रीस के पूर्वी उपनिवेश (आइयोनिया Ionia यवन देश) में सर्वप्रथम हुआ। यहाँ के दार्शनिकों ने प्रथमतः सृष्टि-तत्त्व की मीमांसा की। जगत् अनेकाकार है, जगत् में विषमता का साम्राज्य है, परन्तु सदा से मानवबुद्धि यही मानती आती है कि इन नानाकार सांसारिक वस्तुओं की उत्पत्ति किसी एकाकार पदार्थ से हुई। वह एक पदार्थ कौन है?

(क) **जल**—इन आदिम दार्शनिकों में सर्व-प्राचीन **थेलीज** (Thales ६४०–५५० ई० पूर्व) का कहना है कि वह मूल तत्त्व जल था। वह इस तत्त्व के निर्णय में कैसे समर्थ हुआ ? यह कहा नहीं जा सकता। जल तीनों ठोस, द्रव तथा वायवीय रूपों को धारण कर सकता है, अथवा वनस्पतियों की उत्पत्ति का मूल कारण है। इसीलिए उसने जल को ही आदिम तत्त्व माना। इस मत की तुलना बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट इस मत से की जा सकती है[1]— "आदि में जल था, जल ने सत्य पैदा किया, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को तथा प्रजापति ने देवताओं को पैदा किया। वे देवता सत्य की उपासना करते हैं।" यहाँ ब्रह्म का अर्थ मूल पारमार्थिक रूप में नहीं लेना चाहिए। सृष्टि के आदि में विद्यमान था जल और इस जल से निकला 'सत्यं'—मूल मूर्त पदार्थ। 'सत्य' के विषय में यह भी कहा है कि 'सत्यं' में तीन अक्षर हैं—स, ती यम्, जिनमें आदि अन्त वाले अक्षर नित्य हैं और मध्य वाला अनृत, असत्य है। अर्थात् अनृत आदि अन्त में सत्य के द्वारा आच्छन्न रहता है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने प्रथमतः जल उत्पन्न किया, इस मत से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि इसमें ईश्वर के द्वारा सृष्टि रचना का विधान है, परन्तु बृहदारण्यक के अनुसार जल से ही समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई है[2]।

(ख) **वायु—एनेक्सिमेनीज** Anaximenes (५९०–५२५ ई० पू०) के अनुसार वह मूल तत्त्व वायु था[3]। इन्हीं के गुरु **एनैक्सिमैण्डर** Anaximander (६१०–५४५ ई० पू०) के अनुसार वह मूल तत्त्व व्याकृत तथा सीमित वस्तुओं का उत्पादक है, परन्तु वह स्वतः अव्याकृत तथा असीमित है। सबसे पहले एक अपरिच्छिन्न परिमाण का द्रव्य था। इसी से संसार के जल, अग्नि, वायु आदि सीमित पदार्थ उत्पन्न होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं। उसका विचार था कि इस द्रव्य को परिमाण से बाहर होना चाहिए, क्योंकि ऐसा न होने पर सृष्टि होते-होते यह द्रव्य समाप्त हो जायगा। यह अपरिच्छिन्न वस्तु स्वयं कार्य नहीं है, अनश्वर है तथा इसकी गति शाश्वत है। जल एक विशेष पदार्थ है, अतः वह मूल तत्त्व नहीं हो सकता। सृष्टि-तत्त्व के विवेचक इन विद्वानों की दृष्टि में जगत् जड़ प्रकृति से उत्पन्न नहीं है, प्रत्युत इसकी उत्पत्ति चेतन पदार्थ से होती है। इनके विचार से जड़ तथा चेतन पृथक् नहीं थे। इसी लिए ये विद्वान् जड़वादी (Materialist) नहीं कहलाते, प्रत्युत भूतवादी (Hyzoloist) कहलाते हैं।

(ग) **पाइथोगोरस** (Pythogoras, ५७०–५०० ई० पू०)—ग्रीस के एक महनीय तत्त्ववेत्ता थे। सृष्टि के विषय में इनके सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तों की

अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं। इनका आग्रह इस विषय पर था कि पदार्थ का मूल तत्त्व प्रकृति नहीं, प्रत्युत उनका 'आकार' है। संगीत के अध्ययन से इन्होंने 'समानुपात' के तथ्य को आविष्कृत किया, अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में 'समानुपात' का तथ्य जागरूक दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिये शरीर के स्वास्थ्य पर दृष्टिपात कीजिए। शरीर के मौलिक गुणों (उष्णता, शीतता, शुष्कता तथा आर्द्रता) के समानुपात पर ही शरीर का स्वास्थ्य अवलम्बित रहता है। अन्य सम्बन्ध रहने पर शरीर रोगों से आक्रान्त हो जाता है। अतः 'आकार' ही पर वस्तु-तथ्य आश्रित रहता है। इनकी मान्य कल्पना है—'सब पदार्थ अंक हैं'। ग्रीक भाषा में अंकों के लिए बिन्दुओं का प्रयोग किया जाता था। बिन्दु से बनती है रेखा और रेखाओं से बनती है ठोस चीज। अतः अंक को वे सब पदार्थों की मौलिक इकाई मानते हैं। अङ्कगणित तथा संगीत शास्त्र के बड़े पारगामी विद्वान् थे। अपने आश्रम के दरवाजे पर इन्होंने एक वाक्य लिख रखा था, जिसका संस्कृत में रूप होगा—'अङ्कगणितानभिज्ञानां प्रवेशो निषिद्धः'। इनका अपना एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय था जिसका सात्त्विक आचरण तथा विचार भारतीयों से विशेष मिलता था। विद्वानों ने पाइथोगोरस के विचारों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्वीकार किया है। ये भारत तो स्वयं नहीं आये थे, परन्तु इन्होंने मिश्र तथा फारस की यात्रायें की थीं और यहीं इनका भारतीय सिद्धान्तों से परिचय संभावित है।

इटली के दक्षिण भाग में 'एलिया' नामक नगर इनके मतानुयायी दार्शनिकों का केन्द्र था। इन दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ थे—जेनोफेनीज Zenophanes (५७०–४८० ई० पू०)। अरस्तू के कथनानुसार ये ही पाश्चात्य जगत् के आद्य अद्वैतवादी तथा सर्वेश्वरवादी स्वीकृत किये जाते हैं। इनका सिद्धान्त वाक्य संस्कृत में इस प्रकार रखा जा सकता है—'विश्वमेकम् एकं च तद् ब्रह्म' अर्थात् समग्र जगत् एक है और वह एक ईश्वर या ब्रह्म है। इस वाक्य का प्रथम अंश अद्वैतवाद का द्योतक है और द्वितीय अंश सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादक है। इनके अद्वैत तत्त्व को एलियावासी अन्य दार्शनिकों ने युक्तियों से खूब पुष्ट किया, विशेषतः **परमीनीडीज** Parmenides (५४०-४८० ई० पू०) तथा **जेनो** Zeno (४९०–४२० ई० पू०) ने। परमीनीडीज की दृष्टि में सत्-रूप जगत् असत् से कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता। जगत् स्वयं एक सत्, अजात, अनुत्पन्न पदार्थ है। उसमें दृश्यमान परिवर्तन (यथा क्रिया आदि) काल्पनिक हैं। इस सिद्धान्त को जेनों ने अपने तर्क तथा युक्तियों से खूब ही प्रमाणित किया। ये लोग

जगत् में अनेकवाद की सत्ता होने पर सांसारिक कार्यों की व्यवस्था की व्याख्या असम्भव बतलाते हैं। इनका महत्त्व इन्द्रियजन्य ज्ञान को काल्पनिक मानने तथा विचार को सत्य ज्ञान का साधन मानने में है।

एलियावासी दार्शनिक अद्वैत के समर्थक थे। उनके विपरीत दार्शनिकों का एक दूसरा सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। ये लोग **अनेकवाद** Pluralism के समर्थक थे। इनके अनुसार जगत् में विद्यमान परिवर्तन वास्तव है। इस पक्ष के आद्य विद्वान् थे **हिरेक्लिटस** Heraclitus (५४०–४७५ ई० पू०)। ये 'अग्नि' को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और उसे परिणाम का प्रतीक समझते थे[४]। यद्यपि ये मूल वस्तु की नित्यता में विश्वास करते थे, तथापि जगत् के पदार्थों की बहुलता तथा उनके सतत परिवर्तन को ये मान्य समझते थे। तथागत बुद्ध ने जिस परिवर्तन तत्त्व—परिणामवाद—की भारत में व्याख्या की, उसी का प्रतिपादन हिरेक्लिटस ने यूरोप में सर्वप्रथम किया। इनके उपदेशों में सर्वतोभावेन मान्य सिद्धान्त है प्राकृतिक घटनाओं में व्यवस्था पर आग्रह। विश्व में विद्यमान क्रमबद्धता सूचित करती है कि इसके मूलपदार्थ में अथवा उसके साथ ही साथ 'सार्वभौम बुद्धि' अवश्य विद्यमान है। अनेकवाद के सिद्धान्त को **एनेक्सेगोरस** (Anaxagoras ५००–४२८ ई० पू०) तथा **इम्पेडाक्लीज** Empedocles (४८३–४४० ई० पू०) ने अग्रसर किया और इसका चरम उत्कर्ष **डिमाक्रीटस** Democritus (४६०–२७० ई० पू०) ने अपने परमाणुवाद के द्वारा प्रदर्शित किया। एनेक्सेगोरस की दृष्टि में जगत् का मौलिक तत्त्व एक प्रकार का नहीं है, प्रत्युत वस्तुओं के अनेक प्रकार के 'बीजों' से जगत् की सृष्टि होती है। इम्पेडाक्लीज ने एनेक्सेगोरस के अनेक 'बीजों' के स्थान पर चार प्रकार के मूल तत्त्व (अर्थात् अग्नि, वायु, जल, तथा पृथ्वी–इन चार भूत) को स्वीकार किया। उन्होंने उत्पत्ति तथा प्रलय के संकर्षण और विकर्षण के तत्त्व माने। ये दोनों तथ्य रागद्वेष जैसे मनोभाव की सत्ता पर आश्रित हैं। संकर्षण से होती है सृष्टि और विकर्षण से होता है प्रलय। डिमाक्रिटस को दार्शनिक जगत् से अधिक सम्मान तथा आदर वैज्ञानिक जगत् प्रदान करता है। वे भौतिकशास्त्र के जनक माने जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा उद्भावित परमाणुवाद की स्वीकृति से भौतिकशास्त्र की विशेष उन्नति हुई है। विश्व की सृष्टि के मूल साधन 'परमाणु' हैं। ये आकार तथा स्थान में परस्पर भिन्न हैं। परमाणु विश्व की 'वर्णमाला' स्वीकार किया जाता है। अंग्रेजी वर्णमाला में A और M में आकार तथा रूप में पार्थक्य है, M और W में स्थान में पार्थक्य है, on और no में क्रम-विन्यास में अन्तर है। उसी प्रकार परिमाणुओं में आकार, रूप, तथा स्थान में भिन्नता

विद्यमान रहती है। परमाणु जड़ नहीं, प्रत्युत चेतन होते हैं। वे स्वतः क्रियाशील होते हैं और समग्र दिशाओं में स्वयं प्रचलित हो दूसरे परमाणुपुञ्ज से संश्लिष्ट होकर जगत् की सृष्टि करते हैं। अवस्था-विशेष में पदार्थ अन्य पदार्थ के साथ संघर्ष में आता है, जिससे उसके परमाणु चूर्णित होकर फिर पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। यही है, परमाणु सिद्धान्त जो जगत् की यन्त्रात्मक Machanical व्याख्या करता है, अर्थात् जगत् की गति तथा जड़ प्रकृति के रूप में ही लक्षित किया जाता है। डिमाक्रिटस के मत में पदार्थों के अवान्तर गुणरूप शब्द, गंध और रस **व्यवहारतः** सत्य हैं। यदि **परमार्थतः** कोई वस्तु सत्य है, तो वह परमाणु ही है। 'परमाणु' के सिद्धान्त में वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा प्रयोग करने से अनेक परिवर्तन कालान्तर में होते रहे हैं, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि डिमाक्रिटस के सिद्धान्त ने प्राचीन युग में वैज्ञानिकों के लिए एक दृढ़ आधार प्रस्तुत किया और भौतिक विज्ञान के अभ्युदय का सूत्रपात किया।

इसी समय राजनैतिक क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। यह घटना है यूनानियों के द्वारा पारसीकों की पराजय। इस राजनैतिक उथल-पुथल के कारण लोगों के हृदय में भी एक मानसिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उस समय के प्रचलित विश्वासों तथा वर्तमान अवस्थाओं से असन्तोष का भाव जाग्रत हो गया और ज्ञान के विषय में लोगों की जिज्ञासा जाग पड़ी। वृत्तिग्राही शिक्षकों ने जनता के इस माँग की पूर्ति की। इनका नाम था—**सोफिस्ट** Sophist अथवा सुधीजन। ये द्रव्य लेकर अपनी विद्या का वितरण करते थे। इन्होंने जनता के लिये आवश्यक साधारण शिक्षा का प्रचार किया तथा उस समय के धार्मिक विश्वासों की खूब छानबीन की। फलतः मानव जीवन की महनीय समस्याओं की समीक्षा करने के लिए इन्होंने अन्य विचारकों का भी ध्यान आकृष्ट किया। इनके उपदेशों का दार्शनिक मूल्य आँका जा सकता है। इन लोगों ने वस्तु के परम्परागत सत्य तथा वास्तव सत्य की भिन्नता प्रदर्शित की। इसमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान् प्रोटेगोरस Protagoras की यह उक्ति दार्शनिक महत्त्व के कारण नितान्त माननीय है—"मनुष्य ही पदार्थों का माप है।" आरम्भ में ये सुधीजन सचमुच विद्या के विशेष प्रचारक थे, परन्तु जब ये अपने पाण्डित्य का दुरुपयोग करने लगे और अपने उपदेशों से लोगों को सच्चे तत्त्वज्ञान से दूर ले जाने लगे तब इसका नाम 'वितण्डावाद' का प्रतीक माना जाने लगा। इन्हीं के युग में ग्रीस के दर्शन का सुवर्णयुग था जिसमें सुकरात, (साक्रीटीज Socrates) अफलातून (प्लेटो Plato) तथा अरस्तू (एरिस्टाटल Aristotle) ने पाश्चात्य दर्शन को अपने मौलिक समीक्षणों से सुप्रतिष्ठित किया तथा उन्नत बनाया।

सुकरात

सुकरात (४६९–३९९ ई० पू०) पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के इतिहास में एक महत्त्वशाली विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने पूर्वोल्लिखित वितण्डावादियों के कुतर्कों का खण्डन कर दर्शन शास्त्र की नींव पुनः डाली। इनके समकालीन लोग इन्हें सोफिस्टों में मानते थे, परन्तु अपने आचार-विचार से ये उनसे नितान्त पृथक् थे। ये विद्या-दान के लिए कोई भी वेतन नहीं लेते थे, तथा अपना उपदेश विशिष्ट व्यक्तियों को न देकर सामान्य जनता, विशेषतः नवयुवकों को दिया करते थे। सोफिस्ट लोग अपने को विद्वान् (सोफिस्ट) कहते थे, परन्तु सुकरात अपने को केवल 'विद्यानुरागी' (फिलासोफर) कहते थे। सोफिस्ट लोग व्यावहारिक सत्य की ओर विशेष झुके थे। इसके विपरीत सुकरात का मत था कि पदार्थ के वास्तविक सत्य का ज्ञान सम्भव है और इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो पद्धति आविष्कृत की वह **निगमन पद्धति** Inductive method के नाम से विख्यात है। इस पद्धति में विभिन्न विशिष्ट वस्तुओं की परीक्षा कर सामान्यभूत नियम का पता लगाया जाता है और किसी की नियम की सत्यता तब तक नहीं मानी जाती, जब तक वह वास्तविक द्रव्यों की समीक्षा से प्रमाणित नहीं होता। उनकी दृष्टि में ज्ञान ही सर्वोपरि वस्तु है। उनकी निष्ठा ज्ञान पर इतनी अधिक थी कि उन्होंने धर्म को भी ज्ञान से अभिन्न ही माना है, अर्थात् धर्म क्या है ? न्यायभूत पदार्थ का ज्ञान। सुकरात की सम्मति में धर्म और ज्ञान में वस्तुतः अभिन्नता रहती है। अज्ञानी व्यक्ति धर्म नहीं कर सकता और ज्ञानी अधर्म नहीं कर सकता। इस प्रकार सुकरात ने ज्ञान और आचार दोनों तत्त्वों पर जोर दिया है। सुकरात केवल मौखिक उपदेश दिया करता था। उसका कोई भी लिखित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। उसके पट्टशिष्य प्लेटो के ग्रन्थों से उसके गुरु के मन्तव्यों का परिचय हमें मिलता है। ग्रीस के विद्वानों ने लिखित ग्रन्थ के अभाव में सुकरात के आचरण पर ही अपने सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। सुकरात सदा प्रसन्न-चित्त प्रफुल्ल वदन रहता था और बड़ी सादगी से अपना जीवन व्यतीत करता था। आचरण के इन अंशों पर आग्रह करने से ग्रीस में दो दार्शनिक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। एरिस्टिपस Aristippus और उसके संप्रदाय (सीरेनिक Cyranaic) वालों ने सुकरात की प्रसन्न-चित्तता के आधार पर यह सिद्धान्त निकाला कि आनन्द ही जीवन का परम ध्येय है। इस मत का नाम है—**सुखवाद** (हेडोनिज्म Hedonism)। **एण्टिस्थेनीज** Antisthenes तथा उसके सम्प्रदाय (**सीनिक**) के लोगों ने सादा जीवन को ही परम ध्येय माना और सुकरात के सादा जीवन को अपने

सिद्धान्त का व्यावहारिक आधार माना। परन्तु सुकरात का दार्शनिक जगत् में महनीय कार्य है—ज्ञान की प्राप्ति के लिए निगमन पद्धति का प्रयोग तथा उससे साध्य सत्य-ज्ञान की उपलब्धि की सम्भावना।

प्लेटो (४२७ ई० पू०--३४७ ई० पू०)

सुकरात के शिष्यों में प्लेटो ही सर्वश्रेष्ठ था। पश्चिमी तत्त्वज्ञानियों में यह अपनी भौतिक कल्पना, उदात्त विचार और लोकोत्तर ज्ञान के लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसके ग्रन्थ दर्शन तथा साहित्य दोनों दृष्टियों में अत्यन्त उपादेय तथा अलौकिक प्रतिभाजन्य हैं। उसके ग्रन्थ कथनोपकथन शैली में निबद्ध हैं और इस शैली में निबद्ध ग्रन्थों के आदर्शभूत माने जाते हैं। प्लेटो के तत्त्वज्ञान के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं। इन्हें दो प्रकार की सत्तायें मान्य हैं—एक है **व्यावहारिक सत्ता** और दूसरी है **वास्तविक सत्ता**। जो जगत् हमारे ज्ञान का विषय है वह परिवर्तन शील है, एकाकार रूप से नहीं रहता; वास्तविक सत्ता का जगत् एकाकार है और कभी परिवर्तनशील नहीं होता। इन्होंने पूर्व गामी दो युनानी दार्शनिकों के मत को अपना कर अपना सिद्धान्त स्थिर किया। प्रोटेगोरस ने इन्द्रियग्राह्य जगत् की सत्ता मानी थी, परन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा सच्चे ज्ञान को असम्भव बतलाया था। प्लेटो ने इसे माना, परन्तु साथ ही यह भी माना कि इस प्रत्यक्षगम्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। सुकरात ने लोगों की राय को किसी विषय में इकट्ठा कर तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को एकत्र कर अपनी निगमन पद्धति के द्वारा उनके सामान्य रूप को ग्रहण किया। यही है उनका बोध (Concept) और यही सत्य है। प्लेटो ने गुरु के इस सिद्धान्त को अपनाया और इसे वे **प्रत्यय** (Idea) के नाम से पुकारते हैं। प्लेटो का यह प्रत्यय अनुभवजन्य ज्ञान का सामान्य रूप नहीं है और न यह भौतिक पदार्थ की समष्टि है; यह सर्वथा अभौतिक है। जिस प्रकार बाह्य जगत् अनुभव का विषय है, उसी प्रकार प्रत्यय प्रज्ञा के द्वारा गम्य है। अनुभव-जन्य ज्ञान, जो हमें इस व्यावहारिक जगत् में हुआ करता है, इस प्रत्यय का ही अनुकरण है। भौतिक द्रव्य स्वयं सत्य नहीं है, बल्की वह इसी सत्यभूत विचार लोक का एक क्षीण आभास है। यह विचार—लोक ही वस्तुतः सत्य है। यह पहला अवसर है कि प्लेटो ने पश्चिमी दर्शन में सत्ता की अभौतिक कल्पना उद्भावित की। इस प्रकार इनकी सम्मति में वास्तविक सत्ता प्रत्यय (आईडिया) की ही है।

जगत् परिणामशील है, अतः इसका ज्ञान सम्भावना-कोटि में ही आ सकता है। यह ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता। इसीलिये प्लेटो को जगत् के ज्ञान के प्रति एक प्रकार का अनादर-भाव है। उनकी कल्पना है कि सृष्टि

के सृष्टामूल में ईश्वर वर्तमान और यही ईश्वर प्रत्यय (Idea) के अनुसार आकाश असत् से सत् की सृष्टि किया करता है। प्लेटो की कल्पना में जगत् एक महान् जीवित वस्तु है जिसका शरीर तो दृश्य है, परन्तु आत्मा अदृश्य है; विचार (Idea) स्वतः पूर्ण है, परन्तु उसके द्वारा उत्पन्न जगत् अपूर्ण है। इसका क्या कारण है ? प्लेटो का उत्तर है कि इस जगत् का आच्छादक ऐसा आकाश है जो 'प्रत्यय' को पूर्णरूप से जगत् में आने नहीं देता। इसीलिये संसार अपूर्ण है। जीव के विषय में प्लेटो की विचित्र कल्पना है। मनुष्य की आत्मा उभय जगत् के साथ सम्बन्ध रखती है। परिणामी जगत् के साथ वह इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा इच्छा के द्वारा सम्बन्ध रखती है, और वास्तव जगत् के साथ वह प्रज्ञा के द्वारा सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार प्लेटो आत्मा में तीन विभाग की कल्पना करते हैं—(१) प्रज्ञा, (२) इच्छा और (३) विषयवासना। इन तीनों का समुच्चय ही आत्मा के नाम से पुकारा जाता है। आत्मा अमर है और वह प्राणिशरीर में आता जाता है। इस आवागमन के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

नैतिक जीवन से मानव जीवन पूर्ण होता है। प्रेय में लिप्त होना मानव जीवन का उद्देश्य नहीं; अपितु श्रेय की प्राप्ति ही अन्तिम उद्देश्य है। श्रेय की प्राप्ति होते होते मनुष्य पूर्ण हो जाता है। प्लेटो ने ज्ञान, शौर्य, आत्म-संयम तथा न्याय-परायणता को चार मौलिक सद्गुण माना है। उनके राजनीतिक विचार भी बड़े सुन्दर हैं। मनु के अनुसार वे भी चातुर्वर्ण्य की कल्पना मानते हैं। इस प्रकार प्लेटो ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों के महत्त्वों की समीक्षा बड़ी सुन्दरता से किया है।

अरस्तू (३८४ ई० पूर्व–३२२ ई० पूर्व)

संसार के प्रभावशाली विचारकों में अरस्तू का स्थान विशेष रूप से गणनीय है। इन्होंने जो कुछ लिखा उसका प्रभाव पश्चिमी जगत् के इतिहास में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान ही है। उस समय तक ज्ञात समग्र सामग्री को एक साथ ग्रन्थ में एकत्र कर देने के कारण उनके ग्रन्थ विश्वकोष के समान हैं और अरस्तू की स्वयं मौलिक विचारराशि विस्तार तथा प्रभाव में विशेषतः स्पृहणीय है। अपने गुरु प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू अधिक अनुभववादी तथा यथार्थवादी थे। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियाज्ञात संसार के प्रति इनकी समधिक श्रद्धा थी, परन्तु जगत् की सत्ता मानकर भी ये अन्य प्रकार की सत्ता मानने से पराङ्मुख नहीं थे। ज्ञान के लिए Concept या

Idea के महत्त्व को ये स्वीकार करते थे, परन्तु यथार्थवादी होने के कारण ये भौतिक जगत् से भिन्न तथा स्वतन्त्र विचार-लोक को मानने के लिये उद्यत नहीं थे। उनका सतत उद्योग यह दिखलाने को था कि सत्ता तथा ज्ञान के जगत् को संयुक्तरूप से व्यक्त करनेवाले जाति तथा व्यक्ति में परस्पर सामञ्जस्य तथा अविरोध है। उन्होंने **द्रव्य** तथा आकार की कल्पना से समग्र जगत् की व्याख्या करने का श्लाघनीय उद्योग किया है। आइओनिया के प्राचीन विचारकों ने केवल द्रव्य पर ही जोर दिया था, उधर पाइथेगोरस तथा प्लेटो ने आकार को महत्त्व दिया है, परन्तु अरस्तू की मान्यता है कि वे परस्पर सम्बद्ध हैं; आकार द्रव्य में अन्तर्हित है—जैसे जाति व्यक्ति के भीतर विद्यमान रहती है। वे दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इस प्रकार इन्होंने प्राचीन ग्रीक विचारों में अविरोध दिखलाने का प्रयत्न किया है। अरस्तू की दृष्टि में जगत् के समस्त पदार्थ इन्हीं दो वस्तुओं—**आकार तथा द्रव्य**—से बने हुए हैं। इनमें भी आकार प्रधान और द्रव्य सहकारी है। द्रव्य वस्तु का अपूर्ण रूप है। आकार पर पहुँचने के लिये द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। आकार तथा द्रव्य का परस्पर भेद भिन्न-भिन्न रूप से हुआ करता है। मूर्ति में संगमरमर तो द्रव्य है और मूर्ति बनाने वाले के द्वारा किया गया रूप उसका आकार है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है तथा पाचन, चिन्तन आदि प्रवृत्तियों का संघात आकार है। अरस्तू की दृष्टि में एक ऐसी वस्तु विद्यमान है जिसे हम प्रकृति की सोपान-परम्परा कह सकते हैं, अर्थात् किसी भी आकारहीन द्रव्य से आरम्भ कर यदि हम सोपान-क्रम से बढ़ते जायँ तो हम जगत् के मूल में एक ऐसे पूर्ण व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जो कथमपि द्रव्य न होकर केवल आकार ही आकार है। यही है **ईश्वर**। अरस्तू की दृष्टि में ईश्वर स्रष्टा नहीं है, क्योंकि द्रव्य और आकार दोनों ही नित्य हैं; तथापि ईश्वर ही समस्त इच्छाओं तथा कामनाओं का केन्द्र है। वह इस जगत् का अचलित संस्कार है और उसके प्रति प्रेम ही वह साधन है जिसके कारण यह जगत् घूमता रहता है।

इसी सिद्धान्त से सम्बद्ध है अरस्तू की **हेतुचतुष्टय** की कल्पना। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु अपने अपने निर्माण के लिये चार कारणों की अपेक्षा रखती है—(१) **उपादान** कारण—(जैसे घड़े के लिये मिट्टी), (२) **असमवायी** कारण—(जैसे घड़े का आकार), (३) **निमित्त** कारण—(वह साधन जिसके द्वारा द्रव्य वह आकार ग्रहण करता है) जैसे कुम्भकार का दण्ड तथा चक्र आदि। (४) **लक्ष्य**—जिस उद्देश्य से किसी वस्तु का निर्माण होता है—जैसे घड़े के लिये

पानी का भरना। अरस्तू का कहना है कि एक ही स्थान पर चारों कारण[1] उपस्थित नहीं होते; उपादान तथा निमित्त कारण के आधार पर वस्तु की व्याख्या की जाती है और इन्हीं कारणों की व्याख्या करने से भौतिक विज्ञानों की उन्नति हुई है। चतुर्थ कारण की व्याख्या करने में मध्ययुगी ईसाई दार्शनिकों में बड़ा मतभेद है।

अरस्तू दार्शनिक होने के अतिरिक्त एक महनीय वैज्ञानिक था। उसने विज्ञान के विविध अंगों पर कुछ लिखा है, परन्तु जीव-विज्ञान (Biology) में उसका अन्वेषण नितान्त वैज्ञानिक तथा उपादेय रहा है। मनोविज्ञान के भी अनेक सिद्धान्त आविष्कृत किये थे। मनुष्य की वास्तविक शक्ति ज्ञान तथा विवेक के कारण है। विज्ञान आत्मा का रूप है। ज्ञान से पृथक् आत्मा का कोई रूप नहीं है। वह ज्ञान को दो प्रकार का मानता है:—(१) अनुभवाधीन ज्ञान और (२) अनुभव-निरपेक्ष ज्ञान। इनमें पहले की अपेक्षा दूसरा शुद्धतर है। मनुष्य का आचार के साथ विशेष सम्बन्ध अरस्तू मानता है। मनुष्य में अनुभव और विवेक होने के कारण मनुष्य का ध्यान आचार पर जाता है। आचार धर्म है और अधर्म दुराचार है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू—ये तीनों यूनान के बड़े भारी दार्शनिक थे। पश्चिमी जगत् में दर्शन तथा विज्ञान की नाना धाराओं का मूल इनके ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

यूनान-रोमन युग

अरस्तू के अनन्तर पश्चिमी जगत् में दर्शन तथा विज्ञान के ऊपर विचार करनेवाले तत्त्वज्ञानियों की एक विशिष्ट परम्परा जाग्रत होती है। रोम ने ग्रीस को जीत लिया, ग्रीस की स्वतन्त्रता जाती रही, परन्तु इस युग में उसकी सभ्यता का विस्तार हुआ। रोम ने ग्रीस को राजनैतिक क्षेत्र में अवश्य ही परास्त किया, परन्तु संस्कृति के क्षेत्र में वह ग्रीस के हाथों परास्त हो गया। इस युग में यूनानी तथा रोमन सभ्यताओं का सम्मिश्रण चरम उत्कर्ष पर था। यह युग आठ सौ वर्षों तक रहा (३२२ ई० पूर्व—४७६ ई०)। इस काल की विशेषता थी मानव-बुद्धि का तिरस्कार और संशय का उदय। अरस्तू के पीछे का दर्शन मुख्यतः नैतिक या धार्मिक है। **स्टोइक, एपिक्यूरियन तथा संशयवादी**— ये समस्त

---

१. इन चारों के अंग्रेजी नाम क्रमशः ये हैं—(I) Material Cause, (II) Formal Cause, (III) Efficient Cause, (IV) Final Cause। नैयायिकों की कारणकल्पना से इनसे अनेक अंश में साम्य है।

मत जीवन की नैतिक समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त थे। आचार ही इनका मुख्य विषय था। व्यावहारिक जीवन को सुखमय बनाना ही इनका ध्येय था। मन की शान्ति और बाहरी बन्धनों से आत्म-मुक्ति के ऊपर ये समग्र सम्प्रदाय आग्रह रखते थे। सुखवादियों ने परिणामवाद के सिद्धान्त को ग्रहण किया, **स्टोइक** लोगों ने सर्वेश्वरवाद तथा विश्ववाद का आश्रय लिया। **संशयवादियों** ने मानव बुद्धि के द्वारा सत्य की खोज करने में संशय प्रकट किया। स्टोइक लोग अपने आचार के लिये विशेष विख्यात हुए। उनकी कल्पना में यह विश्व एक जीवधारी वस्तु है, जिसका शरीर भी है और आत्मा भी है। यह एक और समग्र है। समस्त वस्तु इसी के अंग हैं। प्रकृति सार्वभौम बुद्धि से समन्वित है और उसका अनुकरण मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। इसीलिए उनका आदर्श है प्रकृति के अनुसार जीवन बिताना। वे संसार में 'भ्रातृभाव' के उपासक हैं। उनका कहना है कि सब मनुष्य भाई भाई हैं और ईश्वर ही उनका पिता है। इसी समय ग्रीस के मुख्य शहर सिकन्दरिया में पश्चिमी दर्शन के ऊपर पूर्वी धर्म का प्रभाव पड़ा और इस प्रभाव के बल पर एक नवीन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, जिसका नाम है—नियोप्लेटोनिज्म (Neo-Platonism)। इस मत में दर्शन तथा धर्म का अभूतपूर्व सम्मिश्रण था। इस मत के अनुयायी प्लाटिनस (२०४-७० ई०) का नाम विशेष विख्यात है। सिकन्दरिया दर्शन तथा विज्ञान का केन्द्र रहा। उसने गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र आदि नाना विज्ञानों के अन्वेषण में पश्चिमी जगत् में प्राचीन काल में अग्रसर रहा। ई० सन् के आरम्भिक पाँच शताब्दियों में यह धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में नेता था। ईसाई मत के प्रचार से इसे गहरा धक्का लगा। ईसाई मत धर्म और दर्शन दोनों का विरोधी था। फलतः ५२९ ई० में रोम के राजा जस्टिनीयन ने सिकन्दरिया के विद्यालय को सदा के लिये बन्द करा दिया। इस प्रकार पश्चिमी दर्शन के इतिहास में बड़े ही प्रौढ़, उन्नत तथा उपादेय युगका अवसान हुआ और अब जगत् के सामने दो ही वस्तु रह गईं, अज्ञान का गाढ़ अन्धकार और ईसाई धर्म की विशिष्ट प्रभुता।

(२)

मध्य युग

मध्य युग में अरबी, यहूदी और ईसाई तत्त्वज्ञानियों का नाम विशेष रूप से आता है। मुसलमानी विचारकों में प्रधान ये **अलकिन्दी** (नवम शतक), अलफराबी (९५० ई०), अवीसीना (९८०-१०३७ ई०) तथा अवेरोज

(११२६-११८९ ई०)। प्रथम तीन तो बगदाद में रहते थे और अन्तिम स्पेन के कारडोबा नगर में। इन लोगों ने अरस्तू के कतिपय सिद्धान्त तथा प्लेटो के कतिपय तथ्यों को ग्रहण कर अपना मत स्थापित किया। ईसाई विचारकों में स्काटस एरिजेना, एन्सेल्म, टामस ऐक्वाइनस, तथा डंस स्कॉटस मुख्य थे। इनमें अन्तिम दो दार्शनिक विशेष प्रख्यात हैं। इनका मुख्य उद्देश्य था दर्शन के साथ ईसाई मजहब के सिद्धान्तों का सामञ्जस्य दिखलाना और इसी प्रसंग में इन्होंने अनेक सिद्धान्त निकाले, जिनका व्यावहारिक मूल्य आजकल बिलकुल ही कम है।

(३)
अर्वाचीन काल

योरप के इतिहास में सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग जागृति या पुनरुत्थान का युग माना जाता है। इस समय मुसलमान तुर्कों ने ईसाई यूनान पर विजय पाई। यूनान के विद्वान् स्वदेश को छोड़कर इटली तथा अन्य देशों में फैल गये। उनके सम्पर्क में आने से अन्य देशों में यूनानी तत्त्वज्ञान का परिचय तथा प्रचार हुआ। मध्य-युग समाप्त हुआ और नवीन युग का मंगल प्रभात हुआ। इसी जागृति की अवस्था में नवीन विज्ञान तथा दर्शनों का उदय हुआ। इटली में ब्रूनों, इङ्गलैण्ड में फ्रान्सिस बेकन, और फ्रान्स में डेकार्ट आदि ने नवीन विचारों को जन्म दिया। इन्हीं विचारकों के ग्रन्थों के अनुशीलन से पश्चिमी जगत् में वर्तमान दार्शनिक युग का आरम्भ होता है।

(क) सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक

डेकार्ट

डेकार्ट (Descartes) १५९६-१६५० ई०–पाश्चात्त्य दर्शन के अर्वाचीन युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। ये गणितशास्त्र के पारगामी पण्डित थे। इस शास्त्र के अनुशीलन से ये इस परिणाम पर पहुँचे कि गणित के निश्चित गणना का कारण उसकी विशुद्ध आगमन प्रणाली है। गणितशास्त्र के मूल में कतिपय 'स्वयं सिद्ध' तथ्य हैं और इन्हीं से आगमन पद्धति के द्वारा नवीन तथ्य आविष्कृत किये जाते हैं। डेकार्ट ने दर्शन के तत्त्वों की समीक्षा के लिये इसी पद्धति का प्रयोग किया। उन्होंने देखा कि हम लोग ईश्वर के विषय में सन्देह करते हैं, जगत् के अनेक विषयों में सन्देह करते हैं। ऐसी दशा में हमारा सन्देह करना तो एक निश्चित वस्तु है। 'हम सन्देह करते हैं'—इस विषय में तो कभी सन्देह नहीं होता। अतः डेकार्ट ने सिद्धान्त निकाला कि सन्देह करनेवाली आत्मा की सत्ता

स्वतः सिद्ध है। एतद्विषयक उनका सिद्धान्त वाक्य है Cogito, ergo sum = "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ"। यही सिद्धान्त डेकार्ट के दर्शन का आधारशिला बना[६]। अतः डेकार्ट ने अपना सिद्धान्त निश्चित किया कि 'जो प्रतीति अभिव्यक्ति तथा निश्चित है वह अवश्यमेव सत्य है।' ईश्वर की प्रतीति नितान्त विशुद्ध तथा निश्चित है, अतः वह भी सत्य है। इसकी पुष्टि में उन्होंने सन्त अनसेल्म के तर्कों के आधार पर तर्क की भी अवतारणा की। ईश्वर नितान्त सत्य है, अतः वह किसी प्रकार का धोखा नहीं दे सकता। जगत् का अनुभव भी विशद तथा निश्चित है। अतः जगत् भी सत्यभूत पदार्थ है। जगत् ईश्वर के द्वारा निर्मित है, अतः अपने आधार तथा स्थिति के लिए वह ईश्वर पर आश्रित है। सृष्ट जगत् में दो मुख्य पदार्थ हैं—शरीर तथा मन (या विचारक आत्मा)। सन्त अगस्टाइन के समान डेकार्ट इन दोनों को आपस में नितान्त भिन्न मानता था, क्योंकि एक का दूसरे के ऊपर किसी प्रकार का सम्बन्ध या प्रभाव नहीं पड़ता है। मानव शरीर में आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध एक विचित्र घटना है। इसके लिए ईश्वर ही कारण माना जाता है। ईश्वर की अलौकिक तथा असंभावित सहायता से ही आत्मा शरीर में गति का मार्ग दिखलाता है, उसे उत्पन्न नहीं करता। डेकार्ट के दर्शन में इससे अलौकिकता Occasionalism का उदय हुआ, जिसके अनुसार शरीर और आत्मा में किसी प्रकार स्वतः सम्बन्ध नहीं है; प्रत्युत ईश्वर की अन्तःप्रेरणा से ही यह सम्बन्ध सम्पन्न होता है।

हाब्स

हाब्स Hobbes (१५८८–१६७९ ई०)—इङ्गलैंड का यह दार्शनिक अपने विचारों में पूरा जड़ प्रकृतिवादी था। उसके अनुसार जगत् में दो ही सच्चे पदार्थ हैं—द्रव्य और गति, जिनके परस्पर मिलने से संसार का प्रत्येक पदार्थ निर्मित हुआ है। यह डेकार्ट की अनैसर्गिक कल्पना का विरोधी और निसर्गवाद का पक्षपाती था। यह निसर्गवाद पूरा प्रकृतिवाद ही था। संवेदन तथा ज्ञान भी गति के ही प्रकार हैं, मन (या आत्मा) द्रव्यरूप है। ईश्वर इस जगत् का प्रथम मूल कारण है; इस सिद्धान्त का हाब्स ने खण्डन नहीं किया। उसका विश्वास था कि ईश्वर के विषय में हम कोई भी बात नहीं जान सकते। हाब्स का मुख्य कार्य आचार-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र में था। वहाँ भी उसने अपने सिद्धान्तों में खण्डन की ही प्रवृत्ति जाग्रत की।

स्पिनोजा

स्पिनोजा Spinoza (१६३२–१६७७)—इस शताब्दी का प्रभावशाली विचारक था। तत्कालीन दार्शनिकों में वही सर्व-प्रथम बुद्धिवादी दार्शनिक था जिसने मध्य युग के अनिसर्गवाद का युक्तियों से खण्डन कर निसर्गवाद तथा बुद्धिवाद का प्रबल और प्रामाणिक समर्थन किया। उसकी दृष्टि में बाइबिल के सत्य को भी प्रमाण मानने के लिए तर्क की कसौटी पर भली-भाँति कसना पड़ेगा। इसलिए हम स्पिनोजा के विचारों में निसर्गवाद तथा बुद्धिवाद को साथ-साथ सम्बद्ध पाते हैं, परन्तु इसका निसर्ग तत्त्व हाब्स का निसर्ग तत्त्व नहीं है। स्पिनोजा का 'निसर्ग' स्वयं ईश्वर ही है। इसके निसर्ग तत्त्व में भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के लिए, मानवीय तथा दिव्य वस्तुओं के लिए स्थान है। वह सर्वेश्वरवादी था। उसका सिद्धान्तवाक्य संस्कृत में इस प्रकार है—विश्वम् ईश्वरः, ईश्वरश्च तद् विश्वम् = सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है। यही उसका मुख्य सिद्धान्त है। इसकी पुष्टि में उसका कथन है कि जगत् के समग्र पदार्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे के ऊपर अवलम्बित हैं, परन्तु कोई ऐसा स्वतन्त्र तत्त्व (Substance) अवश्य है जो इन पदार्थों का आधार-स्थानीय है। वह कोई बाहरी सत्त्व नहीं है। वही है प्रकृति Nature = ईश्वर। स्पिनोजा के अनुसार तीन मुख्य परिभाषायें हैं—(क) सत्त्व Substance, (ख) धर्म Attribute, (ग) प्रकार Mode. प्रकृति या ईश्वर एक रूप है, सर्वव्यापक, अनन्त और परिपूर्ण है। वह स्थितिशील न होकर गतिशील है। वह जगत् का क्षणिक या बाह्य कारण नहीं है, किन्तु वह उपादान और वास्तव सत्ता है। ईश्वर के अनन्त धर्म हैं, जिनमें दो मनुष्य को गोचर होते हैं—(१) विस्तार और (२) ज्ञान। भौतिक पदार्थ और घटना में विस्तार की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं, मानसिक विचार तथा अनुभव ज्ञानशक्ति के प्रकार हैं। ये अनन्त प्रकार कभी नष्ट नहीं होते, क्योंकि ईश्वर जिसके ये प्रकार हैं सर्वदा विद्यमान रहता है। स्पिनोजा का ईश्वर देहधारी व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं, अपितु व्यक्तित्व से ऊपर Supra personal है। तथापि इस कारण वह अल्प भक्ति का भाजन नहीं है। उसके मत में जीव जब ईश्वर तथा विश्व के एकाकार ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, तब उनके हृदय में उसके लिए बौद्धिक भक्ति तथा प्रेम का उदय होता है। स्पिनोजा के अनुसार यही मानव का लक्ष्य है।

स्पिनोजा के सिद्धान्त की तुलना हमारे वेदान्तियों से की जा सकती है। स्पिनोजा का मत हमारे विशिष्टाद्वैत मत से आश्चर्यजनक साम्य रखता है, परन्तु

उनमें अन्तर यही है कि रामानुज का ईश्वर चित् और अचित् से विशिष्ट होने पर सगुण है और स्पिनोजा का मूल सत्त्व निर्गुण है। जिस प्रकार शङ्कराचार्य एक सत्ता ब्रह्मरूप से मानते हैं; स्पिनोजा भी यही मानता है। उसका ईश्वर निर्गुण है, तथापि वह अद्वैतियों के निर्गुण ब्रह्म की समता नहीं करता, क्योंकि विस्तार को ईश्वर का धर्म मानने पर वह वस्तुतः निर्गुण कैसे माना जा सकता है?

लाइबनिज़

लाइबनितज़ Leibniz (१६४६–१७१६ ई०)—इस जर्मन तत्त्ववेत्ता ने Monadism शक्त्यणुवाद को प्रतिष्ठित किया। इनकी दृष्टि में जगत् के समस्त पदार्थ, साथ साथ दिक् भी किसी प्रकार की वास्तव सत्ता नहीं रखते, प्रत्युत ये मन की अनुभूति के भीतर प्रतीतिमात्र हैं। पदार्थों की सत्ता उनके अनुभव पर आश्रित है। अतः वे पदार्थों की मानसिक सत्ता मानते हैं। चित्त (आत्मा) ही एकमात्र वस्तुतत्त्व है। जगत् में शक्त्यणु (चिद्बिन्दु) ही सर्वत्र विद्यमान हैं। इनमें एक प्रकार की ही चेतना शक्ति नहीं है; कुछ तो सुप्तावस्था में हैं, कतिपय स्वप्नलोक के समान चैतन्य से सज्जित हैं, कतिपय शक्त्यणु जाग्रत हैं और विशुद्ध ज्ञान से सम्पन्न हैं, परन्तु ईश्वर (शक्त्यणुओं का शक्यणु) अतीव तीव्र तथा अतिशय क्रियाशील चैतन्य से मण्डित है। ईश्वर को हम आत्माओं का आत्मा या उपनिषत् के शब्दों में **'चेतनश्चेतनानाम्'** चेतनों का चेतन कह सकते हैं। शक्त्यणु संख्या में अनन्त हैं, तथा क्रम में भी अनन्त हैं। शक्त्यणु स्वतः परिपूर्ण है, उसे दूसरे से किसी प्रकार का ग्रहण-त्याग नहीं होता। ईश्वर ने ही इन्हें उत्पन्न किया है और उनकी सृष्टि ही इतनी अनुपम है कि जीवों में प्रत्येक प्रकार से सामञ्जस्य तथा आनुकूल्य बना रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने समय को ठीक एक साथ रखने के लिये अनेक घड़ियों को चला रखा है। इसी प्रकार जीव किसी प्रकार अपना जीवन बितावें, दूसरे जीवों से उनका जीवन अनुकूल ही रहता है। यह ईश्वर की व्यवस्था का सुपरिणाम है। लाइबनिज़ की दृढ़ धारणा है कि अन्तिम सत्ता एक है और जीव नित्य है। इसकी सिद्धि अनेक युक्तियों के बल पर उसने की है।

लाक

लाक Locke (१६३२–१७०४)—इस अनुभववादी दार्शनिक ने एक नवीन तथा आवश्यक विषय की ओर विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट की। अबतक दार्शनिक लोग तत्त्वज्ञान या धर्म के विषय में नाना प्रकार की धारणायें कल्पित करते थे, परन्तु लाक की दृष्टि में मानवबुद्धि (प्रज्ञा) के सामर्थ्य की मीमांसा

प्रथमतः आवश्यक है कि वह इन विषयों की पर्याप्त समीक्षा कर सकती है या नहीं ? अनुभूति के समीक्षण से पहिले उसके साधनभूत बुद्धि की समीक्षा आवश्यक है, ज्ञान की अवधि जानना जरूरी है; क्या ज्ञेय है और क्या अज्ञेय है ? यह जानना पहिले आवश्यक है। इसीलिए लाक ने प्रज्ञापरीक्षा के विषय में विचारपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनके समीक्षण का फल यह है:—(क) हमारा ज्ञान संवेदनों पर आश्रित रहता है; हमारी प्रज्ञा संवेदनों की व्याख्या करती है, संवेदनों को एक समूह में जोड़ती है, परन्तु उनमें स्वयं कुछ जोड़ नहीं सकती। (ख) वस्तुओं में दो प्रकार के वर्ग होते हैं—(१) मुख्य (=विस्तार, आकार, घनत्व, संख्या और क्रिया); (२) **गौण** (रूप, रस, गन्ध, शब्द) संवेदन अधिक से अधिक मुख्य धर्मों की अनुकृति हैं। गौण धर्मों के संवेदन बाह्य वस्तु की अनुकृति नहीं हैं, प्रत्युत ये मुख्य धर्म के द्वारा हममें उत्पादित आन्तर अनुभव या मानसिक अनुभूति हैं। (३) पदार्थों (शरीर और आत्मा) का हमारा बोध कल्पनामात्र है। इन्द्रियजन्य अनुभव शरीर और आत्मा के स्वरूप का बोध नहीं कराता। इसलिए हम नहीं कह सकते कि आत्मा एक भौतिक सत्ता है या आध्यात्मिक पदार्थ है। (४) फलतः हम किसी भी पदार्थ के वस्तु-तत्त्व—सार वस्तु को नहीं जान सकते। अपने अनुभव तक ही मानव सीमित रहता है। अनुभव से हम इतना ही जानते हैं कि हमारी केवल सत्ता है, हम विद्यमान हैं—इससे अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते। प्रतिभा के बल पर ही हम आदि कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व जान सकते हैं। लाक के आचार-सम्बन्धी विचारों में भी अनुभववाद भरा हुआ है। इनके दर्शन में ईश्वरवाद का स्थान है। इनके मत से ईश्वर भी उन्हीं कार्यों को भला समझता है, जिसके करने से कर्ता को सुख और समाज की स्थिति हो। इसलिए ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना ही हमारा धर्म है।

सत्रहवीं शताब्दी के ये पाँच दार्शनिक अपने मौलिक विचारों तथा कल्पनाओं के लिए विशेषतया मान्य हैं। जिन सिद्धान्तों की इन्होंने समीक्षा की उन्हीं की ओर अगली दो शताब्दियों के तत्त्ववेत्ताओं ने अपना विचार प्रवर्तित किया।

(ख) अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक

सत्रहवीं शताब्दी में यन्त्र-विज्ञान (Mechanics) ने विशेष उन्नति की। यह जड़-द्रव्य और गति के द्वारा ही समग्र जगत् के निर्माण तथा घटनाओं की व्याख्या करता है। यन्त्रविज्ञान के सिद्धान्त का उपयोग तत्कालीन विद्वानों में

दर्शन के तत्त्वों की समीक्षा के लिए भी किया। फलतः उस शताब्दी के दर्शन में जडदेहवाद का सिद्धान्त ही सर्वत्र व्यापक था।

बर्कले

इसी सिद्धान्त का खण्डन बिशप बर्कले Bishop Berkley (१६८५–१७५३ ई० का मुख्य कार्य था। उनका सिद्धान्त जडदेहवाद का विरोधी अध्यात्मवाद (Idealism) था। उन्होंने लाक के अनुभववाद को स्वीकार कर उसके आधार पर नवीन तथ्यों का अनुसन्धान किया। इन्होंने सिद्ध किया कि मुख्य गुणों या अवान्तर गौण गुणों के संवेदन अथवा प्रत्यय (Idea) बाह्य वस्तु की प्रतिकृति (Copy) नहीं है, क्योंकि बाह्य वस्तु नाम की कोई भी चीज संसार में नहीं है। ये आन्तरिक अनुभूतिमात्र हैं। प्रत्यय प्रत्यय की ही समानता रख सकता है, जड़ पदार्थ अथवा उसके गुणों की नहीं। ऐसी दशा में बाह्य वस्तु की सत्ता मानना अप्रमाणिक तथा अनावश्यक है। स्वयं लाक का भी इस विषय में यही कहना है कि द्रव्य का ज्ञान स्पष्ट रीति से किसी को नहीं हो सकता। इस पर बर्कले का कथन है कि यदि द्रव्य का ज्ञान हो सकता है, तो वह गुणों के द्वारा ही जाना जा सकता है। हम गुणों के बाहर नहीं जा सकते। यदि खड़िया में से सफेदी, आकार, विस्तार, भारीपन आदि गुण निकाल दिये जायँ, तो बच ही क्या रहता? बर्कले के अनुसार ज्ञान में आना अथवा अनुभव का विषय होना ही 'सत्ता' है। उनका मूल सूत्र है—सत्ता दृष्टि (Esse est pericipi)। अनुभूति होना ही घट की सत्ता है। यदि घट हमारे ज्ञान में नहीं आ रहा है, तो क्या प्रमाण है कि वह विद्यमान है? जब पदार्थों का अनुभव नहीं होता, तब या तो वे एकदम अभाव रूप हैं अथवा किसी नित्य चेतन पुरुष के ही मन में उनकी सत्ता विराजती है। प्रश्न किया जा सकता है कि जब पदार्थ प्रत्ययमात्र हैं, तब क्या कारण है कि वे नियमित रूप से कोई न कोई प्रभाव या कार्य उत्पन्न करते हैं? इसके उत्तर में उनका कहना है कि ईश्वर ने मनमाने ढंग से वस्तुओं और उनके प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अतः सत्य वस्तुयें हैं—ईश्वर, ईश्वर के द्वारा सृष्ट चेतन व्यक्ति या जीव और अनेक प्रत्यय या अनुभूति, जो एक विशिष्ट परम्परा में ईश्वर के द्वारा निर्दिष्ट की गई हैं। इनकी ही सत्यता सर्वतोभावेन मान्य है, बाह्य वस्तुओं की नहीं। बर्कले का मत बौद्धों में विज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। दोनों बाह्य पदार्थ की सत्ता न मानकर केवल प्रत्यय या विज्ञान की ही सत्ता मानते हैं।

ह्यूम

ह्यूम Hume (१७११–७६ ई०) ह्यूम का कहना है कि लाक और बर्कले के विचारों का पर्यवसान 'संशयवाद' में है। लाक ने अपनी समीक्षा के द्वारा बतलाया कि बुद्धि के द्वारा हम किसी भी पदार्थ के मौलिक सार को जान नहीं सकते; बर्कले ने दिखलाया कि भौतिक वस्तु या भौतिक कार्यकारण मिथ्या है, जीवों की सत्ता पर इन्होंने आग्रह दिखलाया। इस पर ह्यूम का कहना है कि जिस प्रणाली से बर्कले बाह्य सत्ता का निषेध करते हैं, उसी के द्वारा मानस सत्ता का भी निषेध भली-भाँति किया जा सकता है। बर्कले आत्मा की सत्ता प्रतिभान (Intution) के आधार पर मानते हैं, परन्तु ह्यूम कहता है—"जब कभी मैं उस वस्तु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध में आता हूँ जिसे अपना स्वरूप (आत्मा) कहा जाता है, तो मैं किसी विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही फिसल पड़ता हूँ, अपने 'स्व' को मैं कभी नहीं पकड़ पाता हूँ"। परिवर्तनशील अनुभवों का आवागमन ही सत्य वस्तु है। जगत् में केवल सम्भाव्यता ही विद्यमान है, निश्चितता नहीं। अतः आत्मा बुद्धि से अननुभूत, अस्थिर तथा अज्ञात पदार्थ है। अनुभव ही सत्य है, न अनुभव कर्ता और न अनुभवगम्य वस्तु। ह्यूम स्वयं अपने को 'संशयवादी' (Sceptic) कहता है।

काण्ट

काण्ट Kant (१७२४–१८०४)—ह्यूम की विचार धारा का पर्यवसान था—**संशयवाद**। संशयवाद ने प्रत्यय (या विचार) और बाह्य जगत् के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी। अब तक के दार्शनिकों के विचार का परिणाम था विषयी और विषय की भिन्नता, बाह्य जगत् और आन्तर जगत् का पार्थक्य। काण्ट ने यह खाई पाट दी। उनका सिद्धान्त था Trancendentalism **विश्वातीतता**। इन्होंने ज्ञान की मीमांसा बड़े विवेक के साथ की है। काण्ट ने मानसिक शक्तियों की समीक्षा के लिए तीन विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे—(१) बुद्धि के सम्बन्ध में **शुद्धबुद्धिपरीक्षा** (Critique of Pure Reason), (२) संकल्प के सम्बन्ध में **कृत्य-शुद्धिपरीक्षा** (Critique of Practical Reason), (३) भावना के सम्बन्ध में **निर्णय-परीक्षा** (Critique of Judgment)। ये तीनों ग्रन्थ उच्चकोटि के माने जाते हैं। काण्ट की दृष्टि में मनुष्यों में ज्ञान की दो शक्तियाँ होती हैं—पहली है इन्द्रियाँ और दूसरी है बुद्धि। इन्द्रिय-शक्ति (Sensibility) का काम तरह-तरह के असम्बद्ध संवेदनों को प्रस्तुत करना है और बुद्धि का कार्य है प्रस्तुत किये गये संवेदनराशि

(Sense-manifold) में विभिन्न सम्बद्ध स्थापित करना। यदि बुद्धि इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापन न करे, तो हमें किसी प्रकार का अनुभव ही नहीं हो सकता। हमारा सारा ज्ञान बुद्धि की बारह संज्ञाओं द्वारा व्यवहृत होता है। जितने प्रकार की तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञायें हो सकती हैं, उतनी ही संज्ञायें (Categories) हैं। निर्णयों के चार मुख्य वर्ग हैं—परिमाण, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। इनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार काण्ट के अनुसार संज्ञाएं बारह प्रकार की होती हैं। काण्ट के मन्तव्यानुसार अनुभव को हम दो भागों में समझ सकते हैं—अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा के बाहर रहने वाला बाह्य जगत् है और दूसरा तत्त्व अर्थात् सम्बन्धों का स्रोत हमारी बुद्धि है। इस प्रकार प्रत्येक अनुभव में दोनों तत्त्वों का समन्वय रहता है। अतः वे अनुभववाद तथा बुद्धिवाद के सामञ्जस्य के पुरस्कर्ता हैं। वस्तु सत्ता दो प्रकार की होती है—

(१) **अनुभव-निरपेक्ष** a priori, जिसके उत्पादन में अनुभव की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसके अभाव में अनुभव स्वतः असम्भव हो जाता है। देश और काल, द्रव्य, गुण, कार्य, कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना इसी श्रेणी में की जाती है।

(२) **अनुभव-सापेक्ष** a posteriori इन्द्रियों के द्वारा प्रस्तुत पदार्थों की सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। अनुभव इनके विशुद्धरूप को प्रकट नहीं करता, प्रत्युत पूर्वनिर्दिष्ट सम्बन्धों के द्वारा इनका विकृत रूप ही अभिव्यक्त करता है। प्रज्ञा में शुद्ध-वस्तु (Thing in-itself) के प्रकट रहने का सामर्थ्य नहीं है। जगत् में उसकी जो प्रतीति होती है उसी को प्रकट करने की क्षमता प्रज्ञा में है। कुछ पदार्थ अनुभव के बिल्कुल बाहर होते हैं—जैसे ईश्वर और भविष्य जीवन। बुद्धि न तो इन्हें सिद्ध कर सकती है और न असिद्ध; वे बुद्धिगम्य न होकर श्रद्धागम्य होते हैं। उनका अस्तित्व श्रद्धा बतलाती है। ईश्वर, इच्छास्वातन्त्र्य और अमरत्व—ऐसे विषय हैं जिनका अस्तित्व तर्क के बल पर सिद्ध नहीं किया जा सकता, परन्तु व्यवहार की सिद्धि के लिये इन्हें मानना ही पड़ता है। कृति-बुद्धि की परीक्षा से काण्ट इस सिद्धान्त पर पहुँचता है कि आचार का विषय अनुभव से स्वतन्त्र होता है। इनके मत से कर्तव्यकर्म वही है जिसे यदि सब लोग करें तो किसी प्रकार की बाधा न पड़े। ऐसा कर्तव्य कर्म किसी लाभ के लिए नहीं किया जाता, बल्कि कर्तव्यबुद्धि से करना चाहिए। कर्तव्य के साथ शक्यता की भावना भी लगी हुई रहती है। यदि कर्तव्य कर्म मनुष्य की शक्ति के बाहर होते हैं, तो मनुष्य उनके लिए उत्तरदायी नहीं

होता। कर्म के विषय में काण्ट का मत भगवद्गीता के कर्मयोग के साथ विशेष मिलता है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"—गीता कहती है और यही काण्ट का भी सिद्धान्त है (Categorical Imperative)। जिस प्रकार बाह्य जगत् की सत्ता का प्रमाण हमें भौतिक विज्ञान के द्वारा उपलब्ध होता है, उसी प्रकार ईश्वर तथा अमरता का प्रमाण हमें नैतिकता की स्वतन्त्र सत्ता के बल पर मिलता है।

(ग) उन्नीसवीं शताब्दी के तत्त्ववेत्ता

अध्यात्मवाद--मानव विचारधारा के इतिहास में इस शताब्दी का बहुत ही अधिक महत्त्व है। इस महत्त्व का कारण यह है कि अनेक विचारों के स्रोत इस युग में उत्पन्न होते हैं और ये ही आगे चलकर विराट् रूप धारण कर लेते हैं। इस युग की प्रधान विचारधारा है--**अध्यात्मवाद** (Idealism)। महामति काण्ट ने वस्तुतत्त्व या कूटस्थ अथवा शुद्ध वस्तु (Thing-in-itself) के विषय में मनमानी कल्पना करने के विरोध में विचारकों को चेतावनी दी थी, साथ ही उनके ग्रन्थों में उपलब्ध विचारों से तत्त्वज्ञानियों को प्रेरणा मिली और उन लोगों ने इस विषय की ओर अपने विचारों का प्रवाह अग्रसर किया। काण्ट ने जिसका निषेध किया था उसी की ओर इस युग के विचारक आगे बढ़े। ऐसे विचारकों में तीन तत्त्ववेत्ता नितान्त विख्यात हैं—फिश्ते, शेलिंग और हेगल।

फिश्ते (Fichte; १७६५–१८१४ ई०)—काण्ट के पश्चाद्वर्ती जर्मन दार्शनिकों में आद्य दार्शनिक था। उसने काण्ट के सिद्धान्त को ही प्रकारान्तर से विकसित किया। उसके सिद्धान्त में काण्ट और स्पिनोजा के सिद्धान्तों का समन्वय दीख पड़ता है। काण्ट के समान वह नैतिक आदर्श को स्वीकार करता है और स्पिनोजा के समान दोनों जगत् की एकता को मानता है। अद्वैत तत्त्व और स्वातन्त्र्य—नैतिक तत्त्व तथा अध्यात्मतत्त्व की एकता उसके सिद्धान्त का मुख्य आधार है। फिश्ते के अनुसार सत्ता है श्रेयस्, शुद्ध संकल्प तथा नैतिक आत्म-तत्त्व। साधारण जन इस दृश्यमान जगत् को ही वास्तव और सत्य मानते हैं, परन्तु फिश्ते के अनुसार यह केवल मूल-तत्त्व की प्रतिलिपि या अनुकरणमात्र है। सबसे श्रेष्ठ तत्त्व जहाँ से हम लोग आते हैं और जिधर जाने का प्रयत्न करते हैं **सत्ता** नहीं, प्रत्युत **कर्तव्यपरायणता** है। यह वह पदार्थ है जिसके विषय में हम 'है' नहीं कह सकते, प्रत्युत 'होना चाहिए' कह सकते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर सत्ता नामक कोई पदार्थ नहीं है,

जिसे हम पदार्थ के नाम से पुकारते हैं; वह तो केवल आभास-मात्र है। यह तो समग्र प्रगति है, इच्छा है। निरपेक्ष तत्त्व अथवा काण्ट का शुद्ध वस्तु-तत्त्व 'शुद्ध संकल्प' (Pure will) ही है, जो नैतिक प्रत्यय का एक प्रतिनिधि है। यह समग्र जगत् इसी मूल तत्त्व 'शुद्ध संकल्प' का विकास मात्र है। इस प्रकार दार्शनिक विचार इसी बात में है कि हमें अपने हृदय में तथा दूसरे के हृदय में विश्वास दिलाना है कि सत्ता कुछ भी नहीं है, कर्तव्यपरायणता ही सब कुछ है। इस प्रकार फिश्ते का मुख्य सिद्धान्त है—नैतिक संकल्प की अद्वैतता (Monism of the moral will)

फिश्ते के दर्शन का सार यही है कि अहं-आत्मा (Ego) अनात्मा (जगत्) को पैदा करता है और अनात्मा आत्मा के ज्ञान का विषय बनकर अहं को स्पष्टता प्रदान करता है। अहं को अपनी पूर्ण शक्तियों के विकास के लिए अनात्मा की आवश्यकता होती है। अनात्मा आत्मा से ही एक प्रकार की अनुद्बुद्ध दशा में उत्पन्न होता है। उत्पत्ति के समय अहं को 'अनहं' का (Non-ego) का ज्ञान नहीं होता। अनहं अपने अस्तित्व के लिए सदा अहं की अपेक्षा रखता है, क्योंकि विषयी आत्मा के द्वारा विना ज्ञात हुए अनात्मा की सत्ता ही नहीं रहती! इसी प्रकार अहं को भी अनहं की आवश्यकता रहती है, क्योंकि विना अनहं की सत्ता के अहं का ज्ञान हमें पूर्ण रूप से हो नहीं सकता। इस प्रकार फिश्ते के विचारों का निष्कर्ष यह है—वस्तु-तत्त्व भी मन की ही उपज है। समग्र अनुभव जगत्, केवल आकार ही नहीं, निरपेक्ष आत्मा (ब्रह्म) के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। निरपेक्ष आत्मा अपने को दो भागों में विभक्त करता है—ज्ञाता (जानने वाला आत्मा) और ज्ञेय (ज्ञान गम्य पदार्थ)। जीव की नैतिक पूर्णता के लिए यह आवश्यक होता है कि विषय की सत्ता अवरोध के रूप से मानी जाय और इन्हीं अवरोधों को दूर कर उन्नति करना आत्मा का ध्येय होता है। इसी कारण नाना जीवों की सत्ता है, अन्यथा परस्पर नैतिक आचरण करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु ये जीव वस्तुतः नाना नहीं हैं; ये एक ही नैतिक व्यवस्था या संस्थान (Moral order) अथवा वैदिक भाषा में 'ऋत' के अभिव्यंजना मात्र हैं। यह 'ऋत' ही निरपेक्ष तत्त्व, ईश्वर या ब्रह्मरूप है।

शेलिङ्ग

शेलिङ्ग (Shelling; १७७५-१८५४ ई०) फिश्ते के शिष्य होने पर भी दार्शनिक विचारों में उससे पार्थक्य रखता है। ये फिश्ते के निरपेक्ष वस्तु के

पूर्वोक्त सिद्धान्त को सत्य नहीं मानते। फिश्ते का तो यही मत था कि कूटस्थ्य तत्त्व आत्मा ही है और यही अपनी अनिच्छा से तथा अनजान दशा में इस जगत् (अनात्मा) को उत्पन्न करता है, तथा अपने स्वतन्त्र एवं ज्ञानपूर्वक किये गये उद्योगों से उसे अपने वश में करता है—शेलिंग को यह मत ग्राह्य नहीं है। अनुद्बुद्ध या अनजान दशा में जगत् की सृष्टि आत्मा से मानने का अर्थ यह है कि आत्मा सृष्टि काल में अज्ञ है, परन्तु यह तो ज्ञानात्मक आत्मा के स्वरूप को हानि पहुँचाता है। क्या अज्ञ आत्मा हो सकता है? दूसरा दोष यह भी ठहराता है कि आत्मा और अनात्मा अन्योन्याश्रित कल्पनायें हैं—विषयों की सत्ता हो, तो ज्ञातारूप आत्मा माना जाय। उधर ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो, तो ज्ञेय संसार भी सिद्ध हो। फलतः यह कहना अनुचित है कि आत्मा की उत्पत्ति अनात्मा से हुई, या आत्मा की उत्पत्ति अनात्मा से हुई।

इसलिए शेलिंग का निरपेक्ष तत्त्व (Absolute) अहं तथा अनहं—आत्मा तथा अनात्मा—दोनों से परे पृथक् तथा स्वतन्त्र है, क्योंकि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष के कारण न तो आत्मा ही स्वयंभू तथा स्वतन्त्र है और न अनात्मा ही। यह निरपेक्ष तत्त्व दोनों का मूल है जहाँ से आत्मा भी निकलता है और अनात्मा भी निकलता है। अतः शेलिंग के अनुसार न तो आत्मा से अनात्मा की उत्पत्ति हुई (जैसा संविद्वादी मानते हैं) और न अनात्मा से आत्मा का उदय हुआ (नास्तिकवादी); प्रत्युत ये दोनों आत्मा और अनात्मा—मूल तत्त्व की सांसारिक सृष्टि हैं, जिनमें वह स्वयं व्यंजित रहता है। ज्ञान की पूर्णता के लिए दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। अतः शेलिंग की दृष्टि में दर्शन के दो भेद हैं—आत्मशास्त्र और प्रकृतिशास्त्र। शेलिंग का मूल तत्त्व फिश्ते की कल्पना से विलक्षण है। मूल तत्त्व न तो आत्मा है और न अनात्मा ही है; यद्यपि वह इन दोनों का कारण है। वह एक निर्गुण निरपेक्ष सत्ता है, जिसमें विरोधी भावनाओं का समन्वय होता है। अतः हम एक वाक्य में कह सकते हैं कि शेलिंग का निरपेक्ष तत्त्व (जो अद्वैतवादियों के निर्गुण ब्रह्म के समान है) ज्ञाता और ज्ञेय अथवा विषयी और विषय (काण्ट) की, अथवा अहं और अनहं (फिश्ते) की अथवा विचार और विस्तार (स्पिनोजा) की समन्वय भूमि है।

शेलिंग की 'प्रकृति' कल्पना नितान्त उदात्त है। वे प्रकृति को जीवित और चेतन मानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो वह जीवित प्राणियों को किस प्रकार जन्म देती है। प्रकृति 'विचार' की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। प्रकृति में सर्वत्र

सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। चेतन तथा प्रकृति सौंदर्य एवं अभिरामता से परिपूर्ण है। मन निरपेक्ष तत्त्व की उपलब्धि बुद्धि या क्रियारूप से नहीं करता, बल्कि प्रकृति तथा कला में सौंदर्य की भावना के रूप में ही करता है। कला, धर्म तथा दैवी स्फूर्ति एक ही वस्तु है और ये दर्शन से भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञान ईश्वर की कल्पना करता है। कला तो साक्षात् ईश्वर है; ज्ञान भगवान् का काल्पनिक सान्निध्य है और कला भगवान् का वास्तव सान्निध्य है। दार्शनिक जगत् में शेलिंग का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने प्रकृति की वास्तव सत्ता एक प्रकार से प्रमाणों से उद्धार कर परिपुष्ट किया—उद्धार किया अध्यात्मवादी कल्पनाओं से जो प्रकृति को केवल आभासमात्र मानती थीं। भौतिक जगत् सर्वत्र सौंदर्य तथा लालित्य से परिपूर्ण है और यही सौंदर्य-भावना उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रबल समर्थक प्रमाण है। जिस प्रकार मन निरपेक्ष तत्त्व (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार प्रकृति भी उसकी एक अभिव्यक्ति है। इसका फल यह हुआ कि निरपेक्ष तत्त्व न तो मन है, न भौतिक पदार्थ, यद्यपि वह अपने को इन दोनों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। फलतः शेलिंग के मन्तव्यानुसार मूल तत्त्व एक अज्ञात वस्तुतत्त्व के रूप में प्रकट होता है।

हीगल

हीगल (Hegel १७७०–१८३१ ई०)—जर्मनी के उच्चकोटि के विचारकों में अग्रगण्य हैं। काण्ट की अपेक्षा उनका नम्बर दूसरा है; परन्तु व्यापक प्रभाव तथा महत्त्व की दृष्टि से वह काण्ट के समकक्ष का तत्त्ववेत्ता है। हीगल की 'वस्तु-तत्त्व' की धारणा पूर्वोक्त दोनों दार्शनिकों से विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। फिश्ते के अनुसार वस्तुतत्त्व आत्मा ही है, जो अज्ञात कृत-शक्ति से प्रपञ्च की उत्पत्ति करता है और अनन्तर स्वतन्त्र तथा ज्ञान पूर्वक उद्योग से उस प्रपञ्च को अपने वश में कर लेता है। शेलिंग के अनुसार वह परम तत्त्व न तो आत्मा है और न अनात्मा; बल्कि दोनों का मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यवसान होता है। यह निर्गुण तत्त्व है जिसमें समग्र विरोधों का अन्त हो जाता है। हीगल का मत इन दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार आत्मा और अनात्मा का मूल कारण सत्ता को अतिक्रमण नहीं करता, प्रत्युत इस सत्ता के भीतर ही वह रहता है। मन और प्रकृति एक प्रकार के आवरण नहीं हैं जिनके पीछे असंग तथा निर्जीव ईश्वर छिपा हुआ रहता है, प्रत्युत वे ईश्वर के परिवर्धमान प्रकार हैं। निरपेक्ष (ब्रह्म) निष्क्रिय नहीं है, वह सक्रिय है। वह मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व नहीं है, बल्कि वही क्रमशः प्रकृति और आत्मा के रूप में

अपने को परिणत करता है। यह क्रमिक विकास, पदार्थों की यह शाश्वत उत्पत्ति वही निरपेक्ष तत्त्व है। शेलिंग के अनुसार पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं जो इसी कारण पदार्थों से पृथक् सत्ता रखता है, अर्थात् शेलिंग का ब्रह्म पदार्थों से निरपेक्ष स्वतन्त्र तथा पृथक् रहता है, परन्तु हीगल का ब्रह्म प्रक्रिया-स्वरूप है। यह क्रिया तथा जीवन उत्पन्न नहीं करता, बल्कि वह स्वयं क्रिया और जीवन रूप ही होता है। वह वस्तुओं तथा पदार्थों को अतिक्रमण नहीं करता, प्रत्युत वह पदार्थों में भी व्याप्त रहता है। वह मानव बुद्धि को भी अतिक्रमण नहीं करता। इसी सिद्धान्त को हम भारतीय दर्शन की शब्दावली में कह सकते हैं कि हीगल का ब्रह्म 'विश्वातीत' न होकर 'विश्वानुग' है। वह ब्रह्म ही बुद्धि-तत्त्व है जो निर्जीव पदार्थ और सजीव प्रकृति के रूप में विकसित होता हुआ अन्त में मनुष्य रूप में विकसित होता है।

हीगल की दृष्टि में बुद्धि के क्रम को निश्चय करने वाला तर्कशास्त्र ही मुख्य-शास्त्र है। हीगल की यह प्रसिद्ध उक्ति है[1] कि जो कुछ वास्तविक या तात्त्विक है वह बुद्धिमय (Rational) है और जो कुछ बुद्धिमय या बुद्धिगम्य है वह वास्तविक है। इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि अनुभव-जगत् के समग्र क्षेत्रों में बुद्धि का राज्य विराजमान है। वैज्ञानिक लोग तो भौतिक जगत् के क्षेत्र में ही बुद्धि का राज्य मानते हैं, परन्तु हीगल इससे भी आगे बढ़ता है। वह जीव जगत् और चेतना-जगत् को भी बुद्धितत्त्व (नियमशीलता) का अधिष्ठान मानता है। उसकी दृष्टि में मानवबुद्धि तथा विश्व प्रक्रिया में व्याप्त बुद्धितत्त्व एक ही है। इसका अभिप्राय यह है कि विश्व की प्रत्येक घटना पूर्णतया नियन्त्रित तथा नियमित रहती है। और इसकी सूचना देती है हमारी बुद्धि। हमारी बौद्धिक धारणायें केवल हमारी ही धारणायें नहीं हैं, बल्कि वे वस्तु सृष्टि के नियमों की प्रतीक हैं। इस प्रकार बुद्धि तथा विश्व में, ज्ञाता तथा ज्ञेय में, कोई द्वैत नहीं है। ये दोनों एक ही बुद्धि तत्त्व (Reason) की अभिव्यक्तियाँ हैं।

हीगल इस विश्व-प्रक्रिया में क्रमिक विकास मानता है। बुद्धितत्त्व क्रमशः विकसित होकर पूर्णत्व प्राप्त करता है, जो बुद्धितत्त्व विश्व में व्याप्त है वह सरल एकाई न होकर एक समष्टि है। विश्व के बुद्धितत्त्व को वह 'पूर्ण प्रत्यय' (Absolute Idea) के नाम से पुकारता है। हमारी बौद्धिक धारणायें अपूर्ण तथा सदोष हैं, परन्तु इन सब का पर्यवसान वही पूर्ण प्रत्यय है जो विश्व में व्याप्त हो रहा है। हमारी बौद्धिक कल्पनायें पूर्णत्व की ओर क्रमशः विकसित होकर आगे बढ़ती रहती हैं। इस विकास का नियम है—वाद (Thesis)

---

1. "Tha real is rational, and the rational is real."

प्रतिवाद (Antethesis) तथा संवाद (Synthesis) के द्वारा ही धारणा जगत् इस पूर्ण प्रत्यय की ओर विकसित होता है। यदि किसी विषय में हम एक अपूर्ण धारणा रखें, तो कोई विपरीत धारणा उसका खण्डन कर देती है। इसके अनन्तर एक तीसरी धारणा उत्पन्न होती है जिसमें पूर्वोक्त दोनों का सामञ्जस्य या समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार से विकसित धाराणाओं का पर्यवसान पूर्ण प्रत्यय में सम्पन्न हो जाता है। हमारी समग्र धारणायें एकांगी हैं; पूर्ण प्रत्यय एकांगी न होकर सम्पूर्ण, समग्र तथा एकमात्र समञ्जस (Self-consistent) होता है।

जगत् की प्रक्रिया नियमों के अनुकूल है और इनमें सर्वव्यापी नियम है द्वंद्व-न्याय (Dialectic)। निषेध या विरोध किसी धारणा को रोकता नहीं है, बल्कि उसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। निषेध विश्व की प्रेरक शक्ति है और वह विकास में पूर्णतया सहायक है। यह निषेध गति का अवरोध नहीं करता, प्रत्युत उसे अग्रसर होने में सहायता देता है। निषेध विरोधों को दूर कर उनमें समन्वय उत्पन्न करता है। इस प्रकार हीगल के मत में यह समग्र जगत् पूर्ण प्रत्यय की ओर अग्रसर हो रहा है। अतः पूर्ण प्रत्यय या परब्रह्म विश्व प्रक्रिया का नियामकहेतु है। वही अन्तिम लक्ष्य है जिसकी ओर जगत् का प्रत्येक पदार्थ आगे चल रहा है। तथा वहाँ पहुँच कर अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। यह पूर्णता पूर्व से ही सिद्ध है। जगत् का यह गतिशील विकास ही माया-जन्य है, भ्रम है, वास्तविक नहीं है। हीगल[1] प्रपञ्च को मिथ्या मानता है। विश्व की सत्ता व्यावहारिक दृष्टि से ही है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं है। इस प्रकार हीगल का दर्शन अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के निकट तक पहुँचता है।

हीगल की विचारधारा बड़ी व्यापक है। उसने समग्र विश्व की मीमांसा या व्याख्या करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। मन की मीमांसा करते समय वह स्वातन्त्र्य और ज्ञान को चित्त का धर्म मानता है। ये दोनों धर्म धीरे-धीरे विकसित हुए हैं। मन तीन प्रकार का है—व्यक्तिगत (Subjective), समाजगत (Objective) तथा निरपेक्ष मन (Absolute mind)। सृष्टि के आरम्भिक काल में व्यक्तिगत मन का समय रहता है, जब व्यक्ति अन्ध विश्वास तथा पशु प्रवृत्तियों का शिकार बना रहता है। बुद्धितत्त्व के उदय होने पर वह

---

[1] The consummation of the infinite end consists merely in removing the illusion which makes it seene yet unaccomplished.

Wallace : Logic of Hegel P. 351.

मन सामाजिक मन के रूप में परिणत हो जाता है। व्यक्ति समाज की व्यवस्था में बद्ध हो जाता है। सन्तानोत्पत्ति जो पूर्व अनियमित रूप से थी नियमबद्ध बन जाती है और 'विवाह' की संस्था तैयार होती है। बदला लेने की प्रवृत्ति अब कानूनी दण्ड के रूप में विराजती है, स्थूल धारणा सूक्ष्म बन जाती है। इसी युग में समाज का अभ्युदय होता है—विवाह, परिवार और राष्ट्र का जन्म इसी काल में होता है। मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में व्यक्तिमात्र था, जो अपनी वैयक्तिकता के भीतर ही सीमित था (व्यक्तिगत मन); तदनन्तर वह अपने से बाहर जाता है; अन्य व्यक्तियों को अपना सहयोगी समझ कर समाज तथा राष्ट्र का संगठन करता है। यह हुई दूसरी दशा (सामाजिक मन)। अनन्तर वह बाह्य जगत् से अपने को हटा कर अपनी ओर लौट आता है और अपनी आत्मा के अन्तस्तल में वह कला या सौन्दर्य के आदर्श को, धार्मिक आदर्श या ईश्वर को, दार्शनिक आदर्श अथवा सत्य को पाता है और इन्हीं तीनों आदर्शों की उपलब्धि में वह निरपेक्ष आत्मा बन जाता है, साथ ही परम स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है (निरपेक्ष मन)। हीगल ने कला, धर्म तथा दर्शन के स्वरूप की गहरी छानबीन की है। कला के अन्तर्गत उसने कविता तथा संगीत की सुन्दर मीमांसा की है। हीगल का यह दर्शन अपनी व्यापकता तथा महत्ता के लिए सदा प्रख्यात रहेगा। उसने 'इतिहास' की एक नई कल्पना की, तथा काण्ट के अनन्तर पाश्चात्य विचारकों पर अपने सिद्धान्तों की गहरी छाप लगाई। आज भी उसका प्रभाव कथमपि न्यून नहीं है।

फेक्नर

फेक्नर (Fechner—१८०१-१८८७)—इनकी प्रधान कीर्ति मनोविज्ञान की एक नवीन शाखा के जन्म देने में है। फेक्नर ने 'साइको-फिजिक्स' (Psycho-physics) की उत्पत्ति पूर्ण वैज्ञानिक अनुसन्धान के बल पर की। अतः वैज्ञानिक जगत् में इनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा। इनके अनुसार भौतिक तथा मानसिक का भेद दृष्टि-भेद के कारण है। जो वस्तु अपने लिए मानसिक है, वही वस्तु दूसरे के प्रति भौतिक है। भौतिक रूप बाह्य स्वरूप है। प्रपञ्च रूप जगत् के भीतर अज्ञात जड़ पदार्थ नहीं है, प्रत्युत हमारे जैसा मानसिक जीवन अन्तर्हित रहता है। सब वस्तुएँ बाहर या भीतर मानसिक ही होती हैं।

इनकी दृष्टि में यह विश्व जीवात्माओं का एक समाज है और ईश्वर सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापक आत्मा है। अन्तरंग रूप से सब आत्मायें मानस सत्ता

धारण करती हैं, परन्तु बाहर की ओर (बाह्यतः) वे एक दूसरे के प्रति भौतिक शरीर के रूप में प्रतीत होती हैं। जिस प्रकार छोटी वस्तुएँ किसी बड़ी वस्तु के भीतर अन्तर्निविष्ट रहती हैं और समस्त शरीर भौतिक प्रकृति के भीतर समा जाते हैं, उसी प्रकार कुछ आत्मायें अन्य आत्माओं के भीतर निविष्ट हो जाती हैं और ईश्वर की आत्मा सब अन्य आत्माओं को अपने भीतर धारण करती है, अर्थात् वह परमात्मा जीवात्माओं को अपने में धारण करता है। जिस प्रकार मानव अपने शरीर के द्वारा पृथ्वी के भौतिक संस्थान का एक अंश है, उसी प्रकार उसकी आत्मा पृथ्वी की आत्मा का एक अंश है और पृथ्वी की आत्मा विश्वात्मा का एक भाग है। परमात्मा के शरीर की अभिव्यक्ति प्राकृतिक जगत् है और वह स्वयं आत्मा रूप से जगत् के जीवात्माओं में एकत्व की भावना भरता है।

लोत्से Lotze (१८७१–१८८१) जर्मनी का निवासी था और फेक्नर का ही समकालीन था। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दार्शनिक जगत् पर उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। इन्होंने प्रत्ययमूलक सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अन्तिम सत्ता मानसिक पदार्थ है, भौतिक जगत् केवल आभासमात्र है, जिसे जीवात्माओं ने उत्पन्न किया है। इन जीवात्माओं को लोत्से लाइबनित्स के समान आध्यात्मिक चिद्बिन्दु (Spiritual monads) मानता है, परन्तु इसमें अन्तर इतना ही है कि लाइबनित्स इन चिद्बिन्दुओं को स्वतन्त्र पदार्थ मानता था और लोत्से इन्हें ईश्वर का प्रकार या अवस्थामात्र मानता है। ईश्वर अन्तिम तथा अनवच्छिन्न पदार्थ है। ईश्वर कतिपय नियमों के अनुसार इस यन्त्रात्मक जगत् के आभास को पैदा करता है, परन्तु इनका उद्देश्य अतीव महान् होता है। संक्षेप में इस जर्मन विचारक का यही मत है।

संकल्पवाद (Voluntarism)

अध्यात्मवादियों की दृष्टि में सत्ता बुद्धितत्त्व ही है, परन्तु अन्य दार्शनिकों के मत में सत्ता संकल्परूप है। इन दार्शनिकों की विचारधारा ही अलग तथा स्वतन्त्र है। इस सम्प्रदाय के भीतर चार बड़े बड़े दार्शनिक हुए—शोपेन हावर, हरवार्ट, नीत्शे तथा वुन्ट।

शोपेन हावर (Schopenhauer १७८८–१८६०) इनकी गुरुत्रयी में प्लेटो के तथा काण्ट के अनन्तर उपनिषदों की गणना की जाती है। इनके

सिद्धान्तों पर वेदान्त का खूब प्रभाव पड़ा है। वेदान्तियों के अनुसार ये भी जगत् के पदार्थों को मायिक मानते हैं। वे सत्तात्मक नहीं हैं, प्रत्युत वास्तव सत्ता उनके भीतर व्याप्त रहती है। शोपेन-हावर भी अध्यात्मवादी थे, परन्तु इनके अध्यात्मवाद का आधार हेगेल आदि पूर्व जर्मन दार्शनिकों से सर्वथा भिन्न था। अन्य किसी वस्तु का ज्ञान हमें भले न हो, अपने आप का तो ज्ञान हमें होता ही है। हम क्या हैं? हेगल कहता है—चैतन्य का सार है बुद्धि; शोपेन हावर कहता है—नहीं, बुद्धि तो मानव चैतन्य का एक अंगमात्र है। चैतन्य का सार है संकल्प, जीवन धारण करने का संकल्प (Will to live)—यह अपूर्व, आकारहीन अभिलाषा है जो मनुष्यों की समस्त प्रवृत्तियों की जननी है, तथा हमारे दुःखों की उत्पादिका है। जगत् के समस्त पदार्थों में इसी संकल्प का विकास हमें दृष्टि-गोचर होता है। संकल्प की अभिव्यक्ति होती है प्रथमतः प्राकृतिक शक्तियों में (जैसे आकर्षण, उष्णत्व आदि में), तदनन्तर वनस्पति और मनुष्यों में जीवन की व्यवस्था में और सबसे अन्त में मानव चैतन्य में। इन्हीं शक्तियों की अभिव्यक्ति सौन्दर्य की अनुभूति के लिए करना कविता, चित्रकला आदि ललित कलाओं का उद्देश्य है। इस दृष्टि से सब से पूर्ण कला है—संगीत, क्योंकि संगीत संकल्प के बाह्य रूपों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। इतना ही नहीं, संगीत शुद्ध संकल्प या इच्छा शक्ति को उसकी विशालता तथा सौंदर्य के साथ पूर्ण रूपेण प्रकट करती है। शोपेन हावर के मत में संकल्प शक्ति सर्वव्यापिनी है और सबकी स्थिति का मूल है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है, परन्तु यह एक अचेतन शक्ति है जिससे देश-कालगत सब चीजें बनी हैं। इसी शक्ति के द्वारा मनुष्य अपनी सत्ता पाता है। यही संकल्पशक्ति मनुष्यों में बुद्धि की सहायता से नाना प्रकार के प्रत्ययों को रचती रहती है।

इनकी दृष्टि में कर्तव्य शास्त्र में दो प्रकार के आदर्श हैं—व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। सच्चा सुख संसार में नितान्त दुर्लभ है। अहिंसा उत्तम वस्तु है। समस्त प्राणियों के ऊपर—अबोध पशुओं के ऊपर भी दया करना हमारा धर्म है। संसार में क्लेश ही क्लेश सर्वत्र भरा हुआ है और इसके विनाश का सच्चा मार्ग है बौद्धधर्म की शिक्षा, अर्थात् त्याग और तपस्या के द्वारा क्लेशनाश। शोपेन-हावर के अनुसार जीवन का यही लक्ष्य है—निर्वाण।

हर्बार्ट Herbart (१९ वीं सदी)—मनोविज्ञान का विशेषज्ञ था। उसने प्राचीन मनोविज्ञान का खण्डन कर एक नवीन धारा चलाई। हमारा मानसिक जीवन केवल अनुभव में ही सीमित नहीं होता; हमारे मानसिक जीवन का विशेष

कार्य अनुद्बुद्ध अवस्था में भी चलता रहता है। हर्बार्ट ने इस प्रकार अचेतन मन (Unconcious mind) की ओर प्रथमतः विद्वानों को आकृष्ट किया। वह शिक्षाशास्त्री के रूप में विशेष प्रख्यात है।

नीत्शे Nietzshe (१८४४–१९०० ई०)—शोपेन-हावर के समान इसने भी मूल तत्त्व को संकल्प ही माना है, परन्तु यह संकल्प जीवित रहने की ही इच्छा नहीं है, प्रत्युत शक्ति पाने की भी इच्छा है (Will to power)। संसार शक्ति की ओर बढ़ रहा है, अतः केवल जीवित रहने से काम नहीं चलेगा, बल्कि शक्तिशाली बनने से हमारे उद्देश्य की पूर्ति होगी। जीवन का संघर्ष सर्व-शक्तिशाली पुरुष को सर्वत्र माननीय तथा नेता बना देगा। उसका सिद्धान्त है—शक्ति, दुर्बलता नहीं, युद्ध; शान्ति नहीं, प्रौढ़ता; दया नहीं। उसका आदर्श मानव है (Superman) **अधिमानव,** जो वर्तमान मानवों से अधिक शक्तिशाली, प्रौढ़ तथा सर्वातिशायी है। नीत्शे की इस शक्ति पूजा का विषम परिणाम था प्रथम यूरोपीय महायुद्ध। उस समय नीत्शे जर्मन राष्ट्र का आदर्श उपदेष्टा था।

प्रत्यक्ष ज्ञानवाद (Positivism)

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में भौतिकवाद की विशेष उन्नति हुई, अधिकतर वैज्ञानिक क्षेत्रों में। यह अध्यात्मवाद की प्रखर उन्नति तथा उसके विज्ञान के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश की प्रतिक्रिया थी। इस समय विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अश्रुतपूर्व उन्नति हुई। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि का इतना अभ्युदय हुआ और इतने नवीन युगान्तरकारी सिद्धान्तों की खोज प्रयोग के बलपर की गई कि अध्यात्मशास्त्र का मौलिक आधार ही असिद्ध कर दिया गया। इसीलिए भौतिकवाद की चरम उन्नति इस युग में विशेष हुई। **वोग्त** (१८१७—९५) नामक वैज्ञानिक का तो यहाँ तक कहना था कि जिस प्रकार यकृत से पित्त स्वतः प्रवाहित होता है, इसी प्रकार ज्ञान तथा विचार मस्तिष्क से स्वतः चूता रहता है। **बुशनेर** (१८२४-९९) नामक वैज्ञानिक का तो कहना है कि जीवन किसी विशिष्ट अवस्था में जड़ प्रकृति से स्वतः उत्पन्न होता है, इसमें चैतन्य का अंश स्वतः आविर्भूत होता है। इस आविर्भाव के लिये किसी प्रकार के बाह्य चेतन पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विज्ञान का प्रवाह उत्कट भौतिकवाद की ओर विचारकों को ले जा रहा था। कुछ विचारक भौतिकवाद के सिद्धान्त से आकृष्ट नहीं हुए, तथापि उनकी दृष्टि अलौकिकवाद तथा अप्राकृतवाद से नितान्त पराङ्मुख थी। वे लोग निरतिशय प्रत्यक्षवादी थे।

भौतिकवाद के सिद्धान्त में कुछ सौम्यभाव मानने के ये पक्षपाती थे। साथ ही साथ संशयवाद की ओर भी इनका संकेत था। इस सिद्धान्त का नाम है पाजीटिविजम (Positivism), अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानवाद। इस मत के विशेष प्रतिनिधि थे—कोम्ट, मिल तथा स्पेन्सर। ये लोग लाक के अनुभववाद से तथा कान्ट की ज्ञानमीमांसा से विशेष प्रभावित हुए थे।

कोंते (Comte १७८९-१८५७ ई०)—ये ही प्रत्यक्ष ज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक दार्शनिक थे। काण्ट की तरह इनकी भी धारणा थी कि मानवबुद्धि शुद्ध वस्तु का परिचय नहीं दे सकती, वह केवल बाहरी जगत् के पदार्थों का ही परिचय दे सकती है। यदि यह बात सत्य है तो दार्शनिकों को परब्रह्म आदि अज्ञेय पदार्थों की खोज से विरत होना चाहिए। जो वस्तु बुद्धि-गम्य नहीं है उसका अन्वेषण मृगमरीचिका के समान असंभव तथा अनुपादेय है। विज्ञान का ही सत्य वस्तुतः सत्य है। दार्शनिकों को विज्ञान के द्वारा आविष्कृत सिद्धान्तों के एकीकरण के लिये सतत प्रयत्नशील होना चाहिये। विद्वानों में सबसे उपयोगी है समाजविज्ञान। समाज की उन्नति करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। जब ईश्वर ही बुद्धि के द्वारा अगम्य होने के कारण अज्ञेय है, तब उसके प्रति भक्ति करने से क्या लाभ? सच्चा धर्म तो मानवता की सेवा ही है। इस प्रकार कोंते ईश्वर में अविश्वास रखने पर भी मानवता का पुजारी है। मनुष्य की सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके लिये विज्ञान के सिद्धान्तों का अनुशीलन ही विचारकों का कर्तव्य है। कोंते तो फ्रांस के रहनेवाले थे, पर इनके मत का प्रचार इग्लैंड में विशेषरूप से हुआ।

मिल (१८०६-७३)—अंग्रेज प्रत्यक्षज्ञान-वादियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनके ऊपर कोम्ट की अपेक्षा लाक का विशेष प्रभाव पड़ा है। उनका तर्कशास्त्र, उनका उपयोगिता-वादी आचारशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के समग्र सिद्धान्त अनुभववाद की भित्ति पर अवलम्बित हैं। इनका पूरा नाम था जान स्टुअर्ट मिल। तर्कशास्त्र को नितान्त प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक सिद्ध करने के लिये मिल ने विशेष उद्योग किया। इन्होंने कार्य-कारणभाव की परीक्षा के लिये चार प्रकार की रीतियाँ निर्धारित की हैं। आचार के विषय में ये उपयोगितावाद (Utilitarianism) के अनुगामी थे। जिसमें अधिक से अधिक प्राणियों का सुख हो वही श्रेय है, वही कर्तव्य है। उपयोगिता का सिद्धान्त है—अधिकांश लोगों का अधिकतम सुख (The greatest good of the greatest number)। ये सुखों में गुण-भेद को मानने वाले थे। मिल का

यह सिद्धान्त साधारण लोगों के लिये कर्तव्याकर्तव्य के लिये कसौटी है। वह समाज, राष्ट्र तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता का बड़ा ही पक्षपाती था। उसके सिद्धान्तों से इंग्लिस्तान में सामाजिक उन्नति में विशेष स्फूर्ति मिली है।

स्पेन्सर (Spenser; १८२०-१६०३)—उन्नींसवी सदी के मध्य में जीवविज्ञान के सिद्धान्तों की समीक्षा करने से डार्विन नामक प्रख्यात वैज्ञानिक ने विकासवाद (Evolution) के सिद्धान्त को वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रयोग के आधार पर निश्चित किया। डार्विन का कहना है कि जीवन स्थूल से सूक्ष्म की ओर धीरे-धीरे विकसित होता आया है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन के लिए अपनी परिस्थितियों से लड़ता आया है। जीवन संग्राम के द्वारा गुणों में विशेष उन्नति होती रहती है। बलवान् निर्बलों को नष्ट कर अपने को स्थित रखते हैं। भागवत में भी इसी प्रकार के मत का समर्थन मिलता है। जो सबसे योग्य होता है वही इस जीवनसंग्राम में विजयी होकर बच जाता है। विकास ही जीवन की सबसे प्रधान घटना है।

स्पेन्सर ने जगत् के समस्त ज्ञान तथा विज्ञान को विकासवादी कल्पना के अनुसार एक विराट योजना में सूत्रित करने का विपुल उद्योग किया है। उसने मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, कर्तव्य-शास्त्र आदि नाना शास्त्रों के ऊपर अनेक उपादेय ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें विकासवाद के तथ्य का प्रामाणिक मण्डन है। स्पेन्सर भी मानवबुद्धि का क्षेत्र इस दृश्यमान जगत् तक ही सीमित रखता है। उसके अनुसार यह संसार एक व्यवस्थित वस्तु के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम है—शक्ति अथवा द्रव्य और गति, परन्तु जिसका भीतरी स्वरूप अज्ञात है। शक्ति की सार्थकालिका सत्ता ही मूल पदार्थ है। शक्ति के नियमों के अनुसार द्रव्य का सदा आन्तर परिवर्तन हुआ करता है। संसार का प्रत्येक अवयव तथा समस्त संसार भी सदा विकास एवं विच्छेद (Dissolution)—इन दो व्यापारों में लगा हुआ है। विकास की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं—(१) शक्ति का केंद्रस्थ होना, (२) भेदीकरण (मूल का बाहरी आवेष्टक से अलग होकर उसमें आन्तरिक भेद होना), (३) स्पष्टीकरण (भेदों का निश्चित रूप से आपस में सम्बद्ध होकर एक सुव्यवस्थित पूर्ण का रूप धारण करना) विकास तथा विच्छेद से ही जगत् स्थूलरूप से होकर सूक्ष्म रूप तक पहुँचा है। शक्ति का परिमाण तो सदा एक ही समान रहता है, न घटता है और न बढ़ता है। केवल वह भिन्न-भिन्न रूप से जगत् में विस्तारित रहता है। इस प्रकार स्पेन्सर ने गतिशास्त्र के अनुसार विकास का सिद्धान्त माना है। उनके पीछे बर्गसों तथा लायड मार्गन ने भी

विकासवाद को अङ्गीकृत किया है, परन्तु इन लोगों ने विकास को यान्त्रिक व्याख्या से उन्मुक्त करने का यत्न किया है। ये लोग सृष्टि-प्रक्रिया के मौलिक रूप को स्वतः प्रवृत्त मानते हैं।

(४)

आधुनिक युग

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में विज्ञान की विशेष उन्नति हुई। विज्ञान की नाना शाखाओं को, विशेषतः जीवशास्त्र तथा वनस्पतिशास्त्र में किये गये अनुसन्धानों ने मानवज्ञान की सीमा में विशेष वृद्धि कर दी। दर्शनशास्त्र के ऊपर भी वैज्ञानिक खोज ने अपना विपुल प्रभाव जमाया। इसका परिणाम हुआ भूतवादी (Materialism) दर्शनों का उदय। इन दर्शनों के विशेष उत्थान की प्रतिक्रिया के रूप में अध्यात्मवादी दर्शनों की अभ्युन्नति यूरोप के प्रत्येक देश में हुई। इंगलैण्ड में ग्रीन और ब्रैडले ने अध्यात्मवाद के समर्थन में विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की। जर्मनी के दार्शनिकों का अब मूलमन्त्र हुआ कैंट के दर्शन की विपुल मीमांसा, तथा उसी के आधार पर नवीन तत्त्व-ज्ञान का उद्घाटन, जिसे 'नव्य काण्टमत' Neo-Kantism के नाम से पुकारते हैं। फ्रांस में बर्गसों Bergson नामक प्रौढ़ दार्शनिक ने एक नवीन मार्ग को खोज निकाला। इनकी दृष्टि में जगत् का मौलिक-तत्त्व है—जीवन या प्राणशक्ति। जिस प्रकार भूतवादियों का मूलतत्त्व जड़ द्रव्य है और अध्यात्मवादियों का मूलतत्त्व चैतन्य या चेतनाशक्ति है, उसी प्रकार बर्गसों की दृष्टि में वह मूलतत्त्व जीवनी शक्ति है, जिसे वे Elan Vital के नाम से पुकारते हैं। जर्मनी में इसी के समान **'प्राण-शक्तिवाद'** Vitalism का प्रचार हुआ जो भूतवादी तत्त्वज्ञान की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। इसका आशय है कि भौतिक शरीर में व्यापक रूप से निवास करने वाले किसी जीवनतत्त्व को विना स्वीकार किये जीवित वस्तुओं की यथार्थ व्याख्या हो नहीं सकती। अध्यात्मवाद ने इटली में अपना प्रभुत्व दिखलाया और वहाँ के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक क्रोचे (Croce, जन्म १८६६ ई०) थे, जिनका दर्शन 'चेतन का तत्त्वज्ञान' (Philosphy of spirit) नाम से सुविख्यात है। उन्होंने सौन्दर्य की भी दार्शनिक व्याख्या कर कीर्ति अर्जित की है और ललित कला तथा काव्य में ये अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के पक्के समर्थक माने जाते हैं। अध्यात्मवाद ने अमेरिका को भी अपना सुदृढ़ गढ़ इस शताब्दी में बनाया और इस धारा के सर्वश्रेष्ठ अमेरिकन दार्शनिक हैं—रायस

(J. Rayce १८५५–१९१६ ई०)। उनका मत अंग्रेज दार्शनिक ब्रैडले (Bradley) के मत 'निरपेक्ष अध्यात्मवाद' Absolute Idealism से मिलता जुलता है। इसी समय दूसरे अमेरिकन तत्त्वज्ञानी विलियम जेम्स (William James) ने 'व्यावहारिक उपयोगितावाद' (Pragmatifm) का प्रतिपादन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से किया। यह तो हुआ अध्यात्मवाद की नाना धाराओं का सामान्य निर्देश।

भूतवाद के व्यापक प्रभाव को अध्यात्मवाद ने सफलतापूर्वक शान्त किया, परन्तु इसके विरोध में प्रतिक्रियारूप से नवीन विचार-धारा का उदय १९ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुआ, जो इस बीसवीं शताब्दी में विशेष व्यापार-रूप से बढ़ती जा रही है। कतिपय विचारक यह मानते हुए भी कि जड़ द्रव्य से मन या आत्मा की उत्पत्ति मान्य नहीं हो सकती; आत्मा से जड़ द्रव्य की उत्पत्ति उसी प्रकार अमान्य तथा असम्भव मानते हैं। आजकल अध्यात्मवाद की यह प्रतिक्रिया ज्ञानमीमांसा के आधार पर खड़ी की गई है। इस विचारधारा का नाम है—वस्तुवाद (Realism)। इस मत के विभिन्न स्तर हैं, परन्तु इन सबों का विश्वास यही है कि जड़ द्रव्य मन से बाहर विद्यमान रहता है और उससे अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। कतिपय विचारकों ने अपना समग्र दर्शन इसी मूल पर खड़ा किया है, परन्तु दूसरे विद्वान् ज्ञानमीमांसा से सम्बद्ध विषयों तक ही इसे सीमित रखते हैं।

आधुनिक यूरोपीय तत्त्वज्ञान के दो प्रधान लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—(१) नव्य भौतिक विज्ञान का प्रभाव, आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ताओं की यह धारणा है कि द्रव्य अन्तिम मूल दशा में विद्युत् के तरंगों के रूप में निर्मित होता है। इसी के आधार पर वस्तुवादी तत्त्वज्ञानियों (Realists) का मान्य सिद्धान्त है कि सत्ता परिवर्तनशील है, द्रव्यात्मक नहीं, अर्थात् सत्य घटनाओं के परिणाम-रूप है, नित्य द्रव्य रूप नहीं है।[1] भौतिक विज्ञान ने द्रव्य की कल्पना इतनी विचित्र प्रस्तुत की है कि अनेक तत्त्वज्ञानी मन से उसका तादात्म्य स्वीकार करने में कठिनाई बोध करते हैं। फलतः कतिपय विद्वान् एक तृतीय पदार्थ की कल्पना मानने लगे हैं, जो न तो मन है और न जड़ द्रव्य। इसे वे उदासीन द्रव्य

---

1 Realists conceive realityas fluxional rather than substantival, that is to say, as consisting of a blux of events rather than of Permanent substances.

(Neural stuff) के नाम से पुकारते हैं। यह मन तथा द्रव्य का उत्पादक होने पर भी दोनों से नितान्त विलक्षण है।

(१) आधुनिक तत्त्वज्ञान की दूसरी विशेषता है—विकासवाद पर विश्वास। यह केवल जीवतत्त्व के पक्षपाती तत्त्वज्ञान (Biotism) को ही मान्य नहीं है, प्रत्युत वस्तुवादी तत्त्वज्ञान की भी इस पर पूर्ण आस्था है। वस्तुवाद विज्ञान के, विशेषतः जीव विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के, अनुसन्धानों को अपने यहाँ गौरव देता है और आजकल विकासवाद का सिद्धान्त जीवविज्ञान में सर्वाधिक मान्य है। इसीलिए वस्तुवादी तत्त्वज्ञानी अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा विकासवाद पर अधिकतर आग्रह रखते हैं।

इस सामान्य विवेचन के अनन्तर कतिपय मान्य तथा महनीय तत्त्वज्ञान की धारा का विवेचन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

ग्रीन Green (१८३६–१८८२ ई०)

इङ्गलैण्ड में भौतिकवाद के विरोध में उदित आध्यात्मिकवाद (Idealism) के अग्रगण्य तथा मान्य नेता ग्रीन ही थे। इनकी दृष्टि में ह्यूम का अनुभववाद और स्पेन्सर का विकासवाद दोनों मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव की व्याख्या करने में नितान्त सदोष हैं। इन सिद्धान्तों ने मनुष्य को जड़ भौतिकवाद के हाथ में एक कठपुतली बना दिया था, जिससे उसके उदात्त स्वभाव तथा नैतिक आचरण के लिए पर्याप्त आधार नहीं था। ये दार्शनिक लोग मनुष्य को भौतिक शक्तियों का परिणाममात्र मानते थे। अतः मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव को विशुद्ध तथा उदात्तता के स्तर पर पहुँचाने के लिए ग्रीन ने अपने नवीन मत की प्रतिष्ठा की।

मावव के स्वभाव की समीक्षा से पहिले उसके चैतन्य के ज्ञान की आवश्यकता है। मनुष्य का चैतन्य वस्तुतः आत्मचैतन्य है। मनुष्यों को जब बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है, तब दोनों में सम्बन्धों की व्यवस्था मन ही करता है। पदार्थ तो बाहरी ही है, परन्तु उनका सम्बन्ध आत्मनिर्मित है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान सदा मन या आत्मा का कार्य अभिव्यक्त करता है। इस विश्व के मूल में एक अध्यात्म-तत्त्व है और वही इस संसार को भली भाँति जानता है। मनुष्य तो केवल अंशमात्र का ही ज्ञान रखता है। यही निरपेक्ष तथा शाश्वत आत्म चैतन्य ईश्वर है और वह सर्वज्ञ है। मनुष्य इसी शाश्वत चैतन्य का अंशमात्र है। अतः वह उसके साथ आंशिक सम्बन्ध रख सकता है। ईश्वर ही नैतिकता तथा धर्म का साधन और अमरत्व का मूल स्रोत है।

ग्रीन ने इस तत्त्वज्ञान के आधार पर अपना साध्य निश्चित किया है। मनुष्य के लिए आत्मोपलब्धि (स्वानुभूति) ही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। मनुष्य अपना परम कल्याण करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। यदि वह अकेले अपना हित करना चाहे, तो यह हो नहीं सकता। यह कल्याण समाज में रहने पर ही सम्भव है। समाज तथा व्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य समाज का प्रधान अंग ठहरा। अतः समाज में रहने पर ही मनुष्य का मंगल साधन हो सकता है और वह अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

आध्यात्मिकवाद के अनुयायी इङ्गलैण्ड में इनके अतिरिक्त दो माननीय तथा विख्यात दार्शनिक थे—ब्रैडले Bradley (१८४६–१९२४) और बोसाँके Bosanquet (१८४८–१९२३)। सामान्यतः भौतिकवाद के ये विरोधी हैं; तथापि इनकी दार्शनिक दृष्टि में पर्याप्त विभेद है। अमेरिका के भौतिकवाद के विरोध में नवीन मत के प्रचारक विशिष्ट दार्शनिक थे—रायस (Royce १८५५–१९१६) जिनके ऊपर वेदान्त का प्रभाव अंशतः लक्षित होता है। अमेरिका के अन्य मान्य तत्त्ववेत्ता हाकिंग Hocking (जन्म १८७३ ई०) अभी जीवित हैं। ये अपने विचार को 'रहस्यवादी वस्तुवाद' Mystical Realism कहते हैं।

बर्गसाँ (Bergson १८५९—१९३२ ई०)

फ्रांस के सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता माने जाते थे। इन्होंने ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को अपने विचारशास्त्र में विशेष महत्त्व दिया है। इन्होंने द्रव्य तथा नैसर्गिक नियमों की सत्यता का विना निषेध किये ही समग्र विश्व की आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है। इनके दर्शन के रहस्यों की द्योतक शब्दावली है—परिवर्तन, क्रियाशीलता, स्वातन्त्र्य, सर्जनात्मक विकास और प्रतिभान। इसीलिए इनकी दार्शनिक दृष्टि 'परिवर्तन का दर्शन', 'सृजनात्मक विकासवाद' Creative Evolution के नाम से साधारणतया अभिहित की जाती है।

बर्गसाँ के अनुसार मूल तत्त्व न तो द्रव्यात्मक है और न मानसिक; प्रत्युत इन दोनों से कम व्यक्त पदार्थ जिससे जड़ द्रव्य और मन दोनों आविर्भूत होते हैं। यह तत्त्व है—परिणाम, परिवर्तन, घटनाओं का प्रवाह, जीवन का ओघ, जो नये-नये रूप पाने के लिए सदा आगे बढ़ता जाता है। इस (Life) जीवन का सर्वत्र प्रसार तथा प्रवाह लक्षित होता है। वे जीवन को ही मूल वस्तु मानते हैं। सारा स्थावरजंगात्मक जगत् का जीवन ही प्रसाद है। चेतना भी जीवन का रूपान्तर है, जड़ भी जीवन का ही परिणाम है। तमोगुण से युक्त

जड़ गति का अवरोधक होता है। जीवन जब नष्ट हो जाता है, तब उसकी गति स्थिरता को प्राप्त हो जाती है। जीवन-तरंगें शान्त हो जाने पर जड़ सामग्री बनाती रहती हैं, ठीक जैसे बारूद की बनी हुई छछूँदर ऊपर जाते समय धुँआँ भी फेंकती जाती है।

बर्गसाँ के मत में यह जीवन प्रवाह (Creative Evoluteon) संकल्पात्मक है। इसकी सत्ता का परिचय बुद्धि नहीं दे सकती, क्योंकि वह जीवन का एक अंशमात्र है। अंश समग्र को पूर्ण रूपेण नहीं जान सकता। इसके लिये वे प्रतिभा (Intuition) शक्ति को स्वीकार करते हैं। यही जीवन की वास्तव दशा को जान सकती है, दूसरी शक्ति (ज्ञानशक्ति) नहीं।

जड़ की रुकावट के कारण जीवन प्रवाह तीन दिशाओं में विभाजित होकर प्रवाहित होता है—(१) वनस्पति, (२) पशु, (३) मनुष्य। वनस्पतिसंसार में जीवनप्रवाह जड़ के वश में रहता है और उसके साथ ही साथ काम करता है। वनस्पति में केवल बढ़ना और शक्ति का संग्रह करना है, उसमें गति नहीं है और इसलिए उसमें चैतन्य भी नहीं है। इस दशा में केवल शक्ति का संचय करना होता है। वनस्पति शक्ति को केवल इकट्ठा ही नहीं करता; वह उसे अपने में जमा भी करता है। पशु और मनुष्य उस एकत्रित तथा संचित शक्ति के उपर निर्भर रहते हैं। दोनों शक्ति का व्यय करते हैं। पशु अपनी सहज क्रिया (Instinct) के द्वारा विना समझे बूझे काम करता है, परन्तु मनुष्य बुद्धिपूर्वक शक्ति का खर्च करता है। मनुष्यों के संघटित समूह का नाम है समाज और इसी समाज में जीवन अपना पूर्ण सन्तोष प्राप्त करता है। सर्वश्रेष्ठ जीवित प्राणी वही है—'जिसके कार्य दूसरे कार्यों का उत्तेजक होता है, जो स्वयं उदार होते हुए दूसरे के हृदय में उदारता की आग प्रज्ज्वलित करता है।' जीवन तरंगों के मूलमें है—ईश्वर। और यह ईश्वर है 'सन्तत गतिशील जीवन, क्रिया, या स्वातन्त्र्य'। इस प्रकार ये मूलत्व को परिणामी मानते हैं। कतिपय साम्य रखने पर भी यह मत निश्चित ही वेदान्त से विशेष रूप में भिन्न है।

विलियम जेम्स Wiliam James (१८४२–१९१० ई०)

अमेरिका के इस विख्यात तत्त्ववेत्ता का सिद्धान्त व्यावहारिक उपयोगितावाद या प्रैगमेटिजम (Pragmatism) कहलाता है। इनकी दृष्टि में वस्तु की उपयोगिता ही सत्य की कसौटी है। जो वस्तु किसी चाह की तृप्ति करती है अथवा हित का साधन करती है वही सत्य है, केवल अस्तित्व सम्पन्न होना ही सत्य नही

है। केवल विद्यमान वस्तुओं को यदि वे हमारा मंगल साधन नहीं कर सकतीं जेम्स 'सत्' कहने के लिए तैयार नहीं है। वह ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्त्व देता है। अन्य अध्यात्मवादी दार्शनिकों के समान वह ज्ञान को परम पुरुषार्थ अंगीकार नहीं करता। मानव-जीवन में क्या ज्ञान ही केवल सम्मिलित है? नहीं, उसमें तो ज्ञान के साथ भाव और क्रिया इन तीनों का अस्तित्व रहता है। ऐसी दशा में अधिक उपयोगी तथा साक्षात् सम्बन्ध होने से जेम्स क्रिया को ही मुख्य मानता है। सत्य की यह व्याख्या हमारे भारत के कतिपय तत्त्वज्ञानियों की मान्यता से साम्य रखती है। महाभारत का कथन है—यद् भूतहितमत्यर्थमेतत् सत्यं मतं मम—जो प्राणियों का अधिक हितकारक है वही सत्य है। बुद्ध की भी यही सम्मति थी—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव सत् = जो वस्तु प्रयोजन की क्रिया करनेवाली है वही परमार्थ रूप से सत्य है। दोनों मतों के मूल तात्त्विक सिद्धान्त अभिन्न हैं।

कर्तव्य-मीमांसा के लिए जेम्स 'अनियतवाद' के समर्थक हैं। 'नियतवाद' का अभिप्राय है कि मनुष्य के प्रयत्न पूर्वनिश्चित हैं। इस मत को मानने से न तो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा का ही विकास होगा और न उसके उद्योग और प्रयत्न के लिए समुचित स्थान होगा। अतः जेम्स का मत है कि मनुष्य का यही धर्म है कि वह समग्र संसार के श्रेय के लिए सन्तत प्रयत्नशील बने। यदि यह बात अशक्य हो, तो अधिक से अधिक लोकहित होना ही चाहिए। जेम्स सगुण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। वे उन लोगों में अन्यतम हैं जो ईश्वर के सान्निध्य में आनन्दोल्लास का अनुभव करते हैं। वे विश्व-कल्याण में ईश्वर की सहायता अपेक्षित मानते हैं। सीमित शक्तिवाला मानव ईश्वर की सहायता से अधिक से अधिक संसार का मंगल साधन करता है, परन्तु ईश्वर की सत्ता का परिचय हमें तर्क-बुद्धि नहीं देती; प्रत्युत 'विश्वास का संकल्प' (Will to believe) ही उस नियन्ता का एकमात्र परिचायक है। जेम्स ने इस मत के अनुकूल मनोविज्ञान का भी बड़ा ही व्यापक समीक्षण किया है।

जेम्स की मृत्यु के अनन्तर इस मत के दो विशिष्ट समर्थक तत्त्वज्ञानी हैं – (१) जान ड्यूई John Dewey अमेरिका में और (२) शिलर F. W. Schiller इंगलैंड में। ड्यूई के अनेक सिद्धान्त विकाशवादियों के मन्तव्यों के अनुकूल हैं। सत्ता को सन्तत परिवर्तनशील मानते हैं। सत्ता सिद्ध वस्तु नहीं है, प्रत्युत साध्य है और इसीलिए वह परिवर्तनशील है। दर्शन का उपयोग सामाजिक समस्याओं की मीमांसा करने तथा उनके सुलझाने में है। संसार को शोभ-

न्तर, मंगलमय बनाने में प्रत्येक प्राणी को योग देना चाहिए। शिलर अपने तत्त्वज्ञान को 'मानवता' Humanism के नाम से पुकारते हैं। मानव हित की जो बात है वही सत्य है। वस्तुओं के मूल्य का अंकन मानव हित की दृष्टि से है। मानव की कल्याण-साधिका वस्तु सत्य है और अहित-कारिणी असत्य है। ग्रीक के प्रधान वितण्डावादी प्रोटेगोरस के सिद्धान्त—मनुष्य ही वस्तुओं का मापक है—का यह नवीन प्रतिनिधि प्रतीत होता है। ड्यूई का मत Instrumentalism के नाम से विख्यात है, क्योंकि वे कार्य-साधन में प्राणियों को व्याप्त करने के लिए बुद्धि को साधक मानते हैं।

लार्ड रसल—(Lord Russel)

अध्यात्मवाद के विरोध में उत्पन्न होने वाले वस्तुवादी दर्शन की विविध धाराएँ आजकल इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में प्रवाहित हो रही हैं। इनमें से एक विचारधारा के प्रतिपादक हैं लार्ड रसल। ये इंग्लैण्ड के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ता हैं और अभी जीवित हैं। ये गणितशास्त्र के मर्मज्ञ हैं। इसीलिये इन्होंने गणितशास्त्र के सिद्धान्तों का अपनी विचारधारा में समावेश किया है। ये तर्कशास्त्र को दर्शनों में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। दर्शन का ये विज्ञान से न भेद मानते हैं, न विरोध। ये अपने दर्शन को अनेकवाद और वस्तुवाद के नाम से पुकारते हैं। ये जेम्स के उपयोगितावाद को ठीक नहीं मानते। इनकी दृष्टि में स्वार्थ का साधक होना ही सत्यता की कसौटी नहीं है, क्योंकि कभी जैसा लोकव्यवहार प्रमाणित करता है, असत्य बातों से भी कार्य की सिद्धि होते देखी गई है। हारती हुई फौज को झूठे ही साहस देकर संग्राम में जीतते हुए देखा गया है। रसल इसे कार्यसाधक होते हुए भी सत्य नहीं मानते। ये बर्गसों के प्रतिभावाद के भी समर्थक नहीं हैं। ये बुद्धि के प्रौढ़ पक्षपाती हैं। प्रतिभा से वह बात सचमुच शीघ्रतर भासित हो जाती है जो बुद्धि के द्वारा देर से सूझती है, तथापि प्रतिभा बुद्धि से बढ़कर नहीं है, क्योंकि प्रतिभा की सत्यता की परीक्षा अन्ततोगत्त्वा बुद्धि ही करती है। इनकी दृष्टि में विज्ञान और साधारण जनमत के अनुसार घटनाओं तथा वस्तुओं की अनेकता स्वतन्त्र रूप से सत्य है। और इसे असिद्ध करने के लिए यथार्थ प्रमाण नहीं मिलते। रसल भी इसीलिये 'अनेकान्तवाद' तथा 'वस्तुवाद' के पक्षपाती हैं। अध्यात्मवादी दार्शनिक संवेदन तथा उनके आधार को मन में ही मानते हैं, परन्तु इसके विपरीत रसल संवेदन तो मन में मानते हैं, किन्तु उनके आधार को मन से बाहर स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार सत्यता की मूलवस्तु न तो मानसिक है और न तो भौतिक; बल्कि दोनों से विलक्षण है। वे मानते हैं कि समग्र

विश्व एक ही मूलपदार्थ (घटना) से निर्मित है। इस प्रकार उनके दर्शन में एकत्व तथा अनेकत्व का विरोध नहीं है। वे व्यावहारिक बातों में मनुष्य की प्रधानता पर जोर देते हैं। ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य संसार में ऊँचा उठ सकता है, तथा अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। ये मनुष्य के स्वातन्त्र्य के प्रेमी हैं, परन्तु इनकी सम्मति है कि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को नहीं दबाता वह कथमपि स्वतन्त्र नहीं हो सकता। दर्शन का उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों का प्रतिपादन करना नहीं है; बल्कि संकीर्ण दृष्टि के कारण होने वाले सत्याभासों से तथा अन्धविश्वासों से हमें मुक्त करना है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्त्य दर्शन का यह एक संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इसके अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमी जगत् में विवेकशील विचारकों की कमी नहीं रही है। वहाँ के तत्त्वज्ञानियों ने भी इस विश्व की विचित्र पहेली को यथासाधन यथाशक्ति समझाने का पूर्ण उद्योग किया। मनुष्य जीवन के उपकारी तथा आवश्यक विषयों की मार्मिक विवेचना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि पश्चिम का तत्त्ववेत्ता अपनी दार्शनिक उड़ान में ठोस जगत् तथा मानव जीवन को कभी भी नहीं भूलता। समसामयिक दार्शनिकों के विचारों की समीक्षा करने से हमें स्पष्टतः प्रतीत होता है कि यह तत्त्वज्ञान नितान्त प्रौढ़, व्यापक तथा जीवन्त है। इन नये विचारों में प्राचीन दार्शनिकों—प्लेटो और एरिस्टाटल, काण्ट और हेगल—के विचारों की छाया या प्रतिभास यदि किसी को दीख पड़े तो वह कुछ अनुचित नहीं है। तत्त्वज्ञान प्राचीन है, परन्तु वर्तमान मानव समाज के हित के लिये परिवर्तित स्थिति में उनका नवीन रूप से विन्यास सर्वथा श्लाघ्य है।

आधुनिक पाश्चात्त्य दर्शन के इतिहास में दो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से अनुभव में आती हैं। इनमें पहिली प्रवृत्ति है—विज्ञान तथा दर्शन की मैत्री; दूसरी है—विज्ञान तथा धर्म में सौहार्द। प्राचीन युग में विज्ञान और दर्शन का बड़ा दृढ़ गठबन्धन था। यह बन्धन १९वीं शताब्दी के मध्यभाग में छिन्न-भिन्न हो गया, जिससे विज्ञान तथा दर्शन दोनों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। यह विरोध दोनों के लिये हानिकारक हुआ। विज्ञान एकदम जड़वादी विज्ञान बन गया और दर्शन ने भी अपनी यथार्थवादिता अंशतः खो दी, परन्तु इधर दार्शनिक घड़ी का लटकन (Pendulum) भौतिक जड़वाद से हटकर एकान्त अध्यात्मवाद की ओर

प्रवाहित हो रहा है। इसका कारण है द्रव्य की नवीन वैज्ञानिक कल्पना। भौतिक विज्ञान ने मूल द्रव्य के स्वरूप की परीक्षा बड़े ही अध्यवसाय के साथ की है। इस नवीन कल्पना के अनुसार द्रव्य विद्युत्-तरंगों का पुञ्जमात्र है। यही कारण है कि अनेक लोगों की धारणा बन गई है कि द्रव्य अपने मूल द्रव्यत्व तथा जडत्व से हीन हो गया है और उसने नवीन चेतनत्व प्राप्त कर लिया है, परन्तु यह धारणा भ्रान्त है; द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अन्ततोगत्वा द्रव्य ही है। वह कथमपि मन या चेतन (आत्मा) नहीं बन सकता। इस नये अनुसन्धान से विज्ञान-वेत्ताओं तथा दार्शनिकों में परस्पर सहयोग की भावना बढ़ गई है, जो अत्यन्त श्लाघनीय है।

विज्ञान तथा ईसाई धर्म का परस्पर सौहार्द भी एक नवीन युग का प्रतीक है। एक समय था जब विज्ञान का पुजारी अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों के लिये संकीर्ण-मति ईसाई मत के ठेकेदारों के द्वारा शूली पर चढ़ा दिया जाता था, परन्तु आज इन दोनों की परस्पर मैत्री आलोचकों को विस्मय में डाल देती है। इस प्रवृत्ति का भी एक मूल रहस्य है। विज्ञान ने ही अनियतवाद के सिद्धान्त को अग्रसर किया है। विज्ञान कार्य-कारण के प्रचलित सम्बन्ध को मिथ्या बतलाता है। कार्य-कारण के ठोस आधार पर विज्ञान की अब तक दृढ़ नींव खड़ी थी, परन्तु वही विज्ञान भौतिक जगत् में निश्चय तथा नियत सम्बन्ध को अमान्य मानने लगा है। इसका फल यह हुआ कि अनेक वैज्ञानिक धार्मिक विचारधारा तथा रहस्यवाद की ओर विशेषतः आकृष्ट हो रहे हैं। वैज्ञानिकों की विशेष प्रवृत्ति रहस्यवाद की ओर हो रही है। यही कारण है कि विज्ञान और ईसाई धर्म में परस्पर विरोध न होकर मैत्री-भाव दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार विज्ञान, दर्शन तथा धर्म में पूर्ण सामञ्जस्य एवं मंगलमय सहयोग आधुनिक पश्चिमी दर्शन की विशेषता है। परन्तु विज्ञान के लिये यह संकट की भी बात है। विशुद्ध बुद्धिवाद पर अवलम्बित होने पर ही विज्ञान की बहुमुखी उन्नति हुई है। अतः विज्ञान को निरपेक्ष रहकर अपने नवीन तत्त्वों का अनुसंधान करना चाहिये। उसे दर्शन तथा धर्म का क्रीतदास बनना कथमपि शोभा नहीं देता।



टिप्पणियाँ

१—उपोद्घात

पृ० १२—भारतीय दर्शन की व्यापक दृष्टि

सदा सत्यान्वेषण के प्रति नितान्त श्रद्धालुता इस विशाल हृदयता की कुञ्जी है। भारतीय दार्शनिकों में पारस्परिक दृष्टिकोण में कितना भी अन्तर हो, पर वे प्रतिपक्षी के मत का समुचित उत्तर दिये बिना स्वमत के स्थापन में उद्यत नहीं होते। सामान्य रीति से प्रतिपक्षी के मत का प्रतिपादन पहले किया जाता है—इसे कहते हैं पूर्वपक्ष। अनन्तर प्रबल युक्तियों का प्रयोग कर उसका निराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है—खण्डन। इसके बाद इन युक्तियों के आधार पर अपने मत का प्रमाणपुरःसर उपपादन किया जाता है, जिसे कहते हैं उत्तरपक्ष (पिछला मत) अथवा सिद्धान्त। प्रतिपक्षी के प्रति इस श्रद्धालुभाव के कारण भारतीय दर्शन के भिन्न सम्प्रदायों में चमत्कारिणी सर्वाङ्गीणता का दर्शन हमें होता है। वेदान्त के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ को ले लीजिए। उसमें अन्य मतों—बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्यादि के सिद्धान्तों की चर्चा पूर्वपक्षत्वेन अवश्य की गई उपलब्ध होगी। किसी उच्चकोटि के जैन या बौद्ध ग्रन्थ में भी इसी प्रकार ब्राह्मणमतों की समीक्षा तत्तत् दृष्टिकोण से अवश्य की गई होगी। पाश्चात्य दर्शनों में विवेचित सिद्धान्तों का भी विवेचन भारतीय दर्शन में कहीं न कहीं अवश्य किया गया मिलता है।

भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि को हम एक दूसरे प्रकार से प्रमाणित करना चाहते हैं। 'सत्' की व्याख्या करने में यहाँ के दार्शनिकों ने अनुभवगम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अनुभव के कर्ता विषयी की ओर। तर्क-बुद्धि का अनुसरण कर आत्मा को अनात्मा से पृथक् करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था। इस प्रकार "आत्मानं विद्धि"—आत्मा को जानो—भारतीय दर्शनों का मूलमन्त्र रहा है। किन्तु तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्ष होना चाहिए। इसके लिए भारतीय मनोविज्ञान ने मानस प्रक्रिया का यथार्थ निरूपण किया है। जिस प्रकार इस दृश्यमान विविधता के अंतस्तल में विद्यमान एकता के परखने की शिक्षा देनेवाले वेदान्त सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है,

अनुभव की पूर्ण व्याख्या

उसी प्रकार विभिन्न मानस वृत्तियों का सर्वाङ्गीण निरूपण कर योग तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है। भारतीय दर्शन की आलोचना करने से दो सामान्य सिद्धान्त दृष्टिगत होते हैं—पहला है नानात्मक प्रपञ्च की पारमार्थिक एकता, यह है तार्किक सिद्धान्त-वेदान्त; दूसरा है ध्यान-धारणा समाधि द्वारा इस अनुस्यूत एकता के मूलतत्त्व आत्मा का साक्षात् अनुभव। यह व्यावहारिक सिद्धान्त (योग) है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में भी इन सिद्धान्तों की मान्यता आंशिक-रूपेण या पूर्णरूपेण स्वीकृत की गई है। मनोवैज्ञानिक आधार के ऊपर ही तत्त्वज्ञान का विशाल दुर्ग खड़ा किया जाता है। मनोविज्ञान बतलाता है कि अवस्थायें तीन होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तथा इन्हीं का आश्रय लेने से चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है। पाश्चात्त्य दर्शन जाग्रत अवस्था को ही समझाने में व्यस्त है। जाग्रत दशा की व्याख्या रहने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लूरलीजम) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है। स्वप्नदशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन की जननी है और सुषुप्ति का मार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिजम) का जनक होता है। पाश्चात्त्य दर्शन इस त्रिविध अनुभव के एक अंशमात्र की व्याख्या करने में संलग्न है, परन्तु भारतीय दर्शन ही इस अनुभव के प्रत्येक अंश को ग्रहण कर उसका यथार्थ निरूपण करने में समर्थ हुआ है। अतः इसकी व्यापकता, विविधरूपता, समन्वय-क्षमता तथा उदारहृदयता सर्वतोभावेन प्रमाण-प्रतिपन्न है। यह विशेषता अन्य संकीर्ण सिद्धान्तवाले दर्शनों से इसका पार्थक्य दिखलाने के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्राचीनता तथा स्वतन्त्रता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता को देखकर भारतीय सभ्यता तथा धर्म का अभिमानी कौन ऐसा पुरुष होगा जिसका हृदय आनन्द से गदगद न हो जायेगा, जिसका मस्तक अभिमान से उन्नत न हो जायेगा और जिसकी वाणी प्रशंसा से प्रवर्तित न हो जायेगी?

पृ० १६—भारतीय दर्शन पर मिथ्या आरोप

नैराश्यवाद

हमारे देश की वर्तमान अवनत दशा पर चार आँसू बहाने वाले आलोचकों का सर्वमान्य निश्चय हो गया है कि भारतीय दर्शन के सार्वत्रिक प्रचार तथा लोकप्रिय होने के कारण ही भारत में अकर्मण्यता का राज्य छाया हुआ है; भारत के अधिवासी मधुमय स्वप्नों में ही इतने व्यस्त हैं कि ठोस जाग्रत जगत् की वस्तुओं तथा जीवित घटनाओं के प्रति नितान्त उदासीन बने रहते हैं और भारत की विद्यमान हीनावस्था इसी विचार-परम्पराजन्य अकर्मण्यता का उज्ज्वल परिणाम है।

भारतीय दर्शन के ऊपर नैराश्यवाद (पेसिमिज्म) के प्रचारक होने का लांछन लगाया जाता है, परन्तु दर्शन की तात्त्विक समीक्षा करने पर यह आरोप क्षण-मात्र के लिए भी टिक नहीं सकता। वर्तमान से असन्तोष हुए विना मनोरम भविष्य की कल्पना ही मानव-हृदय में कभी जाग्रत नहीं हो सकती। यदि वर्तमान से असन्तुष्ट होने से भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का मिथ्यारोप लगाया जाता है, तो दर्शनमात्र निराशावादी सिद्ध होने लगेगा। जीव भवसागर के क्लेशों से बचने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचता है। इसी दुःखत्रय के विघात के कारण उत्पन्न 'जिज्ञासा' भारतीय दर्शन की उद्गम भूमि है[1]। भारत का तत्त्वज्ञान इस दुःख-बहुल वर्तमान जगत् के वास्तविक स्वरूप के समझने तथा इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपण में अपनी सारी शक्तियों को खर्च कर देता है, जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होने लगता है, क्लेश का स्रोत आनन्द के प्रवाह में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे आदर्श को मानने वाले दर्शन को निराशावादी कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

अकर्मण्यता

अकर्मण्यता का दोषारोषण उसी प्रकार निःसार, भ्रान्त तथा अज्ञान-मूलक है। भारतीय-दर्शन कर्मवाद के सिद्धान्त को मानने वाला है। प्राणियों के जीवन पर उनके किये गये कर्मों का प्रभाव पड़ता है; शुभ कार्यों का फल शुभ-परिणाम का दायक होता है तथा अशुभ कर्मों का अन्त क्लेश तथा दुःख में होता है। ऐसी वस्तु स्थिति होने पर दुःखद वर्तमान को सुखमय भविष्य में परिवर्तन करने की आशा रखने वाला भारतीय तत्त्वज्ञान प्राणियों को अकर्मण्यता की कुशिक्षा क्योंकर देगा? इसका कारण समझ में नहीं आता। शिक्षित समाज में भी यह धारणा बद्धमूल सी हो गई है कि मायावादी वेदान्त इस जगत् को मायिक तथा असत्य बतलाता है तथा इससे भाग खड़ा होने में ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझता है, परन्तु यह धारणा ठीक नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस श्लोकांश का अर्थ यही है कि ब्रह्म के साथ तुलना करने पर ही जगत् की सत्यता में विरोध प्रतीत होता है। अतः परमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानने पर भी व्यावहारिक दशा में उसकी सत्यता है। जिस जगत् में प्राणी जनमते हैं, प्रकृति के अनुसार भिन्न प्रकार के कर्मों को करते हैं और अन्त में मरते हैं, व्यवहार के लिए उस ठोस संसार की सत्यता को कौन

---

१. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ—सां० का० १।

दार्शनिक नहीं मानेगा ? मायावादी शङ्कराचार्य का जीवन चरित ही इस आरोप के निराकरण करने के लिए पर्याप्त साधन है। बत्तीस वर्ष के छोटे काल में इस परममेधावी दार्शनिक-शिरोमणि ने वह कार्य कर दिखाया है जो उनसे चौगुनी आयु वाले विद्वानों की शक्ति के मान का नहीं है। सोलह वर्ष की उम्र में विचार-प्रधान अमर भाष्य-ग्रन्थों की रचना करना, उनकी सहायता से इस विशाल भारत के कोने-कोने में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए मठों की स्थापना करना, धर्म को जाग्रत रखने के लिए निवृत्तिप्रधान संन्यासियों के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करना तथा वेदबाह्य बौद्धों को परास्त कर इस भूभाग से अनेकांश में निकाल बाहर कर देना—कोई हँसी खेल का काम नहीं था। इन्हें वही समुचित रीति से सम्पन्न कर सकता था जो नितान्त कर्मपरायण हो। अतः श्रीशङ्कराचार्य की यह अलौकिक कार्यकुशलता उनकी शिक्षा के ऊपर भाष्यरूप है।

श्रुति और तर्क

भारतीय तत्त्वज्ञान अपने सिद्धान्तों को श्रुति की कसौटी पर कस कर ही उन्हें विशुद्ध, सत्य तथा प्रामाणिक मानता है। श्रुति के प्रति इस समधिक आदर बुद्धि से अलोचक भारतीय दर्शन को अन्धविश्वासी, युक्तिहीन (डाग्मेटिक) बतला सकता है; पर यह कल्पना भी सारहीन है। तर्क का कोई अन्त नहीं है। वह स्वयं अप्रतिष्ठित है; तर्क से निश्चित सिद्धान्तों का खण्डन अन्य प्रबलतर तर्कों के द्वारा किया जा सकता है। अतः केवल तर्क के आश्रय पर किसी तथ्य का निश्चय करना नितान्त भ्रमात्मक है[1]। साक्षात्कृतधर्मा ऋषिजनों के ज्ञान चक्षु द्वारा देखे गये तथ्यों की राशि का ही दूसरा नाम श्रुति या वेद है[2]। वेद के सामने परम मेधावी शंकर, रामानुज जैसे विचारकों के भी मस्तक नत हो जाते हैं। अतः वेद का आश्रय लेना भारतीय तत्त्वज्ञान के अन्धविश्वास का सूचक नहीं है; अपितु ऋषियों के द्वारा अनुभूत अपरोक्ष ज्ञान का सहारा लेना है। इसीलिए वाक्यपदीयकार

---

१. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

(वाक्यपदीय १।३४)

२. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

(सायणाचार्य—तैत्ति० भाष्यभूमिका)

भर्तृहरि ने आगम की प्रकृष्ट प्रशंसा की है। उनका कहना है[1] कि विभिन्न आगम-दर्शनों की सहायता से प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करती है। अपने ही तर्क के अनुसरण करने से किन तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है? पुराण तथा आगम की सहायता के विना जिस किसी तत्त्व की उत्प्रेक्षा करने वाले तथा वृद्धों के अनुपासक पुरुषों की विद्या कथमपि प्रसन्न नहीं हो सकती। यदि वेद के आश्रय लेने से तर्क में किसी प्रकार की रुकावट होती, तो उसे हम अमान्य बतलाते, परन्तु यहाँ तो बात दूसरी है। विशुद्ध तर्क-प्रणाली के सहारे निश्चित किये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए दार्शनिक लोग श्रुति का ही आश्रय लिया करते हैं; क्योंकि जैसे ऊपर दिखलाया गया है, श्रुति योगज अनुभव के द्वारा उद्भावित सिद्धान्तों की रमणीय राशि है। अतः श्रुति के ऊपर दार्शनिकों का यह पक्षपात उन्हें अन्धविश्वासी नहीं बना सकता।

भारतीय दर्शन पर प्रगतिशील न होने का आरोप भी उसी प्रकार भ्रान्त है। दार्शनिक विचारकों की मीमांसा के गहन विषय (जैसे आत्मा, जगत्, ईश्वर आदि) प्राचीन भले हों, परन्तु दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से उनके विवेचन करने में पर्याप्त मौलिकता दिखलाई है। ये परम-गहन विषय प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं, क्योंकि इनकी गहनता सदा इन्हें नवीन बनाये हुए है। टीकाकारों ने व्याख्या लिखते समय अपने स्वतन्त्र अथवा प्रगल्भ विचारों को प्रकट करने में अपनी निर्भीकता तथा विचारस्वतन्त्रता प्रकट की है। अतः भारतीय दर्शन नितान्त प्रगतिशील है। उसने जीवन के नवीन विषयों की विवेचना करने में कभी अक्षमता नहीं दिखलाई है। अतः यह आरोप भी सिद्ध नहीं होता।

पृ० २०—भारतीय दर्शनों का विकास।

सत्यान्वेषण के प्रति भारतीय विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। 'सत्' की उपलब्धि के विविध विभिन्न मार्गों को जिस सूक्ष्मता

---

१. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
किययद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥
तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥
(वाक्यपदीय)

वैदिक युग में द्विविध प्रवृत्तियाँ— प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक

से तथा पुंखानुपुंखरूप से इन्होंने खोज निकाला है वह वास्तव में विचारशील पण्डित-मण्डली के आदर का विषय है। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभा-मूलक या प्रज्ञामूलक (इनट्यूशनिस्टिक) है, जो प्रातिभ चक्षु के द्वारा तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है। दूसरी प्रवृत्ति तर्कमूलक (रैशनलिस्टिक) है, जो तत्त्वों की समीक्षा के लिए तर्क या तार्किक बुद्धि के प्रयोग को नितान्त समर्थ मानती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन तथा ब्रह्म का साक्षात्कार। यदि ऋग्वेद के एक महर्षि प्रातिभ ज्ञान के बल पर जगत् के मूलतत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण करने में समर्थ होते हैं—**आनीदवातं स्वधया तदेकम्**[1] (उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी, जीवित थी), तो दूसरे महर्षि की यह प्रोत्साहना तर्कमूलक प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाई जा सकती है—**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**[2] (आपस में मिलो, किसी विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो)—इन्हीं उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव वैदिक युग में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना के लिए तर्कमूलक प्रवृत्ति का उपयोग करने पर मीमांसा की उत्पत्ति हुई। वेद के यज्ञयागादिकों में आपाततः उपलभ्यमान विरोधों के परिहार के लिए तार्किक बुद्धि के उपयोग करने से मीमांसा के मूल रूप का आविर्भाव हुआ। प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से उपनिषद् के तत्त्वज्ञान का जन्म हुआ। औपनिषद-तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध मानने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ ही साथ उपनिषद् काल में शुद्ध तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह होता था, जिससे प्रकृति-पुरुष के द्वैत को स्वीकृत करने वाले सांख्य, व्यावहारिक योग, बहुत्ववादी वैशेषिक तथा न्याय की उत्पत्ति कालान्तर में हुई। कुछ दार्शनिकों ने वेद से सम्बन्ध-विच्छेद कर निरपेक्ष भाव से अपनी स्वतन्त्र तार्किक बुद्धि से तत्त्वों की समीक्षा की, जिसका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्-वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाकों का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ है।

---

१. ऋग्वेद—१०।१२९।२।

२. ऋग्वेद—१०।१९१।२।

उपनिषदों के अन्दर भारतीय तत्त्वज्ञान के विविध सम्प्रदायों की उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरम है। औपनिषद तत्त्वज्ञान का पर्यवसान 'तत्त्वमसि' मन्त्र में था। इस मन्त्र के द्वारा उपनिषद् के ऋषि लोग डंके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्वं (जीव) तथा तत् (ब्रह्म) पदार्थों में नितान्त एकता है, परन्तु उपनिषत्-पश्चात् युग की विषम समस्या थी कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय? कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले पुरुष तथा प्रकृति—जीव तथा भौतिक जगत्—के परस्पर गुणों के ठीक-ठीक न जानने से ही (अनात्मख्याति) यह संसार है और प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ रूप को जान लेने पर तत्-त्वं की एकता सिद्ध होती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति=सांख्य; परन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चलता देख उसे व्यावहारिकरूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान-धारणा की व्यवस्था करनेवाले योग से हुई। इस प्रकार सांख्य योग एक ही तत्त्वज्ञान के दो पक्ष हैं—बौद्धिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष की संज्ञा है योग। अनन्तर जीव-जगत् के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों (विशेषों) की छानबीन करना नितान्त आवश्यक हुआ। इस आत्मा तथा अनात्मा के गुणविवेचन के लिए वैशेषिक की उत्पत्ति हुई; परन्तु वस्तु के रूप का विवेचन ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय का जन्म हुआ, परन्तु न्याय के शुद्ध तर्क पर अवलम्बित होने से यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्म-तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। "वेद को लौट जावो"—इस सिद्धान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के कर्मकाण्ड की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इस विवेचना का फल हुआ मीमांसा का उद्गम, परन्तु मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ केवल कर्म की उपासना से तृप्त नहीं हो सकीं। अतः अगत्या ज्ञान-काण्ड की मीमांसा होने लगी, जिसका पर्यवसान **'वेदान्त'** में हुआ। इस प्रकार औपनिषद 'तत्त्वमसि' महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए ही पूर्वोक्त क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई।

षड्दर्शनों का विकास-क्रम

अब जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए। इन्हें औपनिषद परम्परा से बहिर्भूत मानना नितान्त अनुचित है; ये उस परम्परा तथा विचार-

बौद्धदर्शन का उदय

धारा को रोकनेवाले स्वतन्त्र दर्शन या धर्म न थे; प्रत्युत परिस्थिति तथा परिवर्तन के वश उस परम्परा में उत्पन्न होने वाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करनेवाले सुधारक सम्प्रदाय थे। उपनिषत्-पश्चात् युग की समस्या—ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया जाय? के उत्तर में गौतम बुद्ध का कहना था—इस विषम संसार के आवागमन की जननी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थपरायणता एवं जनन-मरण के प्रधान कारणभूत आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने तथा सुन्दर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने से। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञान के विना मुक्ति नहीं हो सकती—यह सिद्धान्त बुद्ध को भी मान्य था; पर आचार की सहायता से शरीर की शुद्धि किये विना मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नहीं होता। अतः बुद्ध ने आचार मार्ग पर ही विशेष जोर दिया है और जगत् के मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान को समय का दुरुपयोग बतलाया है।

जैनदर्शन की उत्पत्ति

जैन धर्म के आचार्य तीर्थङ्करों के सामने भी वही आचार-विषयक व्यावहारिक समस्या थी, जिसके सुलझाने के लिए उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान का अन्वेषण कर निकाला। जैनदर्शन सत्य की सापेक्षता का पक्षपाती है। उसका निश्चय है कि सत्य की खोज में लगनेवाले समग्र दर्शन 'आंशिक सत्य' की ही प्राप्ति में कृतकार्य हुए हैं; अतः वे 'विकलादेश' हैं। केवल जैन दर्शन नय (वस्तु का एक दृष्टिकोण) तथा स्याद्वाद (वस्तु किञ्चित् है या नहीं है, या अव्यक्त है—आदि सिद्धान्त) के पक्षपाती होने से सत्य के समस्त स्वरूप का विवेचक है। अतः वह 'सकलादेश' है। इस प्रकार वस्तु-तत्त्व के नानात्मक होने से इस सिद्धान्त को 'अनेकान्तवाद' के नाम से पुकारते हैं। इस अनेकान्तवाद के ऊपर जैनधर्म का समस्त आचार मार्ग अवलम्बित है।

इस प्रकार श्रुति से विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ऊपर निर्दिष्ट विकासक्रम ऐतिहासिक न होकर तार्किक है। उपनिषदों से किन शताब्दियों में भारतीय

दार्शनिक साहित्य का विकास

दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का विकास सम्पन्न हुआ, इसे हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते। हम इतना ही कह सकते हैं कि इन सम्प्रदायों का विकास समानान्तर रूप से होता रहा। उपनिषदों के पश्चात् इन सिद्धान्तों का ऊहापोह विशेष मात्रा में होता रहा। अनन्तर इन्हें सूत्र रूप में एकत्र करके प्रत्येक दर्शन के मूलभूत ग्रन्थ की रचना की गई। इन सूत्रों में अपने मत के

वर्णन के साथ-साथ परमत का खण्डन भी सूक्ष्म रीति से किया गया मिलता है। न्यायसूत्रों की रचना महर्षि गौतम ने की, वैशेषिकसूत्रों की कणाद ने, सांख्य-सूत्रों की कपिल ने योग-सूत्रों की पतञ्जलि ने, कर्ममीमांसा-सूत्रों की जैमिनि ने तथा वेदान्त सूत्रों का निर्माण किया बादरायण व्यास ने। ये महर्षिगण यत्तत् दर्शनों के सिद्धान्तों के केवल सूत्रकार हैं, मूल प्रवर्तक नहीं। इन दर्शन-सूत्रों की रचना के बहुत पहिले ही इन दर्शनों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हो चुकी थी। **सूत्र** अत्यन्त सूक्ष्मरूप में लिखे गये हैं। आरम्भ में मौखिक व्याख्या की सहायता से ये बोधगम्य होते थे। विना व्याख्या के सहारे इनका समझना नितान्त कठिन है। अतः कालान्तर में इनके ऊपर व्याख्यान-ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिन्हें **'भाष्य'** कहते हैं। भाष्य के ऊपर **'वार्त्तिक'** तथा व्याख्या ग्रन्थों की परम्परा मूल सूत्रों को सुबोध बनाने तथा विपक्षियों के द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण के उद्देश्य से लिखी गई है। इस प्रकार दार्शनिक साहित्य की महती श्रीवृद्धि सम्पन्न हुई है।

कभी कभी एक ही सूत्र ग्रन्थ पर आपस में विरोधी भाष्य-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, जिससे मूल सूत्रों का तात्पर्य समझना नितान्त कठिन कार्य हो जाता है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर ऐसे ही परस्पर विरोधी भाष्य-ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनमें शाङ्करभाष्य अद्वैत का, रामानुजभाष्य विशिष्टाद्वैत का, मध्वभाष्य द्वैत का, निम्बार्कभाष्य द्वैताद्वैत का तथा वल्लभभाष्य शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक है। इन विभिन्न भाष्यों पर भी कालान्तर में सिद्धान्तानुकूल वृत्ति-ग्रन्थों की रचना होती रही है, जिसके कारण वेदान्त दर्शन का साहित्य भारतीय-दर्शन-साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा, विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त के अनन्तर ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय का नम्बर आता है।

२—श्रौत दर्शन

पृष्ठ ३२—वैदिक देवता

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बनाने वाला अग्नि-पुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायंकाल में रजत-रश्मिओं को बिखेर कर जगन्मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगाने वाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय को उत्पन्न नहीं करते? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल

में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजुली की लपक तथा कर्ण कुहरों को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्यमात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते। वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न भिन्न देवताओं का क्रीडा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्त्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उत्पत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी, जिसे वे पालीथीजम (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ, तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधानरूप में एक देवता-विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मनोथीजम (एकेश्वरवाद)। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एक देववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीजम) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है, जो पाश्चात्त्य गणना के हिसाब से दशतयी (ऋग्वेद) के मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है, देवतातत्त्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी, जितनी वे लोग बतलाते हैं।

यास्क ने निरुक्त के दैवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्व-

देवता तत्त्व

शालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' कहलाती है। वह एक और अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है[1]।

---

१. महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ (७।४।८,९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्ति के कथन का अनुमोदन करती है,[1] परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं। ऋग्वेद के अध्ययन से देवता-तत्त्व का रहस्य हम भली भाँति समझ सकते हैं।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है[2] कि 'एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, उसी की यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग भी 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना किया करते हैं।' शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मन्त्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[3]। 'असुर' का अर्थ है— असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्ति-मात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः उरवः, विश्वतस्परि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थिर रहते हैं। उनके लिए सत्य, ध्रुव, नित्य प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५ वाँ सूक्त) में देवताओं का 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान

---

१. बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१–६५।

२. एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोः—(ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२)।

३. तद्देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः—(४।५३।३१)।
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः—(५।८३६)।
महद्विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा—(३।३८।४)।

सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—**महद् देवानामसुरत्वमेकम्** = देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति का विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं; प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। 'जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भधारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है[1]।'

ऋत

ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है—सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ[2]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८)। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं, तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं[3] (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के भीतर, सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

देवताओं के द्विविध रूप—स्थूल तथा सूक्ष्म

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है, वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, वह है उनका गूढ़रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्या-

---

१. ऋग्वेद ३।५५।५।

२. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत (ऋ० वे० १०।१९०।१०)।

३. ऋतमर्पन्ति सिन्धवः।

त्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिये विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिये। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है,[१] परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परमपद' है, जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृतपान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है[२]। उस परमपद को ज्ञान-सम्पन्न जागरणशील विप्र लोग—विद्वज्जन—ही जानते हैं[३]। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसीलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। **ऋषि** अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत्+तर = उत्तर, उत्+तम = उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर हैं। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है, जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आदिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है[४]। **'सूर्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च'** (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मन्त्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है? 'आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परम-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरणयक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता

---

१. ऋ० वे० १।१५४।१।

२. ऋ० वे० १।१५४, ऋक् ५।

३. तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ ऋ० वे० १।२२।२१।

४. उद् वयं तमसस्परिज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥—ऋ० वे० १।२०।१०।

है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। तिरोहित शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, तथा पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। **'अग्निमीडे पुरोहितम्'** मन्त्र में पुरोहित अर्थात् (अभिव्यक्त, पार्थिव) अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[1]।

पृ० ३९—'आत्मन्' की व्युत्पत्ति

'आत्मन्' की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय मिलता है। अनेक कारणों से यह नामकरण किया गया है। शङ्कराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत कर समस्त व्युत्पत्तियों को एक साथ प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति), समस्त वस्तुओं को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते), स्थितिकाल में वह विषयों को खाता है, अर्थात् अनुभव करता है (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भावः)। इन्हीं कारणों से आत्मा का 'आत्मत्व' है[2]। कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए अधिष्ठान की सत्ता अवश्य मानी जाती है। कल्पित सर्प की सत्ता के लिए तदधिष्ठानभूत रज्जु की सत्ता निरन्तर रहती है। उसी प्रकार कल्पित् जगत् की सत्ता मानने के लिए आत्मा का निरन्तर भाव, सन्तत (नित्यता) स्वीकृत की गयी है। आत्मा की सत्ता के कारण प्राणीमात्र जीवन धारण करता है। 'कोई भी मर्त्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से जीवित रहता है; प्रत्युत यह उस तत्त्व के सहारे जीवित रहता है जिसमें ये दोनों प्राण तथा अपान आश्रित रहते हैं' और वह तत्त्व कौन है ? आत्मा (कठ उप० २।२,५)।

शुद्ध आत्मा की चैतन्य-स्वरूपता

आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये हैं। तीन निम्न कोटि के चैतन्यों

---

१. देवतातत्त्व के विशद विवेचन के लिये देखिये कोकिलेश्वर शास्त्री रचित अद्वैतवाद (बँगला) पञ्चम अध्याय।

२. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।
(कठ० उप०; २।१।१ शांकरभाष्य)।
द्रष्टव्य विद्यारण्यकृ-ऐतरेयदीपिका, पृ० ९३-९४।

में आत्मा का निवास नहीं रहता, परन्तु सबसे उच्चकोटि के चैतन्य में आत्मरूप की तात्त्विक उपलब्धि होती है। शरीर-चैतन्य स्वप्न-चैतन्य तथा सुषुप्ति-चैतन्य से सर्वथा पृथक् होकर आत्मचैतन्य अपने शुद्ध अमिश्रित रूप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में (८।७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित की गई है। देवता तथा असुरों ने आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने बत्तीस वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर सिखलाया कि आँख में, जल में तथा आदर्श में जो पुरुष दीख पड़ता है वही आत्मा है। विरोचन को इस शिक्षा से संतोष हो गया, परन्तु इन्द्र के मन में शङ्का का उदय हुआ कि सुन्दर अलंकारों से शरीर को भूषित करने पर आत्मा भूषित प्रतीत होता है, किन्तु क्या शरीर ही आत्मा है ? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य है, तो शरीर में अन्धत्व, काणत्व आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों को मानना पड़ेगा। इस शङ्का का निरास करने के लिए प्रजापति ने स्वप्न-चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु दोष का निरास न हो सका; क्योंकि स्वप्न में हम दुःख का अनुभव करते हैं, आँखों से अश्रुधारा बहाते हैं, परन्तु आनन्द-रूप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकृत किया जा सकता है ? इन्द्र के पुनः आने पर प्रजापति ने सुषुप्ति काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु विचार करने पर इन्द्र के मन में शङ्का का पुनः उदय हुआ—सुषुप्ति-काल में न तो अपनी ही सत्ता का ज्ञान रहता और न बाह्य वस्तुओं का। उस समय तो जीव काठ के कुन्दे की तरह चैतन्यहीन प्रतीत होता है। इतनी शङ्का करने पर अन्त में प्रजापति ने वास्तविक तत्त्व को समझाया कि इन तीनों चैतन्यों से पृथग्-भूत जो उपाधिविरहित शुद्ध चैतन्य है, आत्मा तद्रूप ही है। आत्मा स्वचैतन्य रूप है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परन्तु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्यरूप है।

पृ० ४२—ब्रह्म के द्विविध लक्षण

स्वरूप लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है (**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**—तैत्ति० उप० २।१) तथा वह विज्ञान और आनन्दरूप है (**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**—बृह० उप० ३।९।२८)। उप-

स्वरूप लक्षण निषदों में ब्रह्म की तीन स्वभाविक शक्तियों का उल्लेख पाया जाता है—ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति।

सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण छान्दोग्य-उपनिषद् में केवल एक शब्द में किया गया है। वह शब्द है—**तज्जलान**[1]। तज्ज, तल्ल तथा तदन् इन तीन शब्दों का संक्षेप इस शब्द से किया गया। यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तल्ल) तथा उसी के कारण स्थितिकाल में प्राण धारण करता है (तदन्)। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है[2]। ब्रह्मसूत्र के **"जन्माद्यस्य यतः"** (१।१।२) सूत्र में ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण उपस्थित किया है। वह सबका अधिपति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है, वह सबका कारण है, उसी से सब जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं' (माण्डूक्य उप०)। सगुण ब्रह्म इस संसार के शासक हैं, वे इस जगत् के समस्त निवासियों के भाग्य के विधाता हैं। शुभ कार्य करने वाले जीवों का वह कल्याण साधन करते हैं और भुक्ति या मुक्ति का विधान करते हैं, परन्तु अशुभ-कर्म वाले जीवों को वे सर्वथा दण्ड देते हैं। ये ही ईश्वर, विराट् या हिरण्यगर्भ कहते जाते हैं। इस विश्व के समस्त प्राणी उन्हीं के शरीर हैं—सब पैरों से वह चलते हैं, सब हाथों से काम करते हैं, सब आँखों से देखते हैं और सब कानों से सुनते हैं। ब्रह्म अखण्ड शक्तियों के ऊपर शासन करता है। उसी की शक्ति से देवताओं में शक्ति संचार होता है। केनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में उमा हैमवती का रोचक आख्यान वर्णित है, जिसका तात्पर्य यही है कि न तो अग्नि में स्वतः दाहिका शक्ति है और न वायु में तृण को भी उड़ा देने का स्वतः सामर्थ्य है। यदि ये प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रबल सामर्थ्य के ऊपर गर्व करें, तो यह नितान्त अनुचित है। ब्रह्म की शक्तिमत्ता के बल पर जगत् के पदार्थों में शक्ति का परिचय मिलता है। नम्रता ब्रह्मज्ञान की सहायिका है और अभिमान उस ज्ञान का नितान्त बाधक है। इन्द्र के नम्रता प्रदर्शित करने पर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्म का परिचय देने के लिए आविर्भूत हुई थी, जिसकी कृपा से इन्द्र देवताओं के अधिपति हुए।

तटस्थ लक्षण

---

१. तज्जलानिति शान्त उपासीत (छ० उप० ३।१४।१)।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति० उप०।३१)।

पृ० ६२—द्विविध यान

इस ब्रह्माण्ड के भीतर अनेक लोक हैं, जिनमें सबसे उच्च लोक ब्रह्मलोक कहलाता है। उपनिषदों ने (छा० उप० ४।१५; बृह० ६।२, कौषी० १।२, ३) बड़े विस्तार के साथ मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी के विभिन्न मार्गों का वर्णन किया है जिनके द्वारा वे अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं। इस यात्रा के दो प्रधान मार्ग हैं—**देवयान तथा पितृयान**। ज्ञान कर्म-समुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा तपस्या आदि शोभन कार्य करनेवाले, पुरुष देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। ब्रह्म का आनन्दमय लोक प्राप्त कर लेने पर भी वे अपनी उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं और अन्त में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी पुरुष पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं, और कर्मानुसार सुख भोग कर वे पुनः इस लोक में आते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म ग्रहण करते हैं; यदि अशोभन का फल अवशिष्ट रहता है तो बुरे कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान पन्था का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं। इसे क्रममुक्ति कहते हैं। इन दोनों यानों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग है, जिसे **'यान'** न कहकर **'गति'** कहते हैं। इसकी पारिभाषिकी संज्ञा **'जायस्व म्रियस्व'**—उत्पन्न होना तथा मरना है। पशुपक्षी के समान जो जीव कर्म के अधिकारी हैं, तथा अधिकारी होकर भी जो अशुभ कर्मों के सम्पादक हैं, उनकी यह तीसरी गति होती है (छा० उप० ५।१०।८), परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें इस क्रममुक्ति से नितान्त असन्तोष होता है और जो सद्योमुक्ति (साक्षात् विना विलम्ब मोक्ष) के इच्छुक होते हैं। उपनिषद् ने उनके लिए भी व्यवस्था की है। आत्म-ज्ञान न होना ही बन्धन का कारण है। वह पुरुष मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता जाता है, जो इस जगत् में अनेकत्व को देखता है। अतः इस जगत् मे व्याप्त एकता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर सद्यो-मुक्ति को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है[1] कि जिस पुरुष की हृदयस्थित सब कामनाएँ छूट जाती हैं, वह पुरुष मरणशील होने पर भी अमृत हो जाता है—अमरत्व को

---

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(४।४।७)

प्राप्त कर लेता है, तथा इसी लोक में ब्रह्म को पा लेता है। उस समय उसके अंग, प्राण उसके शरीर से विमुक्त नहीं होते। ब्रह्म-रूप होकर वह पुरुष को प्राप्त कर लेता है[1]। एकत्व ज्ञान का यह अमृत फल है। अतः मनुष्य-मात्र का यह उच्च उद्देश्य होना चाहिए कि अपना बहुमूल्य जीवन साधारण वस्तुओं की प्राप्ति में न लगाकर आत्मोपलब्धि में लगावे, क्योंकि "उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु और आवागमन को पार करता है; जाने के लिए आत्मसाक्षात्कार को छोड़कर अन्य मार्ग है ही नहीं[2]" अतः तीव्र ज्ञान की प्राप्ति होने पर सद्योमुक्ति हो जाती है। ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के भोग करने की भी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए गीता में सुसमिद्ध ज्ञान सब कर्मों का (प्रारब्ध कर्मों का भी) नाश करने वाला बतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि विशुद्ध ज्ञान से सद्यो-मुक्ति, ज्ञान-कर्म के समुच्चय से देवयान, केवल शोभन कर्म के आश्रय से पितृयान तथा अशोभन कर्मों के अनुष्ठान से तृतीय गति की प्राप्ति होती है।

४—चार्वाक दर्शन

टिप्पणी १—'वैतण्डिक' का अर्थ

बुद्धघोष ने 'लोकायत' का 'वितण्ड-सत्य' अर्थ किया है। न्याय मञ्जरी में भी इसी की पुष्टि मिलती है—

नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः॥

टिप्पणी २—रामायण में लोकायत मत

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणाँस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥

(रामायण, अयोध्याकाण्ड, अ० १०२, श्लो० ३८-३९)

---

१. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।
(बृह० उप० ४।४।७)

२. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० उप० ३।८)

टिप्पणी ३—'चार्वाक' का अर्थ

चार्वाक मत के 'चार्वी' नामक आचार्य का उल्लेख काशिकावृत्ति में मिलता है—नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिस्तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी। स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते (१।३।३६ सूत्र)।

टिप्पणी ४—चार्वाक के विषय में गुणरत्न

गुणरत्न—षड्दर्शन समुच्चय की टीका पृ० ३०१।

टिप्पणी ५—द्रष्टव्य—महाभाष्य (७।३।४५) वर्णिका भागुरी लोकायतस्य।

'वर्णिका व्याख्यात्री भागुरी टीकाविशेषः'—कैयट। काशिका में भी यही प्रत्युदाहरण दिया गया है।

टिप्पणी ६—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बड़ोदा से प्रकाशित।

टिप्पणी ७—'अनुमान' चार्वाक दृष्टि में

लिंग (हेतु) को देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान कहा जाता है (**तल्लिंग-लिंगिपूर्वकम्**)—सा० का० ५)। उदाहरण के लिए ज्वालामुखी पर्वत को ले लीजिए। इसमें पर्वत के शिखर से सतत निकलने वाली धूमरेखा को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसमें अग्नि का सद्भाव होगा। यहाँ दृष्ट धूम से वह्नि के ज्ञान की कल्पना की जाती है, पर दृष्ट वस्तु से अदृष्ट की कल्पना करने में हमारे पास क्या कोई साधन है ? अनुमानवादी इसके उत्तर में धूम तथा वह्नि के सतत विद्यमान साहचर्य-नियम को प्रधान साधन बतलाते हैं। पाकशाला आदि के देखने से हमारी यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि जहाँ-जहाँ धूम का सद्भाव होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि की स्थिति अवश्यम्भावी है। इसी अनुपाधिक साहचर्य-नियम को 'व्याप्ति' के नाम से पुकारते हैं। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होगा—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य विद्यमान है; इस पर्वत में धूम विद्यमान है; अत एव इसमें अग्नि भी अवश्य विद्यमान होगा। व्याप्ति-ज्ञान के ऊपर ही अनुमान की सत्यता अवलम्बित है।

इस पर चार्वाकों की आपत्ति है कि इस अनुमान की सत्यता को हम स्वयं स्वीकार करते, यदि व्याप्ति-सूचक वाक्य की सत्यता प्रमाणसिद्ध होती; पर क्या यह सम्भव है कि जिन-जिन स्थानों में धूम तथा अग्नि विद्यमान हो उन सब का निरीक्षण किया जा सके ? प्रत्यक्ष के सीमित होने से वर्तमान काल के ही धूम-वह्नि-विशिष्ट स्थलों का निरीक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, भूत तथा भविष्य के स्थलों के परीक्षण की बात ही न्यारी है। ऐसी दशा में व्याप्ति-वाक्य की सत्यता कैसे मानी

जाय ? प्रत्यक्ष के द्वारा हमें केवल 'व्यक्ति' का सम्बन्ध ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष की सहायता से हमें इतना ही ज्ञान होता है कि एक 'क' का सम्बन्ध एक 'ख' के साथ विद्यमान है, पर इसी सीमित ज्ञान के आधार पर सब 'क' का सम्बन्ध सब 'ख' के साथ बतला कर व्याप्ति करना कितने बड़े दुःसाहस का काम है ? पाकशाला में एक विशिष्ट धूम का सम्बन्ध एक विशिष्ट वह्नि के साथ देखकर समग्र धूम का सम्बन्ध समग्र वह्नि के साथ होगा ही, क्या हम ऐसे नियम बनाने के अधिकारी हैं ? यदि नहीं; तो व्याप्ति सत्य नहीं मानी जा सकती और व्याप्ति की असत्यता सिद्ध होते ही अनुमान का किला बालू की भीत के समान भूमिसात् हो जाता है।

यदि यह माना जाय कि व्याप्ति 'विशेष' में नहीं होती; प्रत्युत 'सामान्य' (जाति) में होती है, तो भी दोष बने ही रहते हैं। 'सब मनुष्य मरणशील हैं', इस वाक्य में यदि व्याप्ति 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' के साहचर्य पर अवलम्बित मान ली जाय, तो नये अनुमान की गुंजाइश हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' को धारण करने वाले समग्र पदार्थों का ज्ञान हमें व्याप्तिसूचक वाक्य में पहिले ही हो चुका है। ऐसी दशा में देवदत्त में मनुष्यता हेतु से मरणशीलता के अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ? वह तो व्याप्ति में ही गतार्थ हो चुका है। इसे कहते हैं **सिद्धसाधन दोष**—सिद्ध वस्तु को साधन करने की गलती[1]। सामान्यतगत व्याप्ति मानने से चार्वाकों का कहना है कि कोई अनुमान हो ही नहीं सकता। एक विशिष्ट मरणशील के अनुमान के लिए एक विशिष्ट मनुष्य को जानना नितान्त आवश्यक है, पर हमें केवल मरणशीलता तथा मनुष्यता का सम्बन्ध ज्ञान होता है। ऐसी दशा में अनुमान के लिए कोई अवकाश ही नहीं। इस प्रकार सामान्य ज्ञान में विशेष का अनुमान न्यायसंगत नहीं है। इस अवस्था में भी अनुमान में दोषों का निराकरण नहीं हो सकता।

टि० ८—शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥
(स० सि० सं २।५)

टि० ९—अपरे लोकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः। स्वभावादेव जगद् विचित्रमुत्पद्यते, स्वभावतो विलयं याति।
(भट्टोत्पल—बृहत्संहिता १।७ की टीका)।

1. विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता।
अनुमापङ्कभंगेऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः॥
(शास्त्रदीपिका, पृ० ६३ में उद्धृत)

टि० १०—चार्वाक की इन युक्तियों का मार्मिक खण्डन उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में किया है। 'अकस्मात् भवति' वाक्य में पाँच विभिन्न विकल्पों की सम्भावना मानी जा सकती है और प्रत्येक सम्भावना का खण्डन उदयन ने इस कारिका में संक्षेप रीति से किया है—

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥
(न्या० कु० १।५)

कार्य की स्थिति नियतकाल तक ही रहने वाली है। अतः अवधि की नियतता के कारण कार्य कभी कभी होने वाला ही माना जाता है। ऐसी दशा में उसके कारण की कल्पना न करना तर्क विरुद्ध है।

टि० ११—त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
(स० द० सं०, पृ० ४)

टि० १२—द्रष्टव्य वेदांतसार, पृ० २६-२७। इन मतों के खण्डन के लिए देखिये न्यायमञ्जरी, द्वितीय भाग, पृ० १३-१४ तथा न्यायकुसुमाञ्जलि(१।१५)—

नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकभूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥

टि० १३—षड्दर्शनसमुच्चय में वृकपद का उदाहरण देकर असत्य बात को परम्परागत सत्य मानने की घटना की पुष्टि की गई है—

भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

इसकी विशद व्याख्या के लिए गुणरत्न की टीका देखनी चाहिए, जिसमें एक प्राचीन साम्प्रदायिक आख्यायिका का रोचक वर्णन किया गया है।

टि० १४—नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। नहि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते (कामसूत्र १।२।४८)।

टि० १५—त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी ॥
(स० द० सं०, पृ० ४)

टि० १६—पाश्चात्त्य दर्शन और चार्वाक मत

दार्शनिक जगत् में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से विख्यात हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार बृहस्पति तथा चार्वाक

भौतिकवाद के समर्थक हैं, उसी प्रकार प्राचीन ग्रीस दर्शन के इतिहास में डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०), एपुकुरिअस (३४९ ई० पू०) तथा लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) भौतिकवाद के संस्थापक तथा प्रचारक हैं। इस मत के अनुसार हाथ-पाँव के समान आत्मा भी मनुष्य के शरीर का अंशमात्र है। वह चतुर्विध परमाणुओं के समुच्चय का फल है। अतः शरीरपात के साथ आत्मा का भी उच्छेद होने के कारण आत्मा अमर नहीं है। इस जगत् की रचना में न तो कोई उद्देश्य है और न इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर दूसरा कोई रचयिता ही है। साधारण जन देवताओं पर इस विश्व के निर्माण का उत्तरदायित्व रखते हैं, पर यह सिद्धान्त निःसार है। अनन्त परमाणुओं में से किन्हीं परमाणु के अहैतुक यादृच्छिक संघात की ही संज्ञा 'जगत्' है। कतिपय परमाणु विना किसी कारण के आप से आप मिल जाते हैं और तब यह संसार उत्पन्न हो जाता है। जगद्रचयिता के अभाव में उपवास, व्रत, प्रार्थना आदि उपचारों से सन्तुष्ट करने को विधान बतलाने वाला धर्म नितान्त असिद्ध है। एपिकुरिअस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति बतलाया है, परन्तु कैसा आनन्द ? इन्द्रिय-वृत्तियों को चरितार्थ करने वाला भौतिक सुख नहीं; प्रत्युत समानशीलव्यसन वाले मित्रों की मण्डली में होने वाला मानसिक आनन्द, जिसे मानते हुए सादगी का जीवन बिताना ही इस मानव जीवन का उद्देश्य है। ल्युक्रेशियस ने इस विषय में अपने गुरु का अनुसरण किया है। वे शान्ति, सात्त्विक जीवन, सत्यपालन, कर्तव्यनिर्वाह के पवित्र उद्देश्य को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार एपिक्युरस के हेडोनिज्म (सुखवाद) तथा चार्वाक के सिद्धान्त में आश्चर्यजनक सादृश्य है। हेडोनिज्म के सिद्धान्त को जनसाधारण ने जिस प्रकार पीछे के समय में अत्यन्त निकृष्टरूप में परिवर्तित कर दिया, चार्वाकमत में भी इसी प्रकार का परिवर्तन दीख पड़ता है। स्टोइक दार्शनिकों ने इस षिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता, जगत् की उद्देश्य-सम्पन्नता आदि सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की है। उन्नीसवीं शताब्दी में पॉजिटिविजम आदि अनेक दार्शनिक मतों पर चार्वाकता की छाप स्पष्टरूप से दीख पड़ती है, परन्तु चार्वाकमत की तुलना एपिक्यूरिअनिजम के साथ ही समुचित रीति से की जा सकती है।

द्रष्टव्य मेटीरिअलिज्म (Materialism) तथा ल्यूक्रेशियस (Lucretius) शीर्षक लेख—इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग ८।



६—बौद्ध दर्शन

पृ० १२६—बौद्ध धर्म का धार्मिक विकास

बुद्ध के निर्वाणानन्तर इस धर्म का बहुमुखी विकास इतना विस्तृत है कि इस परिच्छेद में उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता। दार्शनिक विकास की धारा को समझने के लिए थोड़ी मोटी बातें पाठकों के सामने रखी जाती हैं। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष के पीछे वैशाली की द्वितीय संगीति (३२६ वि० पू०) में

धार्मिक सम्प्रदाय

वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्तीय) भिक्खुओं ने आचार तथा अध्यात्म-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊँचा किया। उसी समय से बौद्ध संघ में फूट पैदा होकर दो वादों का जन्म हुआ—**स्थविरवाद** (जो प्राचीन विनयों में रंचकमात्र भी संशोधन करने के प्रतिकूल था) तथा **महासांघिक** (संशोधनवादी)। इसी संगीति के सौ वर्ष के भीतर ही १८ विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिन्हें 'निकाय' कहते हैं। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' में इन निकायों का विशद वर्णन किया है, परन्तु वसुमित्र का वर्णन आचार्य भव्य, दीपवंस तथा कथावत्थु की अट्ठकथा के निर्देशों से भिन्न प्रकार का है। अट्ठकथा के अनुसार महासांघिकों के भिन्न निकायों के नाम ये थे—गोकुलिक, एकव्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी। स्थविरवाद के निकायों की संज्ञा थी—महीशासक (अवान्तर निकाय = सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, सांक्रान्तिक, सौत्रान्तिक, धर्मगुप्तिक) तथा वृजिपुत्रक या वात्सीपुत्रीय (अवान्तर निकाय—धर्मोत्तरीय, भद्रयाणिक, षाण्णागारिक तथा सम्मितीय) यह स्थिति अशोकवर्धन के समय थी, पर पीछे की शताब्दियों में इन निकायों के सिद्धान्तों में अवान्तर भेद होते गये। चैत्यवादी निकाय के ५ भेद पीछे हुए—पूर्वशैलीय, अपर शैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक तथा वैपुल्यवादी (वेतुल्लवादी)। इनमें प्राचीनता के पक्षपाती थेरवाद (स्थविरवाद) को ही 'हीनयान' कहते हैं। महासांघिक निकाय से ही अनेक अवान्तर परिवर्तनों के अनन्तर 'महायान' का उदय हुआ।

इन निकायों के सिद्धान्त किसी समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण दार्शनिकों ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, परन्तु आज ये सिद्धान्त विस्मृत प्राय हो गये हैं। 'कथावत्थु' ही इन निकायों के रहस्योद्घाटन करने के लिए एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। कतिपय निकायों के संक्षिप्त वर्णन से ही हमें सन्तोष करना पड़ता है, जिनका दार्शनिक जगत् में विशेष आदर है। (१) महासांघिक 'लोकोत्तर बुद्ध' के सिद्धान्त को मानते थे। उनकी दृष्टि में बुद्ध सर्वशक्ति-सम्पन्न अलौकिक पुरुष थे; सास्रव (सांसारिक) धर्म का लेशमात्र भी सम्पर्क उन्हें न था, तथा वे इद्धि (शक्ति-विशेष) के द्वारा नैसर्गिक नियमों का भी विरोध कर सकते थे। ये लोग अवतारवाद के पक्षपाती थे। शाक्य मुनि इसी लोकोत्तर बुद्ध के लोकानुवर्तन के निमित्त अवतार थे। भिक्षु जीवन का चरम लक्ष्य 'अर्हत्' न होकर 'बोधिसत्त्व' की उपलब्धि था। (२) सर्वास्तिवाद जगत् के भूतात्मक तथा चित्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को त्रिकाल सत्य मानता है। ये लोग बुद्ध को दैवी-शक्ति से सम्पन्न मानवमात्र मानते हैं। इनके मत में बुद्ध की सत्ता काल्पनिक और मायिक न होकर वास्तविक है। सर्वास्तिवादियों के मतों का खण्डन शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य (२।२।१८-२७) में किया है। (३) साम्मतीयों का एक समय बोलबाला था। इनके मत का उल्लेख विशेषतः उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ३४२) में किया है। ये लोग स्कन्ध-पञ्चक से अतिरिक्त एक विशिष्ट 'पुद्गल' पदार्थ की सत्ता मानते थे, जो पञ्चस्कन्धों के साथ ही उत्पातविनाशशाली था, तथा उन्हें धारण किये रहता था। अन्तराभव देह (जीव की मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच में विद्यमान शरीर) की सत्ता इन लोगों को मान्य थी और इसी की पुष्टि में पुद्गल की कल्पना भी आदरणीय थी। (४) वैपुल्यवाद के सिद्धान्त भयंकर विप्लव मचाने वाले थे। इनके सिद्धान्तों में महायान की ही सूचना नहीं मिलती, प्रत्युत तान्त्रिक वज्रयान के भी बीज अन्तर्निहित हैं। इनका एक विलक्षण सिद्धान्त मैथुन के विषय में था कि किसी खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) पति-पत्नी में स्वाभाविक अनुरक्ति रहने पर या भविष्यलोकों में साहचर्य के लिए मैथुन का आचरण किया जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी यह नियम मान्य था। बुद्ध की ऐतिहासिकता का स्पष्ट निषेध तथा मैथुन की अवस्था-विशेष में अनुज्ञा एकदम घोर परिवर्तन के सूचक सिद्धान्त थे। वैपुल्यवादियों के सबसे बड़े प्रचारक आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। अतः ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि महासांघिकों का ही अन्धक सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवाद के रूप में विकसित रूप महायान सम्प्रदाय है।

पृ० १२८—बोधिसत्त्व की क्रमिक शिक्षा

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त का ग्रहण करना पड़ता है। सब जीवों के उद्धार के लिए सम्यक् सम्बोधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिए वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इस सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। षट्पारमिताओं का अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। 'पारमिता' कहते हैं पूर्णत्व को। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्व प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। आत्मभाव का त्याग तथा निःस्वार्थ बुद्धि की प्रकृष्टता दानपारमिता है। प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यों से चित्त की विरति का नाम शील है। दूसरों के द्वारा अपकार किये जाने पर भी चित्त की अकोपनता क्षान्ति है। वीर्य का फलरूप ध्यान चित्त की नितान्त एकाग्रता है। दानादि पञ्च पारमिताओं का उद्देश्य प्रज्ञापारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता) की प्राप्ति शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति को होती है। उस समय यही ज्ञान होता है कि भावों की उत्पत्ति न तो स्वतः होती है, न परतः, न उभयतः और न अहेतुतः (कारण बिना)। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्यता है, परमार्थ दशा में सब भाव धर्मशून्य हैं। जगत् की सत्ता सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं। वास्तव में सब भावों की शून्यता ही परमार्थ ज्ञान है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले बोधिसत्त्व के लिए इस जगत् के समस्त व्यवहार मायिक, स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं। 'नैरात्म्यपरिपृच्छा सूत्र' (श्लोक १२) में बोधि-चित्त का विशद वर्णन है। बोधि-चित्त (संबोधिनिष्ठ चित्त) निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपञ्चसमतिक्रान्त माना जाता है। प्रज्ञापारमिता की देवी-रूप से उपासना बौद्धों का प्रधान आचार है। बोधिसत्त्व में ही उपदेश के द्वारा प्राणियों को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है।

पृ० १२९—बोधिचित्त का लक्षण—

निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
(नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र, श्लोक १२)

पृ० १२—प्रज्ञापारमिता का देवीरूप—

सर्वेषामपि वीराणां परार्थ-नियतात्मनाम्।
बोधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥

बुद्धैः प्रत्येक-बुद्धैश्च श्रावकैश्च निसेविता ।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥

(प्रज्ञापारमितासूत्र)

पृ० १३८—'संस्कृत' शब्द का अर्थ

'संस्कृत' शब्द का प्रयोग वैभाषिक मत में एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। 'संस्कृत' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'हेतुप्रत्ययजनित'। 'सम्भूय=अन्योन्यमपेक्ष्य, कृताः = जनिताः इति संस्कृताः'।

(अभिधर्मकोश, कारिका १।४)

पृ० १४२—'कुमारलात' का नाम

द्रष्टव्य वाटर्स सम्पादित 'युआनच्वांग का भारतीय यात्रा-विवरण' भाग २, पृष्ठ २२५। सौत्रान्तिक मत के संस्थापक इस आचार्य का यथार्थ नाम 'कुमारलात' ही था। इनका नाम 'कुमारलाभ' या 'कुमारलब्ध' चीनी नाम के अशुद्ध संस्कृतीकरण के कारण नितान्त त्याज्य है।

टिप्पणी १—

नीलपीतादिभिश्चित्रैर्बुद्ध्याकारैरिहान्तरैः ।
सौत्रान्तिकमते नित्यं बाह्यार्थस्त्वनुमीयते ॥

(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १३; आनन्दाश्रम)

टिप्पणी २—

विज्ञान के त्रिविध परिणाम के लिए द्रष्टव्य—त्रिंशिका कारिका १ और २।

टिप्पणी ३—'आलय-विज्ञान' के विषत में मतभेद

आलय विज्ञान का सिद्धान्त योगाचार के आदि आचार्य असंग तथा वसुबन्धु के द्वारा उद्भावित किया गया है, पर दिङ्नाग इसे आत्मा का ही निगूढ़ रूप बतला कर इसे स्वीकृत नहीं करते। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने प्रबल युक्तियों का प्रदर्शन किया है। इस कारण योगाचारों में आगमानुसारी तथा न्यायवादी दो मतों की स्थिति मानी जाती है। अद्वयवज्र ने अपने 'तत्त्वरत्नावली' में योगाचार के साकार ज्ञानवादी तथा निराकार ज्ञानवादी दो मतभेदों का वर्णन किया है। साकार ज्ञानवादियों के मत से ज्ञान बाह्य पदार्थों के स्वरूप को ग्रहण करता है, पर निराकार ज्ञानवादियों के मत से ज्ञान आकारहीन होता है, उसका सत्य-स्वरूप स्वसंवेदन रूप होता है। बाह्य अर्थों की सत्ता मानना मूर्खता-

विजृम्भित है। बाह्यार्थ के मायिक होने से स्वसंवेदनरूप ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है। कहना न होगा कि इस ज्ञान के स्वरूप का अनुभव सिद्ध योगियों को ही होता है। अतः सिद्धान्ततः विज्ञानवादी होने पर योग तथा आचार को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ये योगाचार के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

टिप्पणी ४—आलय-विज्ञान का स्वरूप—

तरङ्गा उदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैर्नृत्यमानाः प्रवर्तते॥

(लङ्कावतारसूत्र २।९९-१००)

टिप्पणी ५—चेतना का रूप—

चेतना चित्ताभिसंस्कारो मनसश्चेष्टा। यस्यां सत्याम् आलम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति, अयस्कान्तवशाद् अयःप्रस्यन्दवत्। (विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि पृ० २०)।

टिप्पणी ६—परम-तत्त्व का रूप—

न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभवात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

(माध्यमिककारिका १।७)

टिप्पणी ७—मध्यममार्ग का ग्रहण—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः॥

(समाधिराजसूत्र)

टिप्पणी ८—'शून्यता' का अर्थ—

अतो भावाभावान्तद्वयरहितत्वात् सत्स्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता मध्यमा प्रतिपत्, मध्यमो मार्ग इत्युच्यते। (चन्द्रकीर्ति—प्रसन्नपदा)।

टिप्पणी ९—दो प्रकार के सत्य—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥

(माध्यमिककारिका २४।८)

टिप्पणी १०—'संवृति' की व्युत्पत्ति—

संवृति की व्युत्पत्ति चन्द्रकीर्ति ने इस प्रकार की है—समन्ताद् वरणं संवृतिः । अज्ञानं हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् संवृतिरित्युच्यते ।

(माध्यमिककारिकावृत्ति, पृ० ४९२)

टिप्पणी ११—'क्षणभंग' के विषय में हेमचन्द्र—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते ॥

(स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १८)

टिप्पणी १२—'क्षणिकवाद' का खण्डन—

नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः ।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥

(न्यायमञ्जरी, पृ० ३९)

टिप्पणी १३—'वासना' का खण्डन

आचार्य शङ्कर का यह कथन (२।२।३० शारीरक भाष्य) यथार्थ है—अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः; संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते एवं लोके दृष्टत्वात् । 'वासना' के विस्तृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक (पृ० २२४–२६७) तथा स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९ ।

टिप्पणी १४—'शून्यवाद' का खण्डन—

शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते ।

(२।२।३१ शां० भा०)

———

७—न्याय दर्शन

टिप्पणी १—तर्क-विषय में मनु—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
(मनु १२।१०६)

टिप्पणी २—'न्यायविद्या' वात्स्यायन की दृष्टि में ।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥
(न्यायभाष्य १।१।१)

टिप्पणी ३—'आन्वीक्षिकी' का अर्थ—

प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानं सा अन्वीक्षा । अथवा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा । तया प्रवर्तते इति 'आन्वीक्षिकी' न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।
(न्या० भा० १।१।१)

टिप्पणी ४—'न्यायसूची-निबन्ध' का रचनाकाल—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥

टिप्पणी ५—'लक्षणावली' का रचनाकाल—

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥

टिप्पणी ६—'जयदेव' की प्रशंसा—

शंकरवाचस्पत्योः सदृशो शंकरवाचस्पती एतौ ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न भूतले क्वापि ॥

टिप्पणी ७—'बुद्धि' का अर्थ—

अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकः सकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः प्रदीप इव देदीप्यमानः आत्माश्रयो यः प्रकाशः, सा बुद्धिः (जिनवर्धनसप्तपदार्थी टीका) ।

टिप्पणी ८—भ्रम के विषय में वात्स्यायन—

वात्स्यायन (न्या० भा० ४।२।३।५) ने स्पष्ट लिखा है—तत्त्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते, नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः, अर्थात् ।

टिप्पणी ९—'ज्ञान-व्यभिचार'—

यत् तदुदकादिज्ञानमुपजायते मरीचिषु स्पन्दमानेषु, न तत्रार्थो व्यभिचरति । न हि ते न मरीचयो न वा स्पन्दन्ते, किन्तु ज्ञानं व्यभिचरति । अतस्मिन् तदिति भावादिति ज्ञानस्य व्यभिचारः, नार्थस्य ।

(उद्योतकरः—न्यायवार्त्तिक १।१।४)

टिप्पणी १०—'योगि-प्रत्यक्ष' का वर्णन

योगियों के प्रत्यक्ष-ज्ञान के विषय में भर्तृहरि का महत्त्वपूर्ण कथन है कि जिन व्यक्तियों ने भीतर प्रकाश का दर्शन किया है तथा जिनका चित्त किसी प्रकार व्याघातों से अशान्त नहीं होता, उन्हें भूत तथा भविष्य काल का ज्ञान सद्यः हो जाता है और यह ज्ञान वर्तमान-कालिक प्रत्यक्ष से कथमपि भिन्न नहीं होता—

अनुभूत-प्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥

(वाक्यपदीय १।३७)

टिप्पणी ११—'पक्ष' का लक्षण—

सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति ।
स पक्षः ··· ··· ··· ··· ···॥

(भाषापरिच्छेद, कारिका ७०)

टिप्पणी १२—व्याप्ति-परीक्षा में बौद्ध मत

व्याप्ति की परीक्षा तर्कप्रणाली में बड़ी आवश्यक है। हम कतिपय मानवों में ही मरणधर्मता को देखते हैं और उसी के आधार पर सब मानवों में उस धर्म को विद्यमान मान बैठते हैं। यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? ऐसी सार्वत्रिक व्याप्ति किस प्रकार यथार्थ मानी जा सकती है ? इस विषय में बौद्ध नैयायिकों—दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि ने व्याप्ति के निषेधात्मक पक्ष पर विशेष जोर दिया है। साध्य के अभाव में हेतु की अनुपलब्धि यदि मिले तो वह व्याप्ति यथार्थ मानी जायेगी। उनके मतानुसार व्याप्ति (अविनाभाव) का प्रत्येक दृष्टान्त हेतु तथा साध्य के नियत सम्बन्ध को सूचित करता है। यह सम्बन्ध तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्य-कारणभाव) पर आश्रित रहता है। 'पर्वत वह्निमान है, धूम की सत्ता रहने से' यहाँ जहाँ-जहाँ साध्य का (वह्नि का) अभाव है वहाँ हेतु की (धूम की) भी उपलब्धि नहीं होती, जैसे—तालाब तथा कुयें में। इसलिए यहाँ व्याप्ति बिलकुल ठीक है।

टिप्पणी १३—व्याप्ति-परीक्षा में वेदान्तमत

वेदान्त मत बौद्ध मत से पृथक् है। वेदान्तियों का कहना है कि व्याप्ति सहचर्य के (एक साथ रहने के) अवलोकन पर आश्रित रहती है। यदि दो वस्तुयें सदा एक साथ रहती हों (सहचार) तथा इसके विपरीत कोई भी दृष्टान्त हमारी दृष्टि में नहीं आया हो, तो वहाँ व्याप्ति-सम्बन्ध ठीक माना जाता है; अर्थात् व्याप्ति की यथार्थता के लिए साध्य तथा हेतु का सहचार (एक साथ रहना) ही आवश्यक नहीं है; प्रत्युत व्यभिचार (उलटा उदाहरण) का अदर्शन भी उतना ही आवश्यक होता है। फलतः व्यभिचार के अदर्शन के साथ ही साथ सहचार का दर्शन जहाँ होगा वहीं व्याप्ति ठीक मानी जायेगी। वेदान्तपरिभाषा का यही कथन है (पृ० ८३)—व्यभिचारादर्शने सति सहचार-दर्शनेन गृह्यते व्याप्तिः। वेदान्त का यह मत न्याय को भी सम्मत है।

टिप्पणी १४—आकाङ्क्षा आदि त्रिविध साधन

पद के समूह को वाक्य कहते हैं, परन्तु इन पदों में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक होता है। आकाङ्क्षा वहाँ होती है जहाँ कोई पद दूसरे पद के अभाव में वाक्य के पूरे अर्थ को प्रकट नहीं करता। अन्नंभट्ट के शब्दों में—'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकाङ्क्षा'। यथा—'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' यह पदों का समूह होने पर भी वाक्य नहीं है, क्योंकि कोई भी पद वाक्य के सम्पूर्ण अर्थ को 'गच्छति' के समान क्रियापद के अभाव में प्रकट नहीं करता। **योग्यता** का अर्थ है—अर्थ का बाधित न होना (अर्था-बाधो योग्यता)। 'आग से सींचता है'—वाक्य नहीं है, क्योंकि सींचन-क्रिया से आग जैसे ठोस चीज का सम्बन्ध नहीं बैठता। **सन्निधि** का अर्थ है—पदों के उच्चारण में समीपता। यदि इस समय कोई कहता है 'घड़ा' और घण्टे भर के बाद कहता है 'लावो', तो यहाँ 'घड़ा लावो' यह वाक्य नहीं बन सकेगा। अत एव वाक्य के अर्थ-बोध में इन तीनों की आवश्यकता सदा रहती है।

टिप्पणी १५—कार्य-कारण का लक्षण और सम्बन्ध

'कारण' का मान्य लक्षण है—"अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्" (दीपिका, पृ० २५ तथा मुक्तावली, का० १६)। प्रागभाव के प्रतियोगी की संज्ञा 'कार्य' है (कार्यं प्रागभाव-प्रतियोगि)। जिस वस्तु का अभाव होता है, उसे अभाव के प्रति 'प्रतियोगी' कहते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कारण (मृत्तिका) में कार्य (घट) का अभाव 'प्रागभाव' है। इसके प्रतियोगी को अर्थात् घट को कार्य कहेंगे।

कार्य-कारण सम्बन्ध की मीमांसा दर्शनशास्त्र का एक नितान्त मौलिक कार्य है, क्योंकि इसी सम्बन्ध पर अन्य सिद्धान्तों की संगति सिद्ध होती है। कार्य-कारण का सम्बन्ध चार प्रकार का माना जाता है—(१) असत् से सत् की उत्पत्ति (बौद्ध), (२) सत् से सत् की उत्पत्ति (सांख्य-सत्कार्यवाद), (३) सत् से असत् कार्य का उदय (वेदान्त-विवर्तवाद) तथा (४) सत् से उत्पत्ति के प्रथम असत् कार्य की उत्पत्ति (न्याय)। न्याय के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती, अर्थात् कारण-सामग्री के उपयोग करने से मृत्तिका में 'घट' नामक एक अभूतपूर्व नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है। नैयायिक दृष्टि में कार्य उपादान कारण से एकदम भिन्न है। जिस सूत्र-समूह से पट बनता है, वह सूत ही कपड़ा नहीं है; प्रत्युत कपड़ा सूत से अत्यन्त भिन्न है। कार्य कारणव्यापार से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता। अतः इस सिद्धान्त का नाम असत्-कार्यवाद या **आरम्भवाद** है।

टिप्पणी १६—उदयानाचार्य की ईश्वरसिद्धि विषयक युक्तियाँ

उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि अकाट्य युक्तियों के सहारे की है। उन्हीं की कतिपय युक्तियाँ संक्षेप में दी जाती हैं—(१) **कार्यात्**—जगत् के समस्त पदार्थ परमाणुजन्य, सावयव तथा अवान्तर महत्त्व-विशिष्ट हैं। कार्य के लिए कर्ता की सत्ता मानना उचित ही है। घट की उत्पत्ति तदुत्पादक कुलाल की सत्ता के बिना न्यायसंगत नहीं है; उसी प्रकार कार्यरूप इस जगत् की सृष्टि करनेवाला कोई चेतन पदार्थ अवश्य होगा। (२)—**आयोजनात्**— सृष्टि के अवसर पर परमाणुद्वय के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, परन्तु जड़ परमाणुओं का एक साथ आयोजन होना स्वयं सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए किसी चेतन पदार्थ की कल्पना नितान्त तर्कयुक्त है। (३) **धृत्यादेः**—तीसरी युक्ति संसार के धारण करने के विषय में है। यदि कोई चेतन धारण करने वाला न होता, तो यह जगत् कब का गिर गया होता। इस सृष्ट जगत् का नाश प्रलयकाल में होता है। अतः नाश के लिए किसी नाशकर्ता की आवश्यकता बनी हुई है। (४) **पदात्**—इस जगत् में अनेक कला-कौशल विद्यमान हैं, जैसे वस्त्र का बनाना, गृह की एक विशिष्ट प्रकार से रचना करना। इस सम्प्रदायव्यवहार के लिए, इसकी उत्पत्ति के लिए किसी ज्ञानवान् व्यक्ति की कल्पना करनी पड़ती है। (५) **प्रत्ययतः**—श्रुति हमारे लिए परम प्रमाण है। उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों में किसी प्रकार की त्रुटि या विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती। कितने भी कुशाग्रबुद्धि के द्वारा किया गया अनुमान श्रुति की शिला

पर पटके जाने से, विरुद्ध होने पर चूर चूर हो जाता है। श्रुति की इस प्रमाण-श्रेष्ठता का रहस्य क्या है? यही कि यह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा निर्मित की गई है। श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। (६) **श्रुतेः—** श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर की सिद्धि बतलाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।११) प्रतिपादित कर रहा है कि ईश्वर सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सब प्राणियों की अन्तरात्मा है, वह सबका नियामक तथा रक्षक है। भगवद्-गीता (९।१७) में श्रीकृष्ण ने अपने को जगत् का पिता, माता, धाता तथा प्रभव; प्रलय तथा स्थान बतलाया है। (७) **वाक्यात्**—महाभारत आदि ग्रन्थों के रचयिता के समान वाक्यभूत वेदों का भी कोई रचयिता अवश्य होगा। (८) **संख्याविशेषात्—**द्वयणुक में परिमाण की उत्पत्ति परमाणुगत परिमाण (पारिमाण्डल्य) से न होकर परमाणुगत संख्याद्वय से होती है, ऐसा नैयायिकों का सिद्धान्त है। यह द्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धि के द्वारा उत्पन्न होती है। जो चेतन व्यक्ति के ही द्वारा निष्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति में द्वयणुकों में संख्या की उत्पत्ति ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर रही है। (९) **अदृष्टात्—**धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म का अपर नाम अदृष्ट है। अदृष्ट कर्म-फल के उत्पादन में कारणभूत माने जाते हैं, परन्तु जड़ अदृष्ट में फलोत्पादन शक्ति बिना चेतन की प्रेरणा के सम्भव नहीं। अतः अदृष्ट की फलवत्ता के लिए भी ईश्वर को मानना ही न्यायसंगत होगा। इन युक्तियों की सहायता से न्याय ईश्वर की सिद्धि स्वीकार करता है।

इन युक्तियों को संक्षेप में उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि (५।१) के एक श्लोक में इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

टिप्पणी १७—न्यायमत में प्रवृत्ति का विचार

मनुष्य की प्रत्येक चिकीर्षा (करने की इच्छा) किसी विशेष प्रयोजन के ऊपर आश्रित रहती है। चिकीर्षा के तीन हेतु हैं—(१) कृतिसाध्यता-ज्ञान—इस बात का ज्ञान कि यह कार्य हमारे द्वारा साध्य हो सकता है; (२) इष्टसाधनताज्ञान—कार्य के करने से किसी अभिलषित वस्तु की सिद्धि का ज्ञान; (३) बलवदनिष्टाजनकताज्ञान—बलवान् अनिष्ट के न उत्पन्न होने का ज्ञान। इन तीनों ज्ञानों की चिकीर्षा के प्रति हेतुता है, प्रथम दो भावात्मक हेतु हैं और अन्तिम अभावात्मक हेतु है। समग्र प्रकृति के मूल ये ही हैं। कार्य हमारे प्रयत्नों से साध्य

हो सकता है, इसका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इस ज्ञान के अभाव में वर्षा की उत्पत्ति अथवा चन्द्रमण्डल के पकड़ने में जीव की प्रवृत्ति नहीं होती। अभीष्ट वस्तु की सिद्धि का ज्ञान भी जब तक नहीं है, तब तक हमारी प्रवृत्ति हो नहीं सकती। तृप्त पुरुष के भोजन में अप्रवृत्ति का कारण यही है। बलवान् अनिष्ट की अनुत्पत्ति का ज्ञान भी प्रवृत्ति उत्पन्न करने में साधक होता है। रोग से दूषितचित्त पुरुष विषभक्षण कर आत्महत्या इसीलिये कर लेता है कि उसे बलवान् अनिष्ट न उत्पन्न होने का ज्ञान रहता है। उपादान का प्रत्यक्ष होना भी इसी प्रकार हेतु होता है। संक्षेप में प्रवृत्ति के दो कारण हैं—कार्यताज्ञान (इस कार्य का करना हमारा कर्तव्य है, इसका ज्ञान) तथा इष्टसाधनताज्ञान (कार्य के करने से इष्ट वस्तु की उत्पत्ति का ज्ञान)। प्रथम पक्ष प्रभाकर मीमांसकों का और द्वितीय पक्ष नैयायिकों तथा भाट्टमतानुयायी मीमांसकों का है।

प्रवृत्ति के तीन कारण हैं—राग (सुख देने वाले पदार्थों में आसक्ति), द्वेष (प्रतिकूल वस्तुओं से विरक्ति) तथा मोह (वस्तु के यथार्थ रूप को न जानने से मिथ्याध्यवसायवस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणो मिथ्याध्यवसायो मोहः)—ये तीन प्रवृत्ति के साक्षात्कारण हैं। ये तीनों विशिष्ट समुदाय के प्रतिनिधि हैं। अतः गौतम ने ४।१।३ सूत्र में इनके सम्मिलित रूप को 'त्रैराश्य' कहा है। रागपक्ष में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ की गणना है। द्वेषपक्ष में क्रोध, ईर्ष्या, असूया द्रोह, अमर्ष का तथा मोहपक्ष में मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (किं स्विदिति विमर्शः = यह क्या है ? ऐसा विचार), मान (असद्गुणाध्यारोपेण स्वोत्कर्ष-बुद्धिः = अविद्यमान गुणों की कल्पना कर अपने को उत्कृष्ट मानना = घमण्ड), प्रमाद (असावधानता) का समावेश किया जाता है। प्राणिमात्र के समस्त-प्रवृत्तियों का उदय इन्हीं कारणों से होता है, परन्तु राग-द्वेष के उत्पादक होने से प्रवृत्ति में सब से अधिक हेतुता मोह की है। वात्स्यायन के द्वारा निर्दिष्ट 'पूर्वोक्ता दोषाः' का विस्तृत वर्णन जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (प्रवर्तनालक्षणो दोषः १।१।१८ में) किया है।

टिप्पणी १८—मुक्त आत्मा का रूप—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः॥
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम्।

(न्यायमञ्जरी, पृ० ७७)

टिप्पणी १९—मोक्ष का द्विविध रूप

उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है—(१) अपरनिःश्रेयस तथा (२) परनिःश्रेयस। तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है। जीवन्मुक्ति को अपरनिःश्रेयस कह सकते हैं, पर-निःश्रेयस विदेहमुक्ति है। वाचस्पति ने तात्पर्य टीका (पृ० ८०–८१) में इन दोनों के अन्तर का विस्तार से विवेचन किया है। आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ हैं—श्रवण, मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार। आन्वीक्षिकी का उपयोग संशयादितत्त्व तथा प्रमाणतत्त्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी तुरन्त साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्ययज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वासना का उपक्षय नहीं होता। ध्यान आत्मसाक्षात्कार के लिए नितरां उपादेय है। विना योगज-ध्यान के आत्मतत्त्व की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती। चतुर्थी प्रतीति पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है। इनको भी उपभोग से जब क्षीण कर देते हैं, तभी परनिःश्रेयस का उदय होता है (परं निःश्रेयसं न तावद् भवति यावद् उपभोगादुपात्तकर्माशयप्रचयो न क्षीयते। तस्मात् तत्त्वसाक्षात्काराधानप्रयत्नात् परस्तदुपभोगप्रयत्नश्चास्थेयः। तथा च न तुल्यकाल उत्पादः परापरयोर्निःश्रेयसयोः—तात्पर्यटीका, पृ० ८१।

निःश्रेयसस्य परापरभेदात्। यत्तावदपरं निःश्रेयसं तत् तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। परं च निःश्रेयसं तत्त्वज्ञानात् क्रमेण भवति—(न्यायवार्त्तिक १।१।१)।

टिप्पणी २०—न्याय का उद्देश्य—

दुःशिक्षितकुतर्कांश-लेश-वाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥

(न्यायमञ्जरी, पृ० ११)

टिप्पणी २१—'गोतम' का अर्थ—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

(नैषधचरित १७।७५)

टिप्पणी २२—मुक्ति की वैष्णव मीमांसा—

वरं वृन्दावने रम्ये श्रृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात् ॥
(सर्वसिद्धान्त-संग्रह, पृ० २८)

८—वैशेषिक दर्शन

टिप्पणी १—शिवादित्य का समय

श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' में प्रमा के लक्षण का खण्डन किया है—तेषु तावत् तत्त्वानुभूतिः प्रमा इत्युक्तम् । इस वाक्य की टीका करते समय शंकर मिश्र इसे न्यायाचार्य के 'लक्षणमाला' ग्रन्थ का बतलाया है । ये न्यायाचार्य लक्षणमाला के कर्ता शिवादित्य मिश्र हैं । फलतः इनका समय १२ शती से इधर नहीं हो सकता ।

टिप्पणी २—पदार्थ का लक्षण—

प्रमितिविषयाः पदार्थाः (सप्तपदार्थी), अभिधेयत्वं पदार्थस्य सामान्य-लक्षणम् (तर्कदीपिका, पृष्ठ २) ।

टिप्पणी ३—तम का द्रव्यत्व-परिहार

नैयायिकों तथा वैशेषिकों की अन्धकार के विषय में यही निश्चयात्मक धारणा है, पर श्रीधराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं । न्यायकन्दली में उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मत का वर्णन किया है । उनका कहना है कि किसी वस्तु पर आरोपित नील वर्ण के अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है । अतः वे तम को गुण के अन्तर्गत मानते हैं । उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन कर प्रकाश-सामान्यभाव को स्वीकृत किया है (किरणा०, पृ० ११२) । माधवाचार्य ने सर्व-दर्शनसंग्रह (पृ० ९०) में प्रभाकर मीमांसकों के एकदेशीय मत का उल्लेख किया है । जिसके अनुसार अन्धकार आलोकज्ञान का अभाव रूप है, न कि आलोक-सामान्य का । इस प्रकार तम के स्वरूप के विषय में वैशेषिकों ने खूब विवेचना की है । उदयन से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पीछे होने वाले, खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता दार्शनिकशिरोमणि श्रीहर्ष इन मतवादों से पूरे परिचित थे । अतः उन्होंने औलूक दर्शन को तम के स्वरूप-निर्णय में नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनों का मनोरम सामञ्जस्य उपस्थित किया है ।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ॥
(नैषध० २२।३६)

टिप्पणी ४—वायु की अनुपलब्धि—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः—(वैशेषिक सूत्र ४।१।७ तथा प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १९)।

टिप्पणी ५—प्रत्यक्ष में उद्भूत रूप की कारणता

उद्भूत अर्थात् उत्पन्न रूप का ही नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होता है—उद्भूत-रूपं नयनस्य गोचरः (भाषापरिच्छेद, कारिका ५४)।

टिप्पणी ६—वायु का प्रत्यक्ष—

तस्मात् प्रभां पश्यामीतिवद् वायुं स्पृशामीति प्रत्ययस्य संभवाद् वायोरपि प्रत्यक्षं सम्भवत्येव—(मुक्तावली, का० ४६)

टिप्पणी ७—आत्मा की शरीर से भिन्नता

आत्मा शरीर से भिन्न है। इसके विषय में जयन्त भट्ट ने बड़ी ही सुन्दर युक्ति दिखाई है। शिशु का मुख विकसित दीखता है। यह हर्ष की सूचना है। हर्ष की यह स्मृति होने से ही शिशु के मुख में विकास दृष्टिगोचर होता है। स्मृति अनुभव के आधार पर होती है, परन्तु इस जन्म में अनुभव न होने से यह पूर्व जन्म के अनुभव के कारण स्मृति इस जन्म में हो रही है। स्पष्टतः आत्मा शरीर से भिन्न है। जयन्त भट्ट का वह महत्त्वपूर्ण श्लोक यह है—

तस्मान्मुखविकासस्य हर्षो हर्षस्य च स्मृतिः।
स्मृतेरनुभवो हेतुः स च जन्मान्तरे शिशोः॥
(न्यायमञ्जरी, पृ० ४७०)

टिप्पणी ८—दुग्धपान में शिशु की प्रवृत्ति

द्रष्टव्य वैशेषिक सूत्र ३।२।४ तथा इस पर उपस्कार; प्रशस्तपादभाष्य पृ० १२–१४; न्यायकन्दली, पृ० ७१–८८।

टिप्पणी ९—आत्मा का अनुभव—

अब आत्मा के अनुभव पर विचार करना है। इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों में मतभेद सा दीख पड़ता है। वात्स्यायन का स्पष्ट मत है कि आत्मा अनुमान का विषय है तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इस अनुमान के लिंग हैं—(१।१।१० पर न्यायभाष्य)। किसी सुख देने वाली वस्तु को पाने की इच्छा, दुःख देने वाली वस्तु से द्वेष जिसमें उत्पन्न हुआ

आत्मा की अनुमेयता-प्राचीन मत

करता है, यही आत्मा है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिक आत्मा को अनुमेय मानते हैं, परन्तु पिछले नैयायिकों ने आत्माको प्रत्यक्ष का विषय माना है, तथा उसके प्रत्यक्ष के लिए एक पृथक् अन्तरिन्द्रिय (मन) स्वीकार किया है। इस मानस प्रत्यक्ष में भी मतभेद है। कोई नैयायिक आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होने पर 'अहमस्मि' (मैं हूँ) अहंप्रत्यय रूप से शुद्ध चैतन्यरूप में उसका अनुभव बतलाते हैं, परन्तु अन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्यरूप को प्रत्यक्ष का अविषय मान कर 'मैं जानता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में ज्ञातारूप से आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध स्वीकार करते हैं। आत्म-प्रत्यक्ष के साधनभूत मन के इन्द्रियत्व के विषय में नाना मत हैं। इन दोनों मतों का समन्वय जयन्त भट्ट ने यह कहकर दिखलाया है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मानने पर भी उसे अनुमेय मानना ही युक्तिसंगत है—"अनुमेयत्वमेवास्तु लिंगेनेच्छादिनाऽऽत्मनः" (न्यायमञ्जरी, पृ० ४३४)।

आत्मा का मानस प्रत्यक्ष-नवीन मत

दोनों का समन्वय जयन्त भट्ट

अहं-प्रत्यक्ष रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि कणाद को भी सम्मत है। आत्मा न तो आगमिक है और न अनुमेय; अपि तु प्रत्यक्षगम्य है। अनुमान के आश्रय लेने का अभिप्राय शरीरादि में आत्म-बुद्धि माननेवाले सन्देहवादियों का निराकरण मात्र है। इसी अभिप्राय से शरीर में प्राण-अपान की सत्ता, निमेष, उन्मेष, जीवन कार्य आदि को कणाद ने आत्मसिद्धि में लिङ्ग बतलाया है।

टिप्पणी १०—जाति तथा उपाधि का अन्तर—

अनेक व्यक्तियों में रहने पर भी कोई धर्म सामान्य या जाति नहीं बन सकता; जाति की बाधिका अनेक बातें हैं, जिनका एकत्र उल्लेख करिणावली में उदयनाचार्य ने इस प्रसिद्ध कारिका में किया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक-संग्रहः॥

जाति के बाधकों का निर्देश इस प्रकार है—

(१) **व्यक्ति का एक होना**—आकाश सर्वत्र एक ही होता है। इसलिए 'आकाशत्व' जाति नहीं हो सकती।

(२) **व्यक्ति की तुलयता**—जहाँ भिन्न भिन्न शब्द एक ही व्यक्ति के वाचक होते हैं, वहाँ भिन्न भिन्न जातियाँ नहीं होतीं। घट तथा कलश एक ही

व्यक्ति के दो नाम हैं। फलतः व्यक्ति की तुल्यता होने से 'घटत्व' तथा 'कलशत्व' दो भिन्न जातियाँ नहीं हो सकतीं।

(३) **संकर**—जहाँ एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य में आ जायँ और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति प्रथम सामान्य में चले जायँ, तो 'संकर' दोष होता है। इस दशा में जाति नहीं होती। 'भूतत्व' तथा 'मूर्तत्व' को लीजिए। भूत पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूर्त भी पाँच हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन। यहाँ चार व्यक्ति दोनों विभागों में वर्तमान हैं। फलतः 'संकरता' के कारण भूतत्व तथा मूर्तत्व जाति नहीं माने जा सकते।

(४) **अनवस्था**—घट की जाति है घटत्व। यदि घटत्व की भी जाति 'घटत्वता' मानें, तो उसकी भी जाति माननी पड़ेगी और इस सिलसिले का कहीं अन्त ही नहीं होगा। इस तरह जाति की जाति मानने में अनवस्था दोष आ जाता है ('इनफिनिट रिग्रेस' अंग्रेजी में ख्यात दोष)। इसलिए घटत्व आदि जाति की जाति नहीं होती।

(५) **रूपहानि**—स्वरूप की सिद्धि न होना। जहाँ जाति की कल्पना करने पर व्यक्ति के स्वरूप की हानि होती है, वहाँ जाति नहीं होती। 'विशेष' संख्या में बहुत होता है; तथापि 'विशेषत्व' जाति नहीं होती। विशेष सामान्य से विपरीत कल्पना है। जाति मानने से विशेष के रूप को हानि पहुँचती है।

(६) **असम्बन्ध**—सम्बन्ध न होना। जाति व्यक्ति में 'समवाय' सम्बन्ध से रहती है। जहाँ यह सम्बन्ध सम्भव नहीं, वहाँ जाति नहीं होती। 'समवायत्व' जाति नहीं है, क्योंकि समवाय के साथ उसका समवाय सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जाति केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहती है, सामान्य, विशेष तथा समवाय में जाति नहीं होती। किसी शब्द में 'त्व' लगा देने से वह जाति नहीं बनती, केवल उपाधि बनती है। ऐसे गुण जो अनेक वस्तुओं में तो रहते हैं, परन्तु जिनके द्वारा स्वतन्त्र जाति कल्पित नहीं हो सकती, वे **उपाधि** कहलाते हैं।

बौद्ध लोग व्यक्ति से पृथक् 'जाति' नामक कोई पदार्थ नहीं मानते। 'सामान्य' कोई वास्तव चीज नहीं है, केवल नाममात्र है। अंग्रेजी शब्दों में कह सकते हैं कि सामान्य रीयल न होकर 'नामिनल' है। उनकी दृष्टि में इसे सर्वगत मानें या सीमित मानें, दोनों दशाओं में दोष रहता है। जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में तथा श्रीधर ने 'न्यायकन्दली' में इसका खण्डन किया है। जयन्त भट्ट के अनुसार

जाति व्यक्ति के साथ न तो उत्पन्न होती है, न व्यक्ति के नाश के साथ नष्ट होती है; वह नित्य है। सब घट-व्यक्तियों के नष्ट हो जाने पर भी 'घटत्व' विद्यमान ही रहता है। **श्रीधर** सामान्य को व्यक्ति के पहचान तथा नामनिर्देश का कारण मानते हैं। 'सामान्य' के कारण ही दो गो-व्यक्ति एक ही गो-नाम से पुकारे जाते हैं। पाश्चात्त्य दर्शन में भी सामान्य के विषय में 'नामिनेलजम' तथा 'रीअलिजम' के विभिन्न मत इस प्रकार विवाद के विषय हैं।

टिप्पणी ११—न्याय तथा वैशेषिक मत में अन्तर

(१) वैशेषिक लोग द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं को 'अपेक्षाबुद्धि-जन्य' मानते हैं। जब द्रष्टा के सामने कोई चीज आती है, उसका ज्ञान एक साथ ही नहीं हो जाता; प्रत्युत इनका ज्ञान एक एक कर होता है, जैसे 'यह एक चीज है,' 'वह एक चीज है'। इसी कई एकत्व ज्ञान को **अपेक्षा-बुद्धि** कहते हैं। जब दो एकत्व का ज्ञान होता है, तो अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है कि 'ये दो चीजें हैं'। द्वित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है और इसीलिए यह अनित्य है। इस प्रकार वैशेषिकों को द्वित्वादि संख्या 'अपेक्षाबुद्धि जन्य' है; यह सिद्धान्त मान्य है। नैयायिकों का मत इस विषय में भिन्न है। उनका कहना है कि द्वित्वादि संख्याओं का 'अपेक्षाबुद्धि' के द्वारा केवल ज्ञान होता है, उत्पत्ति नहीं। वैशेषिक मत में द्वित्वादि संख्याओं की एक स्वयं स्वतन्त्र संज्ञा है, न्यायमत में ऐसा मान्य नहीं। एकत्व के ही अन्तर्गत ये सब अवान्तर संख्यायें हैं। जब कई एकत्व का भान होता है, तब द्वित्वादि संख्या का केवल ज्ञान होता है, स्वयं वे उत्पन्न नहीं होतीं। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैशेषिक मत में द्वित्वादि संख्या 'अपेक्षाबुद्धि-जन्य' है, परन्तु न्यायमत में यह संख्या 'अपेक्षा-बुद्धि-ज्ञाप्य' है। दोनों मतों में यही अन्तर है। निष्कर्ष यह है कि वैशेषिक मत में द्वित्व की कल्पना अनेक एकत्वों की कल्पना से स्वतन्त्र है। 'द्वित्व' एक स्वतन्त्र वस्तु है, जिसकी उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है, परन्तु न्यायमत में एकत्व की कल्पना के भीतर ही द्वित्व की कल्पना निविष्ट है। अतः अपेक्षाबुद्धि से इसकी केवल अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं (जैसा वैशेषिक मानते हैं)।

(२) **पाकज उत्पत्ति**—नैयायिकों का सिद्धान्त है कि घड़े को आग में डालने पर घड़े का नाश नहीं होता; प्रत्युत छिद्रों से होकर गर्मी परमाणुओं के रंग को बदल देती है। अतः घड़े का पाक होता है, परमाणुओं का नहीं। इसका नाम 'पिटर पाक' मत है, परन्तु वैशेषिकों के मत में अग्नि व्यापार से परमाणु अलग अलग हो जाते हैं तथा पक कर लाल होकर वे ही द्वयणुकादि क्रम से पुनः

घटोत्पत्ति करते हैं। इसकी संज्ञा 'पीलु (अणु) पाक' है। पीलु-पाकवाद पर वैशेषिकों का बड़ा आग्रह है (मुक्ता०, का० १०५; न्या० मं०, पृ० ११–१२)।

(३) **विभागज विभाग**––विभाग से दूसरा विभाग उत्पन्न होता है। कागज से कलम का तथा कलम से हाथ का सम्बन्ध है। हाथ से ज्योंही कलम अलग हो जाता है, त्योंही कागज तथा हाथ का भी विभाग हो जाता है। यह विभाग एक अन्य विभाग से उत्पन्न होता है। दूसरा उदाहरण लीजिए। घड़े के परमाणुओं में जब चलन क्रिया होती है, तब एक परमाणु अन्य परमाणुओं से अलग हो जाता है और इसी कारण उनके रहने के आकाश-भाग भी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। नैयायिकों को यह मान्य नहीं है। कारण यह है कि अवयवी से अवयव का (परमाणु का घट से) विभाग यदि माना जायगा, तो इनके बीच में रहने वाले नित्य समवाय-सम्बन्ध की दशा क्या होगी ? समवाय तो वहीं रहता है जहाँ वस्तुएँ कभी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकतीं। इसीलिए नैयायिक लोग इसे नहीं मानते। इसका खण्डन प्रशस्तपाद-भाष्य में किया गया है (पृ० १५२)।

न्याय तथा वैशेषिक के इन्हीं मतभेदों का निर्देश इस प्राचीन श्लोक में किया गया है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

टिप्पणी १२––वैशेषिकों में 'अभाव' की कल्पना

कणाद तथा भाष्य में षट् पदार्थों का ही वर्णन मिलने के कारण 'अभाव' की कल्पना वैशेषिक दर्शन के इतिहास में पीछे के ग्रन्थकारों की अलौकिक सूझ है; यह कितने ही आलोचकों की धारणा है। शिवादित्य मिश्र के 'सप्तपदार्थी' ग्रन्थ में 'अभाव' का पदार्थों में वर्णन मिलने से कुछ लोग उन्हें ही इस पदार्थ की प्रथम कल्पना करनेवाला मानते हैं, पर ये सब धारणायें भ्रान्त हैं। अभाव पदार्थ की कल्पना वैशेषिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। वास्तववाद के लिए अभाव की सत्ता उतनी ही यथार्थ तथा आवश्यक है जितनी भाव पदार्थों की। वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखात्यन्ताभावरूपा मुक्ति के स्वरूप का विवेचन अभाव पदार्थ की कल्पना विना किया ही नहीं जा सकता। कणाद ने भी सूत्रों (१।२।१ तथा ९।१।३) में अभाव का वर्णन किया है, पर पदार्थ रूप से नहीं। उदयनाचार्य इसे सूत्रकार की त्रुटि या अननुमति मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनका कथन है कि अभाव की कल्पना सूत्रकार को भी अभिमत थी, उन्होंने

प्रतियोगी-मात्र के वर्णन करने से अभाव को भी पदार्थों में अंगीकार कर लिया है। अतः अभाव पदार्थ प्राचीन वैशेषिकों को भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार नवीन वैशेषिकों को। इसलिए 'अभाव' पदार्थ का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है:—

"एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः; प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्" (किरणावली)।

प्रभाकरभट्ट अभाव को अधिकरणात्मक मानकर उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते (मानमेयोदय, पृ० २९३–२९५)। गुरु-मत का नैयायिकों तथा भाट्टों ने खण्डन कर इसकी पृथक्-पदार्थता सिद्ध की है। द्रष्टव्य मुक्तावली (कारिका १२)।

टिप्पणी १३—वैशेषिक मत में ईश्वर

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी गई या नहीं ? इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में बड़ा मतभेद है। वैशेषिक सूत्रों में केवल दो सूत्र ईश्वर की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी व्याख्या में ऐकमत्य नहीं है, 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १।१।३) में 'तत्' शब्द ईश्वर का बोधक माना गया है, परन्तु वह धर्म का भी प्रतिपादक हो सकता है (द्रष्टव्य उपस्कार)। वै० सू० २।१।१८ सूत्र में 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द ईश्वर के समान योगियों का भी बोधक माना जा सकता है। अतः सूत्रों में ईश्वर का विस्पष्ट निर्देश प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रशस्तपाद से लेकर अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वर की सिद्धि एकमत से स्वीकार करते हैं। प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाण-भूत माना है, क्योंकि सृष्टिकाल में ईश्वर की सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) से ही जड़ परमाणुओं में आद्य स्पन्दन उत्पन्न होता है। भक्ति से संतोषित ईश्वर का अनुग्रह भी मोक्ष के सम्पादन में साधन माना गया है। गुणरत्न के कथनानुसार वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से 'पाशुपत' कहे जाते थे (षड्दर्शन-समुच्चयवृत्ति, पृ० ५१), जिस प्रकार शिव के भक्त होने से नैयायिक शैव कहे जाते थे। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन पर अनीश्वरवादी होने का लांछन नहीं लगाया जा सकता।

ईश्वर

ईश्वर का शरीर

वैशेषिक मतवाले भी अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि मानते हैं, जैसे नैयायिक। ईश्वर का शरीर होता है या नहीं ? यदि है, तो किस प्रकार का ? इस

प्रश्न के उत्तर में काफी मतभेद है। अधिक ग्रन्थकारों का मत है कि ईश्वर का शरीर नहीं होता। शरीर उत्पन्न है आत्मा के धर्माधर्म से, परन्तु ईश्वर में धर्माधर्म नहीं होते। फलतः उसका शरीर भी नहीं होता (न्यायकन्दली पृ० ५६)। अन्य ग्रन्थकारों के मत में संसारी जीवों के धर्माधर्म से ईश्वर का शरीर बनता है और इसीलिए उनका अवतार भी होता है। किसी के मत में परमाणु और किसी के मत में आकाश ही ईश्वर का शरीर है।

टिप्पणी १४—बौद्धों के द्वारा जातिखण्डन

बौद्ध दार्शनिक जातिकल्पना के सबसे कट्टर विरोधी और विदूषक हैं। उनकी आलोचना का सारांश यह है कि जगत् के स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ स्थिति के लिए पृथक् देश को ग्रहण करते हैं। घट से दण्ड पृथक् द्रव्य है, क्योंकि उसका स्थिति-साधक स्थान अलग है। परन्तु जाति के विषय में यह नहीं कह सकते; जाति के स्वतन्त्र पदार्थ होने से उसकी अनुभूति अलग होनी चाहिए थी, परन्तु उसका ग्रहण व्यक्तियों के अतिरिक्त कहीं भी अन्यत्र नहीं होता। पाचक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष होने पर क्या उनके सामान्य का कथमपि ग्रहण होता है ? पाचकों में जो सामान्यानुगत धर्म है, वह पाकक्रिया-मूलक है। पाक क्रियाओं के विभिन्न होने पर भी एकाकार अनुगत धर्म के कारण उनमें परस्पर सादृश्य है। ऐसी दशा में सामान्य धर्म की उपलब्धि पाकक्रिया में होती है, न कि पाचक व्यक्तियों में। ऐसी विषम स्थिति में 'पाचकत्व' की कल्पना आकाशपुष्प के समान नितान्त निराधार और निःसत्त्व है। 'गोत्व' का अर्थ है गोभिन्न पदार्थों से (जैसे अश्वादिकों से) भिन्न—पशुगत धर्म (तदितरेतरत्वम् अपोहः)। अतः व्यक्ति (स्वलक्षण) की कल्पना वास्तव है, जाति की सत्ता नामतः है, वस्तुतः नहीं। पण्डित अशोक की यह व्यंग्योक्ति वस्तुतः मर्मस्पर्शिनी है कि पाँच अँगुलियों से अलग जो व्यक्ति सामान्यरूप (अंगुलित्व) छठे पदार्थ का सद्भाव मानता है उसे अपने सिर पर सींगों की भी स्थिति माननी चाहिए:—

> इहासु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमंगुरीषु।
> साधारणं षष्ठमिहेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः॥

बौद्धों के 'अपोहवाद' की सिद्धि तथा सामान्य-निरास के लिए द्रष्टव्य महापण्डित रत्नकीर्ति कृत 'अपोहसिद्धि', पण्डित अशोक कृत 'सामान्य-दूषणदिक् प्रसारिता, न्यायमञ्जरी—पृ० २९८–३००। जाति के मण्डन के लिए देखिए न्यायमञ्जरी, पृ० ३०१–३१८।

———

९—सांख्य दर्शन

टिप्पणी १—'सांख्य' का अर्थ

'सांख्य' नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त में छिपा हुआ है। प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने से इस दुःखमय जगत् की सत्ता है, परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय उसके लिए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक-ज्ञान कारण है तथा दुःख-निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की परिभाषिकी संज्ञा है—'प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृति-पुरुष विवेक'। इसी का दूसरा नाम है संख्या = सम्यक् ख्याति = सम्यग् ज्ञान = विवेकज्ञान। सांख्य दर्शन में 'संख्या' के नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा। महाभारत में 'सांख्य' शब्द की यही प्रामाणिक व्याख्या की गई है।

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥

(महाभारत)

कुछ लोग तत्त्वनिर्णय के कारण गिनती के अर्थ में व्यवहृत होने वाले 'संख्या' शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह व्याख्या उतनी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती जितनी पूर्वोक्त व्याख्या।

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥

(महाभारत)

किसी वस्तु के विषय में तद्गत दोषों तथा गुणों की छानबीन करना 'संख्या' कहलाता है। 'संख्या' का अर्थ आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान भी किया गया है (शुद्धात्मकतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते—शाङ्करविष्णुसहस्रनामभाष्य)।

टिप्पणी २—सांख्य का उद्गम तथा विकास

सांख्य नितान्त प्राचीन दर्शन है। सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द 'योग' शब्द के साथ श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१३) में प्रथमतः उपलब्ध होता है; तथापि इसके अनेक माननीय सिद्धान्त उससे भी प्राचीन उपनिषदों में बीजरूप से मिलते हैं। सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुण का सिद्धान्त छान्दोग्य में प्रथमतः दृष्टिगोचर होता है। छान्दोग्य (६।४१)

का कथन है कि अग्नि का रूप लाल है, जल का शुक्ल तथा पृथिवी का कृष्ण। इस जगत् की सृष्टि में ये तीनों ही रूप कारणभूत हैं। प्रकृति की कल्पना में श्वेताश्वतर ने इन्हीं वर्णों का उपयोग किया है। "प्रकृति एक है, अजा—उत्पन्न न होनेवाली है, लोहित, कृष्ण तथा शुक्लरूपों को धारण करनेवाली है और अपने स्वरूपानुसार प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाली है।" 'इन्द्रियों से बढ़कर अर्थ; अर्थ से बढ़कर मन; मन से बढ़कर बुद्धि; बुद्धि से बढ़कर महान् आत्मा; महत् से बढ़कर अव्यक्त तथा अव्यक्त से बढ़कर पुरुष; पुरुष से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु नहीं होती।' कठ (१।३।१०, १३) के इस क्रम को सांख्य ने अपने ग्रन्थों में अपनाया है। प्रश्नोपनिषत् (६।२) में पुरुष की सोलह कलाओं का वर्णन मिलता है, जो सांख्य के सूक्ष्म शरीर की कल्पना का मूलाधार है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तो सांख्य सिद्धान्तों का भाण्डार है—

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां।
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥ (श्वेता० ४।५)

ईश्वर प्रधान या प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवों का तथा गुणों का अधिपति है (श्वेता० ४।१६)। जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं से जाला तनता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा अपने को प्रकटित करता है (श्वेता० ६।१०)। प्रकृति ईश्वर की मायाशक्ति है, इसीलिये प्रकृति का अधिपति महेश्वर मायी कहलाता है (श्वेता ४।१०)। तन्मात्रा, त्रिगुण तथा प्रकृति-पुरुष-विवेक के सिद्धान्त मैत्रायणी उपनिषद् (द्वितीय और तृतीय प्रपाठक) में संकेतित किये गये हैं।

सांख्य तथा बौद्ध दर्शन

बुद्धदर्शन तथा सांख्यदर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्धचरित में सिद्धार्थ आराड-कालाम जैसे सांख्य—तन्त्रोपदेशक आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण के लिए जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि में भी कतिपय समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। दुःख की सत्ता पर जोर देना, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता स्वीकृत करना, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था रखना तथा जगत् को सतत परिवर्तनशील मानना (परिणाम-नित्यता) अहिंसा आदि सिद्धान्त सांख्य तथा बौद्ध दर्शन दोनों में समानरूपेण मान्य हैं। परन्तु सांख्य के प्रकृति-पुरुष जैसे द्विविध तत्त्व की कल्पना, त्रिगुण के सिद्धान्त—आदि बौद्ध दर्शन में उपलब्ध नहीं होते। बौद्ध दर्शन आरम्भकाल में सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित अवश्य हुआ था। महाभारत के समय में अनेक सांख्याचार्यों का पता तो चलता ही है, साथ ही साथ तीन प्रकार के सांख्य का

वर्णन भी मिलता है (महा० १२।३१८)। एक सांख्य २४ तत्त्वों, दूसरा २५ तत्त्वों और तीसरा २६ तत्त्वों को अङ्गीकार करता था। महाभारत के जनक-पञ्चशिख संवाद में (शान्तिपर्व ३०३–३०८) सांख्य के प्रधान सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी लोकप्रिय दर्शन सांख्य ही है। इस प्रकार उपनिषद्, इतिहास, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि इसकी प्राचीनता तथा महनीयता की पर्याप्त बोधिका है।

कालविभाग

सांख्य दर्शन के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करने से निम्नलिखित समय-विभाग स्वीकृत किये जा सकते हैं—

(१) उपनिषदों तथा भगवद्गीता का सांख्य (१०००–८०० ई० पूर्व) इस काल में सांख्य वेदान्त के साथ संमिश्रित है, तथा ईश्वरवाद का समर्थक है।

(२) महाभारत तथा पुराणों का सांख्य (लगभग १००–२०० ई० पूर्व)—इस काल में सांख्य वेदान्त के सिद्धान्तों से पृथक् होकर स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रकट होता है। सांख्य सिद्धान्तों में विशेष विकास दृष्टिगत होता है। चरक का सांख्य भी इसी काल के सांख्य से मिलता-जुलता है। चरक सांख्य की अनेक विशेषताएँ (शरीर स्थान, १ अ०)—पुरुष को अव्यक्तावस्था में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव, मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा— महाभारत (१२।२१९) में भी उपलब्ध होती हैं, जिससे चरक पञ्चशिख के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

(३) ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट तथा सांख्य कारिका में वर्णित सांख्य (३०० ई० पू० ३०० ई०) इस काल का सांख्य निश्चितरूपेण निरीश्वरवादी है। प्रकृति तथा पुरुष को अन्तिम तत्त्व मान कर विश्व की तात्त्विक व्याख्या की गई है। ईश्वर के लिए इस सांख्य में कोई स्थान नहीं है।

(४) विज्ञानभिक्षु का सांख्य (१६ शती)। विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक दार्शनिक थे। उन्होंने सांख्य से निरीश्वरवाद के लांछन को हटाकर पुनः सेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के लुप्त गौरव का पुनः उद्धार किया और उसका वेदान्त के साथ सुन्दर समन्वय उपस्थित कर उसे महाभारतकालीन व्यापकता प्रदान की है।

गुणरत्न ने (पृ० ९६) सांख्य के दो सम्प्रदायों का वर्णन किया है— मौलिक्य तथा उत्तर। मौलिक्य सांख्य में प्रत्येक आत्मा के लिए एक स्वतन्त्र प्रधान की कल्पना स्वीकृत की गई है। यह सिद्धान्त चरक-सांख्य से मिलता-जुलता है। अतः महाभारत तथा चरककालीन सांख्य मौलिक सांख्य का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। उत्तर सांख्य कारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य ही है।

टिप्पणी ३—सांख्य की आचार्य परम्परा

सांख्यकारिका (७१ वीं कारिका) के अनुसार पञ्चशिख के अनन्तर शिष्य-परम्परा के द्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ था, परन्तु इस शिष्यपरम्परा का पूरा परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पञ्चशिख-ईश्वरकृष्ण के मध्यकालीन युग के कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों के नाम ये हैं—भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठरवृत्ति); बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य कौडिन्य, मूक (युक्तिदीपिका का० ७१); गर्ग और गौतम (जयमंगला)। इन सांख्याचार्यों के विशिष्ट मतों का निर्देश अनेक दर्शन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पौरिक के मत में प्रति-पुरुष प्रधान की पृथक् सत्ता रहती है (युक्तिदीपिका, पृष्ठ १६९)। जो गुणरत्न के प्रमाण पर मौलिक्य सांख्यों का अन्यतम सिद्धान्त था (पृ० ९६), आचार्य पञ्चाधिकरण के अनेक विशिष्ट मतों का उल्लेख प्रपञ्चसार-तन्त्र की पद्मपादाचार्य की टीका (१ म० पटल, ९४–९७ श्लोक), तथा युक्तिदीपिका में किया गया है। महत्-तत्त्व से पहले प्रधान के अन्तर अनिर्देश्यस्वरूप एक तत्त्व की उत्पत्ति होती है; यह विचित्र मत (पञ्चाधिकरण) का ही था। वार्षगण्य के मत का निर्देश योगभाष्य में ही है, परन्तु जैन ग्रन्थों में भी इन आचार्यों का उल्लेख होना इनकी ऐतिहासिकता का पर्याप्त प्रमाण है। तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० ५१) ने कपिल और माठर के अतिरिक्त उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति तथा बाद्धलि के नामों का निर्देश किया है।

टिप्पणी ४—विन्ध्यवासी का उल्लेख

कुमारिल (श्लोकवार्त्तिक, पृ० ३९३, ७०४), भोजराज (भोजवृत्ति ४।२२) मेधातिथि (मनुभाष्य १।५५), युक्तिदीपिका (पृ० १०८, १४४, १४८) शान्तरक्षित (तत्त्वसंग्रह, पृ० ६३६), गुणरत्न (पृ० १०२ तथा १०४), मल्लिषेण (स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ९७) ने इनके विशिष्ट मतों का निर्देश किया है। प्राचीन सांख्यसम्मत 'अन्तराभवदेह' की कल्पना इन्हें मान्य न थी, जिसका उल्लेख अनेक बार मिलता है [अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना, श्लो० वा० आत्मवाद, श्लो० ६२; युक्तिदीपिका (का० ४०)] इनके ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए वसुबन्धु ने 'परमार्थसप्तति' की रचना की। इस प्रकार इनका समय तृतीय शतक का अन्त तथा चतुर्थ का आदि (२५०–३२० ई०) प्रतीत होता है।

यदेव दधि तत् क्षीरं तत् क्षीरं तद्दधीति च ।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥

टिप्पणी ५—व्यासभाष्य में 'प्रकृति' का स्वरूप

व्यासभाष्य (२।१९) में प्रकृति का स्वरूप अल्पाक्षरों में विवेचित किया गया है—"निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं अलिंगं प्रधानम्" तत्त्व-वैशारदी ने इस वाक्य के गूढार्थ को विशदरूप से अभिव्यक्त किया है। पुरुषार्थ-क्रियाक्षमता का नाम 'सत्ता' है—वह वस्तु जो अपनी स्थिति से पुरुष के लिए क्रिया करने में समर्थ हो 'सत्' कही जाती है। असत्ता से तात्पर्य अत्यन्त अविद्यमानता (तुच्छता) से है। गुणत्रय की साम्यावस्थारूपिणी प्रकृति न तो किसी पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकती है, न गगनकमलिनी की तरह तुच्छ स्वभाव है, सद् तथा असद् दोनों अवस्थाओं से विरहित है; तथापि शशविषाण की तरह नितरां असद् भी नहीं है। गुणक्षोभ न होने से व्यक्ति-रहित 'अव्यक्त' और अन्यत्र लय न प्राप्त करने से वह है 'अलिंग' अर्थात् सृष्टि का जैसे वह आदि है, उसी प्रकार प्रलय का वही अन्तिम अधिष्ठान है, जिसमें समग्र पदार्थ लीन हो जाते हैं। सत्त्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति कारण-रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, विवेकरहित, विषय, सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मिणी है (सां० का० १० और ११)।

टिप्पणी ६—विज्ञानभिक्षु के मत में 'गुण' का अर्थ—

गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषपशुबन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते—(सां० प्र० भा० १।६१)।

टिप्पणी ७—गुणों का रूप और परिणाम

उभय दशा में ये गुण परिणामशील हैं। अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशा में वे परिणामशील हैं। प्रकृति-अवस्था में उनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता, क्योंकि वे उस समय में अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इस दशा में भी परिणाम होता है, जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं; जब 'सत्त्वं सत्त्वतया परिणमति, रजः रजस्तया, तमश्च तमस्तया'। सृष्टि दशा में गुण 'परिणाम' को नहीं; प्रत्युत 'विकार' को उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है, परन्तु परिणाम विकार नहीं हो सकता। समानभाव से परिवर्तन 'परिणाम' है, परन्तु वैषम्यरूपेण परिवर्तन 'विकार' है। गुण इन्द्रियातीत हैं। उनका रूप कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, क्षित्यादिक विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं, जो मायिक और तुच्छ हैं—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥
(षष्टितन्त्र)

इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है। बौद्धों के समान सांख्य सिद्धान्त भी परिणामनित्यता को स्वीकार करता है। प्रकृति नित्य-परिणामशालिनी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तित होते रहते हैं; परन्तु यह परिणाम ऐकान्तिक नहीं है, क्योंकि अवस्था परिवर्तित होने पर भी ये गुण अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जब गुणसाम्य के कारण अव्यक्त-रूप में रहती है, तब प्रलय होता है। गुण-विषमता के कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्था में भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है। अन्तर इतना ही होता है कि उस समय का परिणाम अपने से भिन्न वस्तुओं को पैदा न कर अपने को ही प्रकट किया करता है। इसे ही कहते हैं—सजातीय या 'स्वरूप परिणाम'। इस प्रकार भौतिक जगत् के विषय में सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि चितिशक्ति को छोड़ कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तनशाली हैं—प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्व एव भावाः ऋते चितिशक्तेः (तत्त्वकौमुदी, का० ५)।

टिप्पणी ८—पुरुष की अनेकता

इन प्रमाणों में अरुचि होने पर नये प्रमाणों से भी पुरुष-बहुत्व की सिद्धि की जा सकती है। पुरुष देशकालातीत है, अत एव वह एक होगा; इसमें कोई आधार नहीं है। मन के देशातीत द्रव्य होने से क्या मन बहुसंख्यक नहीं माना जा सकता? कालातीत का अर्थ है—विकारहीन। तो क्या विकारहीन होने से वस्तु एकसंख्यक ही होगी, इसका नियामक क्या है? अतः देशकाल से अतीत होने पर भी पुरुष में बहुसंख्यकता अवश्यमेव विद्यमान है।

विशेष द्रष्टव्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्यक कृत योगभाष्य का बँगला अनुवाद पृष्ठ, ३३०—३३३।

टिप्पणी ९—सांख्य में काल की कल्पना

प्राचीन सांख्य में प्रकृति-पुरुष के अतिरिक्त 'काल' भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था (श्रीमद्भागवत ३।६।२)।

अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः॥
(विष्णुपुराण, प्रथमांश २ २६)

इस काल के कारण पुरुष के सानिध्य में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिकों की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है। पीछे का सांख्य स्वभाव को पुरुष के व्यतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुण की प्रबलता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। गुणों में वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्त्व की प्रधानता पहले रहती है। अतः महत् तत्त्व में सत्त्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृति में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है; भूत-सृष्टि में तम की ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

टिप्पणी १०—सांख्य मत में शरीर की कल्पना

वाचस्पति मिश्र के अनुसार शरीर दो प्रकार का होता है—(१) **स्थूल शरीर** तथा (२) **सूक्ष्म शरीर**। स्थूल शरीर पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु किन्हीं-किन्हीं आचार्य के मत में ये चार ही महाभूतों से उत्पन्न माने जाते हैं, क्योंकि आकाश किसी भी वस्तु का उत्पादक (आरम्भक) नहीं होता (सांख्यसूत्र ३।१८) और किसी के मत में वे एक ही भूत से उत्पन्न होते हैं (सांख्यसूत्र ३।१९)। सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार, ११ इन्द्रिय तथा ५ तन्मात्र के समूह को कहते हैं। इसी का दूसरा नाम **लिङ्ग शरीर** है (सांख्य कारिका ४०)। इसे सप्तदश वस्तुओं का समूह जब कहा जाता है, तब वह अहंकार को बुद्धि के अन्तर्गत मान कर ही (सांख्य सूत्र ३।९—सप्तदशैकं लिङ्गम्)। विज्ञानभिक्षु इन शरीरों से अतिरिक्त एक तीसरा शरीर भी मानते हैं, जिसका नाम '**अधिष्ठान शरीर**' है। जब सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़ कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करता है, तब इसके लिए जो आधार होता है उसे 'अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। सांख्य सूत्र ३।१२ (न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावत् चित्रवच्च) के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट दिखलाया है कि अधिष्ठान शरीर के विना स्वतन्त्र रूप से सूक्ष्म शरीर अन्य स्थूल शरीर में नहीं जा सकता—छाया तथा चित्र के समान। छाया किसी आधार को चाहती है तथा चित्र अपनी स्थिति के लिए किसी आलम्बन को चाहता है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी अधिष्ठान शरीर की अपेक्षा रखता है। विज्ञानभिक्षु ने इस प्रसंग में

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति **निराश्रयं** लिङ्गम्॥ (सां० कारिका ४१)।

की व्याख्या अपने अनुकूल कर अधिष्ठान शरीर के लिए ईश्वर-कृष्ण का भी प्रमाण खोज निकाला है। वाचस्पति ने कौमुदी में मरण तथा जन्म के बीच में बुद्धि

आदि के आश्रय लेने वाले शरीर को सूक्ष्म शरीर ही माना है। वे अधिष्ठान-शरीर की कल्पना को मान्य नहीं मानते। (द्रष्टव्य कारिका ४१ की कौमुदी)।

टिप्पणी ११—सांख्य में 'अनुभव' की प्रक्रिया

तब तक अनुभव का उदय नहीं होता, जब तक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थों के सम्पर्क होने का ही दूसरा नाम ज्ञान है—"उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते" (त० कौ० का० ५)। इस ज्ञान के साथ पुरुष के संयुक्त होने का फल तत्कालीन अनुभव में स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है—'चेतनोऽहं करोमि = मैं चेतन करता हूँ' यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुष के संयोग का परिणाम है, क्योंकि न तो वस्तुतः निष्क्रिय पुरुष कार्य का सम्पादन कर सकता है और न कार्य करने वाली बुद्धि में विचार करने की शक्ति है।

बुद्धितत्त्व प्राकृत होने से स्वभावतः अचेतन है, तथा उसमें पदार्थ की उपस्थिति होने पर जायमान अध्यवसाय तथा सुखादि भी उसी प्रकार अचेतन हैं। इधर चेतन पुरुष निःसंग होने से सुख दुःखादिकों से नितान्त असंपृक्त है। बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिम्ब पड़ने से दोनों का उपकार होता है। 'बुद्धिच्छायापत्ति' का यह अर्थ नहीं है कि पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रत्युत प्रतिबिम्ब में बुद्धि-धर्मों का आरोप किया जाता है। इस बुद्धिच्छायापत्ति से चेतन अपने को सुख तथा ज्ञान आदि से संयुक्त समझने लगता है। और पुरुष के संसर्ग (चिच्छायापत्ति) से अचेतना बुद्धि अपने को चेतन के समान समझने लगती है। तथा उसका अचेतन अध्यवसाय चेतन के सदृश हो जाता है (कौमुदी का० ५)। पुरुष स्वभावतः असंग तथा निर्गुणातीत है, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने पर ही उसे भोक्ता तथा ज्ञाता कह सकते हैं—

"बुद्धावारोपितचैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्। ज्ञानेन सम्बन्धश्च चेतनोऽहं करोमीत्युपलब्धिः" (हरिदास भट्टाचार्य कुसुमांजलिटीका १।१४)। ऐसी दशा में ही वह अन्य दर्शनों में अभिमत जीव-स्थानीय होता है।

टिप्पणी १२—सांख्य मत में भ्रमज्ञान तथा प्रामाण्यवाद

सांख्य दर्शन बुद्धिवृत्ति के द्वारा अनुभव प्राप्त करने का पक्षपाती है; तथापि विज्ञानवादियों के विपरीत बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान के समान ही उसे अभीष्ट है। बुद्धि में आरोपित पदार्थ का स्वरूप यदि बाह्य जगत् में विद्यमान उस पदार्थ के रूप के साथ एकाकार हो, तो सांख्य की कल्पना में वह ज्ञान सच्चा कहलायेगा।

अतः अनुभव की सत्यता की परीक्षा पदार्थ के भौतिक ब्राह्य रूप और बुद्ध्यारोपित पदार्थ रूप के अभिन्नाकार होने पर अवलम्बित रहता है। सांख्य-सम्मत भ्रान्ति की कल्पना विलक्षण है। उसकी सम्मति में माध्यमिकों, प्रभाकरों, वेदान्तियों और नैयायिकों के ख्यातिवाद अनेकांश में त्रुटिपूर्ण अत एव अनुपादेय हैं (सां० सू० ५।५२।५५)। शुक्ति में जब रजतज्ञान होता है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है), तब 'इदं' का ज्ञान सत् और 'रजतं' का ज्ञान असत् होता है। 'इदं' ज्ञान का आश्रय हमारे चाक्षुश प्रत्यक्ष का विषय है। अतः यह 'सत्' (विद्यमान) है। रजत ज्ञान का आश्रय हमारे इन्द्रियों से अगोचर है और नेदं रजतं (यह रजत नहीं है) ज्ञान के द्वारा उत्तरकाल में बाधित भी होता है। अतः वह 'असत्' है। भ्रान्तिज्ञान इस प्रकार सत्-असत् उभयविध पदार्थों पर आश्रित रहता है। यह है सांख्य का **सदसत्-ख्यातिवाद** (सां० सू० ५।५६)। पूर्वोक्त व्याख्या अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार है, परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में सब पदार्थों का नित्य होने से स्वरूपतः अबाध है, परन्तु चैतन्य में आरोपित होने पर संसर्गतः बाध है (स्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यवात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति)। उदाहरणार्थ बाजार में बनियों की दूकानों पर रजत सद्रूप से विद्यमान है, परन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है। जगत् भी स्वरूपतः सत् है, परन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर असत् है—सदसदात्मक है (५।५६पर सांख्यप्रवचनभाष्य)।

ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य सांख्य मत में 'स्वतः' माना गया है। 'प्रमाणाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः'—माधव के कथन का यही तात्पर्य है। 'स्वतः' का अर्थ होता है अपने आप। सांख्य की दृष्टि में ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य अपने आप ही होता है। उसे प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। सत्कार्यवादी होने से कोई भी ऐसा पदार्थ सांख्य मत में उत्पन्न नहीं होता जो पहिले ही से कारण में विद्यमान नहीं होता। ऐसी स्थिति में ज्ञान के अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का जो उदय हुआ करता है, वह ज्ञान में स्वभावतः विद्यमान रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह आता ही कहाँ से? जिस प्रकार कारण के व्यापार से मृत्तिका में स्थित घट की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार कारण के गुण से अथवा दोष से ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का अथवा अप्रामाण्य का उदय क्रमशः हुआ करता है। ये बाहरी वस्तु नहीं हैं कि इनकी उत्पत्ति तर्कों के द्वारा सिद्ध की जाय। सांख्य का यही मत है।

टिप्पणी १३—सांख्य मत में अहिंसा तत्त्व

सांख्य वैदिक कर्मकाण्ड को दृष्ट उपाय के समान ही अकिञ्चित्कर स्वीकार

करता है। परलोक में अदृष्ट फल साधन करनेवाले यज्ञों में क्षय तथा अतिशय रूप दो दोष विद्यमान हैं ही, परन्तु अविशुद्धि का दोष मुख्य है (सां० का० २)। पशुयाग श्रुतिसम्मत होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के विना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। अतः यजमान तथा पशु दोनों की दृष्टि से यज्ञानुष्ठान उपादेय है, परन्तु सांख्य-योग की दृष्टि में इसमें पशु-हिंसा अवश्य होती है; पशु को प्राण-वियोग का असहनीय क्लेश भोगना पड़ता है; इसलिए इतने पापकर्म के लिये यथोचित पुण्यफल में से किञ्चित् पुण्य घट जाता है। इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में **'आवाप-गमन'** दिया गया है। भाष्य में पञ्चशिख का यह प्रसिद्ध सूत्र उद्धृत है—"स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति।"

भागवत धर्म के साथ सांख्य के सम्बन्ध का भी यही रहस्य है। सांख्य-योग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम कर्म है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की मुख्यता मानी गई है। समस्त यम-नियम अहिंसामूलक हैं, तथा उनका प्रतिपादन 'अहिंसा' की विशुद्धि—अवदातता—के अभिप्राय से किया गया है। व्यासभाष्य (यो० सू० २।३०) में 'सत्य' की विवेचना करते समय स्पष्टतः लिखा है—"एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेत्; पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।" महाभारत की सत्यमीमांसा का भी तात्पर्य यही है—"यद् भूत-हितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।" तत्त्ववैशारदी में चोरों के प्रश्न के उत्तर में सार्थगमन के स्थान को बतलाने वाले 'सत्यतपाः' ऋषि की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से दी गई है। अतः सत्य से बढ़कर 'अहिंसा' को महत्त्व देना सांख्य दार्शनिकों के कर्तव्यशास्त्र की आधार-शिला है। इसलिए प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसामूलक होनी चाहिए। अतः अहिंसा के प्रचारक होने के कारण सांख्य दर्शन का सम्बन्ध भागवत धर्म से नितान्त घनिष्ठ है। (गुणरत्न षड्दर्शन-समुच्चयवृत्ति, पृ० ९६)।

टिप्पणी १४—सांख्य मत में अपवर्ग—

"यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव।"

(सांख्यप्रवचनभाष्य १।७२)।

"द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः" —सांख्यसूत्र ३।६५।

टिप्पणी १५—ज्ञानी का कर्म—

क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसुवते। तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामंकुरप्रसवः—(तत्त्वकौमुदी सां० कां० ६७)।

टिप्पणी १६—सांख्य मत में ईश्वर

सांख्य के माननीय आचार्यों की एकमात्र सम्मति है कि जगत् की रचना तथा कर्मफल-प्रदान आदि कार्यों के लिए ईश्वर की सत्ता मानने के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। सांख्यसूत्रों ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि ईश्वर पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता—ईश्वरासिद्धेः—सा० सू० १।९३; प्रमाणाभावान्न तदसिद्धिः—सांख्यसूत्र ५।१०; सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—सांख्यसूत्र ५।११। ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है। अतः सांख्यसूत्र प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असिद्धि पर जोर देता है, परन्तु ईश्वरकृष्ण तथा कारिका के टीकाकारों ने स्पष्टतः ईश्वर का निषेध किया है। द्रष्टव्य कारिका और कौमुदी ५६–५७, सांख्यसूत्र और भाष्य १।९२–९५; ३।५६–५७; ५।२–१२। कुछ युक्तियाँ ये हैं :—

(१) कार्यभूत जगत् का कर्ता मानना तो उचित है ही, पर ईश्वर में उसकी कर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार—व्यापारहीन—है। अतः इस परिवर्तनशील जगत् का वह क्रियाशील कारण कभी नहीं हो सकता।

(२) चेतन पुरुष की कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होती है। इस जगत् की रचना में ईश्वर का कोई भी स्वार्थ नहीं जान पड़ता, क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है। उसकी कोई भी इच्छा नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए वह इस व्यापार में प्रवृत्त होगा।

(३) जगत् के व्यापार में ईश्वर की प्रवृत्ति को कारुण्यवश मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सृष्टि के पहले विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के उत्पन्न न होने से जीवों में दुःख का सम्पर्क ही नहीं है, जिसके नाश की अभिलाषा ईश्वर में कारुण्य उत्पन्न करेगी। कारुण्य से जगत् की उत्पत्ति और उत्पत्ति होने पर दुःखी प्राणियों की दीन दशा को देखकर कारुण्य की उत्पत्ति यदि मानी जाय, तो यह तर्क अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण नितान्त हेय ठहरता है। ऐसी दशा में ईश्वर में न तो कोई स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है और न कारुण्य की उत्पत्ति के लिए कोई युक्ति ही मिलती है। अतः बाध्य होकर ईश्वर का निषेध

करना ही पड़ता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु इसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे सांख्य को निरीश्वर नहीं मानते। कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर की सिद्धि भले न हो, परन्तु ईश्वर जगत् का साक्षी है, जिसके सन्निधिमात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है—परिणाम धारण कर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्यमात्र से लोहे में गति पैदा करता है। तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्—सांख्यसूत्र १।९६।

टिप्पणी १७—कपिल की विशिष्टता—

कपिलाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने।
कारुण्यात् सांख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय॥
(माठरवृत्ति)

१०—योग दर्शन

टिप्पणी १—संहिता में योग

प्राणविद्या की महनीयता का प्रतिपादन संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में समभावेन उपस्थित किया गया है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में ऋक् संहिता के मन्त्रों का उल्लेख तथा व्याख्यान-पुरःसर प्राणविद्या का उत्कृष्ट विवेचन है। दीर्घतमा ऋषि का कथन है कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है, जो सब इन्द्रियों का रक्षक है, कभी नष्ट नहीं होने वाला है और भिन्न भिन्न मार्गों (नाड़ियों) के द्वारा बाहर-भीतर आता जाता है। यह प्राण अध्यात्म रूप में (शरीर में) वायु और अधिदैव रूप में आदित्य है (ऋ० वे० १।६४।३१; १०।१७७।३)।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

टिप्पणी २—ब्राह्मण में योग

प्राण ही अन्तरिक्ष तथा वायु का द्रष्टा और पिता है। प्राणों की उपासना अनेक प्रकार से बतलाई गई है। प्राण ही देवतात्मक है। प्राण ही ऋषिरूप है। अतः देवताओं और ऋषियों की भावना प्राणों में करनी चाहिए। प्राण ही शयनके समय वागादि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रात्रि के समय वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद'

है। अतः प्राण-अपान के संयोग को 'गृत्समद' कहते हैं। विश्व को पापों से बचाने के कारण प्राण ही 'अत्रि' है। इस शरीर में इन्द्रियों का सबसे बढ़कर वास या निवास कारण होने से प्राण ही 'वसिष्ठ' है। समस्त वेद और श्रुतियाँ प्राणरूप हैं। अतः प्राण की इन विविध रूपों से उपासना करनी चाहिए (ऐत० आर० २।२।१०)।

टिप्पणी ३—उपनिषदों में योग

'योग' का प्रयोग संहिताओं में अपने विशिष्ट अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है (ऋ० सं० १।५।३; १।१८।७; १।३०।७ आदि)। छान्दोग्य; बृहदारण्यक, कठ, मैत्री, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में योग की विशिष्ट प्रणाली का संकेत उपलब्ध होता है। कठ (१।१।१२; २।३।१०–११) का कथन है कि जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी जब किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तब इस अवस्था को 'परमा गति' कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणा को योग कहते हैं (तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्)। श्वेताश्वतर (२।७–१५) ने क्रियात्मक योग का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। समाधि करते समय सिर गर्दन और रीढ़ को एक सीध में रखना, इन्द्रियों को मन के द्वारा वश में करना, श्वास-प्रश्वास का नियम करना, कंकड़, आग, बालू से रहित समतल, पवित्र, मनोऽनुकूल स्थान पर (विशेषतः गुफा में) योग का अभ्यास करना; योगसिद्धि के होने पर लघुता, आरोग्य, वर्णप्रसाद, स्वरमधुरता आदि का स्वतः उत्पन्न होना—प्रत्याहार, प्राणायाम और समाधि के साक्षात् परिचायक हैं। छान्दोग्य (८।६), बृहदारण्यक (४।३।२०) और कौषीतकि (४।१९) में हृदय से पुरीतत तक जाने वाली 'हिता' नामक नाड़ियों का निर्देश किया गया है। उपनिषत्-साहित्य में २१ उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें योग का सर्वांगीण विवेचन है—(१) अद्वयतारक, (२) अमृतनाद, (३) अमृतबिन्दु, (४) क्षुरिका, (५) तेजोबिन्दु, (६) त्रिशिखि ब्राह्मण, (७) दर्शन, (८) ध्यानबिन्दु, (९) नादबिन्दु, (१०) पाशुपत ब्रह्म, (११) ब्रह्मविद्या, (१२) मण्डलब्राह्मण, (१३) महावाक्य, (१४) योगकुण्डली, (१५) योगचूडामणि, (१६) योगतत्त्व, (१७) योगशिखा, (१८) वराह, (१९) शाण्डिल्य, (२०) हंस, (२१) योगराज। इन उपनिषदों में योग के समस्त आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि का पूर्ण विवरण मिलता है जिसके अनुशीलन से पिछले युग में योग के विकाश का पूरा परिचय मिलता है।

टिप्पणी ४—व्यासभाष्य का रचनाकाल

व्यासभाष्य पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास की रचना नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी इतनी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती। इस भाष्य में बौद्ध ग्रन्थों के वाक्यों से अल्पाधिक सादृश्य मिलता है। ३।१३ के भाष्य में दिए गए अनेक वाक्य भदन्त धर्मत्रात, भदन्त घोषक, भदन्त वसुमित्र तथा बौद्धग्रन्थकार बुद्धदेव के प्रसिद्ध मतों के प्रतिपादक वाक्यों से साम्य रखते हैं। योगभाष्य ३।१७ पातञ्जल महाभाष्य (५।२।९४) से हूबहू समानता रखता है। जयन्तभट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी में (पृ० ८७, काशी संस्करण) 'अन्यत्राप्युक्तम्' कहकर जिस वाक्य का निर्देश किया है वह योगभाष्य (२।१५) में उपलब्ध होता है। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१।२।६) में योगभाष्य (३।१३) के एक वाक्य का उद्धरण विना नाम के ही किया है। न्यायभाष्य (३।२।१५) में परिणाम का लक्षण योगभाष्य (३।१३) से ही अक्षरशः गृहीत है। फलतः हम व्यासभाष्य को विक्रम की तृतीय शती से प्राचीन मानते हैं। सूत्रशैली भी प्राचीनता की द्योतिका है। द्रष्टव्य 'साहित्य पत्रिका' (पटना, वर्ष ७, अंक २)

टिप्पणी ५—'विक्षिप्त' का अर्थ

चित्त की क्षिप्त दशा से उसकी 'विक्षिप्त' दशा सत्त्व गुण की अधिकता के कारण विशिष्ट होती है, क्योंकि इस दशा में चित्त कभी-कभी स्थिरता प्राप्त कर लेता है—

क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्। विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा। (तत्त्ववैशारदी १।१)।

टिप्पणी ६—एकाग्र तथा निरुद्ध वृत्तियों का अन्तर

चित्त की एकाग्र दशा में बाहरी वृत्तियों का निरोध होता है। निरुद्ध दशा में सब वृत्तियों का तथा सब संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार इन्हीं दोनों भूमियों में योग की सम्भावना रहती है—

एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः। निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्कारणां च। इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः—(भोजवृत्ति १।२)।

टिप्पणी ७—वृत्ति तथा संस्कार का चक्र—

संस्कारा वृत्तिभिः क्रियन्ते संस्कारेण च वृत्तयः।
एवं वृत्ति-संस्कार-चक्रमनिशमावर्तते॥

टिप्पणी ८—प्रज्ञा का स्वरूप—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति; स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। योगभाष्य (१।१)।

टिप्पणी ९—वितर्क का लक्षण

स्थूल आलम्बन में चित्त का जो 'आभोग' होता है, वह 'वितर्क' कहलाता है—"वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः" (व्यासभाष्य १।१७)। आभोग का अर्थ है—एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आरोपित होने पर दैहिक तादात्म्य।

टिप्पणी १०—असम्प्रज्ञात-समाधि के भेद

असम्प्रज्ञात-समाधि दो प्रकार की है—**भवप्रत्यय** और **उपाय-प्रत्यय**। चित्तवृत्ति का सम्यक् निरोध ही "असम्प्रज्ञात-समाधि" का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है—दोनों में स्व स्वामिभाव सम्बन्ध है। व्युत्थान (चित्त की विक्षिप्त) दशा में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भुला कर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार ग्रहण करता है। वृत्तिनिरोध होने पर वृत्तियों का आकार धारण नहीं करता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष की द्विविध गति की सम्भावना है—(१) जब चित्त पूर्ण चैतन्य प्राप्त कर द्रष्टा या साक्षी रूप से अवस्थित रहता है, अथवा (२) गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर जिस प्रकार एक ओर विषय-ज्ञान-शून्य हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर वह अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से भी वञ्चित रहता है। यह दूसरी दशा 'प्रकृति-लय' या जड़ समाधि है। वृत्ति-निरोध होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तर्गत है, परन्तु ज्ञान का उन्मेष न होने से यह समाधि दशा है ही नहीं। पतञ्जलि उसे ही 'भवप्रत्यय' समाधि कहते हैं, जिसमें प्रकृतिलीन व्यक्तियों के समान विदेह देवता भी लीन रहते हैं। (यो० सू० १।१९)।

'उपाय-प्रत्यय' समाधि ही वास्तव समाधि है। उपाय का अर्थ है—प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान। इसके साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति तथा समाधि हैं। अर्थात् सम्यक् ज्ञान के उदय होकर वृत्तियों के निरुद्ध होने पर जो असम्प्रज्ञात-समाधि होती है उसका नाम 'उपाय-प्रत्यय' है (यो० सू० १।२०)। 'भव-प्रत्यय' समाधि में कुछ समय तक चित्त अवश्य निरुद्ध होता है, परन्तु उसमें 'व्युत्थान' की आशंका बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के उदय न होने से कर्मजन्य संस्कारों

का क्षय अभी तक नहीं होता; परन्तु 'उपाय-प्रत्यय' में प्रज्ञा का उदय होने से क्रमशः संस्कारों के दाह होने से जो समाधि उत्पन्न होती है उसमें व्युत्थान की तनिक भी आशंका नहीं रहती। समस्त क्लेशों की जननी अविद्या है। अतः अविद्या को विना दग्ध किये वृत्तिनिरोध होने पर भी क्लेशों का नाश नहीं होता। अविद्या का नाश शुद्ध ज्ञान के ही द्वारा हो सकता है, जिसकी प्राप्ति का पतञ्जलि-प्रदर्शित क्रम है—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। भवप्रत्यय में क्षणिक निरोध होने पर भी अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होती, परन्तु उपाय-प्रत्यय में ज्ञानोन्मेष से पुरुष की चैतन्य रूप में प्रतिष्ठा होती है। अतः सच्चा समाधि उपाय-प्रत्यय ही है। बौद्ध धर्म में प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध का अन्तर ठीक इन्हीं दोनों समाधियों के अन्तर के समान है। अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण—'योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः' के साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ही है।

टिप्पणी ११—वैराग्य के दो प्रकार

जब तक साधक के हृदय में विषयों के लिए अभिलाषा बनी रहती है, तब तब तक चित्त में चाञ्चल्य कम नहीं होता। अतः चित्त की वृत्तियों को समेटने के लिए वैराग्य की बड़ी उपयोगिता है। वैराग्य दो प्रकार का है—अपर वैराग्य (भोगवितृष्णा) और पर वैराग्य (गुणवितृष्णा)। जब लौकिक तथा वैदिक विषयों के लिए चित्त में लेशमात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती, तब उन विषयों के ऊपर पुरुष का असाधारण अधिकार या प्रभुत्व उत्पन्न होता है। पुरुष समझता है कि ये विषय मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ। इसी वशीकरण का नाम 'वैराग्य' है। अभ्यास और अपर वैराग्य के सहयोग से पुरुष को 'सम्प्रज्ञात-समाधि' का उदय होता है। अस्मितानुगत समाधि में पुरुष बुद्धि से समन्वित होकर 'अस्मि' का बोध करता है। अस्मि के दो अंश हैं 'अस्' = सत्ता (सदंश) और 'मि' = उत्तर पुरुष या चैतन्य (चिदंश)। अस्मितासमाधि से विवेक-ख्याति का उदय होता है; अर्थात् सदंश से चिदंश का पृथक्करण करके पुरुष स्वकीय निसर्ग-निर्मल स्वरूप—चैतन्य—में प्रतिष्ठित हो जाता है। 'पर वैराग्य' सबसे उत्कृष्ट वैराग्य है, जिससे विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने पर चित्त गुणों से भी तृष्णा हटा लेता है। पुरुषख्याति के होने पर ही पुरुष को गुणों से वितृष्णा उत्पन्न होती है। भोगवितृष्णा होने से भोग्य जगत् में उसे आना नहीं होता; अब गुणवितृष्णा के उदय होने से पुरुष गुणों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इस 'पर वैराग्य' के उदय होने से विवेकख्याति के भी निरोध

होने पर असम्प्रज्ञात-समाधि का जन्म होता है। किसी आलम्बन के न रहने से इसको ही 'निर्बीज समाधि' कहते हैं। साधक की साधना में ऐसा एक अवसर अवश्य आता है जब उसके सामने सिद्धियाँ अनायास आने लगती हैं। जिस समय चित्त में सत्त्व के साथ-साथ रज का तनिक अंश अवशेष रहता है, तभी विभूतियों का उदय होता है, जिसे पतञ्जलि ने तृतीय पाद में बड़े विस्तार के साथ दिखलाया है। मधुमती भूमि में साधकों को ये सिद्धियाँ प्रलोभित करने लगती हैं। इस समय आसक्ति और अभिमान तनिक न करना चाहिये। जब पुरुष इन सिद्धियों के प्रलोभन को भी पार कर जाता है, तब 'कैवल्य' का अनुभव करता है। 'कैवल्य' का अर्थ है केवल, (अकेले) रहने की स्थिति। बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध-विच्छेद होने पर पुरुष स्वरूप—चिद्रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, यही कैवल्य है। इस समय पुरुषार्थशून्य होने से गुणों का अपने कारण में प्रविलय हो जाता है—"पुरुषार्थशून्यानां गुणनां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" (योगसूत्र ४।३४)।

टिप्पणी १२—योगी के चार प्रकार

योगी चार प्रकार के होते हैं—(क) **प्रथमकल्पिक,** (ख) **मधुभूमिक,** (ग) **प्रज्ञाज्योति** और (घ) **अतिक्रान्त-माननीय** (योग भाष्य ३।५१)।

(क) प्रथमकल्पिक योगी वे लोग होते हैं जो अष्टांगयोगसे युक्त होने पर योगमार्ग में सद्यः प्रवेश करते हैं। वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होने लगता है।

(ख) मधुभूमिक योगि का चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है और देवता अप्सरा आदि उसके पास उपस्थित होकर उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा की दशा होती है। उसे आसक्ति और अहंकार को दूर कर देना चाहिए; नहीं तो ये प्रलोभन उसे पदच्युत कर डालने में समर्थ होते हैं।

(ग) प्रज्ञाज्योति अवस्था में प्रज्ञाज्योतियों के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की पाँच प्रकार की अवस्थाओं पर अधिकार पाकर योगीगण भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय करने से योगी को वज्र के समान सिद्धदेह और अणिमा, महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तथा इन्द्रियजय होने पर मनोजवित्व, विकरणभाव (आश्रयहीन इन्द्रियों का अपने विषयों का ग्रहण) तथा भूतप्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाता है। इन सिद्धियों का नाम 'मधुप्रतीक' (यो० भा० ३।४९) है।

(घ) भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे 'विशोका' सिद्धि कहते हैं (यो० भा० ३।४९)। इसके बाद परवैराग्य के साथ-साथ त्रिगुण का राज्य समाप्त हो जाता है और योगी दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार कर परमपद में स्थित हो जाता है। इस दशा का नाम 'अतिक्रान्त-भावनीय' है। योगी की यही सर्वश्रेष्ठ चरम अवस्था है।

टिप्पणी १३--ईश्वर का रूप—

(क) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः—(योग सूत्र १।२४)।

(ख) यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य; स तु सदैव ईश्वरः (योगभाष्य १।२४)।

टिप्पणी १४--ईश्वर-प्राणिधान का अर्थ

ईश्वर-प्राणिधान का निर्देश योगसूत्रों में तीन बार आता है—ईश्वरप्रणिधानाद् वा १।२३, तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः २।१, समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् २।४५। यहाँ 'प्रणिधान' का अर्थ है ईश्वर को ही अपने कर्म के फलों का समर्पण तथा कर्मफलों को स्वयं न भोगना। ईश्वर की योग में बड़ी उपयोगिता है। प्रकृति के विकास तथा परिणाम होने में जो-जो प्रतिबन्ध आते हैं उन सबका दूरीकरण ईश्वर ही करता है। इसलिए वाचस्पति मिश्र का कथन है—"ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनय एव व्यापारः"। योग-वार्त्तिक का कथन भी इसी प्रकार है—"ईश्वरस्तु साम्य-परिणामादि-रूपाखिलावरण-भंगेन उद्बोधकः"। भोजवृत्ति (२।४५) का भी यही कहना है कि ईश्वर प्रसन्न होने पर अन्तरायरूप क्लेशों को हटाकर समाधि का यथार्थ ज्ञान करा देते हैं—

स भगवान् ईश्वरः प्रसन्नः सन् अन्तरायरूपान्।
क्लेशान् परिहृत्य समाधिं सम्बोधयति॥



निर्माणकाय-सिद्धि

पुराणों में अनेकविध सिद्धियाँ वर्णित हैं, उनमें 'निर्माणकाय-सिद्धि' का प्रमुख स्थान है। निर्माणकाय **'निर्माणचित्त'** के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में यहाँ पर पुराण तथा अन्य शास्त्रों से प्रमाण उपस्थित करते हुये संक्षेप में विचार किया जा रहा है। **पञ्चशिख** नाम के प्रख्यात सांख्याचार्य ने योग दर्शन के व्यासभाष्य में उद्धृत एक सूत्र[1] में यह स्पष्ट किया है; कि परमर्षि कपिल ने **आसुरि** को सांख्यशास्त्र का उपदेश देते समय 'निर्माणचित्त का आश्रय लिया था। वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु इस सूत्र को पञ्चशिख की रचना मानते हैं। इस सूत्र में प्रयुक्त 'कारुण्य' पद से यह ज्ञात होता है कि नाना प्रकार के दुःखों से घिरे हुये प्राणियों के उद्धार के लिए सिद्ध पुरुष भौतिक शरीर धारण करते हैं। बौद्धदर्शन में भी यह सिद्धान्त परिलक्षित होता है। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समस्त प्राणियों के उद्धार की कामना से तथागत बहुधा **निर्माणकाय** का आश्रय लेते हैं। आचार्य असङ्ग के 'महायान सूत्रालङ्कार' की आचार्य वसुबन्धुरचित टीका में **सम्भोगकाय** से निर्माणकाय का पार्थक्य दिखलाया गया है। निर्माणकाय दूसरों के उपकार के लिए धारण किया जाता है, जब कि सम्भोगकाय निजी उपयोग के लिए गृहीत होता है। न्याय दर्शन में यद्यपि निर्माणकाय शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है; तथापि जीवों के कल्याण के लिए समय समय पर भौतिक देह धारण करके ईश्वर अवतरित होते हैं। यह तथ्य न्यायग्रन्थों के लिए नवीन नहीं है। आचार्य उदयन ने अपने ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' में यह स्पष्ट बताया है कि ईश्वर अपने से रचे गये इस जगत् को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए सृष्टि के आरम्भ में गुरु के रूप में भौतिक देह धारण करते हैं। पाँचवें स्तवक में उदयन फिर कहते हैं कि ईश्वर केवल जगत् की सृष्टि के आरम्भ में ही इस प्रकार का शरीर धारण करते हों, ऐसी बात नहीं है; किन्तु जब कभी भी इस प्रकार के शरीर धारण करने की उनको आवश्यकता प्रतीत होती है, तभी वे अन्य रूप में भी शरीर धारण करके अपने सामर्थ्य की

---

१. आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

अभिव्यक्ति करते हैं।[1] यह सिद्धान्त शाङ्कर वेदान्त में भी प्रतिपादित है। "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" [ब्रह्मसूत्र १।१।२०]। इस वेदान्त-सूत्र के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रु-हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः" इस श्रुतिका ब्रह्म में तात्पर्य बताते हुये कहा है कि साधकों के कल्याण के लिए परमेश्वर अपनी इच्छा से मायामय शरीर धारण करते हैं[2]। आचार्य शङ्कर ने अपने मन की सन्तुष्टि के लिए महाभारत के इस पद्य को उद्धृत किया है।

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥

नारद मुनि ने श्वेत द्वीप में नारायण के जिस रूप का दर्शन किया था, उसके विषय में भगवान् इस श्लोक में कहते हैं कि हे नारद! तुमने मेरे जिस रूप का दर्शन किया है वह मेरा मायामय रूप है, तात्त्विक नहीं। फलतः इस श्लोक में भगवान् के निर्माणकाय का ही अन्य शब्दों में उल्लेख किया गया है। **'माया'** शब्द का अर्थ यहाँ 'निर्माण' कहना चाहिए। अतः इसमें किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिए कि सांख्य, बौद्ध और नैयायिकों की भाँति शाङ्कर अद्वैत मत में भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जीवों के उद्धार के लिए स्वयं परमेश्वर अथवा उसकी विभूतियों से सम्पन्न सिद्ध पुरुष समय-समय पर निर्माणकाय धारण करके अवतरित होते हैं। धर्म पर पड़े मालिन्य को हटाने तथा सात्त्विक मार्ग के अनुयायी साधुजनों की रक्षा के लिए भगवान् अवतार धारण करते हैं, वे निर्माणकाय के अन्तर्गत ही आते हैं। जीवों के कल्याण और उनके उद्धार के लिए ही भगवान् निर्माणकाय को अङ्गीकार करते हैं। इसके लिए शरीर धारण का मुख्य हेतु करुणा ही है।

निर्माणकाय को स्वीकार करने के कुछ अन्य भी प्रयोजन हैं। अब हम उस पर विचार करते हैं—

(१) श्रीमद्भागवत के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अलौकिक शक्ति से सम्पन्न, कन्दर्प कोटि लावण्यधारी, सौन्दर्य की साक्षात् मूर्ति, व्रजनन्दन श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रासलीला करते समय अनेक शरीर धारण किये थे।

---

१. गृह्णाति हि ईश्वरोऽपि कार्यवशात् शरीरमन्तरान्तरा दर्शयति च विभूतिमिति।

२. स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्।

रासलीला में जितनी गोपियाँ सम्मिलित थीं उतने ही अपने रूप बनाकर आत्माराम श्रीकृष्ण ने उनके साथ क्रीडा की—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवान् ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥
(भाग० १०।३३।२०)

यहाँ पर 'लीला' पद निर्माणकाय की ओर ही सङ्केत करता है। श्रीमद्भागवत में ही दसवें स्कन्ध के उत्तरार्ध में एक दूसरी कथा है। श्रीकृष्ण गृहस्थाश्रम का किस प्रकार निर्वाह करते हैं, यह जानने के लिए नारद मुनि द्वारिका नगरी में जाते हैं। वहाँ वे देखते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सोलह हजार विवाहित पत्नियों के साथ एक ही रूपमें सर्वत्र विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण ही अनेक रूप धारण करके परस्पर विरोधी अनेक कार्यों में संलग्न हैं। अनन्त वीर्यशाली श्रीकृष्ण के इस योगमाया वैभव और कायव्यूह की सम्पत्ति को देखकर नारद आश्चर्य में पड़ जाते हैं—

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥
(भाग० १०।६९।२)

इत्याचरन्तं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥ ४१ ॥

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मृतो जातकौतुकः ॥ ४२ ॥

(२) सौभरिमुनि में भी यह कायव्यूह सम्पत्ति थी। उन्होंने राजा मान्धाता की पचास कन्याओं के साथ विवाह किया था। विवाह के बाद उन्होंने पचास रूप धारण किये, इस प्रकार वे एक ही समय में सब स्त्रियों के साथ सहवास करते थे। इस पौराणिक कथा को वाचस्पति मिश्र ने भामती (४।४।११) में उद्धृत किया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी (४।५) में भी निर्माणकाय के प्रसङ्ग में निम्नलिखित पौराणिक श्लोक उद्धृत किये हैं—

एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः ।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः ॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि ।
एकधा च द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥

योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।

इनमें से अन्तिम श्लोक ब्रह्मपुराण (२३८।२७) में उपलब्ध है।

(३) योगी आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद अवशिष्ट प्राचीन कर्मों के उपभोग के लिए अनेक देह धारण करते हैं और उनसे उन कर्मों का भोग कर बन्धन से मुक्त हो कर कैवल्य प्राप्त करते हैं। **'प्रयोजकचित्त'** नाम की मुख्य इच्छा से प्रभावित युगपत् देह सृष्टि **'कायव्यूह'** नाम से जानी जाती है। इसी तथ्य का वात्स्यायन अपने न्यायभाष्य में इस प्रकार उपदेश करते हैं—"योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपज्ज्ञेयानुपलभते" (न्यायभाष्य ३।२।२०)। 'विकरणधर्मा' इस पद का तात्पर्यटीका में 'हमारी आपकी इन्द्रियों से विलक्षण' अर्थ किया गया है। योगी का इन्द्रिय सामर्थ्य अद्‌भुत होता है, जिससे कि वह एक साथ ही अनेक शरीर धारण कर अनेक कर्मों को करता और नाना पदार्थों को जान लेता है।

(४) शङ्कराचार्य भी "विरोधः कर्मणीति चेन्न; अनेकप्रतिपत्तिदर्शनात्" (१।३।२७) ब्रह्म सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि योगियों के समान देवों को भी निर्माणकाय सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी सहायता से वे देवता लोग एक साथ ही अनेक देह धारण कर एक समय में अनेक यज्ञों में उपस्थित हो सकते हैं। इस प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य ने किसी स्मृति से दो श्लोक उद्‌धृत किये हैं, जो कुछ पाठभेद के साथ वे ब्रह्मपुराण (२६८।२६-२७) में उपलब्ध होते हैं। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि वर्तमानपुराणों का शङ्कराचार्य को परिज्ञान नहीं था। इस उद्धरण से इस प्रश्न का खण्डन हो जाता है, शाङ्करभाष्य में अन्य स्थलों पर भी अनेक पौराणिक वचन 'स्मृति वचन' के नाम से उद्‌धृत हुए हैं।

(५) इच्छामृत्यु की सिद्धि के लिए योगी जन कायव्यूह का सहारा लेते हैं। कर्मों के उपभोग के विना मृत्यु सम्भव नहीं है। वे कर्म योगी को फलभोग की ओर उन्मुख करते हैं। इस परिस्थिति में योगी की इच्छामृत्यु कैसे सम्भव हो सकती है ? इसके लिए योगी समग्र शेष कर्मों के उपभोग के लिए तथा प्रारब्ध कर्मों के तत्काल उपयोग के लिए अनेक शरीर धारण कर लेते हैं। और इस प्रकार अल्प समय में ही फलभोग करके स्वेच्छामृत्यु की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार स्वेच्छामृत्यु की प्राप्ति के लिए भी कायव्यूह सम्पत्ति नितान्त आवश्यक है।

'स्वोपक्रम' और 'निरुपक्रम' भेद से कर्म दो प्रकार का है। इनके संयम से व्यक्ति को अपने मृत्यु की सूचना मिल जाती है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में योगसूत्र के रहस्य को इस प्रकार प्रकट किया है कि योगी अपने सोपक्रम कार्य को जान कर उसके उपभोग के लिए कायव्यूह की रचना करता है। इस प्रकार सभी कर्मों का फलभोग करके वह स्वेच्छामृत्यु का वरण करता है। निर्माणचित्त की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। देवताओं के शरीर धारण के प्रसङ्ग में वाचस्पति मिश्र भामती में कहते हैं कि प्राकृतजन के समान देवताओं के शरीर माता पिता के संयोग से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु परमेश्वर की इच्छा मात्र से साक्षात् भूतों से उनकी उत्पत्ति होती है। आजानसिद्ध देवताओं का ज्ञान दैशिक और कालिक व्यवधान से अवरुद्ध नहीं होता। देवता भूतजयी होते हैं। इसलिए किसी वस्तु के बनाने के लिये वे स्वेच्छया किसी भी उपादान का ग्रहण कर सकते हैं। योगी भी इसी प्रकार किसी भी उपादान से किसी भी वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। कार्य-कारण का नियम इनके लिए आवश्यक नहीं है।

निर्माणचित्त की उत्पत्ति के विषय में योगशास्त्र में इसके विपरीत दूसरा मत है--"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्" (४।४) तथा "प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तमेकमनेकेषाम्" (४।५)। इन सूत्रों में पतञ्जलि बताते हैं कि योगी केवल अस्मिता के बल से एक ओर यथेच्छ निर्माणचित्तों का उपपादन करता है, दूसरी ओर वह एक प्रयोजकचित्त का भी निर्माण करता है, जो अन्य सभी चित्तों को अपने अधीन रखकर उनसे अभीष्ट कार्य कराता है। यदि ऐसा न हो तो विभिन्न कार्यों के वास्ते निर्माणचित्तों में एकरूपता न रह सकेगी और उनसे कोई अभीष्ट सिद्धि न हो सकेगी। शङ्कराचार्य ने भी—"प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति" (ब्र० सू० ४।४।१५) इस सूत्र के भाष्य में अपना मत इस प्रकार प्रगट किया है। एक मूलमन की आज्ञा का पालन करने वाले मन सहित अनेक शरीरों का योगी अपने सत्य संकल्प से सृष्टि करेगा। इन नये बनाये गये शरीरों में उपाधिभेद से वह भिन्न आत्मा वाला भी प्रतीत होगा। योगशास्त्र में इसी को अनेक शरीर धारणप्रक्रिया के नाम से कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि योगी स्वेच्छा से अनेक शरीरों की रचना करता है और उन सबका नियमन करने के लिए एक प्रेरक चित्त भी बनाता है। इसीलिए इसको **'प्रयोजक-चित्त'** भी कहा जाता है।

निर्माण-चित्त का उपादान—यहाँ प्रश्न उठता है कि निर्माणचित्त की उत्पत्ति में विद्यमान परमाणु ही उपादान होते हैं, अथवा कोई नवीन अविद्य-

मान साधन की आवश्यकता होगी ? नैयायिक तथा सांख्य के मत में विद्यमान परमाणु अथवा प्रकृति से ही निर्माण चित्तों की भी उत्पत्ति मानी जायगी। इसके विपरीत वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रक्रिया भिन्न है[1]। अभिनव गुप्त का कहना है कि योगी को निर्माणकाय की उत्पत्ति के लिये परमाणु अथवा प्रकृति की आवश्यकता नहीं है। वह केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से ही इनका निर्माण करता है। इसका यह अभिप्राय है कि बाह्यदृष्टि से निर्माणकाय यद्यपि वास्तविक प्रतीत होता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह केवल माया का व्यापार है। योगी जन अपनी इच्छा से कुछ समय के लिए विशेष अभिप्राय से निर्माण-चित्त की सृष्टि करते हैं। कभी दयार्द्र होकर उपदेश देने के लिए, कभी धर्म की रक्षा के लिए, कभी इच्छामृत्यु की प्राप्ति के लिए और कभी लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए विभूतिमात्र योगी जन कायव्यूह अथवा निर्माण चित्त का आश्रय लेते हैं। उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर यह चित्त स्वयं तिरोहित हो जाता है। इसलिए निर्माण-चित्त का मायिकत्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। महाभारत के नारायण पर्व में भगवान् नारायण नारद को कहते हैं कि मेरा श्वेत द्वीप में विद्यमान यह स्वरूप जिसको कि तुम देख रहे हो वह वास्तविक नहीं, अपितु मायिक है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि॥

इस प्रकार ईश्वर तथा योगी जन अनेक उपदेशों की सिद्धि के लिए विशेषकर तत्त्वोपदेश के लिए निर्माणकाय धारण करते हैं। भगवान् बुद्ध ने निर्माणकाय धारण करके ही अपने शिष्यों को तत्त्व का उपदेश किया था। सांख्य शास्त्र के प्रचार के लिये आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने निर्माण चित्त का आश्रय लेकर ही अपने शिष्य आसुरि को सांख्य के तत्त्वों का उपदेश दिया था। यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिए योगशास्त्र में निर्माणकाय की विशिष्ट महिमा बताई गई है। महाभारत के अनुशासन पर्व की टीका में नीलकण्ठ ने 'निर्माणकाय' शब्द का प्रामाणिक अर्थ इस प्रकार बताया है—

"निर्माणमनेकधा भवनम्, योगेन अनेकशरीरधारणम्" १८-७५

महाभारत में देवताओं के अनेक भेद बताये गये हैं, उनमें एक "निर्माण-रत" भी है—

---

1. ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० १८४।१८५।

शुद्धाश्च निर्माणरताश्च देवाः ।
स्पर्शाशना दर्शपा आज्यपाश्च ॥

(१८।७५) ।

और ये निर्माणरत देव वे ही होते हैं जो नया नया शरीर धारण कर एक साथ ही नाना यज्ञों में उपस्थित होते हैं। समस्त यज्ञों में आहूत होने पर इस सिद्धि के द्वारा ही इन्द्र एक साथ ही सर्वत्र उपस्थित होते हैं।

——:०:——

११—मीमांसा दर्शन

टिप्पणी १—मीमांसा की प्राचीनता

'मीमांसा' शब्द पूजार्थक मान धातु से जिज्ञासा अर्थ में "माने-र्जिज्ञासायाम्" वार्त्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति सुदूरप्राचीन काल में हुई, क्योंकि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् में इस शब्द का बहुल प्रयोग मिलता है। 'मीमांसते' इस धातुरूप में इसका प्रयोग बहुस्थलों पर पाया जाता है— "उत्सृज्यां नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः, तद्वाहुः उत्सृज्यामेवेति" (तैत्तिरीयसंहिता ७–५।७।१) "ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसते, यस्तल्पे वा उदके वा विवाहे वा मीमांसेरन् त एता उपेयुः" (ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।९; २३।४।२)। "उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते"—(कौषीतकि ब्राह्मण २।९)—इनमें मीमांसा दर्शन में विचार्यमाण हवन-विषयक प्रश्न पर विचार किया गया है, तथा ब्रह्मवादी गण के निर्णय का निर्देश है—"तस्मात् अनुदिते होतव्यम्" (सूर्योदय से पूर्व ही हवन करना चाहिए); "प्राचीनशाला औपमन्यवः महाश्रोतियाः समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः—को नु आत्मा किं ब्रह्मेति" (छान्दोग्य ५।११।१)। तैत्तिरीय उपनिषद् (२–८–१) में क्रियापद का नहीं, प्रत्युत तज्जन्य संज्ञा 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—"सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति"। इन उद्धृतांशों की आलोचना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रुतिकाल में ही श्रौतविषयक कर्मों में उपलभ्यमान विरोध की ओर प्राचीन ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उन लोगों ने इसके परिहार के लिए अनेक सिद्धान्तों की छानबीन की थी।

मीमांसा का सबसे प्राचीन नाम 'न्याय' है। इस दर्शन के न्यायकणिका, न्यायमालाविस्तार आदि ग्रन्थों में भी 'न्याय' शब्द का उपयोग इसी कारण से किया

गया है। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड-विषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। इसने अनेक 'न्यायों' को खोज निकाला है, जिनके उपयोग से आभासमान विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता की जा सकती है। कर्मकाण्ड ज्ञान-काण्ड से पहले है। अतः इसे पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा भी कहते हैं। ज्ञान-काण्ड की मीमांसा—उत्तर मीमांसा—के लिए 'वेदान्त' शब्द के प्रयोग होने से केवल 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग भी कभी-कभी इसी दर्शन के लिए किया जाता है।

टिप्पणी २—मीमांसा विषय में कुमारिल का कथन—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥
(श्लोकवार्त्तिक, श्लो० १०)

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता।
(न्यायरत्नाकर)

टिप्पणी ३—प्रमा का लक्षण—

प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्—(मानमेयोदय १।२)।

पहले से नहीं जाने गये (अज्ञात) और सत्य अर्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।

टिप्पणी ४—प्रमाण का लक्षण—

कारणदोष-बाधक ज्ञान-रहितम् अग्रहीतग्राहि ज्ञानं **प्रमाणम्**—(शास्त्र-दीपिका १।१।५)।

वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है—(**i**) जिसके उत्पन्न करनेवाले कारणों में कोई दोष नहीं होता, (**ii**) जो किसी दूसरे ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होता तथा (**iii**) जो पहिले से **न** जाने हुए पदार्थ को बतलाता है। इन तीनों वैशिष्ट्यों से संयुक्त ज्ञान ही प्रमाण कोटि में आता है।

टिप्पणी ५—वेद की अपौरुषेयता—

द्रष्टव्य मीमांसा सूत्र १।१।१०—३२ तथा इन सूत्रों पर शाबरभाष्य।

शब्द की नित्यता—

द्रष्टव्य "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" मीमांसा सूत्र १।१।५; श्लोक-वार्त्तिक, पृ० ७२७–८६४ तथा शास्त्रदीपिका १।१।५।

टिप्पणी ६—स्फोट का खण्डन

अनित्य ध्वनि से अर्थ-सिद्धि न होते देख वैयाकरणों ने वर्णक्रमहीन निरवयव नित्य शब्द की कल्पना की है, जिसे वे 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्' (जिससे अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पत्ति के अनुसार '**स्फोट**' नाम से अभिहित करते हैं।

न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः।
अर्थस्य वाचका वर्णाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा ॥

(शेषकृष्ण—स्फोटतत्त्वनिरूपण, श्लो० ३)।

पर शब्द-स्फोट से बढ़ कर वाक्य-स्फोट होता है, जिसमें नित्य निरवयव अखण्ड वाक्य अखण्ड निरवयव वाक्यार्थ का बोध कराता है। यह वाक्य-स्फोट ही नित्य है, तदंगभूत वर्ण तथा पद मृषा हैं। मीमांसा इस सिद्धान्त की युक्तियुक्तता स्वीकार नहीं करती। उसका कहना है कि वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों को मिथ्या मानने पर तत्प्रतिपाद्य प्रयाजादि अनुष्ठानविशेषों को भी मिथ्या ही मानना पड़ेगा, जिससे मीमांसा के मूल के ही उच्छेदन की आशंका है। शब्दाद्वैत मानने वाले वैयाकरण जगत् को कल्पनात्मक मानते हैं, वास्तव नहीं। केवल स्फोट ही नित्य है, पर जगत् का व्यवहार उसके अंगों को लेकर चलता है। अतः जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या हैं। भर्तृहरि का यह कथन सयुक्तिक है कि बालकों को शिक्षा देने के समान असत्य मार्ग में चल कर सत्य की उपलब्धि की जाती है:—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

(वाक्यपदीय)।

अतः जगत् का मिथ्यात्व व्याकरण-सम्मत है, परन्तु वास्तववादी मीमांसक जगत् के पदार्थों की सत्ता वास्तविक मानते हैं। अतः स्फोटवाद का आश्रय उनके सिद्धान्त से विरुद्ध है। इस प्रकार मीमांसा की दृष्टि में वर्णात्मक शब्द ही नित्य होता है, न तु स्फोटात्मक। आचार्य कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद के खण्डन का उपसंहार बड़े सुचारु रूप से इसी युक्ति से किया है।

टिप्पण ७—'अर्थापत्ति' का लक्षण—

अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थ-कल्पना।

(शाबरभाष्य १।१।५)

टिप्पणी ८—छः प्रमाण—

वाल्मीकि रामायण में मीमांसा-सम्मत छहों युक्तियों के द्वारा लोक व्यवहार की सिद्धि स्वीकृत की गई है—

राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते ।

टिप्पणी ९—मीमांसा में प्रामाण्यवाद

प्रामाण्यवाद के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेकर मीमांसकों ने बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका संघर्ष परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों के साथ बड़ा प्रबल है। संक्षेप में नैयायिक मत यह है कि विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसके अनन्तर 'घटमहं जानामि' (मैं घड़े को जानता हूँ) इत्याकारक अनुव्यवसाय का जन्म होता है। अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रमाण्य की स्मृति और तदनन्तर उस प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। पीछे प्रवृत्ति के चरितार्थ होने पर ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होने पर प्रामाण्य 'परतः' स्वीकृत किया जाता है, परन्तु मीमांसा 'स्वतः प्रामाण्यवाद' मानती है, किन्तु तीनों सम्प्रदायों के अनुसार इसमें भी विशिष्टता है—

(क) प्रभाकर के मत से ज्ञान स्वतः प्रकाश है। ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। जिस प्रकार प्रकाश दृश्यमान घटपटादि पदार्थ को, अनन्तर अपने आपको, पश्चात् आश्रयभूत दीपक की बत्ती को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान प्रथमतः इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को प्रकाशित करता है, अनन्तर अपने आपको और पीछे ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रकट करता है। अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम है—**त्रिपुटीप्रत्यक्ष**। 'स्वतः' का अर्थ है 'स्वज्ञानजनकसामग्रीतः'। अतः ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है; अर्थात् ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उदित होता है—(न्यायकन्दली, पृ० ९१; शास्त्रदीपिका, पृ० २१३–२१४; तन्त्ररहस्य, पृ० ५–८; प्रकरणपञ्चिका, पृ० ३८-५३)।

(ख) कुमारिल का अनुभवविश्लेषण भिन्न प्रकार का है। घट के ज्ञान होने पर 'ज्ञातो घटः' (घड़ा मेरे द्वारा जाना गया है) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे पता चलता है कि प्रत्यक्ष-विषय घट में 'ज्ञातता' नामक धर्म का उदय होता है। कुमारिल की सम्मति में ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है; प्रत्युत ज्ञान के धर्मविशेष 'ज्ञातता' का ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष से पूर्व अज्ञात घट प्रत्यक्ष के अनन्तर ज्ञात—परिच्छित—हो जाता है। अतः ज्ञान का फल अनुभव-विषय में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति है। इसी 'ज्ञातता' से ज्ञान का तथा प्रामाण्य का उदय

होता है—(न्यायरत्नमाला, पृ० ३१–३५; शा. दी., पृ० ९७–१०६; मा. मे. पृ० ४-६)।

(ग) मुरारिमिश्र के मत पर न्याय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे ज्ञान का प्रत्यक्ष ही मानते हैं। प्रथमतः इद्रिय-संयोग होने पर वस्तु का व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अन्तर 'घटमहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रामाण्य का उत्पादक होता है। यहाँ मुरारि का अपना विशिष्ट मत है[1] जो न्यायमत से कतिपय अंशों में समान होने पर भी भिन्न है। इत तीनों मीमांसक मतों की तारतम्य परीक्षा करने पर मथुरानाथ तर्कवागीश[2] की सम्मान्य सम्मति है कि प्रभाकर का ही मत पक्का 'स्वतः प्रामाण्यवाद' है, अन्य मतों में न्याय मत के समान ही 'परतः' प्रामाण्य' का ही सिद्धान्त मान्य है।

टिप्पणी १०—भ्रम के विषय में प्रभाकर-मत।

रजतमिदमिति नैकं ज्ञानम्, किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणं तस्याननुभवरूपत्वान्न प्रामाण्यप्रसंगः। इदमिति विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिष्यत एव। भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकतया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात् (प्रकरणपञ्चिका, पृ० ४३)।

टिप्पणी ११—अख्याति का निर्देश

नयविवेक, पृ० ८६–९३; तन्त्ररहस्य, पृ० २–५।

टिप्पणी १२—मुरारिमिश्र का पदार्थ-भेद

ब्रह्मैकम्, व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्च पदार्था इति वेदान्ता मुरारिमिश्राश्च—न्यायमाला।

टिप्पणी १३—जगत् की सत्यता—

तस्माद्यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।
तत्तथैवाभ्युपेतव्यं सामान्यमथ वेतरत्॥

(श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)

---

१ मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् तत्प्रामाण्यग्रहः—इति मुरारिमिश्राः।
(वर्धमान—कुसुमाञ्जलिप्रकाशः, पृ० २१९)।

२ स्वतः स्वाश्रयजनकसामग्रीतः; स्वं प्रमात्वम्। एतच्च गुरुमते।
परतः तदन्यसामग्रीतः, एतच्च मिश्रमत-भट्टमत-न्यायमतेषु।
(चिन्तामणिहरणस्य पृ० ११७)।

टिप्पणी १४—अणुवाद

अणुवाद के समर्थन में द्रष्टव्य प्रभाकरविजय, पृ० ४३-४६।

कुमारिल अणुवाद को मीमांसा का सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं मानते :—

मीमांसकैश्च नावश्यमिष्यन्ते परमाणवः।
यद्बलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्वं कल्पयेद् भवान्॥

(श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)।

टिप्पणी १५—जगत् की परमाणुजन्यन्ता

जालरन्ध्रविसरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान्।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः॥

टिप्पणी १६—आत्मा के विविध कर्म

यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत्॥

(श्लोकवार्तिक, पृ० ७०७)।

टिप्पणी १७—आत्मा का परिणाम—

चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन; ज्ञानसुखादि-रूपेण परिणामित्वम्। स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः।

(काश्मीरक सदानन्द—अद्वैतब्रह्मसिद्धि)।

टिप्पणी १८—'चोदना' का अर्थ—

चोदना हि भूतं भवन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्च नेदियम् (शाबरभाष्य १।१।२)।

टिप्पणी १९—भावना रूप तथा भेद

'भावना' का लक्षण 'आपदेव' ने किया है—भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः—(मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० २)।

अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल कर्ता में व्यापार या प्रेरणा। वैदिक वाक्यों को सुन कर उन क्रियाओं को करने के लिए जो 'प्रेरणा' होती है, वही मीमांसा में **'भावना'** कही जाती है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कैण्ट के सिद्धान्त में ऐसी प्रेरणा 'कैटेगारिकल इम्परेटिव' ('शुद्ध प्रेरणा') के नाम से अभिहित की गई है। भावना दो प्रकार की होती है—**शाब्दी भावना** और **आर्थी**

भावना । 'यजेत' इस क्रियापद में दो अंश हैं—धातु यज् तथा लिङ् लकार । लिङ् लकार जन्य भावना शाब्दी और क्रियाजन्य भावना आर्थी कहलाती है। संसार में 'सन्ध्यावन्दन करो' इस वाक्य में प्रवृत्ति के अनुकूल आचार्य आदि प्रेरक पुरुषों में रहने वाला अभिप्राय 'भावना' कहलाता है, परन्तु वेद के कर्ता न होने से यह अभिप्राय लिङ्-लकारनिष्ठ माना जाता है। अतः यह शाब्दी भावना है। स्वर्गप्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले याग के सम्पादनार्थ पुरुषविषयक प्रयत्न को आर्थी भावना कहते हैं, जो धात्वंश से अभिव्यक्त की जाती है।

'भावना' का सिद्धान्त मीमांसादर्शन का सर्वस्व है। अतः इसकी समुचित व्याख्या करने के लिए आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। द्रष्टव्य तन्त्रवार्त्तिक–२।१।१; आपदेव–मीमांसान्यायप्रकाश—पृ० २–५। जिनमें मण्डनमिश्र का 'भावनाविवेक' नितान्त प्रख्यात है। इस प्रकार धर्म की साक्षात् प्रतिपादिका श्रुति है। श्रुत्यर्थ के अनुगमन करने के कारण स्मृति का भी प्रामाण्य है। सदाचार को धर्मनिर्णायक सिद्ध करने के लिए तन्त्रवार्त्तिक (१।३।७, पृ० २०३–२१५) में कुमारिल ने बड़ी मीमांसा की है और उसकी युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। आत्मतुष्टि धर्म में चतुर्थ तथा अन्तिम प्रमाण है।

यथा रुमायां लवणाकरेषु मेरौ यथा वोज्ज्वलरत्नभूमौ।
यज्जायते तन्मयमेव तत् स्यात् तथा भवेद् वेदविदात्मतुष्टिः॥
(तन्त्रवार्त्तिक, पृ० २०७)

टिप्पणी २०—'अपूर्व' की सिद्धि—

यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति।
सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते॥
(तन्त्रवार्त्तिक, पृ० ३६५)

टिप्पणी २१—'अपूर्व' के विषय में शंकराचार्य

विना किसी अपूर्व को पैदा किये इस समय नष्ट होने वाला कर्म कालान्तर में फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः जो कर्म की सूक्ष्म उत्तर अवस्था है या फल की पूर्वावस्था है, वही अपूर्व कहलाती है।

न चाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वम्, कर्म विनश्यत् कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति; अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था, फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वनामास्तीति तर्क्यते (शंकरभाष्य ३।२।४०)।

टिप्पणी २२—मीमांसा में कर्मयोग—

ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। 'यत्करोषि यदश्नासीति' भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्—(अर्थसंग्रह, पृ० १९६; मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १९७)।

टिप्पणी २३—मीमांसा में ईश्वर—

एवं चानुमानिकत्वमेवेश्वरस्य निराकृतम्, नेश्वरोऽपि निराकृतः। अत एव न प्रभाकरगुरुभिरीश्वरनिरासः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां क्रियत इत्यभिप्रेतम्—(प्रभाकरविजय, पृ० ८२)।

टिप्पणी २४—मोक्ष की मीमांसक कल्पना—

त्रेधा हि प्रपञ्चः पुरुषं बध्नाति—भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनादि-इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः। भोग इति च सुखदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते, तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः—(शा० दी०, पृ० ३५८)।

टीप्पणी २५—वेदान्त में मोक्ष कल्पना—

यह जगत् का प्रपञ्च अविद्या के द्वारा पैदा किया गया है। यह स्वप्न के प्रपञ्च के समान है। जैसे जागने पर स्वप्न का प्रपञ्च स्वयमेव नष्ट हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर संसाररूपी प्रपञ्च का नाश स्वयमेव हो जाता है।

"अविद्या निर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्याया अविद्यायां विलीनायां स्वयमेव विलीयते"—(शा० दी०, पृ० ३५६)।

टिप्पणी २६—मुक्त दशा में आनन्द की सत्ता

मोक्षावस्था के स्वरूप निर्णय में भी मीमांसकों में पर्याप्त मतभेद है। गुरुमत में आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यन्तिक विच्छेद हो जाता है वह मोक्ष है। द्रष्टव्य मधुसूदन सरस्वती—वेदान्त कल्प लतिका, पृ० ४। भाट्टों में दो मत हैं। एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है—

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः ।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः ॥
(मा० मे०, पृ० २१२) ।

बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है, परन्तु 'पार्थसारथि' दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं, जिसके अनुसार मुक्तात्मा में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है । 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' अर्थात् शरीर हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, हर्ष या शोक स्पर्श नहीं करते । यदि यह वचन विषयसुख के विषय में माना जाय तो 'आनन्दं ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभावरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है—(शा० दी० ३५९) । इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन ने 'वेदान्त कल्पलतिका' (पृ० ४) में किया है ।

टिप्पणी २८—वेदान्त का अनुशीलन—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥
(श्लोकवार्त्तिक, पृ० ७२८) ।

पार्थसारथि का कहना है—'नित्यात्मसत्तामात्रेणैव वेद-प्रामाण्यसिद्धेस्तन्मात्रमिह प्रतिपादितम् । दार्ढ्यार्थिभिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवणमनननिदिध्यासनादिषु यतितव्यम् ।' इस कथन से मीमांसकों को वेदान्तसम्मत उपायों के मान्य होने में सन्देह नहीं रह जाता ।

———

१२—अद्वैत वेदान्त

टिप्पणी १—उपनिषदों में 'वेदान्त' का प्रयोग

'वेदान्त' शब्द का प्रयोग अनेक उपनिषदों में उपलब्ध होता है। (१) वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः (मुण्डक उपनिषद् ३।२।६); (२) वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेताश्वतर ६।२२); (३) यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (महानारायण १०।८) इस प्रकार 'वेदान्त' शब्द के प्रयोग की प्राचीनता स्पष्ट सिद्ध होती है।

टिप्पणी १ क—अनुभूति में अनुभविता की सत्ता

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है—

"आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति; आगान्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते"—(२।३।७, शां० भा०)

टिप्पणी २—आत्मा की स्वतः सिद्धि—

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्तीति प्रतीयात्" (ब्र० सू० १।१।१ पर शाङ्करभाष्य)।

टिप्पणी ३—आत्मा सत्ता की स्वयंसिद्धि

प्रमाणों की सिद्धि तो आत्मा के रहने पर ही होती है। ऐसी दशा में उस आत्मा को किन प्रमाणों के द्वारा कोई सिद्ध कर सकता है? अर्थात् आत्मा की सिद्धि प्रमाणों के बल पर कथमपि नहीं की जा सकती। इस विषय में सुरेश्वराचार्य का यह प्रामाणिक कथन है—

"यतो राद्धिः प्रमाणानां स कं तैः प्रसिध्यति।"

टिप्पणी ४—आत्मा ज्ञान-स्वरूप—

"द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः। × × आत्मदृष्ट्यादीनां नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति"—(ऐत० भाष्य २।१)।

टिप्पणी ५—आत्मज्ञान के विषय—

"विषयानुकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभासाः, ते आत्माविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते"–(तैत्ति० भा०, २।१)।

टिप्पणी ६—ब्रह्म अधिष्ठानरूप—

प्रजा ब्रह्म से उत्पन्न होती हैं। अतः उनका मूल सद्रूप ब्रह्म है। अत एव वे सन्मूलक हैं। यह तो हुई उनकी उत्पत्ति की चर्चा। स्थिति काल में भी वे सत् में ही निवास करती हैं, तथा सत् ही के ऊपर आश्रित होकर वर्तमान रहती हैं।

"प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव"—(छा० भाष्य ६।४)।

टिप्पणी ७—पदार्थों की चैतन्य से अभिन्नता—

"चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते।" (प्रश्न भाष्य ६।२)।

टिप्पणी ८—पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं—

"नहि आत्मनोऽन्यत्''''तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवद् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते"।

"यदा नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियेते।" (शारी० भा० २।१।६)।

टिप्पणी ९—तटस्थ लक्षण का रूप—

"स्वरूपं सद् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षम्।

टिप्पणी १०—'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का अर्थ

आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। 'सत्य', 'ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एक विभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं; ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं, परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एक जातीय अनेक विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। लेकिन ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थप्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है। विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही

व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म को एक होने के कारण 'सत्यं' 'ज्ञान' ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं—

"समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य, लक्षणं तु सर्वत एव। यथाऽवकाशप्रदातृ आकाशमिति" (तैत्ति० भाष्य २।१)।

'सत्य' का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होनेवाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरितम, तत् सत्यम्); अर्थात् कारण सत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्म 'ज्ञान' कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है—अवबोध। जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके, वही 'अनन्त' है। (यदि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्)। यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा। ज्ञानप्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्ता नहीं। अतः इस प्रकार ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञानस्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है।

टिप्पणी ११—माया का रूप—

"अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।"

(शारीरकभाष्य १।४।३)

टिप्पणी १२—अविद्या का रूप—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत॥

(बृहदारण्यक-भाष्य-वार्तिक १८१)

टिप्पणी १३—नैष्कर्म्यसिद्धि का कथन—

सेयं भ्रांतिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम्॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि २।६६)

टिप्पणी १४—माया का कार्य—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

(विवेकचूडामणि, श्लोक ११०)

टिप्पणी १५—माया अनिर्वचनीया—

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नेत्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥

(वही, श्लोक १११)

द्रष्टव्य प्रबोध-सुधाकर, श्लोक ८५–१०९।

टिप्पणी १६—माया की शक्तियाँ—

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ॥
अन्तर्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥

(दृग्दृश्यविवेक, श्लोक १३, १५)।

टिप्पणी १७—ईश्वर की लीला।

२।१।३२–३३ सूत्र पर शाङ्करभाष्य देखिये।

टिप्पणी १८—उपास्य ब्रह्म का फल—

"यत्र हि निरस्तसर्वविशेषसम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते, यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते"—(शांकर भाष्य १।४।२४)।

टिप्पणी १९—माया के दो पुत्र—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥

(पञ्चदशी ६।२३६)।

टिप्पणी २०—जीव का रूप—

"अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।"

(शांकरभाष्य २।३।१७)।

टिप्पणी २१—साक्षी आत्मा का रूप—

अहङ्कारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥
(पञ्चदशी १०।१४०)

टिप्पणी २२—ईश्वर की जगत्-सृष्टि—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(मुण्डक उप० १।१।७)

टिप्पणी २३—ईश्वर महायोगी—

मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव स्वेच्छया ।
(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र श्लोक २)

टिप्पणी २४—सत्य का लक्षण—

"यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति यत् सत्यम्" ।

टिप्पणी २५—जाग्रत् और स्वप्न का अन्तर—

"वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते; अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्"—(शांकरभाष्य २।२।२९)।

टिप्पणी २६—रज्जु में सर्प का भान—

रज्ज्वात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्पः सन्नेव भवति ।
सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवद् जन्म युज्यते ॥
(माण्डूक्यकारिका ३।२७ भाष्य)

टिप्पणी २७—जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥
(दृग्दृश्यविवेक, श्लोक २०)

टिप्पणी २८—व्यावहारिक सत्ता—

"सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः । प्राग् ब्रह्मात्मता-प्रतिबोधाद् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः"—(शांकर भाष्य २।१।१४)।

टिप्पणी २९—'अलीक' का लक्षण—

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥

(माण्डूक्यकारिका ३।२८)

टिप्पणी ३०—विवर्त का रूप—

सिद्धान्तलेश में अप्पय दीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली भाँति बतलाया है। "कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्तः"—उपादान कारण का समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है (प्रथम परिच्छेद, पृ० ५८)।

परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है :—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
असत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥

टिप्पणी ३१—अध्यास की गति—

"एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः"—शांकर भाष्य (उपोद्घात)।

टिप्पणी ३२—ज्ञान तथा कर्म का विभिन्न उद्देश्य—

"न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक् समुद्रं जिगमिषुणा समान-मार्गत्वं सम्भवति । प्रत्यगात्मविषयप्रत्यय-सन्तानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा, सा च प्रत्यक् समुद्रगमनवत् कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते । पर्वतसर्षपयोरिव अन्तरवान् विरोधः"—(गीता—शांकरभाष्य १८।५५)।

टिप्पणी ३३—कर्म के फल—

द्रष्टव्य ब्रह्म सू० १।१।४ तथा बृह० उप० ३।३।१ का शांकरभाष्य ।

उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम् ।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि १।५३)

टिप्पणी ३४—कर्म से चित्त-शुद्धि—

"यो नित्यं कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणम्। नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति। विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति।"

(गीताभाष्य १८।१०)।

"कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं प्रतिबन्धेन वेदितुम्। एवं काम्यवर्जितं सर्वात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।"

(बृह० उप० भाष्य)।

टिप्पणी ३५—देव और असुर का भेद—

स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासनाप्राबल्येन धर्मपरायणो भवति, तदा देवः; यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति, तदा असुरः।

(गीताव्याख्यायां मधुसूदनः)

टिप्पणी ३६—कर्म का निर्हरण—

कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जापतोऽर्थतः।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥

(विज्ञानदीपिका, श्लोक २२)

टिप्पणी ३७—वीजगणित की प्रक्रिया

इसी पद्धति का प्रयोग बीजगणित में किया जाता है। यदि 'क^2+२क =२४' इस समीकरण में अज्ञात 'क' का मूल्य जानना होगा तो प्रथमतः दोनों ओर १ संख्या जोड़ देते हैं और अन्त में दी गई संख्या को निकाल देते हैं, तब 'क' का मूल्य ४ निकल जाता है। समीकरण का पूरा रूप यह होगा—

$$\text{क}^2+२\text{क}+१=२४+१$$
$$\therefore (\text{क}+१)^2=५^2$$
$$\therefore (\text{क}+१)=५$$
$$\therefore (\text{क}+१)-१=५-१$$
$$\therefore \text{क}=४$$

टिप्पणी ३८—शब्द से परोक्षज्ञान का उदय—

"निर्विचिकित्सादाम्नायाद् अवगतात्मतत्त्वस्य अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासोपचित-बलवत् संस्कारसामर्थ्याद् मिथ्यावभासानुवृत्तिः, तन्निवृत्तयेऽस्ति अन्यदपेक्ष्यम्। तस्मात् तन्निवृत्तये विनिश्चितब्रह्मात्मभावेनापि साधनान्यपेक्ष्याणि।

(ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३५)

टिप्पणी ३९—अपरोक्षानुभूति का उदय—

"श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्माद् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसंततिरूपोपासना कर्मसहकारिण्य-विद्योच्छेदहेतुः"—(भामती जिज्ञासाधिकरणे)।

टिप्पणी ४०—शब्द से अपरोक्ष ज्ञान का उदय—

सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत्।
अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्यं नास्त्यतोऽनयोः॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि १।७६)।

टिप्पणी ४१—लक्षणा का रूप और भेद

लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा (या भागवृत्ति-लक्षणा)। 'गंगायां घोषः' (गंगा में आभीरपल्ली है)—इस वाक्य में जलप्रवाहार्थक गंगा में घोष नहीं रह सकता। अतः 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर (जहत्) सामीप्यसम्बन्ध से 'तीर' अर्थ का बोधक होता है। यह **'जहत्-लक्षणा'** का दृष्टान्त हुआ, परन्तु महावाक्य में 'तत्' तथा 'त्वं' पद अपने अर्थ चैतन्य का परित्याग नहीं करते, अतः जहती के द्वारा अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'शोणो धावति' (लाल रंग दौड़ता है)—इस वाक्य में अन्वय के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना ही 'अश्व' अर्थ लक्षित होता है कि लाल घोड़ा दौड़ता है। यह है 'अजहल्लक्षणा'। इसका उपयोग भी प्रस्तुत वाक्य के लिए नहीं हो सकता। अतः अगत्या तृतीय प्रकार की लक्षणा से ही अर्थनिर्वाह होता है। 'तत्' (ब्रह्म) पद का अर्थ है—परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वं' (जीव) का अर्थ है अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य। यहाँ चैतन्य में विरोध नहीं है। अतः इन विरुद्धांशों के परित्याग (जहत्) से तथा अखण्ड चैतन्य के अंश को लेने से इस लक्षणा का नाम 'जहत्-अजहत् लक्षणा' या एक ही भाव के ग्रहण करने के कारण 'भागवृत्ति' है। इसका लौकिक उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः' है, कल देखा गया देवदत्त यही है। इसका अभिप्राय कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है। सुरेश्वर के मत में तीन सम्बन्धों की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है—(१) पदों का सामानाधिकरण्य, (२) पदार्थों का विशेषण-विशेष्यभाव, (३) आत्म-ब्रह्म का लक्ष्य-लक्षणभाव।

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३)

पञ्चदशी का कहना है कि इस महावाक्य का अर्थ न तो संसर्ग है, न विशेष; प्रत्युत अखण्ड एकरस चैतन्य ही इसका प्रधान लक्ष्य है। अतः 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि चैतन्यरूप से जीव ब्रह्मरूप ही है। महावाक्यों की संख्या चार है— प्रत्येक वेद का एक वाक्य। महावाक्यों का स्वरूप यह है—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उ० ५।३), तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १।४।१०), अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उप० २) इसका अर्थ देखिए 'पञ्चदशी' पंचम प्रकरण में।

टिप्पणी ४२—शंकर के अनन्तर वेदान्त मत—

शंकरपरवर्ती वेदान्ताचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वेदान्त के प्रधान सिद्धान्तों के ऊपर अपने विशिष्ट मतों की उद्भावना की है। इनका सुबोध संग्रह अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में किया है। अविद्या और माया का पार्थक्य, जीव ईश्वरस्वरूप, जगत् का उपादानकारणत्व आदि विषयों पर इन नव्य वेदान्तियों की युक्तिबहुल कल्पनायें मननीय हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है। संक्षेपशारीककार की सम्मति में शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, परन्तु विवरण मायाशंवलित ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को उपादान मानते हैं। तत्त्वनिर्णयकार ब्रह्म और माया दोनों को, पर सिद्धान्तमुक्तावलीकार केवल माया शक्ति को, जगत् का उपादान बतलाते हैं। पञ्चदशी के मत से माया शुद्ध-सत्त्वमयी है, परन्तु अविद्या रजोगुण और तमोगुण के प्राधान्य होने पर होती है। माया के विषय में भिन्न भिन्न मत मिलते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका की चिकनाहट घट के उत्पादन के प्रति द्वारकारण होती है, उसी प्रकार शुद्धब्रह्म के उपादान होने में माया द्वार-कारण है (संक्षेप शारीरक), परन्तु वाचस्पतिमिश्र की सम्पत्ति में जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म प्रपञ्चरूप से परिणत होता है। अतः ब्रह्म ही उपादान है, माया तो सहकारी कारण है।

शङ्कर तथा भामतीकार के इस मतभेद का उल्लेख अमलानन्द ने इस प्रकार किया है—

स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् ।
जीवभ्रान्तिर्निमित्तं तद् बभाषे भामतीपतिः ॥

अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शंकरोऽब्रवीत्।
जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिर्यथा॥
(कल्पतरु, पृ० ४७१)

जीव-ईश्वर की स्वरूपकल्पना वैमत्य का प्रधान विषय है। इस विषय में (१) आभासवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद, (३) अवेच्छदवाद, (४) जीवैक्य-वाद आदि अनेक विशिष्ट मत हैं।

(१) अद्वैत मत में एक आत्मा ही सत्य है; आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है; अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्-कारण; तथापि अज्ञान-रूप उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के अविवेक के कारण अन्तर्यामी, साक्षी और ईश्वर कहलाता है। बुद्धि-उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत स्वकीय चिदाभास को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता कहा जाता है। इस मत की संज्ञा **आभासवाद** है। इसके अनुसार जीव नाना और ईश्वर एक है।

(२) अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धि-प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, परन्तु अज्ञान की उपाधि से रहित बिम्ब—चैतन्य शुद्ध है। (संक्षेप में शारीरक); स्वतन्त्रतादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर बिम्ब-स्थानापन्न है और परतन्त्रता के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है (विवरण) अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप है। यही **प्रतिबिम्बवाद** है, परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरुचि है। समस्त प्रतिबिम्बस्थलों में प्रायः रूपवान् पदार्थ का रूपवान् आधार में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे रूपवान् चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रूपवान् जल में ही पड़ता है। परन्तु ब्रह्म के रूप हीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भव है और न रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति ही है।

(३) वाचस्पति मिश्र **अवच्छेदवाद** को युक्तियुक्त मानते हैं। इस पक्ष में एक ही चैतन्य अज्ञान के आश्रय और विषय के भेद से दो प्रकार का है—अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य जीव है। अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अज्ञान के नाना होने से इस मत में जीव भी नाना है। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत् का उपादान कारण है, ईश्वर उप-चारमात्र से कारण माना जाता है (सिद्धान्तबिन्दु, पृ० ८०)।

(४) वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त **'एक-जीव-वाद'** है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है और अज्ञान से उपहित चैतन्य जीव है। जीव ही अपने अज्ञानवश से जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्तिमयी है, क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। गुरु की कृपा तथा शास्त्रविहित श्रवणादि उपायों से एक ही आत्मा का मोक्ष होता है, शुक वामदेवादिकों की मोक्षवार्ता अर्थवादमात्र है। इसी मत का दूसरा नाम **दृष्टिसृष्टिवाद** है:—

आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः॥
(वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक २२)।

(५) कुछ वेदान्तियों की सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कुन्तीपुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राधेय (राधापुत्र) रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविकृत ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त करता है। व्याधकुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वशीभूत होकर अपने शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव को भुलाये हुए है। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वह मुक्त हो जाता है।

१३—वैष्णव दर्शन

टिप्पणी १—सविशेष वस्तु की प्रतीति—

"सर्वप्रमाणस्य सविशेषविषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते"—(स० द० सं० पृ० ४३)।

टिप्पणी २—श्वेताश्वतर पदार्थ-त्रैविध्य—

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्"।
(श्वेता० १।१२)।

टिप्पणी ३—ईश्वर का कार्य—

"सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्यं धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम्"—(श्रीभाष्य २।१)।

टिप्पणी ४—प्रलयकाल में ब्रह्म—

"स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्म-चिदचितोः सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतया पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः"—(श्रीभाष्य पृ० ८२)।

टिप्पणी ५—निर्गुण ब्रह्म—

"निर्गुणवादश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते"—(श्रीभाष्य पृ० ८३)।

टिप्पणी ६—विशिष्टाद्वैत का अर्थ—

वस्त्वन्तरविशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानीं सिद्धत्वाद् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम्"—(वेदान्ततत्त्वसार)।

टिप्पणी ७—जीव का अणुत्व—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेता० ५।६)।

टिप्पणी ८—भेदमूलक श्रुतियाँ—

उपनिषदों में अनेक वचन ऐसे मिलते हैं जिनसे जीव तथा ब्रह्म के भेद का परिचय मिलता है। प्रधान श्रुतिवाक्य ये हैं—

(क) "स कारणं करणाधिपाधिपः"—श्वेता० उप० ६।९;

(ख) "य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।"

(बृहदा० उप० ३।६।३);

(ग) "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"—(श्वेता० १।९)।

टिप्पणी ९—'विशिष्टाद्वैत' का अर्थ—

"तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्करणं ब्रह्म परामृशति। तदैक्षत बहु स्याम् (छा० ६।२।३)—इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात्। सद् मानाधिकरणंत्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यम्"—(श्रीभाष्य, पृ० ८०)।

टिप्पणी १०—'शुद्धसत्त्व' के विषय में मतभेद—

शुद्धसत्त्व के विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वानों में दो मत दीख पड़ते हैं। कुछ आचार्य उसे जड़ मानते हैं, परन्तु वेंकटनाथ, श्रीनिवास आदि अन्य मान्य आचार्य उसे चित् तत्त्व ही मानते हैं। श्रीनिवास ने यतीन्द्रमत दीपिका (पृ० ३२) में इसे स्वयं-प्रकाश तथा अजडतत्त्व स्वीकार किया है। वेंकटनाथ ने तत्त्वमुक्ताकलाप में भी यही माना है। इन वचनों से स्पष्ट है—"नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरम्" (१।६); "ज्ञानत्वाजड्यकण्ठोक्तानुगुणमवदन् मुख्यतामात्मनीव"—(३।६।२)।

श्रीवैष्णवों के एक प्रातःस्मरणीय पद्य से भी यही मत प्रतीत होता है:—

श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः।
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान्॥

(वरद गुरु-रचना)

लोकाचार्य ने शुद्धसत्त्व के विषय में दो मतों का उल्लेख किया है—"केचन एतज्जडं वदन्ति, केचिदजडं वदन्ति" (तत्त्वत्रय, पृ० ३६)। इन सूत्रों के भाष्य में वरवरमुनि ने स्पष्ट ही लिखा है कि लोकाचार्य शुद्धसत्त्व को अजड ही मानते हैं, शुद्धसत्त्व को आत्मा और ज्ञान से पृथक् सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ दी गई हैं (तत्त्वत्रय, पृ० ३७)। यह भेद—साधना यही सिद्ध करती है कि लोकाचार्य शुद्धसत्त्व को अजड ही मानते थे, अन्यथा यह भेद सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं होती। शुद्धसत्त्व को जड़ मानने वाले आचार्य का यथार्थ पता नहीं है। फलतः शुद्धसत्त्व के स्वरूप के विषय में दोनों मतों में भेद मानना उचित नहीं (जैसा इस ग्रन्थ के पूर्व संस्करण में किया गया था)। विशेष के लिए देखिए—श्रीनिवासाचारी रचित 'दि फिलासफी आफ विशिष्टाद्वैत' (अड्यार, मद्रास)।

टिप्पणी ११—भक्ति के उदय में ज्ञान-काम की सहकारिता—

यामुनाचार्य ने इसीलिए कहा है—"उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः" अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही ऐकान्तिक भक्तियोग से भगवान् को प्राप्त करता है।

टिप्पणी १२—भगवान् की कृपा—

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः ।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ।।
(अहि० सं० १४।२९)

टिप्पणी १३—भगवान् की शरणागति

यामुनाचार्य ने आलवन्दार स्तोत्र (पद्य २५) में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस शरणागति-तत्त्व का प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ।।

टिप्पणी १४—मुक्त जीव के व्यापार—

एवं गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च ।
सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्यो देवे विशिष्यते ।।
(स० द० सं०, पृ० ४७)

टिप्पणी १५—मुक्त जीव का रूप—

"नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भव अविद्याश्रयत्व-योग्यस्य तदनन्यत्वासम्भवात्"—(श्रीभाष्य १।१।१) ।

टिप्पणी १६—सगुण ब्रह्म ही यथार्थ—

"निरस्तसमस्तोपप्लवकलंकनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्"—(श्रीकण्ठभाष्य १।१।१) ।

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः ।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ।।

टिप्पणी १७—'विशेष' का अर्थ—

"भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः ।"
(म० सि० सा०, पृ० ७)

टिप्पणी १८—भगवान् के अवतारों की पूर्णता—

अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः ।
पूर्णं च तत् परं पूर्णं पूर्णात् पूर्णाः समुद्गताः ।।
न देशकालसामर्थ्यैः पारावर्यं कथञ्चन ।।
(माध्वबृहद्भाष्ये)

टिप्पणी १९—लक्ष्मी का रूप—

"परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः"— (म० सि० सा०, पृ० २६)

टिप्पणी २०—लक्ष्मी और भगवान् की तुलना—

द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा ।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ ॥

(भागवततात्पर्यनिर्णय)

टिप्पणी २१—'मध्यम मनुष्य' का अर्थ—

मध्यमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः सदैव हि ।

(भागवततात्पर्यनिर्णय)

टिप्पणी २२—मुक्ति का तारतम्य—

मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम् ।

(ईशावास्यभाष्य)

टिप्पणी २३—आनन्द में भी तारतम्य—

मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अपि ।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥

(गीतामध्वभाष्ये)

दुःखाभावः परानन्दो लिंगभेदः समा मताः ।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते ॥

(म० सि० सार०, पृ० ३२)

टिप्पणी २४—जीव का ब्रह्म से पृथक्त्व

इसीलिए मध्वाचार्य ने 'अनुव्याख्यान' में लिखा है—

जीवस्य तादृशत्वं च चित्त्वमात्रं न चापरम् ।
तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेषां चिदात्मनाम् ॥

(म० सि० सा०, पृ० ३२)

टिप्पणी २५—'सायुज्य' का अर्थ—

सायुज्य मुक्ति का अर्थ है भगवान् में प्रवेश करके भगवान् के शरीर से ही विषयों का भोग करना । 'सायुज्यं नाम भगवन्तं प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः' । यह मुक्ति सब मुक्तियों में श्रेष्ठ मानी जाती है ।

टिप्पणी २६—भेदा-भेद की परंपरा—

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्थाभेद से, ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद का सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। शङ्कराचार्य के पहले ही नहीं, अपितु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य **औडुलोमि** तथा आचार्य **आश्मरथ्य** भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्था-विशेष से ब्रह्म-जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविध कल्पना संघटित होती है। संसारदशा में नानारूप जीव तथा एकरूप ब्रह्म में नितान्त भेद है, परन्तु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्मरथ्य का सिद्धान्त है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परन्तु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकार कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुण्डलादिरूप में दोनों में भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिता के कथन से प्रतीत होता है कि आश्मरथ्य के भेदाभेद को परवर्ती काल में यादवप्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदान्तकौस्तुभ' में **काशकृत्स्न** को भी भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रय-मतद्वारा प्रसंगाद् भेदाभेदप्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शङ्कराचार्य के कथनानुसार ये अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते १।४।२३ शा० भा०)।

भर्तृप्रपञ्च

आचार्य शङ्कर से पूर्व वेदान्ताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त के पक्ष-पाती थे। आचार्य ने इनके मत का उल्लेख तथा खण्डन बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ४।३।३०) भाष्य में किया है। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है—ब्रह्मरूप में एक है और जीवरूप में नाना है। जीव नाना तथा परमात्मा का एकदेशमात्र है। काम, वासनादि जीव के धर्म हैं। अतः धर्म तथा दृष्टि के भेद से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं, अपितु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र–तरङ्ग–न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परन्तु विकाररूप तरङ्ग, बुद्बुद् आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है। द्रष्टव्य "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (१।२।१४

शां० भा०)। आचार्य ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) अन्तर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—सूत्र, विराट् तथा देवतारूप में, (३) जाति तथा पिण्डरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधनपक्ष में ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है, परन्तु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यन्तिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं, जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है। (२) ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को 'पर मोक्ष' (श्रेष्ठमुक्ति) कहते हैं, जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के सम्पन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपञ्च के मत से ब्रह्म साक्षात्कार होने पर भी अविद्या की पूर्ण-निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तब तक देह के साथ सम्बन्ध रखता है। परन्तु परामुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशि-भाव अथवा एकदेश एकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेद परम्परा का अनुसरण भर्तृप्रपञ्च ने अपने ग्रन्थों में किया।

भास्कर

शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४–१५) में, उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने न्यायकुसुमाञ्जलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टम शतक मानना चाहिए। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सल्लक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानन्त लक्षण है। चैतन्य तथा रूपान्तररहित अद्वितीय है। प्रलयावस्था में समस्त विकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्कर-भाष्य)। भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगद्रूप में परिणत होती है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ पारमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्र शक्तियों से सम्पन्न है।

"ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय, अम्भो हिमभावाय; न तु तत्राप्यातञ्चनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते।"

(२।१।२४ भास्कर-भाष्य)।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करता है।

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत् ॥

(भास्कर-भाष्य, पृ० ९६)।

ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निरवयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिणाम पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति—२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुलिंग-वत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों का अभेदरूप स्वाभाविक है तथा भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्न-रूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२-३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्म-रूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद सम्बन्ध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ सू० के अपने भाष्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद मानते हैं। मुक्ति का उदय शुष्क ज्ञान से नहीं; अपितु कर्म-संवलित ज्ञान से ही होता है। उपासना या योगाभ्यास के विना अपरोक्ष ज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' दोनों अभीष्ट हैं। सद्योमुक्ति उनकी होती है जो साक्षात् कारण-ब्रह्म के उपासक होते हैं, परन्तु जो कार्य-ब्रह्म की उपासना करते हैं वे प्रथमतः अर्चिरादि मार्ग से हिरण्यगर्भ को प्राप्त करते हैं, अनन्तर महाप्रलय के समय हिरण्यगर्भ के मुक्त हो जाने पर ये भी मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस मुक्ति का नाम 'क्रममुक्ति' है।

यादव

ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादव-प्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थसंग्रह' (पृ० १५) में, वेदान्तदेशिक ने 'परमतभङ्ग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेद-सम्मत भाष्य का निर्माण किया। ये निर्गुणब्रह्म तथा मायावाद नहीं मानते। इनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनन्तर निम्बार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धान्त लुप्तप्राय से हो गये हैं, परन्तु निम्बार्क का कृष्णोपासक संप्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

टिप्पणी २७—जीव का रूप—

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः॥
(दशश्लोकी १)

टिप्पणी २८—आत्मा का कर्तृत्व—

"कर्ता शास्त्रार्थत्वात्" (ब्र० सू० २।३।३२) पर 'पारिजातसौरभ' देखिए।

टिप्पणी २९—अंश का अर्थ—

"अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः"—(२।३।४२ पर कौस्तुभ)।

टिप्पणी ३०—भगवत्प्रसाद का फल—

अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
(दशश्लोकी २)

टिप्पणी ३१—अचित् के तीन प्रकार—

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥
(दशश्लोकी ३)

टिप्पणी ३२—ईश्वर का रूप—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

(दशश्लोकी ४)

टिप्पणी ३३—'नारायण' की व्यापकता—

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

(सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ५३ में उद्धृत) ।

टिप्पणी ३४—चार वैष्णव सम्प्रदाय—

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः ॥

(पद्मपुराण)

टिप्पणी ३५—भक्तमाल में विष्णु स्वामी—

नाम तिलोचन सिष्य सूर ससि सदृस उजागर ।
गिरा गंग-उनहारि काव्य-रचना प्रेमाकर ॥
आचरज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन ।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन ॥
नवधा प्रधानसेवा सुहृद मन वच क्रम परिचरणरति ।
विष्णुस्वामि-सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति ॥ छ० ४८ ।

टिप्पणी ३६—'शुद्धाद्वैत' का अर्थ—

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधः ॥
मायासंबन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥

(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २७-२८)

टिप्पणी ३७—ब्रह्म की उभयरूपता—

उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ।

(ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणुभाष्य)

टिप्पणी ३८—'लीला' का अर्थ—

"लीला नाम विलासेच्छा, कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जयन्ते, जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्, नापि कर्तरि प्रयासं जनयति; किन्तु अन्तःकरणे पूर्णं आनन्दं तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।"

(सुबोधिनी, तृतीय स्कन्ध)।

टिप्पणी ३९—भगवान् के अवतार का हेतु—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(भागवत १०।२९।१४)।

"अतः स्वपरप्रयोजनाभावाद् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः = प्रादुर्भावः प्रयोजनरहितैव स्यात्।"

(सुबोधिनी)।

टिप्पणी ४०—पुरुषोत्तम की प्राप्ति भक्ति से—

'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ८।२२) इस गीता-वाक्य के आधार पर आचार्य का यह सिद्धान्त है—'तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्। यस्यान्तः स्थानीत्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम्। तच्च मृत्सादिप्रसंगे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते।'

(ब्र० सू० ३।३।३३ अणुभाष्य)।

टिप्पणी ४१—ज्ञान तथा आनन्द का तिरोधान—

'पराभिध्यानात्तु' ब्र० सू० ३।२।५ पर अणुभाष्य।

टिप्पणी ४२—अविकृत परिणामवाद

श्रीमद्भागवत इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्॥

टिप्पणी ४३—आविर्भाव तथा तिरोभाव का अर्थ—

"अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः; तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः"—

(विद्वन्मण्डन, पृ० ७)।

टिप्पणी ४४—पुष्टिमार्ग की विशेषता—

हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग की विशेषता सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है—

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

(प्रमेयरत्नार्णव, पृ० १९)

आचार्य ने अणुभाष्य में ठीक ही कहा है—"पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यम् , मर्यादायामंगीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेव (अणुभाष्य ३।३।२९); पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः" (अणुभाष्य ४।४।९) ।

टिप्पणी ४५—मुक्ति का रूप—

मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

(भागवत)

टिप्पणी ४६—सुबोधिनी की ख्याति

हरिराय का यह कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी ।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ५५) ।

टिप्पणी ४७—'भगवत्' शब्द का अर्थ—

'भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः' तथा श्रीमद्भागवत भगवान् को गुणात्मा मानता है—"गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम् ।"

(भागवत १०।१४।७) ।

टिप्पणी ४८—'विशेष' का अर्थ—

"यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते, तत्रैव भेदप्रतिनिधिर्विशेषः कल्प्यते ।"

(सिद्धान्तरत्न, पृ० २३) ।

टिप्पणी ४९—भगवान् की अचिन्त्य शक्ति—

"विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात् ।"

(सिद्धान्तरत्न, पृ० २३) ।

इसी अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं। इस परिच्छिन्नत्व तथा विभुत्व की भगवान् में युगपत् स्थिति का वर्णन ब्रह्मसंहिता (५।४३) में स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो
वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम् ।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

टिप्पणी ५०—भगवान् की तीन शक्तियाँ—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥
(विष्णुपुराण ६।७।६१)

टिप्पणी ५१—भगवान् की अभिव्यक्ति—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥
(विष्णुपुराण)

टिप्पणी ५२—'सन्धिनी' का अर्थ—

"सदात्मापि यथा सत्ता धत्ते ददाति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी ।"

टिप्पणी ५३—'ह्लादिनी' का अर्थ

सिद्धान्तरत्न पृ० ३९-४० ।

टिप्पणी ५४—जगत् की सत्यता

(क) श्रुति जगत् की सत्यया बतलाती है—
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाम्यः ।
(ईशा० उप०, श्लोक ८)

(ख) स्मृति—
तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आभिर्भावतिरोभाव-जन्मनाशविकल्पवत् ॥
(विष्णुपुराण १।२२।६०)

टिप्पणी ५५—'अचिन्त्य भेदाभेद' का अर्थ—

"स्वरूपादिभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदावङ्गीकृतौ । तौ च अचिन्त्यौ; स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात् ।"
(भगवत्सन्दर्भस्य सर्वसंवादिन्यां जीवगोस्वामी)

टिप्पणी ५६—उत्तमा भक्ति का लक्षण—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

(नारद पाञ्चरात्र)

टिप्पणी ५७—'ह्लादिनी' का रूप—

"भगवत्प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति, किं तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यथाऽऽनन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति"—(प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ७२४)।

टिप्पणी ५८—ईश्वर का चिदचिद् विशेषण—

"व्यावर्त्याभावाद् व्यावर्तकत्वविशेषण-लक्षणत्वाभावः, तदभावे च ब्रह्मणो विशिष्टत्वाभावः सुतरां सिद्धः।"

(वेदान्ततत्त्वबोध, पृ० २७, सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ४३-४५)।

——

१४—वैष्णवतन्त्र

टिप्पणी १—तन्त्र का अर्थ—

शैवसिद्धान्त के 'कामिक-आगम' में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

टिप्पणी २—स्मृति तन्त्र है—

न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥

"स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता"—(शां० भा० २।१।१)।

टिप्पणी ३—आगम का अर्थ

वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी (१।७) में इसकी व्याख्या की है—"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।"

टिप्पणी ४—चारों युगों की उपासना—

विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।

(महानिर्वाण)

कृते श्रुत्यक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥
(कुलार्णवतन्त्र)

टिप्पणी ५—आगम के सात लक्षण—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ॥

टिप्पणी ६—शाक्त की अद्वैत धारणा—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

टिप्पणी ७—'कुल' शब्द का अर्थ—

'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्य भास्कर' भाष्य में भास्करराय ने लिखा है—"कुलं सजातीयसमूहः । स च एकविज्ञानविषयत्वरूपसाजात्यापन्न-ज्ञातृ-ज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः । ततः सा त्रिपुटी कुलम् ।" इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—"मेयमातृमिति लक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्"।

टिप्पणी ८—कौल की अद्वैत भावना—

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।
श्मशाने भवने देवि ! तथैवं काञ्चने तृणे ॥
न भेदो यस्य देवेशि ! स कौलः परिकीर्तितः ॥ भावचूडामणि तन्त्र ।

(द्रष्टव्य शतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण-कौलमार्गरहस्य नामक बंगला ग्रन्थ, पृ० १०-२०)।

टिप्पणी ९—कौल का नाना आचार—

अन्तः शाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

कौलसम्प्रदाय

कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदाय भी प्राचीनकाल में थे जो 'कौलज्ञाननिर्णय' तन्त्र के १४ वें पटल में रोमकूपादि कौल, वृष्णोत्थ कौल, वह्नि कौल, काल सद्-भाव, पदोत्थित कौल के नाम से उद्दिष्ट हैं इसी ग्रन्थ के १७ वें पटल में महा-

कौल, सिद्धकौल, ज्ञाननिर्णीतकौल, सिद्धामृतकौल, योगिनीकौल नाम से जिन कौलों का वर्णन उपलब्ध होता है वे कौलों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रतीत होते हैं। इससे कौलों की व्यापकता तथा महत्ता का स्पष्टतः परिचय मिलता है। 'कौलज्ञान निर्णय' की पुष्पिका से प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में अन्यतम मत्स्येन्द्रनाथ का सम्बन्ध 'योगिनीकौल' से जान पड़ता है, जिसकी उत्पत्ति 'कामरूप' में हुई थी (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीनां गृहे-गृहे—पृ० ७८)। इस प्रकार 'नाथसम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौलमत से निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होता है। अतः गोरक्षनाथ आदि हठयोग के आचार्यों का भी सम्बन्ध कौल मार्ग से ही है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में 'कौलज्ञाननिर्णय', 'अकुलवीरतन्त्र', 'कुलानन्दतन्त्र', 'ज्ञानकारिका' का प्रकाशन कलकत्ता संकृत सीरीज (नं० ३) में तथा 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' और 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' काशी से (सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में) हुआ है।

टिप्पणी १०—'समय' शब्द का अर्थ—

"दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति रूढ्या उच्यते।"

(भास्कर राय)

टिप्पणी ११—भास्करराय कृत 'कुल' व्याख्या—

कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्।
इसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है।

टिप्पणी १२—समयमत का आचार—

"समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति, बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव यावत् सर्वमुष्ठेयम्।"

(लक्ष्मीधर-सौन्दर्यलहरी-टीका, श्लोक ४१)।

टिप्पणी १३—पञ्चमकार का रहस्य—

कौलाचार के विषय में बड़ी भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों के प्रति लोगों के हृदय में जो एक अवहेलना तथा तिरस्कार का भाव बना हुआ है उसका प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान है। 'कौल' शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल वही है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन करने में समर्थ होता है। 'कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो योगक्रिया से कुण्डलिनी का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थिति शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। स्वच्छन्दतन्त्र का कहना है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

कुल या कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलम्ब है। कुलाचार ही कौलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इस पञ्च 'म'कार या पञ्चतत्त्व या पञ्चमुद्रा के सहयोग से अनुष्ठित होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

इन पञ्च मकारों का रहस्य नितान्त गूढ़ है। वास्तव बात यह है कि ये आभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। जो कोई इन्हें बाह्य तथा भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है वह यथार्थ बात से बहुत ही दूर है।

(१) **मद्य** का अर्थ यह बाहरी शराब नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्ध्र में स्थित जो सहस्रदल कमल है उससे जो सुधा क्षरित होती है, उसे ही मद्य कहते हैं। उसी को पीने वाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसी लिए तन्त्रों का कथन है—

व्योमपंकज निस्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः॥
जिह्वया गलसंयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा।
योगिभिः पीयते तत्तु न मद्यं गौडपैष्टिकम्॥

इनमें पहला 'कुलार्णव' का और दूसरा 'गन्धर्वतन्त्र' का वचन है।

(२) **मांस**—जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है वही मांसाहारी है। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्ये पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥

(३) **मत्स्य**—शीरस्थ ईडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा तथा यमुना है। इनमें प्रवाहित होने वाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना के भीतर संचालन करता है, वही यथार्थतः मत्स्य-साधक है। 'आगमसार' कहता है—

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥

(४) मुद्रा—सत्संगके प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत्-संग के त्याग का ही नाम मुद्रा है। 'विजयतन्त्र' का यही मत है—

सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥

(५) मैथुन का अर्थ है मिलाना। किसका ? सहस्रार में स्थित शिव का तथा कुण्डलिनी का अथवा सुषुम्ना तथा प्राण का। स्त्री-सहवास से वीर्यपात के समय जो सुख मिलता है उससे शतकोटिगुणित अधिक सुख सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने से होता है। यही वास्तव मैथुन है—

ईडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः ॥
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्।

इन अर्थों से स्पष्ट है कि इन पंच मकारों का सम्बन्ध अन्तर्याग से है। इसका अधिकारी भी साधारण व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत उच्च कोटि का साधक ही इसका उपयुक्त पात्र है, जो परद्रव्य के विषय में अन्धतुल्य, परस्त्री के विषय में नपुंसक-तुल्य, परनिन्दा में मूकतुल्य तथा जितेन्द्रिय है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

टिप्पणी १४—तन्त्र स्मृतिरूप है—

"तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्य-प्रकाश); परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात्"—(सौभाग्यभास्कर का उपक्रम)।

टिप्पणी १५—तन्त्र की मान्यता—

"वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः, वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः; तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधस्त्रैवर्णिक-वेदागमौ।"

(श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८)।

टिप्पणी १६—'एकायन' शाखा—

(क) एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि ।

(ईश्वरसंहिता १।४३)

(ख) वेदमेकायनं नाम वेदानां शिरसि स्थितम् ।
तदर्थकं पाञ्चरात्रं मोक्षदं तत्क्रियावताम् ॥

(श्रीप्रश्नसंहिता)

(ग) ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि वाको वाक्यमेकायनम् ।

(छान्दोग्य ७।१।२)

टिप्पणी १७—'एकायन' काण्व शाखा—

द्रष्टव्य काण्वशाखामहिमासंग्रह (मद्रास हस्तलिखित पुस्तक सूची, भाग ३)

टिप्पणी १८—पाञ्चरात्रश्रुति—

पाञ्चरात्रश्रुतावपि यद्वत् सोपानेन प्रासादमावहेत्, प्लवनेन वा नदीं तरेत्; तद्वत् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः ।

(स्पन्दकारिका, पृ० २)

पाञ्चरात्रोपनिषत् च—ज्ञाता च ज्ञेयञ्च वक्ता च भोक्ता च भोज्यञ्च ।

(स्पन्दकारिका, पृ० ४०)

टिप्पणी १९—'एकायन' का महत्त्व—

शृणुध्वं मुनयः सर्वे वेदमेकायनाभिधम् ।
मोक्षायनाय वै पन्था एतदन्या न विद्यते ॥
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ।

(ईश्वरसंहिता)

टिप्पणी २०—यूनानी वैष्णव—

इण्डियन एण्टीक्वेरी १९११, पृ० १३ ।

टिप्पणी २१—सात्वत विधि—

सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः ।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ॥

(महाभारत-भीष्मपर्व)

टिप्पणी २२—'सात्त्वत' की प्राचीनता—

एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्त्वतां राजानो भोज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते, भोजेति एतान् अभिषिक्तान् आचक्षते।

(ऐतेरेय ब्राह्मण ८।३।१४)

टिप्पणी २३—पाञ्चरात्र का अर्थ—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

(श्रीभाष्य २।२।४२)

टिप्पणी २४—'सात्त्वत' का अर्थ—

सातयति सुखयति आश्रितानिति सात् परमात्मा। स एषामस्तीति वा सात्त्वताः, सात्त्वन्तो वा महाभागवताः (पराशरभट्ट—विष्णुसहस्रनामभाष्य)।

(वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण, पृ० ४६५)।

टिप्पणी २५—पाञ्चरात्र का अर्थ—

रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारद पाञ्चरात्र १।४४। नारद पञ्चरात्र १।४५।५३, तथा अहिर्बुध्न्यसंहिता ११।६४।

टिप्पणी २६—पाञ्चरात्र की ब्रह्मकल्पना

पाञ्चरात्र की यह ब्रह्मभावना औपनिषद कल्पना के नितान्त अनुरूप है—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥

(अहि० सं० २।५३)

टिप्पणी २७—नारायणी शक्ति का रूप—

व्यापकावतिसंश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ।

(अहि० सं० ४।७८)

टिप्पणी २८—शक्ति तथा शक्तिमान् का सम्बन्ध

अहिर्बुध्न्य संहिता (३।२५) ने दोनों का भेद स्पष्टाक्षरों में उल्लिखित किया है—"देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।"

(अहि० सं० ३।२५।२७)।

टिप्पणी २९—भगवान् की शक्ति—

स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति ।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः ॥
(अहि० सं० ५।४)

टिप्पणी ३०—भगवान् की शक्तियाँ—

क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः ।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपो विष्णोः संकल्प उच्यते ॥
(अहि० सं० ३।२१)

टिप्पणी ३१—अन्तर्यामी का अर्थ—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।
(बृह० उप० ३।७।३)

टिप्पणी ३२—शरणागति का अर्थ—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः ।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥
(अहि० सं० ३७।३१)

टिप्पणी ३३—मुक्त दशा में जीव की स्थिति—

यथाऽनेकेन्धनादीनि संप्रविष्टानि पावके ।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वद् ब्रह्मण्युपासकाः ॥
सरित्संघाद् यथा तोयं संप्रविष्टं महोदधौ ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा ॥
(जयाख्यसं० ४।१२१, १२३)

टिप्पणी ३४—औखेय शाखा की रचना—

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया ।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

टिप्पणी ३५—भागवत में भगवत्-तत्त्व—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(भागवत २।९।३२)

टिप्पणी ३६—भागवत में परमतत्त्व—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(भागवत १।२।११)

टिप्पणी ३७—'भगवान्' शब्द का अर्थ—

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥

(भागवत ५।१२।११)

टिप्पणी ३८—भगवान् का 'पुरुष' अवतार—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥

(भागवत ११।४।३)

टिप्पणी ३९—भागवत में 'माया' का रूप—

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः ॥

(२।९।३३)

टिप्पणी ४०—भक्ति का महत्त्व—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

(११।१४।२०)

टिप्पणी ४१—हरि की प्रीति का साधन—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

(७।७।५१–५२)

टिप्पणी ४२—ज्ञानमार्ग में क्लेश—

श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(भागवत १०।१४।४)।

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वशाली है, क्योंकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगौडपादाचार्य ने 'उत्तरगीता' की अपनी टीका में 'तदुक्तं भागवते' कह कर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोपदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

टिप्पणी ४३—भक्त की कामना—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(भागवत ११।१०।१४)।

टिप्पणी ४४—भक्त की अभिलाषा—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(६।११।२६)।

टिप्पणी ४५—भागवत की महिमा—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥
(भाग० १२।१३।१८)।



१५—शैव-शाक्त तन्त्र

पृष्ठ ४६१ तन्त्रों के भेद

लक्ष्मीधर ने सौन्दर्य-लहरी पद्य ३१ की व्याख्या करते समय तीनों मार्गों (कौल, मिश्र तथा समय) के तन्त्रों का विशेष परिचय दिया है। कौल मार्ग के अनुसार महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि तन्त्रों की संख्या ६४ है, जिनके नाम तथा विषय का उल्लेख 'वामकेश्वर', 'कुलचूडामणि', 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा लक्ष्मीधर की टीका में किया गया है। इन ग्रन्थों में विशेष पार्थक्य मिलता है। समयमार्ग के अनुसार ये समस्त तन्त्र अवैदिक हैं, तथा ऐहिक-सिद्धि-प्रतिपादक होने से वैदिक मार्ग से कोसों दूर हैं (एवं चतुःषष्ठितन्त्राणि परिज्ञातॄणामपि वञ्चकानि। ऐहिकसिद्धिपरत्वाद् वैदिकमार्गदूराणि)। मिश्रमार्ग के तन्त्र आठ प्रकार के हैं—चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्य तथा दुर्वास-मत। ये तन्त्र उच्च ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने पर भी लौकिक अभ्युदय के साधक हैं; अतः कौल और समय उभयमार्गों के मिश्रण होने से यह 'मिश्रमार्ग' कहलाता है। समय-मत का मूलग्रन्थ 'शुभागमपञ्चक' कहलाता है, जिसमें वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार द्वारा विरचित संहितापञ्चक की गणना है। लक्ष्मीधर ने इन संहिताओं का उद्धरण भी टीका में दिया है। तन्त्र-साहित्य नितान्त विशाल, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। शाक्त तन्त्रों की संख्या हजार से ऊपर है, परन्तु इस विशाल साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है। इन प्रकाशित तन्त्रों में कुलचूडामणि, कुलार्णव, तन्त्रराज (टीका प्राणमञ्जरी सुदर्शन-रचित) शक्ति संगम तन्त्र (कालीखण्ड तथा ताराखण्ड); कालीविलास, ज्ञानार्णव, वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरा-रहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता आदि विशेष विख्यात हैं। शंकराचार्य ने भी 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्र का निर्माण किया है, जिसकी टीका आचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने लिखी है। लक्ष्मणदेशिक (११ शतक) का 'शारदा तिलक' राघवभट्ट की टीका के साथ तान्त्रिक रहस्यों का आकर है। इन सामान्य तन्त्रों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आचार्यों के भी अपने विशिष्ट ग्रन्थ हैं।

श्रीविद्या के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं—मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोधभट्टारक (दुर्वासा

मुनि)। श्री नटनानन्द कृत कामकलाविलास की टीका (श्लो० ५२) से पता चलता है कि श्रीविद्या के दो सन्तान सुप्रसिद्ध हैं—कामराजसन्तान और लोपामुद्रा सन्तान, जिनमें कामराज सन्तान ही अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है; लोपामुद्रा-सन्तान तो विच्छिन्न हो गया है। कामराज में दिव्यौघ गुरुओं के नाम भी वहाँ दिये गये हैं।

टिप्पणी १—पाशुपतों की पञ्चपदार्थी—

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्त्वनिश्चयः॥
(सर्वदर्शन-संग्रह)

टिप्पणी २—'पशु' का अर्थ

कौण्डिन्य भाष्य में इस शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति दी गई है—"पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशा नाम कार्यकरणाख्याः कलाः। ताभिः पाशिताः बद्धाः सन्निरुद्धाः शब्दादिविषयपरवशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते।"
(कौण्डिन्यभाष्य, पृ० ५)

टिप्पणी ३—कर्ता की स्वतन्त्रता—

कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं या अपेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः। (कौण्डिन्यभाष्य २।६)

टिप्पणी ४—'मल' का रूप तथा प्रकार—

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च शक्तिर्हेतुश्च्युतिस्तथा।
पशुत्वं मूलं पञ्चैते तन्त्रे हेयाधिकारतः॥
(गणकारिका ८)

टिप्पणी ५—स्थिरदेह का महत्त्व

शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद ने 'रसहृदय' तन्त्र में बहुत ही ठीक कहा है—

इति धन-शरीर-भोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम्।
मुक्तौ सा च ज्ञानात् तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहे॥

टिप्पणी ६—'पारद' का अर्थ—

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः ।

टिप्पणी ७—पारद का महत्त्व—

मूर्च्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥

टिप्पणी ८—रस की सिद्धि

भर्तृहरि ने इसी की ओर संकेत किया है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

टिप्पणी ९—'रस' का अर्थ—

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"— (तैत्ति० उप० २।७।१।)

तान्त्रिक पूजा के केन्द्र—

तान्त्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र थे, जिनमें पूजा का विधान भिन्न-भिन्न द्रव्यों की सहायता से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा गौड (बंगाल या कामाख्या)। इनकी पूजा पद्धति में पर्याप्त भिन्नता थी। मद्य मांस आदि पञ्च मकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में नितान्त आवश्यक है, परन्तु केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था। काश्मीर में उन द्रव्यों की केवल भावना की जाती थी। केवल गौड देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष प्रयोग था। इसका विवेचन 'शक्तिसंगमतन्त्र' के कालीखण्ड के नवम पटल (श्लोक २०) में इस प्रकार है—

दुग्धेन केरले पूजा काश्मीरे भावना मता ।
गौडे प्रत्यक्षदानं स्यात् त्रितयं कीर्तितं मया ॥

इन पद्धतियों के भीतर भी अनेक अवान्तर प्रकार प्राचीन काल में विद्यमान थे, जिससे इस पूजा के विशेष प्रचार तथा प्रसार का पता चलता है।

द्रष्टव्य—शक्तिसंगमतन्त्र, पृ० १०६–१०७ (कालीखण्ड)।

टिप्पणी १०—वाक् ही परम तत्त्व

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ में इस तत्त्व का प्रतिपादन इस सुप्रसिद्ध कारिका में किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

उमामहेश्वर ने अपने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है—"महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति"। यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते—"तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।"

टिप्पणी ११—भर्तृहरि के मत में त्रयीवाक्

भर्तृहरि के मत में वाक् के तीन ही रूप होते हैं—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥
(वाक्यपदीय १।१४४)

यहाँ स्पष्ट ही वाक् के त्रिविध रूपों का वर्णन है और इस वाक् का व्याकरण
आगम में सर्वोच्च तथा अद्भुत स्थान माना गया है। हेलाराज ने स्पष्टतः
भर्तृहरि की पश्यन्ती वाक् को औरों की परा वाक् माना है—
"संविच्च पश्यन्तीरूपा परा वाक् शब्दब्रह्ममयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात् पारमार्थिकान्न
भिद्यते, विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः" (हेलाराज, वाक्यपदीय ३, द्रव्य-
समुद्देश ११)। इसी मन्तव्यानुसार भर्तृहरि ने पश्यन्ती का वर्णन वही किया है
जो इतर वैयाकरणों ने परा वाक् का किया है। नागेश ने 'लघुमञ्जूषा' में वाक्
के चार भेद माने हैं, जिसमें परावाक् की गणना तथा कल्पना तन्त्र से गृहीत की
गई है। तन्त्रों का उदय भर्तृहरि (षष्ठ शती) से प्राचीन है; तथापि इन्होंने तन्त्र
का मत न मान कर अपनी नई कल्पना की है। भर्तृहरि मूल तत्त्व को सत्ता या
'प्रतिभा' के नाम से पुकारते हैं। वाक् अपनी समग्रता में इसी 'प्रतिभा' का ही रूप
है। मध्यमा का नामकरण वाक् के तीन भेदों की सत्ता होने पर ही संगत होता है।

टिप्पणी १२—व्याकरण की प्रशंसा—

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥

टिप्पणी १३—'शक्तिविशिष्टाद्वैत' का अर्थ

इसकी व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार बतलायी है—"शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ, शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।"

टिप्पणी १४—शक्ति की नित्यता

श्रुति ने एक स्थान पर कहा है कि—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी ॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी ।
(सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद २)

इस उक्ति से भी ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्द परशिव की वह शक्ति समस्त भुवन-निर्माण के लिए उस परशिव से समवेत होकर उनकी इच्छानुसार साक्षात् स्वरूप रहती है, अर्थात् परशिवाभिन्न वह विमर्शशक्ति विश्वोत्पादन में कारणीभूत हुआ करती है। 'सिद्धान्तशिखामणि' से यह भी पता चलता है कि नाना तरह की विश्वसृष्टि करनेवाली विमर्श नाकक पराशक्ति जिसमें अविनाभाव सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है, वही ब्रह्म और वही 'विश्वभाजन' कहलाता है।

टिप्पणी १५—जगत् की नित्यता—

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ॥
शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते ।
फेनोर्मिबुद्बुदाकारो यदा सिंधोर्न भिद्यते ॥
(सिद्धान्तशिखामणि)

यथा पुष्पपलाशादिर्वृक्षरूपान्न भिद्यते ।
तथा शिवात् पराकाशाद् जगतो नास्ति भिन्नता ॥

टिप्पणी १६—जगत् का प्रसार

इसी विषय को श्रीरेणुकाचार्यजी ने संक्षिप्त रूप में बड़ी सुन्दर रीति से समझाया है—

आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः ।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात् ॥

टिप्पणी १७—जीव का रूप

रेणुकाचार्यजी ने भी कहा है कि—

"अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामकः।"

टिप्पणी १८—'स्थल' का अर्थ

लिखा भी है कि—

स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

टिप्पणी १९—ब्रह्म का स्वरूप—

आलयः सर्वभूतानां लोकानां लोकसम्पदाम्।
यद् भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत् प्राहुरक्षरम्॥

टिप्पणी २०—शक्ति का कार्य—

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माण-समवायस्वरूपिणी॥
तदिच्छयाऽभवत् साक्षत् तत्स्वरूपानुकारिणी।
(सिद्धान्तशिखामणि, परि० २)

टिप्पणी २१—मुक्ति का रूप—

तस्माद् लिंगांगसंयोगात् परा मुक्तिर्न विद्यते।

टिप्पणी २२—'वीरशैव' का अर्थ

इस संप्रदाय के वीरशैव नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः॥
नादयति यन्न नश्यति निर्वाति न निर्वृतिं प्रयच्छति च।
ज्ञानक्रियास्वभावं यत्तेजः शाम्भवं जयति॥
(तत्त्वप्रकाशिका)

टिप्पणी २३—बिन्दु से उत्पत्ति—

जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्तते यत्र लीयते।
स बिन्दुः परनादाख्यः नादबिन्द्वर्णकारणम् ॥

(रत्नत्रय, का० २२)

टिप्पणी २४—बिन्दु तथा शिव का सम्बन्ध

श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्टतः यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—

स हि तादात्म्यसम्बन्धी जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्ड - चिद्घनैकस्वरूपिणः ॥

टिप्पणी २५—शाक्त देह का अर्थ—

मलाद्यसम्भवात् शाक्तं वपुर्नैतादृशं प्रभोः।

(श्रीमृगेन्द्रागम)

टिप्पणी २६—मल की निवृत्ति—

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिकावद् वा ॥

(तत्त्वप्रकाशिका, का० १८)

टिप्पणी २७—माया का रूप—

माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा।

(तत्त्वप्रकाशिका, का० ९)

टिप्पणी २८—ज्ञानादि का मुक्ति में अनुपयोग—

असिधारा सुतीक्ष्णापि न स्वात्मच्छेदिका यतः।

(मोक्षकारिका, का० ६७)

टिप्पणी २९—'दीक्षा' का अर्थ

'दीक्षा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' (१ जिल्द, पृ० ८३) में इस प्रकार किया है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

टिप्पणी ३०—दीक्षा के द्वारा उद्धार—

आचार्यसंस्थितो देवो दीक्षाशक्त्यैव मुञ्चति।
स्वशक्त्योद्धृतान् पुंसो मन्त्रसाधनसाध्यया ॥
(मोक्षकारिका, का० ९६)

टिप्पणी ३१—'प्रत्यभिज्ञा' में दीक्षा का उपयोग—

स्वातन्त्र्यमहिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।
स्वं रूपं परिशुद्धं सत् स्पृशत्यप्यणुतामयः ॥
(तन्त्रालोक, जि० ८।१०।१६३)

टिप्पणी ३२—दीक्षा का लाभ

आचार्य अभिनवगुप्त का कथन यथार्थ है—

मोक्षस्य नैव किञ्चिद् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥
(परमार्थसार, का० ६०)

टिप्पणी ३३—'जीवन्मुक्त' का रूप—

प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽप्यसौ मुक्तः।
(परमार्थसार, का० ६१)

संवित् का रूप—

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णं हृदयं परमेशितुः।
परादिशक्तिरूपेण स्फुरन्तीं संविदं नुमः ॥
(क्षेमराज)

टिप्पणी ३४—जगत् परमशिव का रूप—

"श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकघनस्य अखिलमभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एवेत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।"
(प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र ३)

टिप्पणी ३५—जगत् का उन्मीलन—

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" ।

(प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र २)

टिप्पणी ३६—शिव का कला-विलास

आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है:—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥

टिप्पणी ३७—'आनन्दशक्ति' का अर्थ—

आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात् ।

(तन्त्रसार)

टिप्पणी ३८—आमर्ष का अर्थ—

आमर्षं ईषत्तया वेद्योन्मुखता ।

टिप्पणी ३९—क्रियाशक्ति का अर्थ—

"सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः"—(तन्त्रसार, १ आह्निक)

टिप्पणी ४०—आभासवाद का अर्थ—

"आभासरूपा एवं जडचेतन-पदार्थाः" ।

(प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।२।१)

अभिनव का विवृत्तिविमर्शिनी में यह कथन यथार्थ है:—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ॥

टिप्पणी ४१—'स्वातन्त्र्यवाद' का अर्थ—

"अविद्या अनिर्वाच्या वैचित्र्यं चाधत्ते इति व्याहतम् । परमेश्वरीशक्तिरेव इयमिति हृदयावर्जकः क्रमः । तस्माद् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्व-

भावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः''—अभिनव-प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी।

टिप्पणी ४२—'तत्त्व' का अर्थ—

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामन्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः॥
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः।
(तन्त्रालोक ६।४-५)

टिप्पणी ४३—विमर्श का रूप—

"विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्"—(परा प्रावेशिका, पृ० २)

टिप्पणी ४४—शिव को शक्ति से लाभ

इसीलिए शंकराचार्य का कथन है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥
(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १)

टिप्पणी ४५—शिव-शक्ति का सामरस्य—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

टिप्पणी ४६—शिव तथा शक्ति का सहवास—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।
(सोमानन्द-शिवदृष्टि ३।२।३)

टिप्पणी ४७—ईश्वर का उन्मेष—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३)

टिप्पणी ४८—'सदाशिव' की कल्पना—

अहन्ताच्छादितमस्फुटेदन्तामयं यादृशं परावररूपं विश्वं ग्राह्यम् ।

(प्रत्यभिज्ञाहृदय, पृ० ७)

'सत्ता' का आरम्भ यहीं से होता है । इसी से इसका नाम 'सदाख्य' तत्त्व है—"सादाख्यायां भवं सादाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या ।"

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।१।२)

टिप्पणी ४९—'सद्विद्या' की धारणा—

समानाधिकरण्यं च सद्विद्याऽहमिदंधियोः ।

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३)

टिप्पणी ५०—'माया' का अर्थ—

"कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया"—(शिवसूत्र)

टिप्पणी ५१—'प्रत्यभिज्ञा' का तात्पर्य—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ४।२।२)

टिप्पणी ५२—परमेश्वर का स्वातन्त्र्य

प्रत्यभिज्ञाहृदय में 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' तथा 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इन सूत्रों का यही तात्पर्य है ।

टिप्पणी ५३—अहैतुकी भक्ति का रूप

इसी भक्ति को लक्षित कर भागवत का कथन है:—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

बोधसार में (पृ० २००–२०१) नरहरि का कथन भी यथार्थ है—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म-परमात्मनोः ॥

टिप्पणी ५४—शक्ति का स्वरूप—

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा ।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः ॥
(कामकलाविलास)

टिप्पणी ५५—भवभूति की 'अमृतकला'—

विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ।

१६—दर्शनों में समन्वय

टिप्पणी १—अभेद ही शास्त्र का तात्पर्य

वाचस्पति मिश्र के इस कथन का यही तात्पर्य है—

"भेदो लोकसिद्धत्वादनूद्यते, अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति" ।

टिप्पणी २—अधिकारिभेद से उपदेश भेद—

अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः ।

टिप्पणी ३—दर्शन की सोपान-परम्परा—

आरुह्य भूमिमधरामितरोधिरोढुं
शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम् ।
उक्त्वा पुरा परिणतिप्रतिपादनेन
सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्ध्यै ॥
(संक्षेपशारीरक २६०)

टिप्पणी ४—प्रस्थान भेद का तात्पर्य

द्रष्टव्य संक्षेपशारीरक २।५९-९५ ।

टिप्पणी ५—दर्शनों में क्रमिक विकास—

"नहि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात् तेषाम्, किन्तु बहिर्विषयप्रवाहाणामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः ।

सर्वेषां प्रस्थानकर्तृणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेन अद्वितीये परमेश्वरे एव वेदान्त-प्रतिपाद्ये तात्पर्यम्"—प्रस्थानभेद।

टिप्पणी ६—'न्याय' की प्रथम भूमिका—

"न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखिदुःख्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेन आत्मा प्रथमभूमिकायामनुमापितः। एकदा परसूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्।"

टिप्पणी ७—सांख्य का प्रामाण्य—

"सांख्यस्य नाप्रामाण्यम्; व्यावहारिकात्मनो जीवस्य इतरविवेकज्ञानस्य मोक्ष-साधनत्वे विवक्षितार्थे बाधाभावात्" —विज्ञानभिक्षु।

टिप्पणी ८—न्यायाचार्य की उक्ति—

इदं तु कण्टकावरणं तत्त्वं तु बादरायणात्।

टिप्पणी ९—परमार्थ का रूप

कुलार्णव तन्त्र में (१।११०) शङ्कर के इस कथन का तात्पर्य यही है:—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

टिप्पणी १०—उदयन की व्याख्या

उदयानाचार्य का स्पष्ट कथन है—

"सा चावस्था न हेया, मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात्। निर्वाणं तु तस्य स्वयमेव। × ×। तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत्।"

(आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ४५१)

टिप्पणी ११—धर्मों के भीतर समान तत्त्व—

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा॥

(ब्रह्मबिन्दु १९)

———

१७—पाश्चात्य दर्शन

टिप्पणी १—जल ही आदिम तत्त्व—

"आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्म, प्रजापतिः, प्रजापतिः देवान्। ते देवाः सत्यमेवोपासते"—बृहदा० ५।५।१।

टिप्पणी २—जल से सृष्टि का आरम्भ

मनु का यह मत इससे भिन्न है, जिसके अनुसार सृष्टि के आदि में प्रथमतः ब्रह्मा ने जल पैदा किया और उसी में बीज रखा, जिससे समग्र जगत् की उत्पत्ति हुई। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'—मनुस्मृति (१।८)। मनु के अनुसार (१।१०) जल में निवास के ही कारण ईश्वर 'नारायण' शब्द से अभिहित होता है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

टिप्पणी ३—वायु ही मूल तत्त्व

तुलना कीजिए छान्दोग्य (४।३।१-२) में निर्दिष्ट रैक्व के मत से। जन-श्रुति के आग्रह पर निरपेक्ष तथा अनिकेतन, गाड़ी के नीचे रहनेवाले, रैक्व ने अपना मत प्रकट किया कि वायु के भीतर ही सब वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि रैक्व वायु को ही सृष्टि का मूल तत्त्व मानते थे। जब वायु सब पदार्थों का संवर्ग (लय-स्थान) है, तब वह नियमतः उनका उत्पत्ति स्थान भी अवश्य होगा—"वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमप्येति‥वायुर्हि एवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते"—छा० ४।३।१-२।

टिप्पणी ४—अग्नि ही मूल तत्त्व

तुलना कीजिए कठोपनिषद् के इस कथन से—"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (कठ० २।५)। संसार में प्रवेश कर अग्नि भिन्न भिन्न रूपों के साथ तदाकार हो गया। छन्दोग्य का कहना है कि सत् पदार्थ—ब्रह्म से अग्नि प्रथम उत्पन्न हुआ और इस अग्नि से जल और जल से अन्न उत्पन्न हुआ। "एवमेव खलु सोम्य अन्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ; अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ; तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ" (छा० ६।८।४) अन्तर इतना है कि अग्नि जगत् का मूल न होकर प्रथम परिणाम है। हिरेक्लिटस

परिवर्तनवादी हैं, परन्तु छान्दोग्य में परिवर्तन या परिणाम पर आग्रह नहीं दीखता।

टिप्पणी ५—भारतीय परिमाणुवाद

भारतीय परमाणुवाद से इस सिद्धान्त की तुलना के लिए देखिए ऊपर पृष्ठ २४२-२४५। दोनों में प्रधान भेद यह है कि पश्चिम परमाणु गतिसम्पन्न माना जाता था, वह स्वयं गतिशील होकर जगत् के पदार्थों का निर्माण करता है, परन्तु वैशेषिकों के अनुसार परमाणु जड़ होते हैं और ईश्वर की इच्छा से उनमें गति उत्पन्न होती है।

टिप्पणी ६—डेकार्ट के मत की भारतीय मत से समानता

इस सिद्धान्त की तुलना आचार्य शङ्कर के इस पद्य के तत्त्व से कीजिए—

अहमित्यस्मिन्नर्थे न कस्यास्ति संशयः पुंसः।
अत्रापि संशयश्चेत् संशयिता यः स एव भवसि त्वम्॥

आशय यह है कि 'मैं हूँ' इस विषय में किसी भी पुरुष को संशय नहीं हो सकता। यदि इसमें किसी को सन्देह हो, तो यह सन्देह करनेवाला व्यक्ति तू ही है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के उपोद्घात में इसी तत्त्व का वर्णन प्रकारान्तर से किया है—"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्, सर्वो हि लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।"

वाचस्पति मिश्र भी यही कहते हैं—"न हि कश्चित् सन्दिग्धो नाहमस्मीति" = 'मैं नहीं हूँ' इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता। यह उक्ति भी डेकार्ट की उक्ति के समानार्थक ही है।



परिशिष्ट २

प्रमाण-ग्रन्थावली

(मूल संस्कृतग्रन्थों का निर्देश पुस्तक के तत्तत् स्थानों पर किया गया है। अतः कलेवरवृद्धि के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता)।

सामान्य ग्रन्थ

चन्द्रकान्त तर्कालंकार—वसुमल्लिक फेलोशिप लेक्चर (५ भाग-बंगला)।
करालप्रसन्न मुखोपाध्याय—तत्त्वाज्ञानामृत (४ खण्ड, बंगला)।
नरसिंह चिंतामणि केलकर—हिन्द तत्त्वज्ञान (मराठी)।
नर्मदाशंकर मेहता—हिन्दी तत्त्वज्ञान का इतिहास (२ भाग-गुजराती)।
साधु शांतिनाथ—प्राच्यदर्शनसमीक्षा।
राहुल सांकृत्यायन—दर्शन-दिग्दर्शन (प्रयाग)।
Maxmuller—Six Systems of Philosophy.
S. Ayengar—Outlines of Indian Philosophy
S.N. Dasgupta—History of Indian Philosophy.
S. Radha Krishnan—Indian Pnilosophy.
Hiriyanna—Outlines of Indian Philosophy.
J. Sinha—Indian Psychology (Perception).
S. K.Maitra—Hindu Ethics. (Calcutta Unv.)
Chatterjee and Dutt—Introduction to Indian Philosophy (Calcutta)
J. N. Farquhar—Outline of Religious Litera—ture of India (Oxford)

श्रौत दर्शन

कोकिलेश्वर शास्त्री—उपनिषदेर उपदेश (४ भाग बँगला)।
हीरेन्द्रनाथ दत्त—उपनिषद् (ब्रह्मतत्त्व-बँगला)

Gough—Philosophy of Upanisads.
Deussen—Philosophy of Upanisads.
Belvelkar and Ranade—Indian Philosophy (Creative Period.), Poona.
R. D. Ranade—Constructive Survey of Upanisadic Philosophy; Poona
B. M. Barua—Pre-Buddhist philosophy.
Hume—Thirteen Udanishads (Introduction).
Sen—Mystic Philosophy of Upanisads. (Lucknow).

गीता दर्शन

लोकमान्य तिलक—गीता-रहस्य (पूना)
हीरेन्द्रनाथ दत्त—गीता में ईश्वरवाद (प्रयाग)
Aurobindo—Essays on Gita. (2 Series)
,, —Message of Gita.
Garbe—Introduction to Gita.
M. Rangachrya—Bhagvata Gita Lectures. (Madras)
V. G. Rele—Bhagavata Gita. (Bombay)
M. N. Sarkar—Mysticism in Bhagavat Gita (Calcutta)
D. G. Vedeker—Bhagawat Gita. (Poona)
S. K. Prem—Yoga of Bhagawat Gita.
Saruananda—Religion and Philosophy of Gita.
D. Sharma—Lectures on Gita. (Madras)

चार्वाक दर्शन

G. N. Kaviraj—Theism in Ancient India (S. B. studies Vol. II)
D. R. Sastri—A short History of Indian Materialism.
D. R. Sastri—Charvaka Sasthi. (Calcutta)

जैन दर्शन

Weber—Jain Canon (Indian Antiquary Vol. XVII-XXI)
Buhler—The Indian Sect of Jainism.
C. R. Jain—The Practical Path.
H. Warren—Jainism.
महेन्द्रकुमार—जैनदर्शन (काशी)
Ghoshal—द्रव्यसंग्रह (Introduction and Notes)
A. Chakravarti—पञ्चास्तिकायसार (Introduction)
W. Schuring—Die Leher der Jains.
Mrs. Stevenson—The Heart of Jainism.
A. Sen—Schools and Sects in Jain Literature.
B. C. Law—Life andT eachings of Mahavira.
C. L. Shah—Jainism in North India.

बौद्ध दर्शन

बलदेव उपाध्याय—बौद्ध दर्शन मीमांसा (काशी)
नरेन्द्रदेव—बौद्धधर्मदर्शन (पटना)
Oldenberg—Buddha.
Kern—Indian Budhism.
Yamakami Sogen—Systems of Buddhistic Thought (Calcutta)
Mrs. Rhys Davids—Buddhism.
" —Buddhist Psychology.
A. B. Keith—Buddhist Philosophy.
Lala Hardayal—Bodhisattva.
N. Dutt—Spread of Buddhism.
Macgovern—Introduction to Mahayana Buddhism.
" —Manual of Buddhist Philosophy.
D. Suzuki—Outlines of Mahayana Buddhism.
" —Studies in Lankavatar Sutra.

Scherbastky—Central Conception of Buddhism.
,, —Conception of Buddhist Nirvana.
,, —Buddhist Logic (2 Vols.)
Poussin—Way to Nirvana.
S. Mukerjee–Buddhist Philosophy of Universal Flux.
Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism.
Winternitz—History of Indian Literature (Vol 2.)
Law—History of Pali Literature (2 Vols.)
भरतसिंह उपाध्याय—पालिसाहित्य का इतिहास (प्रयाग)
S. Dutt—Early Buddhism Monachism.
Eliot—Hinduism and Buddhism (2 Vols)
Grimm—The Doctrine of the Buddhism.
Pratt—Pilgrimage of Buddhism.
Obermiller—Buston's History of Buddhism.
B. Bhattacharya—Buddhist Esoterism.
Lounsbery—Buddhist Meditation.

न्यायवैशेषिक

Ui—The Vaishesika Philosophy.
Seal—Positive Sciences of the Hindus.
Faddigon—Vaishesika philosophy.
Bodas—Tarka Sangraha.
Keith—Indian Logic and Atomism.
Randle—Indian Logic in Early Schools.
Kuppu Swami—A primer of Indian Logic. (Madras)
J. C. Chaterjee—Hindi Realism. (Cambridge)
Gopinath Kaviraj—Bibliography of Nyaya Vaise'sika.
J. Sinha—Indian Realism.
S. C. Chaterjee—Nyaya Theory of Knowledge. (Calcutta.)
Umesha Mishra—Conception of Matter (Allahabad)
फणीभूषण तर्कवागीश—न्याय परिचय (बँगला; कलकत्ता)

सांख्य-योग

S. N. Dasgupta—Study of Patanjali (Calcutta)
—Yoga as Philosophy and Religion.
—Yoga Philosophy.
A. B. Kieth—Sankhya System.
Yajneshvara Ghosh--Sankhya and Modern Thought.
Yajneshvara Ghosh--A Study of Yoga.
Mazumdar--Sankhya Conception of Personality.
N. K. Brahma--Philosophy of Hindu Sadhana.
G. N. Kaviraj--योग परिचय (कल्याण योगाङ्क, पृ० ५१-६१) ।
,, Causality : Sankhya--Yoga View (S. B. S. Vol. IV)
,, The Life of a Yogi (S. B. Studies Vol IX).
हरिहरानंद आरण्य—सांख्यीय प्रकरणमाला ।
हरिहरानंद—योगभाष्य (हिन्दी अनुवाद, लखनऊ) ।

मीमांसा

G. N. Jha--Prabhakar School of Mimanea.
G. N. Jha--Mimansa Philosophy.
Keith--Karma Mimansa.
P. N. Sastri—Introduction to the Purva Mimansa.
C. Raja--Introduction to the Brihati,
Ram Swami Sastri—Introduction to Tattvabindu.
Kaviraj—Mimansa Mss, in Govt. Skt. Library (S. B. S.--VI.)
Kaviraja--Introduction to Tantravartika.
Sarkar—Mimansa Rules of Interpretation.

अद्वैत वेदान्त

Paul Deussen—System of Vedanta.
K. C. Bhattacharya—Studies in Vedantism.
K. /Sastri—Introduction te Advaita Philosophy.

K. S'astri—Realistic Interpretation of Shankar Vadant.
M. N. Sarkar—System of Vadantic Thought and Culture
M. N. Sarkar—Comparative Studies in Vedantism.
P. N. Mukhopadhyaya—Introduction to Vedant Philosophy.
V. Kirtikar—Studies in Vedant.
D. M. Datta—Six Ways of Knowing.
S. K Das—A Study of Vedant.
हीरेन्द्रनाथ दत्त—वेदान्त रहस्य (प्रयाग)।
Urquahart—Vedant and Modern Thought.
G. N. Jha—SankaraVedant (Allanabad)
,, Philosophical Discipline. (Calcutta)
Mahadevan—Philosophy of Advaita (Madras)
कविराज—अद्वैत वेदान्त (शांकरभाष्यानुवाद की प्रस्तावना)।
बलदेव उपाध्याय—आचार्य शंकर (प्रयाग)
बलदेव उपाध्यया—आचार्य सायण और माधव (प्रयाग)
Ghate—The Vedant (Poona)
Belvelkar—Vedant Philosophy (Poona)

वैष्णव दर्शन

R. G. Bhandarkar—Vaisnavism, S'aivism end minor Sects.
Rai Choudhary—Early History of the Vaisnave Sect.
Bhagavat Kumar Gogwami—Bhakti Cult in Ancient India.
Schrader—Introduction to the Pancharatra.
Gopinath Rao—History of S'rivaisnavas,
Govindacharya—Mataphysique of Mysticism.
V. Rangachary—Heritage of Indian Culture (Vol. II. pp. 99–103)

S'rinivasachari—Ramanuja's Idea of the Finite
S'rinivasachari—Philosophy of Bhedabbeda.
संतदास बाबा--गुरुशिष्यसंवाद (ब्रह्मविद्या)
Umesla Mishra—Nimbarka Philosophy.
Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy.
Padmanabhacharya—Life and Teachings of S'ri Madhava.
ब्रजनाथ शर्मा—वल्लभाचार्य और उनका सिद्धान्त
Glasenapp—Philosophy of Madhva (German)
C. R. Krishna Rao—S'ri Madhva--Life and Teachings.
केदारनाथदत्त, भक्ति विनोद—जैनधर्म (बं०)
केदारनाथदत्त—श्रीचैतन्यशिक्षामृत (बं०)
गौर गोविन्दानन्द—साधन कुसुमांजलि (बं०)
गौर गोविन्दानन्द—कृपाकुसुमांजलि (बं०)
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्यचरितावली (५ भाग)
Kennedy--Chaitanya Movement (Calcutta).
G. N. Mallick--Philosophy of Vaisnava Religion (Lahore)
बलदेव उपाध्याय--भागवत सम्प्रदाय (काशी)

शैव-शाक्ततन्त्र

C. Pillai--Studies in S'aiva Siddhanta.
S. Sundaram--S'aiva School of Hinduism.
N. Ayyar--Origin and Early History of S'aivism in South India.
S. S. Sastri--S'ivadaita ot S'ri Kantha.
J. C. Chatterjee--Kas'mira S'aivism.
K. P. Pande—Abhinave Gupta--A Study.

Woodroffe--Shakti and Shakta.
Woodroffe--Garland of Letters.
Woodroffe--Serpent Power.
Woodroffe and Mukhopadhyaya--World As Power Series.

नर्मदाशंकर मेहता--शाक्त सम्प्रदाय (गुजराती)
सतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण--कौलमार्ग रहस्य (बँगला)
P. C. Chakravarti--Philosophy of Sanskrit Grammar.
Kaviraj—Some Aspects of Vir-Saiva Philosophy (S. B. Studies Vol. 2)

--Notes on Pas'upata Philosophy (S. B. S. Vol. IX)
--Tripura Philosophy (S. B. S. Vol. IX.)
गोपीनाथकविराज--काश्मीरीय शैवदर्शन (कल्याण—शिवाङ्क, पृ० ८०-९५)
गोपीनाथकविराज--शक्तिपात (कल्याण—साधनाङ्क, पृ० ८५-९७)
गोपीनाथकविराज--तान्त्रिक दृष्टि (कल्याण—साधनाङ्क, पृ० ४८०-४९३)
गोपीनाथकविराज—दीक्षा रहस्य (कल्याण १५ भा० ४ संख्या)
गोपीनाथकविराज—भारतीय संस्कृति और साधन (२ भाग; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना)
डा० यदुवंशी--शैव मत (पटना)

———

पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी



उपाध्याय साहित्य

(आचार्य बलदेव उपाध्याय-प्रणीत ग्रन्थावली)

(१) आर्य संस्कृति

यदि आप भारतीय संस्कृति की विशेषता, स्वरूप, अध्यात्मिकता तथा प्राचीनता के रहस्यों से परिचित होना चाहते हैं तथा उसके अधार भूत ग्रन्थों के विषय में पूर्णरूप से जानना चाहते हैं तो इस ग्रन्थ का अनुशीलन अवश्य करें। इसमें केवल वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि का ही प्रामाणिक विवरण आपको नहीं मिलेगा; बल्कि जैनियों के तथा बौद्धों के मूल धार्मिक ग्रन्थों का भी विस्तृत, पूर्ण और प्रमाणिक वर्णन मिलेगा। यह ग्रन्थ संक्षेप में ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का रहस्य जानने के लिये एक छोटा विश्वकोष है। तन्त्रों का वर्णन जो यहाँ है वह कहीं नहीं मिलेगा। मूल्य ८) रु०। पृष्ठ ४८०।

(२) वैदिक साहित्य और संस्कृति

इस ग्रन्थ में वैदिक साहित्य का पूरा विवरण दिया गया है। प्रवेश खण्ड में वेद का महत्त्व, वेदानुशीलन का इतिहास, वेद का रचनाकाल तथा वेद की व्याख्यापद्धति का प्रामाणिक वर्णन है। इतिहास खण्ड में वैदिक साहित्य के पूर्ण इतिहास तथा संस्कृति खण्ड में वैदिक संस्कृति का समग्र विवरण प्रस्तुत किया गया है। वैदिक छन्द, व्याकरण तथा स्वरप्रक्रिया का भी संक्षिप्त वर्णन इसे अत्यधिक उपादेय बना रहा है। विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम० ए० का पाठ्य ग्रन्थ। तृतीय संस्करण मूल्य १२)।

(३) भारतीय दर्शन

यह ग्रन्थ तो हिन्दी साहित्य का अमर ग्रन्थ है। केवल इसी एक ग्रन्थ के अध्ययन करने से पाठक भारत के विशाल दर्शनों के इतिहास तथा सिद्धान्तों से पूरा परिचय प्राप्त कर सकता है। इसमें उपनिषद, गीता, षड्दर्शन, बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शनों का प्रामाणिक और ऐतिहासिक विवेचन दर्पण के समान समस्त तत्त्वों से आपको परिचित करा देगा। तन्त्रशास्त्र का जो वर्णन यहाँ है

वह अन्यत्र कहीं नहीं। पाश्चात्त्य दर्शन का भी इतिहास तथा सिद्धान्त ग्रन्थ को और भी उपादेय बना रहा है। डा० भगवानदास की सम्मति में "यह ग्रन्थरत्न 'भारतीय दर्शन' हिन्दी साहित्य में श्रेष्ठतम, अग्रगण्य ग्रन्थों की श्रेणी में ऊँचा स्थान पाने योग्य है और अवश्य पावेगा। समग्र ग्रन्थ का भाव तथा भाषा समन्वय की बुद्धि से प्रभावित है। मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार, बिड़ला पुरस्कार तथा रेडिचे पदक से सम्मानित यह दर्शन ग्रन्थ हिन्दी के दर्शन साहित्य की अनमोल निधि है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।" समस्त विश्वविद्यालयों में एम० ए० का पाठ्य ग्रन्थ है। सप्तम निर्णयात्मक संस्करण मूल्य १६)

(४) धर्म और दर्शन

यह भारतीय दर्शन का परिशिष्ट पूरक खण्ड है, जिसमें नाना धर्मों के विस्तृत विवरण के अनन्तर धर्म तथा दर्शन का परस्पर सम्बन्ध दिखलाया गया है। इस ग्रन्थ की मान्य आलोचकों ने एक स्वर से प्रशंसा की है। 'विशाल भारत' इसे पाण्डित्यपूर्ण, नितान्त उपयोगी तथा प्रामाणिक बतलाया है। तृतीय परिवर्धित सं०, पृ० संख्या ३५०, मूल्य ४)।

(५) संस्कृत साहित्य का इतिहास

इसकी समानता रखनेवाला ग्रन्थ हिन्दी क्या किसी भी प्रान्तीय भाषाओं में नहीं है। ग्रन्थ के चारों खण्डों में रामायण, महाभारत, दृश्य काव्य, श्रव्य काव्य, अलङ्कार शास्त्र का इतना पूर्ण प्रामाणिक विवरण दिया गया है कि गागर में सागर की लोकोक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही है। जवनिका, भारतीय रंगशाला, भागवत का साहित्यिक रूप आदि विषय तो पहली बार इसी ग्रन्थ में वर्णित हैं। इन्हीं गुणों के कारण यह नाना विश्वविद्यालयों में बी० ए० तथा एम० ए० का पाठ्यग्रन्थ है। षष्ठ परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ संख्या ७०० सजिल्द का मूल्य १२) मात्र है।

(६) संस्कृत वाङ्मय

संस्कृत के विशाल साहित्य का सीधे शब्दों में संक्षिप्त प्रामाणित विवेचन है। शास्त्री तथा इन्टर (यू० पी० बोर्ड) का पाठ्यग्रन्थ है। परिवर्धित तृतीय संस्करण, पृष्ठ संख्या ११२, मूल्य १।।।) मात्र है।

(७) आचार्य सायण और माधव

वेदभाष्यों के कर्ता सायणाचार्य और इनके ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य (विजय नगर राज्य के संस्थापक तथा विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रख्यात) के जीवन चरित, ग्रन्थ तथा मन्तव्यों का प्रतिपादक यह ग्रन्थ अपने विषय में बेजोड़ है। उस युग का साहित्यिक इतिहास राजनीतिक इतिहास के परिवेश में मौलिक रूप में यहाँ प्रतिपादित किया गया है। वैदिक भाष्यकारों का भी वर्णन ग्रन्थ की व्यापकता का पुष्ट प्रमाण है। पृ० सं० ४५०, मूल्य ६) मात्र।

(८) आचार्य शंकर

श्री शंकराचार्य की प्रामाणिक जीवनी, ग्रन्थ, काल तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का पूर्ण तथा पुष्ट विवेचन ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। अद्वैत वेदान्त का संक्षिप्त इतिहास अद्वैती ग्रन्थों की सूची के साथ होने से यह शोधकर्ताओं के लिए भी विशेष महत्त्व रखता है। ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद द्वारकापीठस्थ शंकराचार्य के द्वारा प्रकाशित हो रहा है। कन्नड़ अनुवाद भी प्रकाशित है। लम्बे आकार के ३७७ पृष्ठों वाले सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य १०)।

(९) भागवत सम्प्रदाय

यह ग्रन्थ वैष्णव धर्म तथा दर्शन का नितान्त मौलिक विवेचन प्रस्तुत करता है। अखिल भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित और नाना (जैसे तमिल, आन्ध्र, कन्नड़, बंगला, मराठी आदि) भाषाओं में लिखित वैष्णव सम्प्रदायों और साहित्य का इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन अन्य भाषाओं में मिलना असम्भव है। साधना–जगत् के तथ्यों के रहस्योद्घाटन के कारण यह ग्रन्थ साधकों के भी बड़े काम का है। आचार्यों के छः प्राचीन चित्रों से युक्त, पृष्ठ संख्या सात सौ के आस-पास; मूल्य ७॥)।

(१०) बौद्ध दर्शन मीमांसा

बौद्ध दर्शन के नाना शाखा–प्रशाखाओं के इतिहास तथा सिद्धान्त का प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थरत्न। हिन्दी के श्रेष्ठ डालमिया पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेशीय राज्य पुरस्कार से पुरस्कृत। एम० ए० का पाठ्यग्रन्थ। सिंघली भाषा में अनुवाद प्रस्तुत। अन्त में बौद्ध दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का प्रामाणिक

कोश भी जोड़ दिया गया है। द्वितीय संस्करण, सुन्दर गेट अप, पृ० संख्या ५१२, मूल्य ६)। गोपीनाथ कविराजजी ने इसे अपनी पांडित्यपूर्ण प्रस्तावना से भूषित कर इसके गौरव को निःसन्देह बढ़ाया है।

(११) भारतीय साहित्य शास्त्र (दो भाग)

आलोचना का एकमात्र पूर्ण ग्रन्थ—औचित्य, रीति, गुण तथा वक्रोक्ति का अनुपम विवरण। काव्य के स्वरूप का विवेचन। संस्कृत में निबद्ध आलोचना-शास्त्र का इतिहास तथा सिद्धान्त, काव्य का लक्षण तथा भेद, कुन्तक का वक्रोक्ति-वाद तथा क्रौंचे के अभिव्यंजनावाद जानने के लिये हिन्दी साहित्य में अपूर्व ग्रन्थरत्न। उत्तरप्रदेश राज्य के द्वारा दो बार पुरस्कृत। एम० ए० का पाठ्य-ग्रन्थ। नवीन सं० पृ० सं० ७४४ और ५८०, मूल्य १५) तथा ८)।

(१२) संस्कृत कवि चर्चा

संस्कृत के मान्य कवियों के जीवन चरित, ग्रन्थ तथा समय का यहाँ पर्याप्त निरूपण किया गया है। इन कवियों के पूरे समीक्षण तथा उदाहरणों से संकलित होने से यह ग्रन्थ छात्रों में नितान्त लोकप्रिय रहा है। दूसरा संस्करण तैयार हो रहा है। पृष्ठ लगभग चार सौ। मूल्य ५) मात्र।

(१३) कवि और काव्य

संस्कृत तथा प्राकृत कवियों की जीवनी तथा उनके काव्यों का पूरा विवेचन। पृ० सं० २५०, मूल्य ३)

(१४) काव्यानुशीलन

उपाध्यायजी के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक निबन्धों का सुन्दर संग्रह। तुलसी तथा जयदेव, रसिक गोविन्द तथा उनकी कविता आदि महत्त्वपूर्ण लेख इस संग्रह को सुशोभित करते हैं। पृ० सं० तीन सौ, मूल्य ४॥)

(१५) संस्कृत आलोचना

संस्कृत आलोचना के इतिहास और सिद्धान्तों का बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में यहाँ विवरण प्रस्तुत किया गया है। थोड़े में संस्कृत का विशाल अलंकारशास्त्र

अपनी पूर्ण मौलिकता के साथ यहाँ विराजता है। द्वि० सं०, बी० ए० का पाठ्य ग्रन्थ। मूल्य ५॥) मात्र।

(१६) सूक्ति मञ्जरी

संस्कृत कवियों की अनोखी सूझवाली सूक्तियों का यदि आनन्द लेना हो, तो इस ग्रन्थ को अवश्य पढ़िये। द्वि० सं० मूल्य ५)।

(१७) वैदिक कहानियाँ

वेद की स्फूर्तिदायक मौलिक कहानियों का अपूर्व संग्रह। तृतीय सं० मूल्य २)।

(१८) भारतीय दर्शनसार

भारतीय दर्शन के विस्तृत स्वरूप का संक्षेप में विवरण। इसकी भाषा सुबोध सहज रक्खी गई है, जिसमें पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या तथा सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया गया है। मूल्य ५॥)।

(१९) भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा

इस ग्रन्थ में राधा का वर्णन इतिहास, धर्म तथा साहित्य इन त्रिविध दृष्टियों से बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। यह अपने विषय की मौलिक तथा सर्वाङ्गीण पुस्तक है। आर्य साहित्य के साथ द्राविडी साहित्य में राधा की खोज तथा उपन्यास ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। मूल्य १०॥)।

(२०) संस्कृत सुकवि-समीक्षा

संस्कृत के महनीय तथा प्रख्यात कवियों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन। कवि-विषयक प्राचीन सूक्तियों का अपूर्व संग्रह ऐतिहासिक विवेचन के साथ प्रथम बार यहाँ प्रस्तुत है। मूल्य २०)।

(२१) पुराणविमर्श

पुराण के विषय का अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ, जिसमें पुराणों का विस्तृत विवरण दिया गया है। पुराणों का काल, धर्म, भूगोल, इतिहास, देवता आदि अनेक आवश्यक

तथा मौलिक विषयों का यहाँ समावेश किया गया है। प्राचीन तथा नवीन उभय दृष्टियों से नितान्त उपयोगी तथा उपादेय ग्रन्थ। मूल्य २०)।

(२२–२७) सम्पादित ग्रन्थ

२२—भरत—नाट्यशास्त्र (वैज्ञानिक संस्करण)

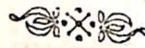
२३—भामह—काव्यालंकार (विस्तृत भूमिका)

२४—वररुचि—प्राकृतप्रकाश (प्राचीन सुबोधिनी और संजीवनी टीकाओं से संवलित)

२५—सायण—वेदभाष्य भूमिका संग्रह (चारों वेदों की भाष्यभूमिकाओं का एकत्र संग्रह)

२६—माधवाचार्य—शंकर दिग्विजय (प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका के साथ)

२७—हर्ष—नागानन्द (नवीन संस्कृत टीका और अनुवाद)।



उपाध्याय-साहित्य

वेद	(१)	आचार्य सायण और माधव	६)
	(२)	वैदिक साहित्य और संस्कृति	१२)
	(३)	ज्ञान की गरिमा	२)
पुराण	(४)	भागवत सम्प्रदाय	७॥)
	(५)	भारतीय वाङ्मय में राधा	१०॥)
	(६)	पुराणविमर्श	२०)
दर्शन	(७)	आचार्य शंकर	१०)
	(८)	भारतीय दर्शन—(सप्तम संस्करण)	१६)
	(९)	भारतीय दर्शन-सार	५॥)
	(१०)	धर्म और दर्शन	४)
	(११)	बौद्धदर्शन मीमांसा	६)
	(१२)	शंकर-दिग्विजय (माधवाचार्य-रचित संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद	१०)
आलोचना	(१३)	भारतीय साहित्यशास्त्र दो भाग	१५), १०)
	(१४)	संस्कृत आलोचना	५॥)
संस्कृत साहित्य	(१५)	संस्कृत साहित्य का इतिहास (परिवर्धित संस्करण)	१२)
	(१६)	संस्कृत-वाङ्मय (चतुर्थ संस्करण)	११॥)
	(१७)	कवि और काव्य	३)
	(१८)	संस्कृत कवि-चर्चा	३)
	(१९)	काव्यानुशीलन	४॥)
	(२०)	संस्कृत सुकवि समीक्षा	२०)
	(२१)	महाकवि भास—एक अध्ययन	४)
नाटक	(२२)	श्रीहर्ष—नागानन्द (संस्कृत टीका तथा अनुवाद)	३)
संस्कृति	(२३)	आर्य-संस्कृति के आधार ग्रन्थ	८)
भोजपुरी	(२४)	भोजपुरी लोकगीत (प्रस्तावनामात्र)	६)
सम्पादित ग्रन्थ	(२५)	भरत-नाट्यशास्त्र	१०)
	(२६)	भामह-काव्यालङ्कार	२॥)
	(२७)	सायण-वेदभाष्य-भूमिका-संग्रह	६)
	(२८)	प्राकृतप्रकाश (सञ्जीवनी और सुबोधिनी टीका से युक्त)	

शा र दा म न्दि र, का शी